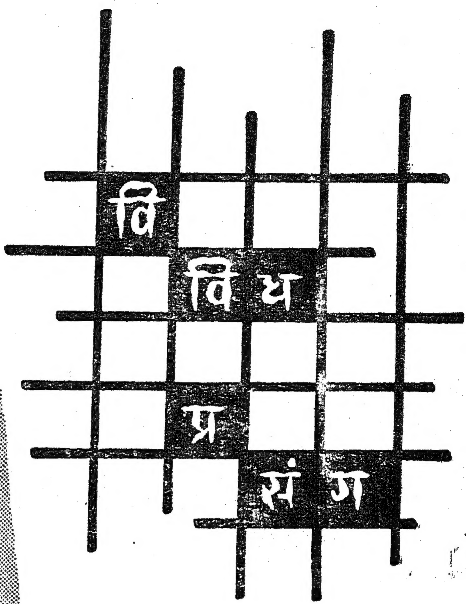
विविध प्रसंग

२



२

संकलन और
रूपांतर

अमृतराय

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद



प्रकाशन

हंस प्रकाशन, इलाहाबाद

मुद्रक

भार्गव प्रेस, इलाहाबाद

आवरण-सज्जा

कृष्ण चंद्र श्रीवास्तव

प्रथम संस्करण

प्रेमचंद स्मृति दिवस १९६२

मूल्य—रु० १२.५०

भूमिका

सब जानते हैं, प्रेमचंद ने अपने साहित्यिक जीवन का आरंभ उर्दू से किया था। बरसों केवल उर्दू में लिखते रहने के बाद वह हिन्दी की तरफ़ आये। उपन्यास और कहानियाँ तो लिखीं ही, साहित्य, संस्कृति, समाज, राजनीति से संबंध रखनेवाले विविध प्रसंगों पर ढेरों लेख भी लिखे। इस प्रकार के लेखन का उनका क्रम आजीवन चला और मुंशीजी के पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व और देन को समझने के लिए उसका महत्व मुंशीजी के कथा-साहित्य से अणुमात्र कम नहीं है।

इस खजाने की तरफ़ अब तक किसी का ध्यान नहीं गया था, और शायद इन पंक्तियों के लेखक का भी न जाता अगर मुंशीजी की प्रामाणिक जीवन लिखने के तक़ाज़े ने उसे मजबूर न किया होता कि वह उन सब चीजों की छान-बीन करे जो-जो मुंशीजी ने जब-जब और जहाँ-जहाँ लिखीं। पुरातत्व-विभाग की इसी खुदाई में यह दफ़ीना हाथ लग गया!

यह लगभग सोलह सौ पृष्ठों की सामग्री है जो 'विविध प्रसंग' के तीन खण्डों में दी जा रही है।

पहले खण्ड में १६०३ से लेकर १६२० तक के लेख और समीक्षाएँ हैं र काल-अनुक्रम से। 'तुर्की में वैधानिक राज्य' शीर्षक लेख भूल से ग़लत जगह पर-लग गया है।

दूसरे और तीसरे खण्ड में १६२१ से लेकर १६३६ तक के लेख, टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ हैं जिनको 'राष्ट्रीय राजनीति' 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' 'हिन्दू-मुसलमान' 'छूत-अछूत' 'किसान-मजूर' 'साहित्य-दर्शन' 'धर्म-समाज' 'महिला, जगत्' 'समीक्षाएँ' 'श्रद्धांजलियाँ' आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विषय-क्रम से प्रस्तुत करना अधिक सार्थक जान पड़ा।

छोटी टिप्पणियों को भी हमने वही स्थान दिया है जो बड़े लेखों को, सिर्फ़ इसलिए नहीं कि मुंशीजी ने उन्हें लिखा है बल्कि इसलिए कि वह देखने में चाहे जितनी छोटी हों पर घाव गहरा करती हैं। अपने उस छोटे-से कलेवर में भी उनका वक्तव्य स्पष्ट है, महत्वपूर्ण है और उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

समीक्षाएं कुछ छोड़ दी गयी हैं। जो दी जा रही हैं, उनमें दो प्रकार की समीक्षाएँ हैं। कुछ तो बहुत जानी-मानी पुस्तकों की समीक्षाएँ हैं। उनके संबंध में कुछ कहने की जरूरत नहीं है। कुछ अज्ञात-सी पुस्तकों की समीक्षाएँ हैं। उनको देना इसलिए ज़रूरी समझा गया कि उन पुस्तकों को निमित्त बनाकर मुंशीजी ने अपनी कोई बात कहनी चाही है।

'विविध प्रसंग' के पहले खण्ड में अधिकांश लेख उर्दू के प्रसिद्ध पत्र 'ज़माना' से लिये गये हैं जिससे मुंशीजी का आजीवन बहुत आत्मीय संबंध रहा। 'ज़माना' की पूरी फ़ाइल किसी एक जगह नहीं मिल सकी—'ज़माना' के अपने घर में भी नहीं। इस कमी को लखनऊ विश्वविद्यालय और अलीगढ़ विश्वविद्यालय के संग्रहों से काफ़ी हद तक पूरा कर लिया गया है, तो भी कुछ अंक छूट गये जो शायद आगे कभी मिलें। इस खोज में उर्दू के प्रसिद्ध आलोचक प्रोफ़ेसर एहतेशाम हुसेन, जो सम्प्रति प्रयाग विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के अध्यक्ष हैं, और डाक्टर क़मर रईस से, जिन्होंने प्रेमचंद के उपन्यासों पर काम करके डाक्टरेट ली है और जो इन दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय में उर्दू के अध्यापक हैं, बहुत मदद मिली है और मैं हृदय से उनका आभारी हूँ।

इस अवधि में मुंशीजी ने 'ज़माना' के अलावा और भी अनेक उर्दू पत्रों में, जैसे मौलाना मुहम्मद अली के 'हमदर्द' और 'इम्तयाज़ अली ताज' के 'कहकशाँ' 'ज़माना' आफ़िस से ही निकलनेवाले साप्ताहिक 'आज़ाद' और चकबस्त के मासिक पत्र 'सुबहे उम्मीद' में काफ़ी नियमित रूप से लिखा। दुर्भाग्यवश अब तक उनको और दूसरे अनेक उर्दू पत्रों की फ़ाइलें नहीं मिल सकी हैं जिनको देखना बिल्कुल जरूरी है क्योंकि उनमें कहानियों के साथ-साथ यदा-कदा कुछ लेख होने की भी पूरी संभावना है। बहरहाल, उर्दू पत्रों की तलाश और छानबीन का यह काम लंबा है और काफ़ी दिनों तक चलते रहना होगा।

'रफ़्तारे ज़माना' के नाम से एक स्थायी स्तंभ मुंशीजी ने 'ज़माना' में बहुत अर्से तक लिखा, लेकिन बदक़िस्मती से उस पर मुंशीजी का नाम नहीं जाता था और कब से कब तक यह स्तंभ उनके हाथ में रहा, इसका भी कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। १९३८ में जब 'ज़माना' का प्रेमचंद-स्मृति अंक निकला था, तभी ज़माना-संपादक मुंशी दयानरायन निगम के लिए यह बतलाना असंभव हो गया था कि प्रेमचंद के लिखे हुए 'रफ़्तारे ज़माना' के कालम कौन-से हैं, अब तो इसकी पड़ताल का कोई सवाल ही नहीं उठता। असहयोग के दिनों में, नौकरी छोड़ने के ठीक पहले, मुंशीजी ने तालीमी नान-कोआपरेशन पर एक लेख लिखा था पर वह अब तक कहीं मिला नहीं।

उर्दू के इन सब लेखों को ज्यों का त्यों छाप देना हिन्दी पाठकों के लिए बहुत कठिनाई उपस्थित करता इसलिए उनका हिन्दी रूपान्तर जरूरी हो गया।

हाँ, रूपान्तर करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि मुंशीजी की भाषा और शैली की पूरी तरह रक्षा हो और केवल ऐसे ही शब्द और वाक्यांश बदले जायँ जिनको बदले बिना काम न चलता हो।

'विविध प्रसंग' के दूसरे और तीसरे खण्डों में मूल हिन्दी सामग्री है। कुछ फुटकर लेख और टिप्पणियाँ और समीक्षाएँ माधुरी, चाँद, मर्यादा, स्वदेश आदि पत्रों से ली गयी हैं (जिसका संकेत भी लेख के अंत में दे दिया गया है) लेकिन अधिकांश सामग्री 'हंस' और 'जागरण' से संकलित है। मासिक पत्र होने के नाते, 'हंस' से ली गयी सामग्री के अंत में केवल महीना और सन मिलेगा, 'जागरण' साप्ताहिक था, उसमें तारीख भी मौजूद है।

'हंस' और 'जागरण' की इस सामग्री के लिए मैं पंडित विनोद शंकर व्यास का अनन्य आभारी हूँ जिन्होंने अपनी जतन से रखी हुई फ़ाइलें मुझे सौंपकर इस कार्य को संभव बनाया। जहाँ तक मैं जानता हूँ, 'हंस' और 'जागरण' की पूरी फ़ाइल, विशेषतः 'जागरण' की, और कहीं भी उपलब्ध नहीं है! उनके सौहार्द और सहयोग से ही प्रेमचंद का यह तेजस्वी पत्रकार का रूप हिन्दी संसार के सामने प्रस्तुत करना संभव हो रहा है।

इस लंबे शोध-कार्य में, जिसका सूत्रपात जीवनी लेखन से हुआ, भाई महादेव साहा की निरंतर प्रेरणा का मैं कितना ऋणी हूँ, इसकी स्वीकृति शब्दों से नहीं, मौन से ही की जा सकती है।

भाई श्रीनाथ पाण्डेय ने कुछ लेख कलकत्ते से ढूँढ़कर भेजे। मैं उनका आभारी हूँ।

दूसरे भी कई मित्रों का मुक्त सहयोग मुझे इस कार्य में मिला है। उन सबके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अमृत राय

क्रम

राष्ट्रीय रंगमंच : स्वाधीनता-संग्राम १७-२८३

अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच : युद्ध और शान्ति २८५-३४७

विविध प्रसंग

राष्ट्रीय रंगमंच : स्वाधीनता-संग्राम

स्वदेश का सन्देश

'स्वदेश' के लिए सचमुच यह संतोष और सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म एक नवीन युग में हो रहा है—ऐसे नवीन और शुभ युग में, जो अपने सच्चे सिद्धान्तों के बल पर, निकटवर्ती भविष्य में, सारे संसार से अपनी सत्ता और महत्ता आप मनवा लेगा। परन्तु अभी इस नवीन और शुभ युग की केवल पौ फटी है—प्रकाश होना बाकी है। तो भी हम इस युग का हृदय से स्वागत करते हैं। हमें संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति डा० विल्सन के शब्दों में, इस बात पर पूर्ण विश्वास है कि आज से चार-पाँच वर्ष पहले 'कोई राष्ट्र किसी विशेष सिद्धान्त को लेकर समर-क्षेत्र में नहीं उतरा था'—केवल युग की आवश्यकता ने सभी राष्ट्रों के मुँह से बड़ी-बड़ी बातें निकलवा ली थीं। ऐसी दशा में हम अब यह भी निस्संकोच होकर कह सकते हैं कि इस नवीन युग की आवश्यकता संसार की गति को भी अपने अनुकूल मोड़ लेने से बाज़ न आयेगी।

हम अपनी इस पिछली बात पर इसलिए और भी ज़ोर देते हैं कि समय की दशा कभी स्थिर नहीं रहती। हाँ, यह ज़रूर है कि वायु के समान कभी तो उसकी गति ऐसी मंद होती है कि हमको उसका ज्ञान ही नहीं हो पाता और कभी इतनी प्रचंड कि उसके वेग से प्राचीन से प्राचीन प्रथाएँ उखड़ जाती हैं, समाज-सागर में हलचल मच जाती है और बड़े से बड़े अटल सिद्धान्तों की जड़ें हिल जाती हैं। अतएव, वर्तमान समय की गति को, यदि हम इसी प्रचंड पवन के नाम से पुकारें तो बेजा न होगा। उसने दो-एक वर्षों ही में राष्ट्र की दशाओं में वह परिवर्तन कर दिया जो साधारणतः सामान्य रीति से, शताब्दियों में भी न होता। अब तक उन स्वराज्य-प्राप्त देशों में भी, जिनका राष्ट्र-संगठन सम्पूर्ण समझा जाता था, कुछ गिने-गिनाये लोग ही जनता के भाग्य के विधाता होते थे। धन सर्वप्रधान वस्तु थी। उसी की वृद्धि पर देश की उन्नति, देश का गौरव और देश की शक्ति निर्भर समझी जाती थी। यदि उस धन की रक्षा करने के निमित्त असंख्य प्राणियों का बलिदान करना पड़े तो भी इसमें कोई आपत्ति न थी।

राष्ट्रों का लक्ष्य केवल धन और प्रभुत्व का संग्रह था। न्याय, प्रेम, सद्व्यवहार, दया और धर्म का मान घटते-घटते शून्य हो गया था। धन ही धर्म था, धन ही न्याय और धन ही सब कुछ। जनता केवल धन-वृद्धि की सामग्री मात्र समझी जाती थी। पर इस युद्ध ने इस स्थिति में बहुत कुछ संशोधन कर दिया है। स्वेच्छाचारिता का संपूर्ण नाश हो गया है—चाहे वह प्रधान व्यक्तियों के हाथों में रही हो और चाहे राज-कर्मचारियों के। रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया आदि देशों में अब जनता स्वयं अपने भाग्य की अधिकारिणी बनती जा रही है। प्रभुत्व और राज्य-विस्तार के लिए वह अपने रक्त बहानेवालों को अब कठिन से कठिन दण्ड देने पर प्रस्तुत है।

यह तो हुआ रण-परास्त देशों का हाल। विजय-प्राप्त देशों में भी जनता के स्वत्व और अधिकार बढ़ा दिये गये हैं। इंगलैण्ड ने स्त्रियों को अभी तक राजकीय स्वत्वों से वंचित रखा था। मज़दूरों और किसानों में भी कितनों ही को ये स्वत्व प्राप्त न थे। पर अब पार्लामेण्ट में बैठने और उसके मेम्बरों के चुनने का अधिकार इतना विस्तृत हो गया है कि वोटरों में लगभग अस्सी लाख स्त्री-पुरुषों की संख्या बढ़ गयी है। केवल इतना ही नहीं, मज़दूरों की स्वास्थ्य-रक्षा, उनकी मज़दूरी की वृद्धि और अन्य नाना प्रकार की सुविधाओं का प्रयत्न किया जा रहा है। सचमुच जनता का इतना गौरव इस युद्ध से पहले कभी न था। वास्तव में इस युद्ध में अगर किसी की जीत हुई है तो वह है जनता की जीत। इस युद्ध ने जनता के लिए वह कर दिया है जो फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने भी न किया था।

इस युद्ध-रूपी क्षीर-सागर के मथने से दूसरा फल-रत्न यह निकला है कि अब निर्बल जातियों को शक्ति-सम्पन्न जातियों का आहार नहीं बनने दिया जायगा। अब तक शक्तिशाली जातियाँ निर्बल को अपना खाद्य समझती थीं। जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त सर्वमान्य था। पोलैण्ड अपनी इच्छा के विरुद्ध जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया आदि देशों का ग्रास बना हुआ था। सर्बिया पर आस्ट्रिया के दाँत थे। राज्य-विस्तार की धुन में इस बात की रत्ती भर भी परवाह न की जाती थी कि जिन पर हम अधिकार जमाना चाहते हैं वास्तव में उनकी अपनी इच्छा क्या है। विजयी राजा अथवा साम्राज्य को अधिकार था कि परास्त देशों के जिस भाग को चाहे हड़प बैठे। यहाँ तक धाँधली होती थी कि दहेजों में राष्ट्रों के वारे-न्यारे हो जाते थे। परन्तु अब इस दुरवस्था का संशोधन हो रहा है। अब भविष्य में राष्ट्रों के साथ वस्तुओं या पशुओं के समान व्यवहार नहीं किया जायगा। प्रत्येक जाति को इस बात का अधिकार होगा कि वह अपने भाग्य का आप निर्णय करे, वह जिस साम्राज्य के अधीन रहना चाहे रहे, और, उसकी इच्छा हो तो, स्वयं अपना राज्य-शासन आप करे। हम नहीं कह सकते कि इस प्रथा का क्या फल होगा। संभव है, संसार असंख्य छोटे-मोटे राज्यों में विभक्त हो जाय, पर कुछ भी हो उसका फल इतना अवश्य होगा कि राज्यविस्तार की कुचेष्टा का लोप हो जायगा।

निर्बल जातियाँ भी निश्शंक अपना जीवन-निर्वाह कर सकेंगी। उन्हें किसी बलवान जाति के पैरों तले कुचले जाने का भय न रहेगा। वास्तव में यह समय राष्ट्रों के निर्माण का समय है। 'लीग आफ़ नेशन्स' अर्थात् जातियों की पंचायत का उद्योग हो रहा है और आशा है कि थोड़े ही दिनों में यह संस्था विद्यमान हो जायगी। सचमुच वह दिन संसार के लिए आनन्द का दिन होगा। उस समय यह बड़ी-बड़ी सेनाएँ, यह जहाजों के शक्ति-मय समूह, यह अस्त्र-शस्त्र की वृद्धि, यह संघर्षण, यह चढ़ा-ऊपरी सब भंग हो जायगी। कम से कम इतनी प्रतिद्वंद्विता न रहेगी। भारत की दीन आँखें भी इस पंचायत की ओर लगी हैं पर कौन यह कहने का साहस करेगा कि हम भी उस पंचायत में सम्मिलित होने के योग्य हैं। हमारे समाज में अभी ऊँच-नीच का विचार ज्यों का त्यों बना है। चमार अब भी अछूत है और डोमों का स्पर्श करना तो हमारे लिए घोर पातक है। मनुष्य की आत्मा की श्रेष्ठता, उसका गौरव, हम भूले बैठे हैं। हमारी दृष्टि स्थूल हो गयी है। वह शरीर के भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। उसे आत्मिक समानता, पवित्रता और व्यापकता दिखलायी ही नहीं देती। हमारे कृषक अब भी नीच समझे जाते हैं। उनसे अब भी बेगार ली जाती है, उन पर नाना प्रकार के अन्याय किये जाते हैं, स्वार्थान्ध ज़मींदार-गण उन्हें सताने और कुचलने में अब भी संकोच नहीं करते। हमारे ऊपर मूर्खता का अब भी वही पुराना साम्राज्य है। हमें या तो शिक्षा दी ही नहीं जाती या दी जाती है तो वह हमारे आदर्श से बिलकुल गिरी हुई है। सारांश यह कि उस पंचायत में सम्मिलित होने के पहले हमको बड़ी-बड़ी तैयारियाँ करनी हैं। जब तक वह तैयारियाँ पूरी न होंगी तब तक पंचायत में हमें स्थान मिलना कठिन है। हमारी राज-नैतिक और सामाजिक सुधारक संस्थाएँ अभी तक नगरों का ही चक्कर काटती रही हैं—वे बाहर नहीं निकलने पायीं। हमारी जाति, जो प्रधानतः देहातों में रहती है, बिलकुल नहीं जानती कि हम क्या कर रहे हैं। वह हमारी वेश-भूषा और भाव को देखकर हमसे कुछ पृथक-सी हो गयी है। उसे जगाना, उसे अपनाना, उसकी उपेक्षा न करके उसके प्रति प्रेम और संवेदना के भाव प्रकट करना—यह प्रत्येक स्वदेशाभिमानी का प्रधान कर्तव्य है। हमारे नगरों में राजनैतिक बयार बह चली है परन्तु हमारे देहातों में अभी तक उसका प्रवेश नहीं हुआ। यह उद्देश्य प्रत्येक स्वदेशवत्सल के सामने है। इसको पूरा करना उसका धर्म है। यह माना कि हमारी शक्तियाँ न्यून हैं, हमारे हृदय में बल नहीं, हमारी आत्मा दुर्बल हो गयी है, हमारे हाथ और पैर शिथिल पड़ गये हैं, परन्तु इन सब बाधाओं के होते हुए भी हम यह भी जानते हैं कि यदि हमको संसार में जीवित और सम्मानित रहना है तो यह बोझ हमें उठाना ही पड़ेगा। हमें प्रस्ताव पास करते-करते बहुत दिन हो गये और यद्यपि उसका कुछ न कुछ फल अवश्य निकला परन्तु समय और शक्तिव्यय को देखते हुए यह आशातीत नहीं कहा जा सकता। कारण यही था कि हमने अपने कार्य-क्षेत्र को संकुचित रक्खा। अब उसके विस्तार का समय आ गया है।

संभव है कभी यह आशा की जाती रही हो कि हिन्दुस्तान के शिक्षित लोग अपना एक अलग गुट बना लेंगे, पर अब वह स्वप्न देखना भूल है। **हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है।** जनता में अपनी योग्यता के अनुसार यह भाव पैदा करना प्रत्येक स्वदेशवासी का परम धर्म है। स्वदेश तुम्हें संदेश दे रहा है कि तुम भी मनुष्य हो, तुमको भी ईश्वर के यहाँ से समान अधिकार प्राप्त हैं। तुममें भी उन्नति करने की, गौरवशाली बनने की शक्ति मौजूद है। उठो, उससे काम लो। यह आलस्य छोड़ो, हिम्मत मज़बूत करो और परमात्मा तुम्हारे सहायक होंगे। *

'स्वदेश' प्रवेशांक, बसंत पंचमी १९७५ वि०

वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रुकावटें

स्वराज्य का वर्तमान आन्दोलन अभी तक तो कामयाबी के साथ जारी ही है लेकिन अब हालतें रोज़ ब रोज़ ख़तरनाक होती जा रही हैं। यों कुछ लोगों की दृष्टि में तो असहयोग आन्दोलन को सिरे से ही कोई कामयाबी हासिल न हुई—न लड़कों ने मदरसे छोड़े, न सरकारी मुलाज़िमों ने नौकरियाँ छोड़ीं, न वकीलों ने वकालत को नमस्कार किया, न पंचायतें क़ायम हुईं। लेकिन असहयोग के बड़े से बड़े समर्थक के ध्यान में भी यह बात न रही होगी कि इन सभी शाखों में सोलहों आना कामयाबी होगी। ऐसे मामलों में जहाँ निजी नफ़े-नुक़सान का सवाल पेश हो जाता है, सोलहों आने कामयाबी की उम्मीद करना सुनहरे सपने देखना है। यहाँ तो रुपये में आना दो आना कामयाबी हो जाय वही बहुत है और ख़ासकर हिन्दोस्तान जैसे ग़रीब देश में जहाँ सारा मामला आख़िरकार रोज़ी पर आकर रुक जाता है। फिर यहाँ बावजूद नेशनल काँग्रेस की तीस-साल लड़ाई के क़ौम ने व्यावहारिक राजनीति में अभी हाल ही में क़दम रखा है। अभी निजी हित और स्वार्थ दिलों से दूर नहीं हैं। क़दम-क़दम पर नफ़े-नुक़सान का मसला पेश हो जाता है और जब ख़याल कीजिए कि अभी दो साल पहले यहाँ की राजनीतिक हालत क्या थी—लोग बेजा ख़ुशामद और लच्छेदार बातों को राजनीति का मुख्य अंश समझते थे, यहाँ तक कि मज़हबी जलसों और मुशायरों में भी राज्य-भक्ति पर प्रस्ताव पास करना एक मुख्य कर्तव्य हो गया था—सरकारी नौकरियों के लिए कितनी दौड़-धूप, कितनी छीना-झपटी और कितनी

*** यह पत्र की सम्पादकीय नीति की घोषणा है। इसके नीचे प्रेमचंद का नाम नहीं है। पर पत्र के संचालक-संपादक पंडित दशरथप्रसाद द्विवेदी ने संकलनकर्ता से जोर देकर कहा कि प्रस्तुत सम्पादकीय उन्होंने प्रेमचंद से ही लिखवाया था—अ०**

गुप्त कार्रवाइयाँ की जाती थीं तो ऐसी हालत में यह उम्मीद करना कि किसी जादू-मन्तर से क़ौम का हर एक आदमी अपने निजी फ़ायदे को अपनी ज़िन्दगी को क़ौम पर क़ुर्बान कर देगा, असलियत की तरफ़ से आँखें बन्द कर लेना है। इसलिए हम यह दावा करना अपने तईं ठीक समझते हैं कि स्वराज्य का आन्दोलन अब तक कामयाब हुआ है। विद्यार्थियों ने सामूहिक रूप से स्कूल-कालेज न छोड़े हों लेकिन उनमें आज़ादी और सच्चाई की चेतना, सेवा और बलिदान की भावना ज़रूर पैदा हो गयी है जो आगे चलकर राष्ट्र के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी।

सरकारी नौकरों ने अपनी नौकरियाँ बहुत बड़ी संख्या में नहीं छोड़ीं लेकिन उनमें ज़्यादा नहीं तो पचास फ़ी सदी ऐसे ज़रूर हो गये हैं जो अपनी मौजूदा हालत को निराश आँखों से देखते हैं, अपने ओहदे को गौरव की या अपने रोब को बढ़ानेवाली चीज नहीं समझते, बल्कि जीविकोपार्जन की विवशता समझते हैं और अगर आज उन्हें कोई ऐसी सूरत नज़र आये जिससे वह भूख और बदहाली से बचकर ज़िन्दगी बसर करें तो ग़ालिबन वह आज ही इस्तीफा देकर अलग हो जायेंगे। वकीलों ने वकालत को सामूहिक रूप से नमस्कार न कर लिया हो लेकिन ऐसा शायद ही कोई ज़िला हो जहाँ इस्तीफ़ा दिये हुए वकील राष्ट्र की सेवा में न लगे हों और यह तो दिन की रोशनी की तरह स्पष्ट है कि वकालत के पेशे पर राष्ट्र को वह अभिमान नहीं रहा जो एक साल पहले था। कहाँ तो यह कैफ़ियत हो गयी थी कि हमारे नौजवान विद्यार्थी वकालत ही को अपना जीवन-लक्ष्य, जीवनोद्देश्य और जीवन-सर्वस्व समझते थे, सोसायटी में वकालत की बड़ी इज़्ज़त हो गयी थी और कहाँ अब यह हाल हो गया है कि जो लोग अभी तक इस पेशे में हैं और जिनमें अपने निजी स्वार्थ ने स्वाभिमान और देश-गौरव की भावना को बिलकुल ख़त्म नहीं कर दिया है वह अब सर उठाकर नहीं चल सकते। ग़रज़ कि जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जिस पर असहयोग का असर कमोबेश न पड़ा हो। खासतौर पर स्वदेशी आन्दोलन और मद्य-निषेध में तो इस आन्दोलन को बधाई के योग्य सफलता मिली है। मगर ज्यों-ज्यों हम लक्ष्य के पास पहुँचते जाते हैं, विरोधी शक्तियाँ भी ज़्यादा तेज़, ज़्यादा संगठित, ज़्यादा सजग होती जाती हैं। जब तक यह ख़याल किया जाता था कि दूसरी हिन्दोस्तानी कोशिशों की तरह यह आन्दोलन भी आखिरकार अपने ही ज़ोर से गिर जायगा और यह जोश कुछ दिनों में आप ही आप ख़त्म हो जायगा तब तक विरोधी शक्तियाँ किसी क़दर दिलचस्पी से इस दृश्य को देख रही थीं। लेकिन अब जब कि उन्हें यह लक्षण दिखायी दे रहे हैं कि यह गति केवल झोंके की गति नहीं, बल्कि भूडोल है तो उनकी दिलचस्पी विरोध की शक्ल में बदलती जा रही है। चुनांचे इस आन्दोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट शान्ति-भंग की आशंका और जानोमाल, सतीत्व और सम्मान की रक्षा का ख़याल है। दीर्घकालीन शान्त जीवन ने शान्ति को हमारे लिए खाने और हवा-पानी की तरह ज़रूरी बना रखा है। यहाँ तो मामूली हड़-

तालें भी चन्द साल पहले राष्ट्र के लिए परीशानी और भय का कारण बन जाती थीं, जाहिलों में आपसी फ़साद और लड़ाई-झगड़े हो जाते थे तो सारे मुल्क में कुहराम-सा मच जाता था। हम अपनी मीठी नींद में ज़रा भी खटका बर्दाश्त न कर सकते थे। ऐसी हालत में शान्ति भंग होने का डर अगर इस आन्दोलन को जड़ उखाड़ने पर आमादा होकर सरकार की हिमायत और उसे ताक़त पहुँचाने को अपना पहला कर्तव्य समझ ले तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे लोगों की संख्या देश में कम नहीं है—वह खुशामदी नहीं हैं, अवसरवादी नहीं हैं, सरकार के भाट बनकर अपना मतलब नहीं साधना चाहते बल्कि उन्हें सच्चे दिल से शान्ति के भंग होने और उसके डरावने नतीजों का डर है। वह जब अपनी हालत का दूसरी आज़ाद क़ौमों से मिलान करते हैं, उनके त्याग और देश-प्रेम के उत्साह को देखते हैं तो अपनी खामियों और कमज़ोरियों को देखकर उन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं होता कि हम इस कठिन लड़ाई में सफल हो सकेंगे। आरा और कटारपुर और मोपलाओं के हंगामों पर नज़र डालते हैं तो उनका यह भरोसा और भी ग़ायब हो जाता है और इस मजबूरी की हालत में वह वर्तमान व्यवस्था के सुधार और संशोधन में अपनी मुक्ति समझने लगते हैं और मजबूर होकर राज्य-भक्तों की श्रेणी में आ जाते हैं। मगर जान और माल की हिफ़ाज़त का ख़याल कोई हिन्दोस्तान की ही ख़ास चीज़ नहीं है, वह मनुष्यमात्र का स्वभाव है। मनुष्य ही का नहीं, हर प्राणी का। अपने जीवन और उसकी रक्षा की चेतना छोटे से छोटे प्राणी में भी पायी जाती है। इंसान में अपनी जीवन-रक्षा के साथ अपने माल और अपने सम्मान की रक्षा का ख़याल भी शामिल है। यह मत समझिए कि योरप और अमरीका में हर आदमी आज़ादी का इतना मतवाला है कि उस पर बलिदान होने का तैयार है। इसमें शक नहीं कि मुद्दतों आज़ादी का मज़ा उठाने और एक देश की व्यवस्था करने के बाद उनमें बलिदान की भावना अपेक्षाकृत अधिक सबल हो गयी है लेकिन ऐसे व्यक्ति हर देश में गिने-गिनाये ही होते हैं जो अपनी आत्मा या स्वाधीनता की रक्षा पर अपना सब कुछ बलिदान कर दें। अगर यह कैफ़ियत होती तो उन देशों में अनिवार्य सैनिक-सेवा की ज़रूरत ही न पड़ती, लोग खुद ब खुद अपने सीने को ढाल बनाकर मैदान में चले जाते; लेकिन कहीं भी यह कैफ़ियत नहीं है, यहाँ तक कि अब सारा योरप लड़ाई से इतना तंग आ गया है कि उसके नाम ही से उसकी रूह फ़ना हो जाती है। हाँ, जब ऐसा मौक़ा आ जाता है कि राष्ट्र और देश पर अपना सब कुछ निछावर किये बिना कोई रास्ता नज़र नहीं आता, जब यह आशंका हो जाती है कि दुश्मन के अत्याचरी हाथों से जान और माल की रक्षा न हो सकेगी तो बजाय इसके कि अपनी-अपनी दौलत को सन्दूक़चे में बन्द करके लोग उस पर बैठ जायँ, वह विवश होकर मैदान में निकल पड़ते हैं। लेकिन जब तक इतनी भीषण आशंका नहीं होती उन राष्ट्रों का उत्साह भी अपने शिखर पर नहीं पहुँचता। हमारा ख़याल है (सम्भव है कि हमने राष्ट्रीय भावनाओं

का मूल्यांकन करने में भूल की हो) कि अब सजग छात्रों में तो शायद ही कोई ऐसा बाप होगा जो अपने दो बेटों में से एक को देश की रक्षा के लिए खुशी से अलग न कर दे। आपत्ति की जा सकती है कि पिछले महायुद्ध में सैकड़ों प्रलोभनों और हिम्मत बढ़ाने की कोशिशों के बावजूद शिक्षित नवयुवकों में से बहुत कम फ़ौज में शामिल होने पर आमादा हुए। इसके कारणों की जाँच करना बहुत कठिन नहीं है। इंसान खुशी से अपनी जान देना उसी हालत में मंजूर करता है, जब निस्बतन उसे उतना ही फ़ायदा भी हो। नायब तहसीलदारी या तहसीलदारी या चन्द बीघे ज़मीन की लालच से ऊँची श्रेणी के लोग हरगिज़ हथेली पर सर लेकर आगे नहीं आ सकते। आखिर हम किस अनमोल चीज़ की हिफ़ाज़त के लिए अपनी जानें कुर्बान करते ? हम आज़ाद नहीं थे कि आज़ादी की हिफ़ाज़त के लिए मरते। व्यावसायिक, राजनीतिक और भावनात्मक, एक भी ऐसा हित हमारा न था तो क्योंकर हमारा स्वाभिमान जागता। इसलिए यह मुनासिब नहीं है कि अपनी तरफ़ से हम इतना भरोसा खो बैठें। स्वराज्य की मंज़िल आसान नहीं है। उसे तय करते-करते हम शायद सफ़र की सारी तकलीफ़ों और यातनाओं के आदी हो जायेंगे। क़रीब का रास्ता हमेशा जोखिम का हुआ करता है, हमने इसी जोखिम के रास्ते को पसन्द किया है। इसलिए हमें तकलीफ़ें और सख्तियाँ भी बहुत ज़्यादा बर्दाश्त करनी पड़ेंगी, और गो हममें से जो बहुत कमज़ोर हैं वह इन सख्तियों को झेल न सकेंगे लेकिन क़ाफ़िले में ऐसे साहसी लोग भी काफ़ी निकल आयेंगे जिन्हें यात्रा की कठिनाइयाँ और अधिक शक्तिवान, दृढ़-निश्चय, चीमड़ और निर्भय बना देंगी। हमारी सेवा-समितियाँ धीरे-धीरे अपने कर्तव्यों को समझती जा रही हैं। हमारे राष्ट्र-सेवकों की संस्थाएँ जान और माल की रक्षा की व्यवस्था कर रही हैं। यह जोश रोज़ ब रोज़ बढ़ रहा है। इसलिए बजाय इसके कि हम आनेवाले कर्तव्यों के बोध के कारण स्वराज्य से घबराने लगें, हमारा कर्तव्य है कि हम मर्दों की तरह परिस्थिति का सामना करें। यह समझना ग़लती है कि कुछ दिन और सरकार की छत्र-छाया में रहकर हम और अधिक देशभक्त हो जायेंगे और हममें देश-प्रेम की भावना ज़्यादा जानदार हो जायगी। मामूली शान्ति की हालतें अगर कोई भावना पैदा कर सकती हैं तो वह स्वार्थ-भावना, उदर-पोषण और अवसरवाद की भावना है। आज़ादी, कुर्बानी, जाँनिसारी की स्पिरिट इस जलवायु में पनप नहीं सकती। हमने मुद्दतों में यह सबक़ हासिल किया है और दुनिया के दूसरे राष्ट्रों का भी यही अनुभव है।

इस रास्ते में दूसरी बड़ी रुकावट बुद्धि और अंतरात्मा का वैर है। एक समुदाय जो शिक्षा और योग्यता में बहुत आगे बढ़ा हुआ है, और इसके साथ ही स्वराज्य का उससे कम प्रेमी नहीं है जितने कि असहयोग के समर्थक हैं, इस सादा बेतकल्लुफ़ कुदरती ज़िन्दगी को सहमी हुई नज़रों से देखता है जो असहयोग के माननेवालों की पहचान बन गयी है। वह रहन-सहन की इस क्रान्ति को, जो इस सादगी का ज़रूरी नतीजा है,

जानवर-पन क़रार देता है। उसके खयाल में यह आन्दोलन सभ्यता और संस्कृति के विकास को मिटा देना चाहती है और इस तथाकथित उन्नति और प्रकाश के युग को मिटाकर फिर उसी आदिम युग में लौट जाना चाहती है। यह समुदाय उन व्यावहारिक और वैचारिक अनुसंधानों को, उन प्राकृतिक आविष्कारों को, उस राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति को मानव बुद्धि का शिखर समझता है। वह इस झूठे आडम्बर और बनावट की ज़िन्दगी का, इस व्यावसायिक और औद्योगिक प्रतियोगिता का इतना प्रेमी हो गया है कि उसकी बुद्धि में सरल जीवन का विचार आ ही नहीं सकता। उसकी निगाह मौजूदा रहन-सहन के रौशन पहलू की तरफ़ जमी हुई है, उसके अंधेरे पहलू को वह जान-बूझकर या स्वभाववश देखना नहीं चाहता। उसे इसकी ज़रा भी परवाह नहीं है कि वर्तमान व्यवस्था ने अगर एक तरफ़ आराम के सामान इकट्ठा किये हैं तो दूसरी तरफ़ मार-काट के सामान भी इकट्ठा किये हैं; अगर एक तरफ़ व्यापार को शिखर तक पहुँचा दिया है तो दूसरी तरफ़ ज़िन्दगी को झूठी ज़रूरतों का कितना गुलाम बना दिया है। सच्चाई यह है कि हवाई जहाज़ और मोटर और दूसरे आश्चर्यजनक आविष्कारों ने इस समुदाय की आँखों को चुंधिया दिया है। वह नहीं देखता कि मानव जाति को इन चीज़ों के लिए क्या क़ीमत अदा करनी पड़ती है, कितनी जानें जाती हैं, कितनी मेहनत बेकार जाती है। इसी व्यापारिक धुन के कारण आजकल दुनिया जीवन-संग्राम का घरौंदा बनी हुई है। यह खींचतान हमारे सामाजिक जीवन का, हमारे दर्शन का एक अटल सिद्धान्त और व्यवहार बन गयी है। उसने हमारे स्वार्थों को, हमारी व्यक्तिवादिता को, हमारी लाभ-हानि की चिन्ता को एक पागलपन की हद तक पहुँचा दिया है। उसी ने सबल राष्ट्रों को इस ओर प्रेरित किया है कि वे दुर्बल राष्ट्रों को यातनाएँ दें, ग़रीबों को मारें और उन पर ज़ुल्म करें। सादा रहन-सहन का समर्थक इन ऊपरी दिखावे की चीज़ों के लिए इतनी बड़ी क़ीमत देना पसन्द नहीं करता। उसे वर्तमान सांस्कृतिक व्यवस्था पर ज़रा भी भरोसा नहीं रहा। उसे तनिक भी यह आशा नहीं है कि यह व्यवस्था अपने विकास के शिखर पर पहुँचकर संसार की मुक्ति का कारण बन जायगी। वह समझता है कि आग लग जाती है तो उसी वक़्त बुझती है, जब उसे जलाने को कोई और चीज़ नहीं मिलती। उसे यक़ीन है कि मौजूदा स्पिरिट का (जो सर से पैर तक स्वार्थ से भरी हुई है) उसी वक़्त ख़ातमा होगा जब उसे अपनी ग़रज़ का निशाना बनाने के लिए, अपने स्वार्थ की बलिवेदी पर चढ़ाने के लिए कोई कमज़ोर क़ौम बाक़ी न रह जायगी। इसी अकेले-अकेले मौज उड़ाने और स्वार्थ की भावना ने अमरीका की इण्डियन क़ौम, अफ्रीका के हब्शियों और आस्ट्रेलिया के असली बाशिन्दों को क़रीब-क़रीब नेस्तनाबूद कर दिया। अगर हिन्दोस्तान में अभी तक कुछ जान बाक़ी है तो यह हाकिम क़ौम की दरियादिली या हमदर्दी के कारण नहीं बल्कि हिन्दुस्तान की उसी सांस्कृतिक व्यवस्था के कारण जो उसके पुरखों ने हज़ारों बरस पहले ठीक कर दी

थी। असहयोग का समर्थक राष्ट्र के मानसिक पतन को रोज़ ब रोज़ बढ़ते देखकर राष्ट्र के जीवन की ओर से निराश हो जाता है। उसे मदरसों की तादाद से, रेलों के बढ़ने से, मुलाज़िमों की तरक़्क़ी से, मोटरों की संख्या-वृद्धि से, मिल और कारखानों की उन्नति से संतोष नहीं होता। वह इन चीज़ों को जीवन का विकास नहीं समझता। वह विकास को आध्यात्मिक विकास समझता है, आचार और अन्तःकरण का विकास समझता है। व्यावसायिक उन्नति को वह ग़रीबों की वध-भूमि समझता है। कौन यह दावा कर सकता है कि बीसवीं सदी की दुनिया रामायण और ईसा व बुद्ध के युग से ज़्यादा सदाचारी, ज़्यादा उदार, निःस्वार्थ हो गयी है। क्या इस ज़माने में भी बुद्ध और अशोक की-सी मिसालें मिल सकती हैं? क्या आज भी हज़रत ईसा का अवतार हो सकता है? जिस युग में संतोष का मतलब पतन हो उसमें चारित्रिक विकास के लिए गुंजाइश नहीं हो सकती। कवि और योगी आज भी संतोष की प्रशस्ति में राग अलापते हैं, वह आज भी विनय, परोपकार और सहिष्णुता की तारीफ़ करते हैं लेकिन उनकी सुनता कौन है? दुनियावालों के कानों पर जू नहीं रेंगती। वह अपने फ़ायदे और ग़रज़ में इस क़दर डूबे हुए हैं कि उन्हें ऐसे मसलों पर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं है। कहा जा सकता है, क्या आजकल ईसाइयों के बड़े-बड़े मिशन नहीं हैं, क्या सालवेशन आर्मी दुनिया को मुक्ति का संदेश नहीं सुनाती फिरती, क्या आज भी पार्लियामेण्ट में हिन्दोस्तान के समर्थक मौजूद नहीं हैं, क्या लड़ाई के दौरान में हज़ारों मर्दों और औरतों ने घायलों की तकलीफ़ें दूर करने में अपनी जानें कुर्बान नहीं कीं? क्या इस महायुद्ध की ज़िम्मेदारी को अपने सर लेने का किसी क़ौम को हौसला हो सका? हम मानते हैं कि यह ज़रूर मौजूदा ज़माने का रौशन पहलू है मगर उस अँधेरे पहलू के मुक़ाबिले में कितना परछाईं-जैसा, कितना धुंधला, कितना मद्धिम। इसके विपरीत पुरानी व्यवस्था में संतोष और इन्द्रिय-दमन और उदार-दृष्टि कम से कम ऊँचे वर्ग के लिए जीवन का मूल-मंत्र बन गयी थी। पैसेवाले, वैभववाले, महज़ ज़कात निकालकर ग़रीबों को दान देकर संतोष न कर लेते थे जैसा कि आजकल होता है। अच्छे आन्दोलन प्रदर्शन या राजनीतिक चालबाज़ियों पर आधारित न होते थे बल्कि उनकी तह में सच्चा जोश और सच्ची निष्ठा होती थी। कमज़ोरों की हिमायत के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हो जाती थीं, न कि एक ताक़तवर कौम किसी कमज़ोर क़ौम को बर्बाद करती रहे और दुनियावाले तमाशा देखा करें, उनकी रगों में स्वाभिमान और मानव-प्रेम ज़रा भी न दौड़ता हो। सरल जीवन के समर्थक फिर उसी प्राचीन प्राकृतिक जीवन का दृश्य देखना चाहते हैं जब मनुष्य को अपनी वृत्तियों के संस्कार और अपने आचार को परिष्कृत करने के अवसर मिलते थे और सारा वक़्त ईर्ष्या-द्वेष में न जाता था, जब वह प्राकृतिक भोजन करता था, प्राकृतिक पानी पीता था, प्राकृतिक कपड़े पहनता था, जब धन-ऐश्वर्य का विभाजन इतना विषम न था, जब व्यापार का नशा

इतना जानलेवा न था, जब मनुष्य इतना स्वार्थी न था। हिक़ारत से कहा जाता है, क्या तुम लोग माओरी या जुलू या काफ़िर क़ौमों के साथ-साथ चलना चाहते हो ? इन क़ौमों ने कौन से बौद्धिक या नैतिक विकास का प्रमाण दिया है ? हम कहते हैं यह क़ौमें वहशी सही, जंगली सही, निरक्षर सही, नंगी सही, हम उन्हें मौजूदा तहज़ीब के ख़ूंखार दरिन्दों से, रंगे हुए सियारों से, शिकारी राजनीतिज्ञों से, ख़ून पीनेवाले अत्याचारी व्यापारियों से कहीं बेहतर समझते हैं। वह जानवरों को मारकर खाते हैं, अपने भाइयों का ख़ून नहीं चूसते। वह गुफाओं में और पेड़ों पर रहते हैं, उन महलों में नहीं रहते जिनकी बदौलत हज़ारों आदमियों को बदबूदार गलियों और सड़कों पर सोना पड़ता है। वह नंगे बदन रहते हैं, ऐसे कपड़ों से अपने शरीर की शोभा नहीं बढ़ाते जो ईर्ष्या-द्वेष और घमंड के बीज बोते हैं, जिनसे भोले-भाले आदमियों को धोखे और फ़रेब का शिकार किया जाता है। मगर हमसे माओरियों और काफ़िरों की उपमा देना उतना ही अन्यायपूर्ण है जितना मौजूदा व्यापारियों को ख़ूंख़ार दरिन्दों से मिलाना। माओरी और जुलू या तो अभी हैवानियत के दायरे से दस ही पाँच सदी पहले निकले हैं या उनकी पुरानी सभ्यता का बिलकुल लोप हो गया है। हम उस गुज़रे हुए ज़माने को लौटाने के दावेदार हैं जब वेद की सृष्टि हुई थी, जब दर्शनशास्त्र लिखे गये थे, जब बुद्ध और हज़रत ईसा जैसे महात्मा पैदा हो सकते थे, जब तौरैत★ संगृहीत हुई थी। कहने का मतलब यह कि बुद्धि और आध्यात्मिकता की यह खींचतान वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में भयानक रुकावट होगी और जब उसके समर्थक रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे दूरदर्शी, गहरी नज़रवाले लोग हैं तो इस रुकावट को रास्ते से हटाना आसान न साबित होगा।

मगर इस वास्तविकता से भी अधिक बाधक और हिम्मत को तोड़नेवाला वह स्वार्थों का टकराव है जिसके एक तरफ़ ज़मीन्दार और पूंजीपति हैं और दूसरी तरफ किसान और मज़दूर। वर्तमान आन्दोलन सत्य और न्याय और जनतन्त्र के स्तम्भों पर आधारित है इसलिए अनिवार्यतः सब की हमदर्दी मज़दूरों और किसानों के साथ है। काँग्रेस पहले भी मध्यवर्ग का आन्दोलन थी जिसमें ज़मीन्दार और पूंजीपति यहाँ-वहाँ इक्का-दुक्का थे। अधिकांश संख्या वकीलों, प्रोफ़ेसरों और पत्रकारों की थी जो न पूंजीपति हैं और न ज़मीन्दार। हाँ, उस वक़्त किसानों और मज़दूरों में चूँकि राजनीतिक चेतना पैदा न हुई थी इसलिए काँग्रेस भी स्पष्टरूप से उनके अधिकारों और उनकी माँगों का समर्थन न करती थी। इस दौरान में जनतन्त्र ने सारी धरती को अपने बस में कर लिया है और हिन्दोस्तान में भी उसका हरावल आ पहुँचा है। काँग्रेस में जनता का अंश प्रधान हो गया है और असहयोग ने एक जनतांत्रिक आन्दोलन का रूप ले लिया है। उसके ज़िम्मेदार काम करनेवालों ने भी स्पष्ट रूप से बार-बार इस सम्बन्ध

★ **वह आस्मानी ग्रंथ जो हज़रत मूसा पर उतरा था।**

में घोषणा की है। जगह-जगह किसान-सभाएँ, मज़दूर-सभाएँ क़ायम हो गयी हैं और उनके काम करनेवाले -अक्सर काँग्रेस के ही कार्यकर्ता हैं। ऐसी हालत में पैसेवालों और ज़मीन्दारों का काँग्रेस से विमुख हो जाना बिलकुल समझ में आनेवाली बात है, हालाँकि इस वक़्त जनतन्त्र की जो लहर चारों तरफ़ आयी हुई है, और वक्त का जो तक़ाज़ा है उसके कारण अभी तक ये वर्ग पूरी तरह काँग्रेस से अलग नहीं हुए हैं। कितने ही बड़े-बड़े मिलों के मालिक, कितने ही बड़े-बड़े पूंजीपति और ज़मीन्दार उसके हमदर्द हैं और कम से कम रुपये-पैसे से उसकी मदद करते हैं। तब भी यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इन समुदायों की हमदर्दी रोज़ ब रोज़ कम होती जा रही है और बहुत मुमकिन है कि आगे चलकर यह लोग अपने स्वार्थ और हित और अधिकारों को काँग्रेस जैसी जनतान्त्रिक संस्था के हाथों में सुरक्षित न समझें। अब भी उसके लक्षण दिखायी दे रहे हैं। अमन सभाओं में ज़्यादातर ज़मीन्दार ही शामिल हैं। उन्हें अब सरकार का दामन पकड़ने के अलावा अपनी मुक्ति का और कोई रास्ता दिखायी नहीं देता। वह अपने उन अधिकारों से हाथ नहीं खींचना चाहते जो सरकार ने समय-समय पर सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के विचार से उन्हें दिये हैं। वह उन फटी-पुरानी सनदों और बोसीदा फ़रमानों की बुनियाद पर अपनी पुरानी या मौजूदा हैसियत को क़ायम रखना चाहते हैं। उन्हें इसकी खबर नहीं है कि जनतन्त्र का तूफ़ान बहुत जल्द उनके उन फटे-पुराने पन्नों को तार-तार करके बिखेर देगा और आगे चलकर उनकी हैसियत इंसाफ़ और सच्चाई ही पर क़ायम रहेगी। सरकार उनकी कितनी ही हिमायत करे मगर जनतन्त्र के तूफ़ान से उन्हें नहीं बचा सकती। दुनिया ने उसके आगे सर झुका दिये हैं। बड़ी-बड़ी ताकतवर सलतनतों ने हमारे देखते-देखते उसके आगे सर झुका दिये हैं तो हिन्दोस्तान की सरकार कब तक पर्दे और टट्टियों से उसके ज़ोर को रोक सकेगी। इसलिए अब पूंजीपतियों और ज़मीन्दारों का रवैया यह होना चाहिए कि हथियार डाल दें। होनी और तक़दीर के लिखे के आगे सिर झुकायें। इस वक़्त अगर वह अपने असामियों की माँगें पूरी कर देंगे तो शुक्रिए और एहसान के हक़दार होंगे। उनकी दानशीलता और उदारता का सब लोग बखान करेंगे, जनता उनका सम्मान करेगी, उन पर अपने प्राण न्यौछावर करेगी। लेकिन अगर इस वक़्त उन्होंने कृपणता और अनुचित दुराग्रह से काम लिया तो साल दो साल में उन्हें यह माँगें मज-बूरन पूरी करनी पड़ेंगी, कोई शान बाकी न रहेगी, रोबदाब खाक में मिल जायगा। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मज़दूर और किसान एक होकर जो चाहें कर सकते हैं। उनकी शक्ति असीम है। वह जब तक बिखरे हुए हैं, घास के टुकड़े हैं, एक होकर जहाज़ को खींचनेवाले रस्से हो जायँगे। अब वह ज़माना नहीं रहा कि पूंजीपति ७५ फ़ी सदी मुनाफ़ा बाँट लें और मज़दूरों को ज़िन्दगी की ज़रूरतें भी नसीब न हों, वह हवा और रोशनी से भी वंचित रहें; पूंजीपति तो पेरिस और स्विटज़रलैण्ड की सैर करते

फिरें और मज़दूर को सुबह से शाम तक सर उठाने की भी मुहलत न मिले ; ज़मीन्दार या ताल्लुक़ेदार साहब तो ऐश मनाएँ, शिकार खेलें, दावतें दें और किसानों को रोटियाँ भी नसीब न हों, उसकी कमाई नज़राने, बेगार, हारी, डाँड़, चुल्हाई, खटियाई वग़ैरह की सूरतों में ज़मीन्दार के लिए ऐश का सामान जुटाये। वह कुछ दिनों तक शायद सरकार की मदद से असामियों और मज़दूरों पर ज़बर्दस्ती हुकूमत करते रहें लेकिन वह ज़माना दूर नहीं है जब सरकार की ओर से भी उन्हें निराश होना पड़ेगा। उनका हित काँग्रेस का विरोध करने में नहीं है, बल्कि उसका साथ देने में है ताकि हिसाब के रोज़ काँग्रेस की हमदर्दी उनके साथ रहे। बहरहाल, इन वर्गों से काँग्रेस को विरोध की बहुत अधिक आशंका है और स्वराज्य के आन्दोलन में उनका बाधक होना तय बात है।

इस मसले से कहीं ज्यादा पेचीदा, नाज़ुक और अहम मसला हिन्दू-मुस्लिम एकता है। यह ठीक है कि दोनों सम्प्रदायों के नेताओं ने एकता और भाईचारे के सम्बन्ध को अब तक खूबसूरती से निबाहा है लेकिन यह कहना सच्चाई से इनकार करना है कि उनके माननेवालों की दृष्टि भी उतनी ही व्यापक और उनके इरादे भी उतने ही सुथरे और उनके मानदण्ड भी उतने ही ऊँचे हैं। और जब यह याद कीजिए कि कुछ साल पहले दोनों सम्प्रदाय छोटी-छोटी नौकरियों के लिए कितनी तंगदिली का सबूत देते थे, आपस में कितना मैल, कितना द्वेष था, तो यह स्थिति ऐसी समझ में न आ सकने योग्य नहीं मालूम होती। बेशक अभी तक उस अविश्वास और वैमनस्य और प्रतिद्वन्द्विता का असर बाक़ी है लेकिन क्या यह कुछ इत्मीनान दिलानेवाली बात नहीं है कि जहाँ पहले दोनों सम्प्रदायों के नेता आपस की घृणा और परायेपन की सीख दिया करते थे, जहाँ आपसी फूट और वैमनस्य का सामान राष्ट्र के प्रतिनिधियों के हाथों एकत्र होता था, वहाँ अब यह लोग भाईचारे, एकता और आपसी प्रेम का दम भरते हैं। मौलाना मुहम्मद अली के क़लम से 'कामरेड' के कालमों में गो-हत्या के समर्थन में सैकड़ों ज़ोरदार लेख निकल चुके हैं। वह इसे अपना राष्ट्रीय कर्तव्य, अपना अधिकार, अपना मज़हबी मसला समझते थे। लेकिन अब वही मुहम्मद अली अपने मुस्लिम भाइयों से पुकार-पुकारकर कहते हैं कि अपने देशभाइयों की ख़ातिर से गाय की रक्षा करो, उसे पवित्र समझो। पिछली बक़रीद के मौक़े पर कई मुसलमान नेताओं ने अपने मिल्लती भाइयों के हाथों से गायें लेकर हिन्दुओं को दे दीं। जनता अपने नेताओं के पदचिन्हों पर चलती है। जब नेताओं का दिल साफ़ हो गया तो जनता का दिल भी जल्द या देर से साफ़ हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी और उर्दू लिपि दोनों सम्प्रदायों के बीच एक झगड़े की चीज़ थी। अब हिन्दू उर्दू का विरोध करते नहीं सुनायी देते और न मुसलमानों की तरफ़ से हिन्दी की मुख़ालिफ़त की सदा सुनायी देती है। अक्सर हिन्दू साहबान मोपलाओं के हंगामे की वजह से चिढ़ गये हैं और उन्हें डर है कि हुकूमत बदलने की सूरत में कहीं उन्हें मुसलमानों के हाथों ऐसी ही ज़्याद-

तियाँ न बर्दाश्त करनी पड़ें, इसलिए वह घबराहट में स्वराज्य से घृणा करने लगते हैं। उन बेजा कार्रवाइयों के आँखों-देखे हालात पढ़-पढ़कर उनका खून उबलने लगता है और मायूसी की हालत में वह वर्तमान शासन-व्यवस्था का क़ायम रहना ही देश के लिए जरूरी समझते हैं। मोपलाओं की पागलों और वहशियों-जैसी हरकतों पर जितनी नफरत जाहिर की जाय कम है। मुसलमानों ने और उनके मौलवियों ने बुलन्द आवाज में इन हरकतों की निन्दा की है और हमको यक़ीन है कि कोई जिम्मेदार मुसलमान आज मोपलाओं की हिमायत करने पर आमादा न होगा। इससे ज्यादा मुसलमान लीडरों के क़ाबू में और क्या था। अगर इस इलाके में मार्शल ला जारी न होता और मुसलमानों के नेता वहाँ दाखिल हो सकते तो शायद यह हंगामा खत्म हो चुका होता। और जब तक मुल्क में एक ऐसी तीसरी ताक़त मौजूद है जिसका अस्तित्व हिन्दू-मुस्लिम फूट पर क़ायम है तो वह अपने अस्तित्व की आवश्यकता को प्रमाणित करने के लिए इस किस्म की हरकतें करें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इस तीसरी ताक़त का अस्तित्व इसी आधार पर बना रह सकता है। देश में स्वराज्य होता तो इस क़िस्म के झगड़े अव्वल तो होने ही न पाते, अधिकारी पहले ही से रोक-थाम करते और अगर हो भी जाते तो उन्हें तत्काल समाप्त कर दिया जाता। देश में ऐसे शक्की लोगों की भी एक जमात मौजूद है, जो खिलाफ़त के आंदोलन को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें ईरान, अफ़गानिस्तान, हिजाज़, तुर्की, बुखारा वगैरह स्वतन्त्र राज्यों के बीच में आठ करोड़ मुसलमानों का अपने देश में साथ-साथ रहना खतरे से खाली नहीं नज़र आता। उन्हें इसका अन्देशा है कि इन आठ करोड़ मुसलमानों की हमदर्दी दूसरे स्वतन्त्र मुस्लिम राज्यों के साथ होगी, इसलिए वह अंग्रेजों की छत्र-छाया में रहना अधिक निरापद समझते हैं। इस जमात का यह भी खयाल है कि हिंदोस्तान समुद्र की ओर से अपनी रक्षा करने के योग्य नहीं है इसलिए उसके दिमाग़ पर यह बात छायी हुई है कि उसे किसी न किसी दूसरी ताक़त की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी। ऐसे लोगों का जवाब इसके सिवाय और क्या हो सकता है कि वहम (सन्देह) की दवा लुक़मान के पास भी नहीं है। जब अंग्रेजी सरकार जैसी संगठित, असीम शक्तिशाली, दुनिया भर में छायी हुई ताक़त हिन्दोस्तान में रहना फ़ायदे से खाली समझेगी तो यह ग़ैर-मुमकिन है कि किसी दूसरी ताक़त को यहाँ क़दम जमाने का हौसला हो। जो शख्स मन भर का वज़न उठा सकता है, उसे दो-चार पसेरियों से डर जाने की क़तई ज़रूरत नहीं। जब हम नज़रों के सामने देख रहे हैं कि चीन और ईरान अलग अपनी हस्ती क़ायम रख सकते हैं, अमरीका में दर्जनों छोटे-छोटे राज्य क़ायम हैं, जिन्हें संयुक्त राज्य अमरीका किसी दिन अपने अधीन कर सकता है, तो कोई कारण नहीं कि हिन्दोस्तान अलग अपनी हस्ती क़ायम न रख सके। क्या जो कारण चीन और ईरान, ब्राज़ील और अर्जेण्टाइना को दूसरों के हस्तक्षेप से सुरक्षित रख सकते हैं, जिनके चलते अब

तक अफ़ग़ानिस्तान आज़ाद चला आता है, वह मिट जायँगे ? चीन अब तक कभी सँभल चुका होता अगर जापान उसे सँभलने देता । सौभाग्य से हिन्दोस्तान के क़रीब ऐसी कोई बड़ी ताक़त नहीं जिसकी ओर से हमको हस्तक्षेप की आशंका हो । रहे अपने देश के आठ करोड़ मुसलमान । अव्वल तो हमको अपने दिल से यह ख़याल निकाल देना चाहिए कि हमारे यह देश-भाई अब भी हम पर हुकूमत करने का इरादा रखते हैं क्योंकि हिन्दू संख्या में, धन-दौलत में, शक्ति में मुसलमानों से किसी तरह कम नहीं हैं । यों भी तो स्थानीय झगड़ों में वही फ़रीक़ ऊपर रहता है जिसकी संख्या वहाँ ज़्यादा है । मसलन आरा, चम्पारन, शाहाबाद, गया वग़ैरह में जब झगड़े हुए तो मुसलमानों को हार खानी पड़ी और अब मोपलाओं के हंगामे में हिन्दुओं की हार हो रही है । मगर जब सामूहिक रूप से दोनों शक्तियाँ एक दूसरे का सामना करेंगी तो नुक़सान और बर्बादी का ख़तरा मुसलमानों को हो सकता है, न कि हिन्दुओं को । हम मनुष्य की प्रकृति को इतना गिरा हुआ नहीं समझते कि जब दोनों सम्प्रदाय आपसी भलाइयों और सम्मिलित हितों के बन्धन में बँध जायँगे, जब मुसलमान देखेंगे कि हिन्दुओं ने नाज़ुक वक़्त में हमारा साथ दिया और हमारी ख़िलाफ़त को बचाया और हिन्दू देखेंगे कि मुसलमानों की मदद से हमें स्वराज्य मिला और हमारी गऊ माता की रक्षा हुई और सबसे बड़ा यह ख़तरा आँख के सामने होगा कि हमारे दरमियान बदमज़गी हुई और किसी तीसरी ताक़त ने उससे फ़ायदा उठाया, तब भी हम एक-दूसरे से बदगुमान होते रहेंगे और उसे नुकसान पहुँचाने की कोशिश करते रहेंगे ! अभी तक दोनों सम्प्रदायों को एकता की डोर में बाँधने की कभी कोशिश नहीं हुई, अगर कोशिश हुई तो उन्हें लड़ा देने की । अगर उस ताक़त का असर न होता जिसका फ़ायदा दोनों सम्प्रदायों के आपसी संघर्ष में है तो ज़माने और वक़्त के तक़ाज़े ने इन दोनों सम्प्रदायों को अब तक कब का एक संगठित और एकताबद्ध राष्ट्र बना दिया होता । सन्देह दुर्बलता की निशानी है और नैतिक कायरता का प्रमाण । उस शख़्स की ज़िन्दगी अजीरन है जो दरो-दीवार को चौकन्नी नज़रों से देखता रहे, जिसे अपने चारों तरफ़ दुश्मन ही दुश्मन नज़र आयें, कहीं दोस्त की सूरत न दिखायी पड़े । यह अपनी कमज़ोरी की स्वीकृति है । इसका इलाज किसी मित्र या सहायक की तलाश में नहीं है बल्कि इसके लिए अपने शरीर में ताक़त और दिल में हिम्मत पैदा करनी चाहिए । हिन्दुओं को अपनी सामाजिक-प्रणाली में, अपने धार्मिक रीति-रिवाज में ऐसे सुधार करने चाहिए कि उन्हें अपने देश के रहनेवाले दूसरे लोगों से डर न बाक़ी रहे, क्योंकि स्वराज्य क्या दुनिया की कोई ताक़त कमज़ोरों को ज़ुल्म से नहीं बचा सकती । अक्सर शिकायतें सुनने में आती हैं कि मुसलमान हिन्दू औरतों को बहकाकर उनसे निकाह कर लिया करते हैं, मुसलमान हिन्दुओं को मुसलमान बना लेते हैं । यह बहुत कम सुनने में आता है कि किसी हिन्दू ने किसी मुसलमान औरत को

बहकाया या किसी मुसलमान को हिन्दू बनाया। इसका कारण हिन्दुओं की धार्मिक और सांस्कृतिक संकीर्णताएँ हैं और जब तक वह इन संकीर्णताओं को दूर न करेंगे इस किस्म की शिकायतें हरगिज़ बन्द न होंगी। बहरहाल, हिन्दू-मुस्लिम एकता का मसला निहायत नाज़ुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और ज़ब्त और रवादारी से काम न लिया गया तो यह स्वराज्य के आन्दोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट साबित होगा। मौलाना शौकत अली ने अपने कराची के भाषण में मुसलमानों से खिलाफ़त के लिए चन्दे की अपील करते हुए कहा था कि अगर तुम्हें एक रुपया इस मक़सद के लिए देना है तो बारह आना खिलाफ़त को दो और चार आना काँग्रेस को। उसी तरह हिन्दुओं से उनकी यह अपील थी कि तुम रुपये में चौदह आना काँग्रेस को दो तो खिलाफ़त को भी भूल न जाओ और दो आने उसे भी दो। इस पर अनेक हिन्दू पत्र, तरह-तरह की टीका-टिप्पणियाँ कर रहे हैं। दोनों आन्दोलनों का मुसलमानों की दृष्टि में जो आपेक्षिक महत्व है।उसका उनकी इस अपील से काफ़ी प्रमाण मिल जाता है। हमें इस अपील में आपत्ति के योग्य कोई बात नहीं दिखायी पड़ती। खिलाफ़त की हिमायत मुसलमानों के लिए मज़हबी सवाल है। हिन्दुओं को इस मसले से जो कुछ हमदर्दी है वह मुसलमानों की खातिर से है। मुसलमान अपने मज़हब की हिमायत को अपना पहला कर्तव्य समझते हैं और इसका उन्हें पूरा अधिकार है। राष्ट्रीयता का प्रश्न कोई सनातन प्रश्न नहीं है। बहुत मुमकिन है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीयता की समस्या ग़ायब हो जाय और सारी दुनिया में भाईचारे की एक ही व्यवस्था फैल जाय। इस आन्दोलन का आरम्भ श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कर दिया है और दुनिया के उद्‌बुद्ध विचारकों ने बड़ी उदारता से उसका स्वागत किया है। मगर मुसलमान हमेशा मुसलमान रहेंगे, हिन्दू हमेशा हिन्दू। हम यह नहीं कहते कि खिलाफ़त का मसला मुसलमानों के लिए खालिस मज़हबी मसला है। नहीं, उसमें सांसारिक शक्ति प्राप्त करने का विचार भी निहित है। कोई मज़हबी ख़याल दुनिया से खाली नहीं हो सकता। धार्मिक व्यवस्था का अस्तित्व ही दुनिया को आगे बढ़ाने के लिए अमल में आता है। केवल आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति के लिए किसी धर्म की ज़रूरत ही नहीं, उसके लिए आत्मा का परिष्कार ही काफ़ी है। हिन्दुओं को स्वराज्य की ज़रूरत अगर सांसारिक शक्ति के लिए नहीं तो और किस लिए है, आध्यात्मिकता के शिखर का द्वार तो अब भी बन्द नहीं है? इसलिए अगर मुसलमानों को अपने देश से अपना मज़हब चौगुना ज्यादा प्यारा हो तो हिन्दुओं को शिकायत या बदगुमानी का कोई मौक़ा नहीं है। जब इस वक्त दोनों आन्दोलनों की सफलता आपस में मिली हुई है, एक को छोड़कर दूसरी हरगिज़ सफल नहीं हो सकती, तो इस तरह बाल की खाल निकालने की प्रवृति को उठाकर ताक़ पर रख देना चाहिए और इस वास्तविकता को स्वीकार कर लेना चाहिए कि मुसलमानों को धार्मिक आधार पर खिलाफ़त से जो मुहब्बत है वह हिन्दोस्तान से नहीं हो सकती, उसी

तरह जैसे हिन्दुओं को धार्मिक और सांसारिक दृष्टि से हिन्दोस्तान से जो प्रेम है वह ख़िलाफ़त से नहीं हो सकता। खिलाफ़त को मदद की ज़रूरत है, वह कौन करे? अगर मुसलमान अपनी सारी शक्ति स्वराज्य के लिए लगा दें और हिन्दुओं को ख़िलाफ़त से उतना गहरा सम्बन्ध नहीं है तो खिलाफ़त की मदद कौन करे? हिन्दू पत्र तो जब खुश होते कि मुसलमान हिन्दुओं की तरह अपनी शक्ति का तीन-चौथाई हिस्सा स्वराज्य के लिए लगाते और सिर्फ एक चौथाई ख़िलाफ़त के लिए। ऐसी हालत में ख़िलाफ़त को हिन्दोस्तान से जो आर्थिक सहायता पहुँचती वह स्पष्ट है। ग़रज़ यह कि यह बेकार की बदगुमानी और नुक्ताचीनी है। हिन्दुओं के लिए मुसलमानों के हृदय-परिवर्तन की इससे अच्छी कोई सूरत नहीं है कि वह यथा शक्ति ख़िलाफ़त की सहायता करें और आपस में ऐसी एकता की बुनियाद डालें जो हमेशा कायम रहे।

ज़माना, दिसम्बर १९५२ ई०

नया वर्ष

वैशाख से हमारे नये वर्ष का आरम्भ होता है। हम नये उत्साह, नयी आकांक्षाओं तथा नये हौसलों से इसका स्वागत करते हैं। गत वर्ष हमारी तपस्याओं का समय था उसने हमें परीक्षाग्नि में भलीभाँति तपाया, हमारी दृढ़ता को, व्रत को, आदर्श को खूब आज़माया, और हम उन परीक्षाओं में सफल निकले। हमने अपने अहिंसा-व्रत से, अपने आत्म-बल से, अपनो अदम्य नैतिक शक्ति से दुनिया के सामने आत्मोद्धार का एक महान उज्ज्वल आदर्श रख दिया, हमने दिखा दिया कि इस गयी-बीती दशा में भी हम सत्य और धर्म पर कितने आरूढ़ हो सकते हैं। संसार में और कौन-सा देश है, जहाँ बालक, जवान और बूढ़े सभी समान उत्साह से जेल की कठिन से कठिन यंत्रणायें सहने के लिए तैयार हो जायँ? खेलकूद पर जान देनेवाले बच्चे पुलिस के डंडों का वीरों की तरह सामना करें? गर्म खूनवाले युवक जो नाक पर मक्खी को नहीं बैठने देते गालियों और गोलियों की वर्षा में अचल और अटल खड़े रहें! और अपने शान्ति-भवन में बैठनेवाले बूढ़े हँसते और जय-ध्वनि करते हुए जेल चलें? संसार ने हमारे इस त्याग को देखा और विस्मित हो गया—अगर ऐसे प्राणी हैं जिन्हें इस त्याग और तपस्या की ओट में अराजकता और रक्त और अशान्ति छिपी हुई मालूम होती है तो वह या तो हृदय-शून्य ऐंग्लोइंडियन हैं या हमारे लिबरल मित्र।

नौकरशाही को पहले हमारे व्रत पर विश्वास न था। वह इसे कौन्सिल की वक्तृताओं की भाँति निरर्थक, अप्राकृतिक और सामर्थ्यहीन समझती थी, पर जब शनैः शनैः उसे संग्राम की सात्विकता का अनुभव हुआ तो उसके हाथ-पाँव फूल गये, उसने

इस सत्याग्रह का प्रतिकार करने के लिए पशुबल का आश्रय लिया और इतनी क्रूरता से आघात करने शुरू किये कि चन्द महीनों ही में सत्याग्रहियों का बड़ा भाग—जो इस आन्दोलन का प्राण था—जेलखानों में डाल दिया गया। इस आत्मसमर्पण ने इतना सवेग प्रवाह धारण किया कि शंका होने लगी कि इस आवेग में वह किनारे के गाँवों, खेतों और वृक्षों को न बहा ले जाय—आन्दोलन का निर्माण कारक विभाग निर्जीव न हो जाये। अतएव हमारे कुशल महारथी ने हमारी गति को मन्द कर दिया। इसी स्थिति में वर्ष का अन्त हो रहा है।

संसार के विस्तृत क्षेत्र में भी कुछ ऐसी ही स्थिति हो रही है, अंतर केवल यह है कि वहाँ स्वार्थ का स्वार्थ से, द्वेष का द्वेष से, कूटनीति का कूटनीति से, संग्राम हो रहा है। गत वर्ष संसार में शान्ति की व्यवस्था करने के लिए सम्मेलनों का ताँता बँधा रहा। मंत्रिदल आये और गये, पत्रों में खूब चहल पहल रही, संसार के कोने-कोने में शान्ति की खोज की गयी पर उसका निशान न मिला—हृदयस्थल में ढूँढ़ने की किसी को न सूझी। इस समय जेनेवा में बड़े समारोह से सम्मेलन हो रहा है। इससे बड़ी-बड़ी आशाएँ की गयी थीं, वह रूस में, निकट-पूर्व में शान्ति का उद्भव करनेवाला था; ....पर अन्य सम्मेलनों की भाँति यह उद्योग भी निष्फल होता दिखायी देता है, फ्राँस का विजयमद, इंगलैंड की स्वार्थनीति और यूनान की निरंकुशता उसका सर्वनाश किये डालती है।

नया वर्ष हमारे लिए कर्तव्यों का गुरुतर भार साथ लाया है। वह संगठन ! संगठन ! की ध्वनि करता हुआ आ रहा है। गत वर्ष हमने बहुत कुछ तपस्या की। हज़ारों वीरों की भेंट चढ़ायी, किन्तु उचित संगठन न होने के कारण हम अपने अहिंसा-व्रत का समुचित रीति पर पालन न कर सके। हमारी समग्र शक्तियाँ केवल एक ही धारा में प्रवाहित होती रहीं। इस वक्त हमें अपनी बिखरी हुई शक्तियों को समेट कर उनका सदुपयोग करना है। खद्दर बुनना और उसका प्रचार करना, काँग्रेस के मेम्बर बनाना और धन एकत्र करना, कपास की खेती को प्रोत्साहन देना, राष्ट्रीय शिक्षा-लायों को सुव्यवस्थित करना और उनके संचालन के लिए कोष जमा करना, समस्त भारत को स्वराज के घोर नाद से गुंजा देना—यह हमारे कार्यक्रम का संक्षिप्त स्वरूप है।

हमें इस विस्तृत कर्म-क्षेत्र में उत्साह से कदम बढ़ाना चाहिए। हमने संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य से लड़ाई ठानी है। इस संग्राम में हमें न जाने कितनी कुर्बानियाँ करनी पड़ेंगी, न जाने कितनी बार परास्त होना पड़ेगा, लेकिन हमें आशा है कि भारत-संतान अविरल उद्योग और कर्म-परायणता से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती जायगी। काम कठिन है पर असाध्य नहीं है। याद रखिये, हमें अंग्रेज जाति से स्वराज्य नहीं लेना है, हमें अपने ही भाइयों से, अपने ही देश-बन्धुओं से स्वराज्य लेना है, हमें

अपनी शक्तियाँ नौकरशाही से सत्याग्रह करने में नहीं, अपने भाइयों से सत्याग्रह करने में लगानी चाहिए। जन-सम्मति को अपनी ओर फेर लेना स्वराज्य-प्राप्ति का मुख्य साधन है, नहीं, बल्कि स्वयं स्वराज्य है। हम इस लक्ष्य के जितना ही निकट होते जायेंगे उतना ही स्वराज्य के निकट होते जायेंगे। नया वर्ष हमारे लिए यही संदेशा लाया है।

अब कुछ अपने प्रति। 'मर्यादा' को ज्ञानमंडल के चार्ज में आये ६ मास हो गये। हमने 'मर्यादा' को सर्वांग सुन्दर बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी और निरन्तर हानि उठाकर भी अपने कर्तव्य का पालन किया। हम आगामी वर्ष से इसे और भी सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेंगे। हमारा इरादा है कि इसमें चित्रों की संख्या अधिक की जाय। पाठ्य सामग्री में भी हम कुछ परिवर्तन करना चाहते हैं। विद्वानों के लेखों के अतिरिक्त हम प्रतिमास 'विज्ञान ज्योति' के नाम से वैज्ञानिक आविष्कारों का उल्लेख किया करेंगे, तथा 'हास्य और विनोद' के नाम से पाठकों के मनोरंजन की भी सामग्री जुटायेंगे। हमारा यह भी संकल्प है कि संसार के कुछ अन्य प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के लेखों का सारांश भी दिया जाय। इस माला का नाम होगा 'सामयिक प्रसंग'। पत्रिका को अधिक उपयोगी बनाने के लिए यदि पाठक-वृन्द हमें अपने सत्परामर्श से सूचित करेंगे तो हम यथासाध्य उस पर भी विचार करेंगे। मगर जहाँ हम पाठकों के लिए इतनी जिम्मेदारियाँ सिर पर लेने का निश्चय कर चुके हैं,वहाँ हम यह भी आशा करते हैं कि पाठक गण भी पत्रिका को अपनाकर, इसे अपनी चीज़ समझ कर हमें प्रोत्साहित करेंगे। हम पाठकों को विश्वास दिलाते हैं कि इस वक्त तक ग्राहकों की संख्या इतनी निराशा जनक रही है कि यदि पत्रिका के वर्तमान संचालक महोदय इतने उदार न होते तो इसका जीवित रहना कठिन हो जाता। हम पत्रिका से लाभ उठाने की आकांक्षा नहीं रखते। हम केवल पाठकों की सेवा करना चाहते हैं, और हमारी उनसे यही विनय है कि वह हमें अपनी गुणग्राहकता का परिचय देकर बाधित करें।

'मर्यादा', बैशाख १९७९ वि०

विभाजक रेखा

सहयोगी भी स्वराज्य माँगते हैं, असहयोगी भी स्वराज्य माँगते हैं। सहयोगी अपने स्वराज्य का आदर्श उपनिवेशों को मानता है। महात्मा गाँधी ने भी एक बार औपनिवेशिक स्वराज्य को ही अपना आदर्श माना था—जहाँ राज्य के सब अंगों का समान आदर हो, सब के समान अधिकार हों, जहाँ रहना अपनी सुविधा और आत्म-सम्मान पर निर्भर हो। सहयोगी इस बिरादरी से स्वेच्छा के साथ निकल जाने का उल्लख तो नहीं करता पर बात एक ही है क्योंकि सहयोगी भी इतना विचारहीन नहीं

है कि बिरादरी में उचित सम्मान न होने पर भी हठात् बैठाया जाय। तो विभाजिक रेखा कहाँ है ? स्वराज्यप्राप्ति की विधान-व्यवस्था में। असहयोगी किसी ऐसी व्यवस्था का प्रयोग नहीं कर सकता जिससे उसके आत्म-सम्मान को आघात पहुँचे। उसे अपना आत्म-सम्मान बेचकर स्वराज्य लेना भी मंजूर नहीं। वह नाना प्रकार के कष्ट सहेगा, जेल की कठोर यंत्रणाएँ झेलेगा लेकिन आत्म-सम्मान को न छोड़ेगा। चाहे आत्मसम्मान की रक्षा में वह अपने लक्ष्य से कोसों दूर हो जाय लेकिन अपने आदर्श का अपमान नहीं कर सकता। सहयोगी Practical Politician है। वह अपने निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचने के लिए स्वाभिमान की परवाह नहीं करता ; अगर उसे अपने सिद्धान्तों का बलिदान करके, अपने आत्म-सम्मान का खून करके स्वार्थसिद्धि का अवसर मिले तो वह इस अवसर को हाथ से न जाने देगा। वह जेल से बचेगा, सभी यंत्रणाओं से दूर रहेगा, चाहे ऐसा करने में उसके अन्तःकरण का हनन भी होता हो ; वह नियमबद्ध विधानों का ही आश्रय लेगा, चाहे यह क्षेत्र कितना ही संकुचित क्यों न हो। अभी वह गाँधी का नाम आदर से लेता है लेकिन आज सरकारी विज्ञप्ति हो जाय कि उस महापुरुष का नाम लेना वर्जित है तो वह उनका स्वप्न में भी नाम न लेगा। उसमें इतना नैतिक बल नहीं है कि इस राजकीय हस्तक्षेप का विरोध करे और उसके नतीजे भुगते। सहयोग और असहयोग में यही अन्तर है, यही विभाजक रेखा है।

आज हमारे असहयोगी नेताओं और उनके अनुयायियों की बड़ी संख्या जेल के अन्दर है। सहयोगी समाज इसे उन नेताओं पर व्यंग्य करने का आधार बनाता है। और पुलकित होकर कहता है, इस प्रकार दीपक पर पतंग के समान जलने से क्या फायदा ? उसमें वह आत्म-सम्मान का अस्तित्व नहीं है जो सहयोगियों की इस मनोवृत्ति को ग्रहण कर सकता। वह तो अपने स्वार्थ का भक्त है। अगर वह भी असहयोगियों की भाँति आज जेल में नहीं है तो इसका कारण यह नहीं कि वह बड़ा चतुर, बड़ा गम्भीर, बड़ा नीतिज्ञ है बल्कि वह अपने सिद्धान्तों का आदर करना नहीं जानता। पंडित मदनमोहन मालवीय जी सहयोगी हैं लेकिन आत्म-सम्मान की रक्षा करना जानते हैं। अभी पंजाब के एक जिले में उन्हें व्याख्यान देने से मजिस्ट्रेट ने रोक दिया। मालवीय जी इस आज्ञा को भंग करने पर तैयार थे क्योंकि इससे उनके आत्म-सम्मान को चोट पहुँची। लेकिन जिले के काँग्रेस अधिकारियों ने बारदौली के स्वीकृत प्रस्तावों के अनुसार इस आज्ञा भंग से रोक लिया नहीं तो बहुत संभव था कि आज श्रीमान् मालवीय जी कारावास में होते। राजनीतिक संग्राम में ऐसी परिस्थितियों का उत्पन्न होना अनिवार्य है जब कि अधिकारियों की निगाह कड़ी हो जाय। यदि हम पग-पग पर विशेष अधिकारियों के तीवर देखकर चलेंगे तो चाहे हम अपने को जेल से बचा लें, चाहे अपना कुछ स्वार्थ पूरा कर लें पर राष्ट्र का कोई हित नहीं कर सकते।

आजकल कतिपय सहयोगी पत्रों और नेताओं की ओर से आग्रह हो रहा है

कि असहयोग संग्राम के हाथों देश में जो दुर्व्यवस्था पैदा हो गयी है, उसका अंत करने के लिए असहयोग संग्राम का त्याग करना ही उत्तम है। फिर वही आत्म-सम्मान की बात! क्या संसार में आराम से मीठी नींद सोना और स्वादयुक्त भोजन करना ही जीवन का ध्येय है? इस सुख-भोग से ज्यादा महत्व की कोई वस्तु नहीं है? आन भी कोई चीज़ है? शान भी कोई वस्तु है? प्रताप क्या अकबर का अनुगामी बनकर सुख-भोग न कर सकता था? क्या सिद्धान्तों, आत्म-सम्मान पर, बात पर मर मिटने की मिसालें इतिहास में नहीं मिलतीं? क्या वर्तमान संसार में ही इसी आन के पीछे देश और राष्ट्र बिगड़-बन नहीं रहे हैं? फ्रांस क्या १६१७ में संधि न कर सकता था? तुर्क क्या आज लड़ाई को बन्द नहीं कर सकते? राष्ट्रीय संग्राम में धन की, व्यक्ति की, सम्पत्ति की, शिल्पोन्नति की उतनी कदर नहीं होती जितनी बात की, आन की, अकड़ की। यूनान भी Practical Politicians से खाली नहीं है। तुर्की में भी इस सामग्री की कमी नहीं है, न फ्राँस में थी। लेकिन क्या यह सब राष्ट्र अपनी बात पर सिर नहीं कटवा रहे हैं? लिबरल दल के नेता चाहे अपना कितना महत्व समझें पर वास्तव में असहयोग संग्राम पर भारत की राष्ट्रीयता की छाप लग गयी है, संसार इस आन्दोलन को इसी दृष्टि से देख रहा है। यह भारत के मनुष्यत्व, त्याग, बलिदान, आत्माभिमान, स्वाधीनता प्रेम की परीक्षा का समय है। इस परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाना संसार की दृष्टि में सदैव के लिए गिर जाना, पतित हो जाना है। हम ताल ठोंककर सिर कटवाने के लिए क्षेत्र में उतरे हैं, तलवार की चमक और वधिक का विकराल स्वरूप देखते ही त्राहि-त्राहि पुकारने लगे तो दुनिया क्या कहेगी? हमारे लिबरल नेता समझे बैठे हों कि हम ठंडे-ठंडे स्वराज्याश्रम में प्रविष्ट हो जायँगे तो समझें पर संसार को खूब मालूम है कि स्वाधीनता देवी को प्रसन्न करने के लिए कितने बलि-दान की ज़रूरत है। जब स्वाधीन देशों को अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए अपरिमित धन और अगणित प्राणियों की भेंट चढ़ाना पड़ता है तो पराधीन जातियों को शांतिपूर्वक बैठे-बैठे यह पद प्राप्त हो जायगा, इसे कोई असाधारण सरल प्रकृति का मनुष्य चाहे तो मान ले पर कोई विज्ञ पुरुष कदापि न मानेगा। यह समय असहयोगियों पर व्यंग्य करने का, उनकी हँसी उड़ाने का नहीं है। उनमें समयोचितता का गुण न हो पर अपनी जान पर मर मिटनेवाले लोग हैं। उन्होंने इस संग्राम में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है, राष्ट्र के नाम पर असह्य यंत्रणाएँ झेली हैं, और झेल रहे हैं, ऐसे देशानुरागियों पर इस नाजुक वक्त में व्यंग्य करना असहृदयता का चरम सीमा से भी आगे बढ़ जाना है। अगर हम सब शारीरिक निर्बलता के कारण शस्त्र ग्रहण न कर सकें, अगर हममें इतना रणोत्साह नहीं है कि क्षेत्र में वीरों की भाँति उतरें तो कम से कम उन वीरों का साहस बढ़ाना तो हमारा धर्म है, हमको उनकी इज्जत तो करनी चाहिए। यह कहना कि यह सब सिरफिरे हैं, विप्लवकारी हैं, मूर्ख हैं, अपनी घोर कापुरुषता का परिचय देना है।

सहयोगी समाज से हमारी ऐसी शिकायत है कि वह असहयोगियों के अलौकिक नैतिकबल और साहस की अवहेलना करता है। उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि असहयोगी दल चाहे (Practical Politics) की अवज्ञा करता हो पर उसमें अपने सिद्धान्तों पर प्राण अर्पण करने का गुण मौजूद है जो मानवी सद्गुणों का उच्चतम स्थान है। हम यह जानते हैं कि सहयोगी सज्जन इतने हृदयशून्य नहीं हैं पर अपनी स्वार्थ-सिद्धि को अमन व कायम रखने, राज्य को सहायता देने और देश को क्रांति से बचाने के परदे में छिपाना ही समयानुकूल समझते हैं। हमारी इच्छा होती है कि अपने इन भाइयों को उसी भाँति अपने उसूलों का पाबन्द समझें जैसे हम असहयोगियों को समझते हैं पर जब देखते हैं कि उनमें से सब के सब इस परिस्थिति से लाभ उठाने पर तुले हुए हैं, कोई अपने पुत्र को अच्छी जगह दिलाना चाहता है, कोई खैरख्वाही की सनद लेना चाहता है, कोई और ही किसी रूप में अपना मतलब पूरा करना चाहता है तो हम निराश हो जाते हैं और नैराश्य तथा खेद की दशा में मुँह से निकल आता है—स्वार्थ ! तेरी महिमा विचित्र है।

जब से बारडोली का निर्णय हुआ है और कानून तोड़ने का उतना ज़ोर-शोर नहीं है, सहयोगी दल खुशी के मारे फूला नहीं समाता। चारों तरफ से आवाज़ें आ रही हैं कि असहयोग मर गया, शांत हो गया, सौदा सिर से उतर गया, उन्माद मिट गया....आदि। कोई कहता है, हम तो पहले ही कहते थे कि यह बेल मंढ़े चढ़ने की नहीं। इस आन्दोलन की बुनियाद ही अस्वाभाविकता और मनोविज्ञान से अनभिज्ञता पर खड़ी की गयी थी और उसका वही अंत हुआ जो होना चाहिए था। मिसेज दास ने कलकत्ते के प्रान्तीय राष्ट्रीय अधिवेशन में जो अपना विचार प्रकट किया है कि असहयोगियों को कौंसिलों में जाना चाहिए, तथा महाराष्ट्र सम्मेलन ने वकीलों, कालेजों तथा कौन्सिलों के विषय में जो प्रस्ताव स्वीकार किये हैं उनके आधार पर यह फैसला किया जा रहा है कि असहयोगियों में भी मतभेद हो गया, इनकी भी आँखें खुलीं। हम अपने मित्रों को यों बगलें बजाते देखकर विस्मित हो जाते हैं। यदि वास्तव में असहयोग का अंत हो गया तो यह खुश होने का अवसर नहीं, लज्जा से डूब मरने का अवसर है, और इस हत्या का कलंक उन्हीं लोगों के माथे पर लगेगा जिन्होंने देश को, देश के आत्म-सम्मान को अपने स्वार्थ पर बलिदान कर दिया। आप शौक से वकालत करके मौज उड़ाएँ, झूठे मुकदमे बनाएँ और भोले-भाले गरीबों की गर्दन पर छुरी चलायें, आप शौक से अपने होनहार पुत्रों को कालेजों में पढ़ायें और उन्हें भी राजकीय पद दिलाकर या वकालत की सनद दिलाकर गरीबों की गर्दन की छुरी बनायें, आप शौक से विलायती कपड़ों का रोज़गार करके सोने के महल खड़े करें, मगर आप इस कलंक को नहीं धो सकते कि आपने देशोद्धार के ऐसे अच्छे मौके पर दग़ा किया, अपने स्वार्थ को देखा, जाति को न देखा। असहयोग चाहे सर्वथा निष्फल हो गया हो

लेकिन कम से कम उसने आपकी सम्मान-प्रतिष्ठा का जादू तोड़ दिया, आप जनता की निगाहों में गिर गये ; अब आप पर 'नकटा जीया बुरे हवाल' की मसल चरितार्थ हो गयी। देश को मालूम हो गया कि किनसे आशा रखनी चाहिए और किनसे चौकस रहना चाहिए, कौन देश के मित्र हैं, कौन देश के द्रोही। आपने लार्ड मेकाले की शिक्षा-विषयक दूरदर्शिता की बहुत ही उत्तम प्रमाण दे दिया। अब कभी राष्ट्रीय इतिहास लिखा जायगा तो आपको यही श्रेयष्कर स्थान मिलेगा जो आज राघोबा को मिल रहा है। मगर आपने यह कैसे समझ लिया कि असहयोग का प्राणान्त हो गया ? खूब समझ लीजिए कि प्रत्येक भारतीय जो नौकरशाही पर अवलम्बित नहीं है, असहयोगी है। यहाँ तक कि छोटे-छोटे राजकर्मचारियों की गणना भी असहयोगियों में की जा सकती है। प्रश्न यह नहीं है कि इस अगणित सेना को उत्तेजित और उत्साहित कैसे किया जाय, बल्कि प्रश्न यह है कि उसे काबू में क्योंकर रखा जाय ताकि रक्तमय अशांति के वे दृश्य फिर न उपस्थित हो जायँ जो महात्मा गाँधी के विशाल उद्योग से कुछ-कुछ काबू में आये हैं। हम अपने प्यारे भाइयों को उत्तेजित करके मशीनगनों का लक्ष्य नहीं बनाना चाहते। जब हमने देख लिया कि नौकरशाही असहयोग का दमन करने के लिए, राष्ट्रीय जीवन का गला घोंटने के लिए अवसर ढूँढ़ती फिरती है तो यही उचित समझा गया कि यथासाध्य हम नौकरशाही को इसका अवसर ही न दें और अपने आन्दोलन को ऐसा रूप दे दें कि नौकरशाही से संघर्ष की कोई सम्भावना ही न रहे। असहयोग की समग्र शक्ति इस समय इसी कार्य के सम्पादन में प्रवृत्त हो रही है। रहे महाराष्ट्र सम्मेलन के प्रस्ताव। यह खुला हुआ रहस्य है कि महाराष्ट्र दल आदि से ही असहयोग के विपक्ष में रहा है, लेकिन राष्ट्रीय बहुमत के सामने उसने सदैव सिर झुकाया है और हमें विश्वास है कि वह इन प्रस्तावों का निर्णय भी काँग्रेस में रहकर करेगा, बाहर निकल कर नहीं। हम परस्पर मतभेद से सशंक नहीं होते; यह तो जीवन के लक्षण हैं। काँग्रेस राष्ट्रीय संस्था है। वहाँ प्रत्येक पक्ष को अपना मत प्रकट करने और राष्ट्र को अपने मत की ओर झुकाने का समान अधिकार है। लेकिन यदि वह राष्ट्र को अपनी ओर आकर्षित करने में कृतकार्य न हो तो उसे अपनी डेढ़ ईंट की मसजिद अलग न बनानी चाहिए और काँग्रेस से नाराज़ होकर नौकरशाही की खुशामद में दत्तचित्त न हो जाना चाहिए। यदि सहयोगी दल भी काँग्रेस में रहता और काँग्रेस पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करता रहता तो हमको उससे कोई शिकायत नहीं थी। लेकिन उसने नौकरशाही पर अवलम्बित रहना ज्यादा सुलभ समझा और काँग्रेस का शत्रु हो गया। यही उसकी विश्रृंखलता है जिसने दो परस्पर विरोधी दलों को आमने-सामने खड़ा कर दिया, नौकरशाही को तीतर लड़ाने का आनन्द उठाने का अवसर दिया। राष्ट्र के साथ रहकर हानि उठाना, कष्ट झेलना भी एक गौरव की बात है ; राष्ट्र से पराङ्मुख होकर आनन्द भोग करना भी लज्जास्पद

है। स्वार्थ की उपासना करने में वह महत्व नहीं है जो राष्ट्र के लिए मुसीबतें झेलने में है। यही विभाजक रेखा है, जो दोनों दलों को पृथक् करती है।

नौकरशाही ने शान्तिरक्षा को दमन करने का बहाना बताया। यह उसके मतलब की बात है। पर आश्चर्य तो यह है कि सहयोगियों ने भी असहयोग को अराजकता और विप्लव का पर्याय बना रखा है। इस विषय पर समाचारपत्रों में निरन्तर लेख लिखने से एक नेता ने एक मार्के की किताब भी लिख डाली है। पर आश्चर्य की कोई बात नहीं। सहयोगियों का भी स्वार्थ इसी में है कि असहयोग को भयंकर से भयंकर दिखाया जाय, ताकि सरकार और भी भयभीत होकर उसकी ओर झुके। यह उनके फसल काटने का समय है, दोनों हाथों और पैरों से अनाज बटोर रहे हैं कि न जाने फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले। जहाँ कहीं पुलिस के अत्याचार या नौकरशाही के निरकुंशतापूर्ण हस्तक्षेप से कोई दंगा हो जाता है तो तुरन्त इसका इल्ज़ाम असहयोगियों के सिर थोप देते हैं और दंगे को प्रमाणस्वरूप पेश कर देते हैं। वह असहयोगी नेताओं की शांति-प्रतिज्ञाओं पर ज़रा भी ध्यान नहीं देते, यह सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि जो आन्दोलन इतना सर्वव्यापी है, उसमें बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसी दुर्घटनाओं का हो जाना अनिवार्य है। यदि हम इन महाशयों से पूछें कि सेना का इतना समुचित संगठन होते हुए सीमा पर जो छापे पड़ते रहते हैं या पुलिस की देखभाल होने पर भी चोरी और अन्य दुष्कृत्यों के जो दृश्य देखने में आते हैं क्या उनका इल्ज़ाम उसी तर्कप्रणाली के अनुसार सेना और पुलिस पर रखकर गवर्नमेंट विद्रोहकारिणी नहीं कही जा सकती ? जब सरकार बड़े-बड़े अधिकारियों और समुचित संगठन होने पर भी इन सामाजिक अपराधों की रोक-थाम करने में सफल नहीं हो सकती तो असहयोगी केवल सत्यप्रेरणाओं के आधार पर पूर्ण शान्ति का उत्तरदायी क्योंकर हो सकता है ?

मर्यादा—बैशाख १९७९ वि०

स्वराज से किसका अहित होगा

कुछ लोग स्वराज आन्दोलन से इसलिए घबड़ा रहे हैं कि इससे उनके हितों की हत्या हो जायगी। और, इस भय के कारण या तो दूर से इस संग्राम का तमाशा देख रहे हैं या जिन्हें अपनी प्रभुता ज्यादा प्यारी है वे परोक्ष या अपरोक्षरूप से सरकार का साथ देने पर आमादा हैं। इनमें अधिकांश हमारे ज़मींदार, सरकारी नौकर, बड़े-बड़े व्यापारी और रुपयेवाले लोग शामिल हैं। उन्हें भय है कि अगर यह आन्दोलन सफल हो गया तो ज़मींदारी छिन जायगी, नौकरो से अलग कर दिये जायँगे, धन ज़ब्त कर लिया जायगा। इसलिए इस आन्दोलन को सिर न उठाने दिया जाय। उन्हें ब्रिटिश

सरकार के बने रहने में अपनी कुशल नज़र आती है। हम आज इसी प्रश्न पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वराज का आन्दोलन ग़रीबों का आन्दोलन है। अंग्रेज़ी राज्य में, ग़रीबों, मज़दूरों और किसानों की दशा जितनी ख़राब है, और होती जा रही है, उतनी समाज के और किसी अंग की नहीं। यों तो सरकार ने किसी को बेदाग़ नहीं छोड़ा, शिक्षित समुदाय आये दिन अपने हक़ों को छिनते देखता है, राजों-रईसों की जायदादें और रियासतें ज़ब्त हो रही हैं, व्यापारियों और मिलों के स्वामियों को मैनचेस्टर और लंकाशायर का शिकार बनाया जा रहा है, लेकिन यह सब कुछ होने पर भी सरकार के हाथों किसी सम्प्रदाय की इतनी बरबादी नहीं हुई है जितनी किसानों और मज़दूरों की—ख़ासकर किसानों की। सरकारी नौकरों की तनख़्वाहें बढ़ गयीं, नये सुधारों से भी उन्हें कुछ फ़ायदा पहुँचा, उनके लिए कई महाविद्यालय खुल गये, व्यापारियों के भी कुछ आँसू पोंछे गये पर किसानों की हालत रोज़ ब रोज़ ख़राब ही होती जा रही है। उन पर लगान बढ़ता जाता है, सख़्तियाँ बढ़ती जाती हैं। कौंसिलों में उनके हितों का कोई रक्षक नहीं। वे ज़मींदारों के चंगुल में इस बुरी तरह फँसे हैं कि दबाव में पड़कर वे उन्हीं को अपना प्रतिनिधि बनाने पर मज़बूर होते हैं जो उनके हितों का भक्षण करते रहते हैं। काँग्रेस के मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानों की वकालत करें, लेकिन किसानों के नाना प्रकार के दुखों और वेदनाओं की उन्हें वह अखर नहीं हो सकती, जो एक किसान को हो सकती है, अतएव हमारे राष्ट्र का सबसे बड़ा भाग अन्याय-पीड़ित है। सब छोटे-बड़े उसी को नोचते हैं, उसी का रक्त और मांस खा-खा कर मोटे होते हैं, पर कोई उसकी ख़बर नहीं लेता। मज़दूरों के संघठन हैं, सरकारी नौकरों ने भी अपने-अपने दल संघठित कर लिये, ज़मींदारों और महाजनों का दल भी व्यवस्थित है, मगर किसानों का कोई संघ नहीं। उनकी शक्ति बिखरी हुई है। अगर उन्हें संघटित करने की कोशिश की जाती है, तो सरकार, ज़मींदार, सरकारी मुलाज़िम और महाजन सभी भन्ना उठते हैं। चारों ओर से हाय-हाय मच जाती है। बोलशेविज़्म का हौआ बताकर उस आन्दोलन को जड़ से खोदकर फेंक दिया जाता है, इसलिए यह कहना ग़लत नहीं है, कि स्वराज किसानों की माँग है, उन्हें ज़िन्दा रखने के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है, लेकिन किसानों का उपकार करके, वह और सभी समुदायों का अपकार करेगा, यह क्यों समझ लिया जाता है? हाँ, अगर किसानों का उपकार ही औरों का अपकार हो, तो दूसरी बात, लेकिन न्याय-बुद्धि कभी इसे स्वीकार करने की नीचता नहीं कर सकती।

सबसे पहले ज़मींदारों को लीजिए, क्योंकि विरोधी दलों में प्रमुख भाग इसी दल का है। ज़मींदारों में भी और सब समुदायों की भाँति अच्छे भी हैं, बुरे भी। अगर ज़मींदार अपने अन्याय से अपने को इतना कलंकित न कर ले, कि उसका अस्तित्व ही

दूसरों की आँखों में खटकता हो, तो वह किसानों का मुखिया, नेता और रक्षक बना हुआ अनन्तकाल तक जीवन का उपभोग कर सकता है। स्वराज्य-काल में लगान तो कुछ न कुछ ज़रूर ही कम हो जायगा, किसान पचास सैकड़े से कम की कमी को स्वीकार न करेंगे, और उसी के साथ ज़मीन्दार की आमदनी भी कम हो जायगी, लेकिन क्या स्वराज्य, न्याय और धर्म से इतना शून्य हो जायगा, कि वह किसी समुदाय के जायज़ हक़ों का अपहरण कर ले? यह असम्भव है। ज़मीन्दार रहेंगे, उनका आदर और सम्मान भी रहेगा, उनका रोब-दाब भी रहेगा, हाँ बेगार न रहेगी, नज़राने न रहेंगे, अंधाधुंध लूट न रहेगी, मगर होंगे वे अपने घर के राजा। वह सलामियाँ और खुशामदें और सिजदें और नकघिसनियाँ, जो वो आये-दिन हाकिमों की किया करते हैं, ग़ायब हो जायँगी। आमदनी कुछ ज़रूर घटेगी, पर इसके बदले सम्मान बढ़ जायगा और वह समाज के सच्चे नेता बन जायँगे। अगर हम अपनी सेवा और व्यवहार और साधना से साबित कर दें, कि हमारा रहना ज़रूरी है, हमारे बग़ैर काम न चलेगा, तो हमारा कोई बहिष्कार नहीं कर सकता। जो ज़मींदार प्रजा को लूटना ही अपना अधिकार समझते हैं, उनसे तो हमें कुछ कहना ही नहीं, लेकिन जो सज्जन हैं, उदार हैं, कर्तव्य-परायण हैं, उनसे हम यह निवेदन अवश्य करेंगे, कि आप अपने थोड़े से स्वार्थ की रक्षा के लिए स्वराज में बाधक न बनें। स्वाधीन बनकर आधी खा लेना ग़ुलामी की पूरी से कहीं अच्छा है। आप उन वीरों के नामलेवा हैं, जिनका नाम इतिहास में अमर है! यह आन्दोलन तो खुद आप में पैदा होना चाहिए था। उसका विरोध करना आपको शोभा नहीं देता। शोभा तो यह देता, कि आप इस आन्दोलन के अगुआ होते और देश आपके पीछे होता। आप अपने बाहुबल और बुद्धिबल का परिचय देकर देश को अपना अनुयायी बना लेते। लेकिन आप इस समय कर्तव्य क्षेत्र से मुख ही नहीं मोड़ रहे हैं, आप दूसरों का उत्साह भी तोड़ देते हैं। अपने से दूसरों को भी ग़ुलाम बनाये रखने की फ़िक्र कर रहे हैं। अगर आपको यह भय है, कि आपने ज़रा भी कान खड़े किये और आपकी रियासत ज़ब्त हुई, आप दूध की मक्खी की भाँति निकाल कर फेंक दिये गये, तो इस तरह आप कै दिन अपनी ख़ैर मनायँगे। वही सरकार जिसके दामन में आप मुँह छिपाये हुए हैं, आपको ठुकरा देगी। आपको हम विश्वास दिलाते हैं, कि आपने देश का साथ दिया, तो देश भी आपका साथ देगा और अगर आपने उसके मार्ग में बाधाएँ डालीं, तो आप चाहे दूसरों के बल पर कुछ दिन और प्रभुता के मज़े उड़ा लें, पर आप जनता की नज़रों से गिर जायँगे और जिनके बल पर आप कूद रहे हैं, वे ही आपको निकाल बाहर करेंगे। जब तक उन्हें मालूम है, कि प्रजा पर आपका दबाव है, वे आपको अपने स्वार्थ का यंत्र बनाये हुए हैं। जिस दिन उन्हें यक़ीन हो जायगा कि आपके निकाले जाने पर कोई एक बूंद आँसू भी न बहायेगा, उसी दिन आपका अन्त हो जायगा, इसलिए आपका भविष्य स्वराज्य के गर्भ में है। अगर आप देश के द्रोही न बनें, तो स्वराज्य से आपके भयभीत होने का कोई कारण

नहीं है ।

अब व्यापारियों को लीजिए । हमारे यहाँ बड़े व्यापारियों में दो प्रकार के लोग हैं । एक तो वह जो खुद माल तैयार करते हैं—दूसरे वो जो दिसावर से माल मँगाते हैं । तीसरे प्रकार के वे लोग भी हैं, जो यहाँ से कच्चे पदार्थ दिसावर भेजते हैं । जो लोग विलायती माल का रोज़गार करते हैं, सम्भव है उन्हें कुछ दिनों, जब तक नयी व्यवस्था ठीक न हो जाय, हानि उठानी पड़े, लेकिन इन्तज़ाम ठीक हो जाने के बाद, फिर उनके लिए सुभीते ही सुभीते हैं । तब उन्हें खुद अपना माल तैयार करने की सुविधाएँ होंगी, रेलों का भाड़ा कम हो जायगा, चुँगी-महसूल घट जायगा, वह खुद अपने मिलों में इतना माल बनाने लगेंगे, कि उन्हें बाहर से थोड़ा ही माल मँगाने की ज़रूरत होगी । स्वराज्य-सरकार आज की सरकार की भाँति ज़रा ज़रा सी बात पर दिक़ न करेगी और न उसके पास कोई दूसरा मैनचेस्टर या लंकाशायर होगा । जिस तरह की सहायता उनकी सफलता के लिए दरकार होगी, उसकी आयोजना सरकार खुद करेगी । उसके धन और व्यापार-वृद्धि के सदुपयोग के कितने ऐसे ही मार्ग खुल जायँगे, जिनकी इस वक़्त कल्पना भी नहीं की जा सकती । तब अंग्रेज़ आढ़तियों की खुशामद उन्हें न करनी पड़ेगी, न अधिकारियों को डाली पेश करनी पड़ेगी । बड़े-बड़े सरकारी ठीके, जो अब विदेशियों को मिल जाते हैं, तब यहीं के व्यापारियों को मिलेंगे । उनके अपने जहाज़ होंगे, अपने बैंक होंगे, अपने कारखाने होंगे, लेकिन हाल में कुछ नुक़सान उठाये बिना वह सुदिन नहीं आ सकता । अगर उन्होंने हाल की हानि का मुँह देखा और इस आन्दोलन से किनारे रहे, तो याद रहे उनकी यह दशा भी न रहने पायेगी । विदेशी व्यापारी उन्हें दिन-दिन दबाते चले जायँगे । रहे हमारे छोटे-मोटे दुकानदार, जो विदेशी चीज़ों का व्यापार करते हैं, उन्हें इस आन्दोलन से डरने का कोई मौक़ा नहीं । वह जनता में जिस चीज़ की रुचि देखेंगे वही चीज़ें मँगायेंगे । उनका बीच का नफ़ा कहीं नहीं गया है ।

अब सरकारी नौकरों को लीजिए । उनमें बहुत बड़ी संख्या थोड़ा वेतन पानेवालों की है । यह जैसे अब हैं, वैसे ही तब रहेंगे । इनका वेतन स्वराज्य-सरकार नहीं घटा सकती । हाँ, जो बड़ी-बड़ी लम्बी रक़में डकारते हैं, उनकी स्वराज्य-सरकार में छीछा-लेदर होगी । दस-दस और पाँच-पाँच हज़ार उड़ानेवालों का तब नामोनिशान भी न रहने पायेगा । स्वराज्य-सरकार में छोटों की इतनी हक़तलफ़ी न होगी, न बड़ों की इतनी चाँदी रहेगी । स्वराज्य-सरकार की यह कोशिश न होगी, कि वह दो आदमियों का काम एक आदमी से ले और उसे दूना वेतन दे । हमारे पढ़े-लिखे लोग लाखों की संख्या में बेकार बैठे हैं और यहाँ एक-एक अफ़सर इतना वेतन ले रहा है, जिसमें दस परिवारों का निर्वाह आसानी से हो जाता । तब सरकारी नौकरी सेवा-भाव प्रधान होगी, लोग धन लूटने के लिए उसमें न आवेंगे । अंग्रेज़ों ने लम्बी-लम्बी तनख्वाहें देकर हम स्वदेशवासियों का आदर्श गिरा दिया है । तब सरकारी नौकरी रोब और धन का साधन न होगी, बल्कि

सेवा और धर्म का। तब लोग सरकारी नौकरों की इज़्ज़त करेंगे, भय से नहीं, भक्ति से। दुनिया के किसी मुल्क में मातहतों और अफ़सरों के वेतनों में इतनी विषमता नहीं है, जितनी भारत में। यह भीषण दृश्य यहीं देखने में आता है, कि चौबीस घंटे सड़कों पर पहरा देनेवाला, रातों को अँधेरी गलियों में चक्कर लगानेवाला कांस्टेबिल, तो पन्द्रह-बीस रुपये पाये और महलों में ऐश से विलास करनेवाले अफ़सर, पन्द्रह सौ और दो हज़ार रुपये हड़प करें। बाबू जी नौ बजे दिन से नौ बजे रात तक तीस रुपये में आँखें फोड़ें और उनके अफ़सर केवल काग़ज़ों पर दस्तख़त करके तीन सौ रुपये फटकारें। स्वराज्य-सरकार के हाथों इस कुदशा का सुधार होगा। न अफ़सरों के चिराग़ आसमान में जलेंगे, न ग़रीबों के घरों में अंधेरा रहने पायेगा।

ग़रीबों की छाती पर दुनिया ठहरी हुई है, यह कठोर सत्य है। हरेक आन्दोलन में ग़रीब लोग ही आगे बढ़ते हैं, यह भी अमर सत्य है। इस आन्दोलन में ग़रीब ही आगे-आगे हैं और उन्हीं को रहना भी चाहिए, क्योंकि स्वराज्य से सबसे ज़्यादा फ़ायदा उन्हीं को होगा भी, लेकिन जैसा हमने ऊपर दिखाने की चेष्टा की है, स्वराज्य हो जाने से समाज के किसी अंग को कोई हानि नहीं पहुँच सकती, लाभ ही लाभ होंगे। हाँ, उनको अवश्य हानि होगी, जो ख़ुशामद और लूट और अन्याय के मज़े उड़ा रहे हैं। वे अगर स्वराज्य के बाहर रहें, तो उनका फ़ायदा है, लेकिन जो नीति-धर्म और सत्य के माननेवाले हैं, उनके लिए स्वराज्य से चौंकने का कोई कारण नहीं। उन्हें दिल खोलकर, निर्भय रूप से, इस संग्राम में सम्मिलित होना चाहिए। ऐसे अवसर रोज़-रोज़ नहीं आते।

हंस, अप्रैल १९३० ई०

आज़ादी की लड़ाई

आज़ादी की लड़ाई शुरू हो गयी। महात्मा गांधी ने ६ अप्रैल को समुद्र के तट पर डंडी में गुलामी की बंडी पर पहला हथौड़ा चलाया और उसकी झंकार सारे देश में गूँज उठी। पहले किसी की समझ में न आया कि महात्मा जी क्या करने जा रहे हैं। मजाक भी उड़ाया गया। एक गवर्नर ने अपने ख़ुशामदी टट्टुओं को जमा करके अपने दल के फफोले फोड़ते हुए इस संग्राम को दुःखमय प्रहसन बतलाया। गवर्नर साहब को क्या मालूम था, कि यह दुःखमय प्रहसन दो सप्ताह ही में आजादी का एक प्रचंड प्रवाह सिद्ध हो जायगा, जिसे नौकरशाही की सारी संगठित शक्ति भी न रोक सकेगी। वह सब किया गया, जो ऐसी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारी शासन किया करता है। हमारे नेता चुन-चुनकर जेल भेज दिये गये, अफ़सरों को नये-नये अधिकार दिये गये, वायसराय ने

भी अपने स्वरचित अस्त्र निकाल लिये, यहाँ तक कि इस लू और गर्मी में देवताओं में को पर्वतशिखरों से दो-एक बार उतरकर नीचे आना पड़ा, जो भारत के इतिहास में अनहोनी बात थी; लेकिन स्वराज्य-सेना के क़दम आगे ही बढ़े जाते हैं। जैसे बच्चे हार जाते हैं, तो दाँत काटने लगते हैं, वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कहीं निहत्थी जनता पर डंडों और गोलियों की बौछार हो रही है, कहीं जनता में फूट डालने की कोशिश हो रही है, (जिस गवर्नर का हमने ऊपर जिक्र किया है, उसी ने एक दूसरे मजमे में ज़मींदारों को इन विद्रोहियों की खबर लेने की सलाह भी दी थी) फ़िल्मों पर रोक लगायी जा रही है। तार की खबरों का सेंसर किया जा रहा है। हमने इन सब बातों की कल्पना पहले ही कर ली थी। कोई बात हमारी आशाओं के खिलाफ नहीं हुई। अंग्रेज़ों की दानवता का नाच हम देख चुके हैं। कायरता, कमीनापन, निर्दयता आदि गुणों में इस जाति से बाज़ी ले जाना मुश्किल है। फिर भी हमारा जो कुछ अनुमान था, उससे कुछ ज्यादा ही हो रहा है। न कोई कानून है, न कायदा, न नीति, न धर्म। बस जिधर देखिए, लबड़-धों-धों, एक घबड़ाये हुए आदमी की बौखलाहट। एक ही अपराध के लिए दो महीने से दो साल तक की सजा और वह भी कठोर। मगर हम इन बातों की शिकायत नहीं करते। इन्हीं अन्यायों से तो हमारी विजय है। सन्निपात मौत के चिन्ह हैं।

हम तो महात्माजी की सूझ-बूझ के कायल हैं। जो बात की, खुदा की कसम ला जवाब की! न जाने कहाँ से नमक-कर खोज निकाला, कि उसने देखते-देखते देश में आग लगा दी। कोई दूसरा ऐसा कर नहीं, जो ग़रीब से ग़रीब आदमी से वसूल किया जाता हो, और न कोई दूसरा कर ऐसा है, जिसका ऐसेम्बली ने इतना विरोध किया हो। अगर हमारी स्मृति भूल नहीं करती, तो शायद १९२४ में ऐसेम्बली ने इस कर को अस्वीकार कर दिया था और वाइसराय को इसे अपनी स्वेच्छा से स्वीकार करना पड़ा था। कर का व्यापक नियम है, कि वह विलास की वस्तुओं पर लगाया जाना चाहिए। जो चीज जीवन के लिए उतनी ही आवश्यक है, जितनी हवा और पानी, उस पर कर लगाना नीति-विरुद्ध है। अंग्रेज़ी राज्य के पहले, भारत में यह कर कभी न लगाया गया था। आज भी दुनिया-भर में भारत ही एक ऐसा देश है, जहाँ नमक पर कर लगाया जाता है। मुसलिम स्मृतिकारों ने तो नमक, हवा और पानी पर कर लगाना निषिद्ध बतलाया है; पर हम १५० वर्षों से यह कर देते आये हैं; और मज़ा यह कि जिस वस्तु पर दो आना मन लागत आवे, उसपर सवा रुपये मन कर लिया जाता है, जो लागत का दस गुना है। सब से बड़ी बात यह है, कि इस कर को सामूहिक रूप से निहायत आसानी से तोड़ा जा सकता है। ऐसा कोई भूभाग नहीं, जहाँ लोनी मिट्टी न हो और शहर या गाँव, दोनों ही जगहों के आदमी बड़ी संख्या में जमा होकर इसे तोड़ सकते हैं और सरकारी नमक को बाज़ार से निकाल बाहर कर सकते हैं। नौकर शाही

ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया, जितना पशुबल संभव था, उससे काम लिया ; पर कर टूट गया। जिस नियम के भंग करनेवालों को सरकार दंड न दे सके, जिसकी रक्षा करने के लिए डंडे के सिवा और कोई दूसरा साधन न हो, वह कानूनी देवताओं में भले स्वरक्षित रहे ; पर व्यावहारिक रूप से वह टूट गया और सरकार के लिए अब इसके सिवा कोई उपाय नहीं है, कि इस कर को मंसूख कर दे और अपनी हार स्वीकार कर ले। गवर्नमेंट सोचती होगी कि जब नमक के बड़े-बड़े कारखाने खुल जायँगे, तो हम उसे ज़ब्त कर लेंगे और इस तरह आज़ाद नमक को सिर न उठाने देंगे ; लेकिन हमारे पास इस चाल का यही जवाब है कि हम अपने-अपने घरों में नमक बनाना उतना ही जरूरी समझ लें, जितना भोजन बनाना। फिर हम देखेंगे कि सरकार अपना नमक कैसे हमारे गले मढ़ती है। लक्षणों से मालूम होता है, कि नमक आंदोलन असर कर रहा है, और नमक के व्यापारियों ने सरकारी नमक मँगाने में आना-कानी शुरू कर दी है। सरकार के इस प्रचंड दमन के फल-स्वरूप बाज बड़े शहरों में जनता भी शांति के आदर्श को न निभा सकी, और कराची, बंबई, पूना और कलकत्ता आदि शहरों में कुछ गोलमाल हुआ, जिससे पुलीस को अपने दिल के अरमान निकालने का अच्छा मौक़ा मिल गया ; पर इन दुर्घटनाओं का दोष अगर किसी के ऊपर है, तो वह सरकार है। अगर वह सत्याग्रहियों को क़ायदे के अनुसार पकड़ लेती, तो कहीं कुछ न होता, जलूसों को रोकना, सत्याग्रहियों को डंडों से पीटना जनता से अगर न देखा जाय, तो हम उन्हें क्षम्य समझते हैं। अगर नौकरशाही को यही विश्वास है, कि निरस्त्र जनता पर लाठियों का प्रहार करके, वह उन पर धाक जमा सकती है, तो यह उसकी भूल है। इन चारों स्थानों में ही पुलीस ने जिस गुंडेपन का परिचय दिया है, वह असभ्य से असभ्य जातियों को कलंकित करने के लिए काफी है।

क्या मुसलमान काँग्रेस के साथ नहीं हैं ?

अभी तक तो सरकार के लिए यह कहने की गुंजाइश बाकी थी, कि इस आंदोलन में केवल काँग्रेस के गरम दलवाले ही शामिल हैं ; लेकिन दिन-दिन उस पर यह हक़ीकत खुलती जाती है, कि अजादी की लड़ाई में देश के सभी दल मिले हुए हैं। और अगर उसके मिलने में कुछ कसर थी, तो वह सरकार की हिमाक़त और पागलपन की बदौलत पूरी हुई जाती है। पुरानी कहावत है—बुरे दिन आते हैं, तो बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। इस वक्त ऐसा जान पड़ता है, कि अंग्रेजों के बुरे दिन आ गये हैं, नहीं तो अंग्रेजी कपड़े को अन्य देशों के कपड़ों से कम महसूल पर लाने का प्रस्ताव पास करने की जरूरत ही क्या थी। गैर सरकारी बहुमत इस प्रस्ताव के विरुद्ध था ; पर सरकार ने अपनी ज़िद से उसे पास करके ही छोड़ा। नतीजा क्या हुआ ! आज पं० मदनमोहन मालवीय, मि० केलकर, मि० अणे, मि० हसनइमाम हमारे साथ हैं और व्यापारी-दल तो बिलकुल अलग ही हो गया। अब सरकार को माडरेटों में नाम

लेने के लिए दो चार लिबरल और रह गये है। हमें आशा है, कि उसकी कोई नयी हिमाकत यह कमाल भी कर दिखायेगी। हालाँकि लिबरलों के विषय में हमें संदेह है कि कोई अनीति, कोई अत्याचार इन्हें जगा सकता है। इनकी आशा अपार है और धैर्य अनन्त। वायसराय, सेक्रेटरी, अंडरसेक्रेटरी, और भी जिसकी वाणी की कुछ इज्जत है, कह चुके कि डोमिनियन स्टेटस अभी बहुत दूर है; लेकिन हमारे लिबरल भाई हैं, कि उस 'बहुत दूर' को 'बहुत नज़दीक' समझने के लिए बेकरार हैं। लिबरलों की राजनीति डिनर-पार्टी और ड्राइंग-रूम तक महदूद है; इसलिए सरकार के अंतिम आधार अगर लिबरल हों, तो यह सरकार और लिबरल दोनों ही के लिए आपस में हाथ मिलाने और बधाइयाँ देने का अवसर हो सकता है। अगर इस तिनके का सहारा सरकार लेना चाहती है, तो शौक से ले; मगर सरकार ने शुरू से जिस हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य की उपासना की है, उसे इस संकट के अवसर पर कैसे भूल जाती! कहा जा रहा है, और लिखा जा रहा है कि मुसलमान इस आंदोलन में काँग्रेस के साथ नहीं हैं। मुसलमान नेता जत्थेदार बन-बन कर कैद हों, मार खायें, कितनी ही काँग्रेस कमिटियों के प्रधान और मंत्री हों; लेकिन फिर भी यही कहा जाता है, कि मुसलमान काँग्रेस के साथ नहीं हैं। जमैयतुल-उलमा जैसा सर्वमान्य मंडल पुकार-पुकार कर कह रहा है, कि नमक का महसूल इसलामी शरीयत के खिलाफ है; पर कहनेवाले कहे जाते हैं—मुसलमान इस आंदोलन के साथ नहीं। मालूम नहीं, वह यह कह-कह कर किसे धोखा देना चाहते हैं। हाँ, हम यह मानने को तैयार हैं कि हमारे खान बहादुर साहबान, जिनकी संख्या ईश्वर की दया से, अंग्रेजों की असीम कृपा होने पर भी, बहुत ज्यादा नहीं हैं, मगर खाँ साहब नहीं हैं तो बेशक हमारे साथ नहीं तो राय साहब भी तो नहीं हैं। यों कहिए कि यह उन लोगों का आंदोलन है, जो अपने सारे संकटों का मोचन एक मात्र स्वराज्य ही को समझते हैं। जो ग़रीब हैं, भूखे हैं, दलित हैं, या जो गैरत से भरा हुआ, देशाभिमान से चमकता हुआ हृदय रखते हैं और यह देखकर जिनका खून खौलने लगता है, कि कोई दूसरा हमारे ऊपर शासन करे! इसमें न हिन्दू की कैद है, न मुसलमान की। दोनों ही समान रूप से यह संकट झेल रहे हैं, तो दोनों समानरूप से शरीक हैं। मुसलमान आजादी के प्रेम में हिन्दुओं से पीछे रह जायँ, यह असंभव है। मिस्र, ईरान, अफगानिस्तान और तुर्की यह सब मुसलमानों ही के देश हैं। देखिए अपनी आज़ादी के लिए उन्होंने क्या-क्या किया और कर रहे हैं। वह कौम कभी आजादी के खिलाफ नहीं जा सकती। दो-चार मौलवी, दो-चार "सर", दस-पाँच "आनरेबुल" यह हाँक लगाये जायँगे, शौक से लगावें। हिन्दू हों या मुसलमान, जो अंग्रेज़ी राज्य में धन और अधिकार के सुख लूट रहे हैं, वे अंग्रेज़ी सरकार के परम भक्त हैं और रहेंगे और रहना चाहिए। वे किसी के तो नमक हलाल बने रहें। जिसे अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने बाहुबल पर भरोसा नहीं है,

जो अंग्रेजों की शरण आकर कोई ओहदा पा जाना ही अपनी जिन्दगी का निर्वाण समझता है, वह हमेशा उस पक्ष की तरफ़ रहेगा, जहाँ उसे सफलता का पूरा भरोसा है। ऐसे लोग खतरे की तरफ भूलकर भी न आवेंगे। अमेरिका के गुलाम भी तो 'गुलामों की आज़ादी' की लड़ाई में मालिकों के पक्ष में लड़े थे। ऐसे गुलाम प्रकृति के लोग हमेशा रहेंगे और उनके रहने से किसी आंदोलन का नाश नहीं होता। मगर हमें यह कोशिश करते रहना चाहिए, कि हमारी इस मुसाहलत की हालत में हवा का झोंका न लगने पाये; नहीं तो वह घातक हो जायगा। कहीं अछूतों को हमसे भड़काने की कोशिश की जायगी और की जा रही है; कहीं हिन्दू-मुसलमानों को लड़ा देने के मंसूबे सोचे जायँगे। हमें इन सब चालों को तीव्र दृष्टि से देखते रहना चाहिए। क्या जमाने की खूबी है, कि जिन लोगों ने अछूतों को उससे कहीं ज्यादा दलित किया है, जितना कट्टर-से कट्टर हिन्दू-समाज कर सकता था, वह आज अछूतों के शुभचिन्तक बने हुए हैं। बेगार की सख्तियों का दोष किस पर है, हिन्दू समाज पर या सरकार पर? उन्हें अपढ़ रखने का दोष किस पर है, हिन्दू-समाज पर या सरकार पर? उन्हें ताड़ी, शराब, गाँजा, चरस पिला-पिलाकर कौन रुपये कमाता है, सरकार या हिन्दू-समाज? प्रारंभिक शिक्षा का बिल सरकार ने पेश किया था, या स्वर्गीय मि० गोखले ने? उसे किसने धनाभाव का बहाना करके नामंजूर कर दिया, हिन्दू-समाज ने या सरकार ने? हमें पूरा विश्वास है, कि जिस सरकार ने कितनी ही अछूत जातों को जरायम पेशा बना दिया, उसकी शुभ-चिंतना पर हमारे दलित-समाज के नेता लोग भरोसा न करेंगे। हिन्दू-समाज अपने दलित भाइयों के प्रति अपना कर्त्तव्य समझने लगा है और वह दिन दूर नहीं है, जब आर्य और अनार्य, ऊँच और नीच की कैद नाम को भी बाक़ी न रहेगी। संभव है, देहातों के कट्टर हिन्दू कहीं-कहीं अब भी उनके साथ वही पुराना बर्ताव करते हों; लेकिन विचारशील हिन्दू-समाज अब उस अन्याय को कायम न रहने देगा।

आज़ादी की लड़ाई में कौन लोग आगे हैं?

इस लड़ाई ने हमारे कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों की कलई खोल दी। हमने आशा की थी, कि जैसे अन्य देशों में ऐसी लड़ाइयों में छात्रवर्ग प्रमुख भाग लिया करते हैं, वैसे यहाँ भी होगा; पर ऐसा नहीं हुआ। हमारा शिक्षित समुदाय, चाहे वह सरकारी नौकर हो, या वकील, या प्रोफेसर, या छात्र, सभी अंग्रेज़ी सरकार को अपना इष्ट समझते हैं और उसकी हड्डियों पर दौड़ने को तैयार हैं। प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि निन्नानवे सैकड़े ग्रेजुएटों के लिए सभी द्वार बन्द हैं; पर निराशा में भी आश लगाये बैठे हैं, कि शायद हमारी ही तकदीर जाग जाय। देख रहे हैं, कि काँग्रेस के आन्दोलन से ही अब थोड़े-से ऊँचे ओहदे हिन्दुस्तानियों को मिलने लगे हैं, फिर भी राजनीति को हौआ समझे बैठे हुए हैं। या तो उनमें साहस नहीं, या शक्ति नहीं, या आत्म-गौरव नहीं, उत्साह नहीं। जिस देश के शिक्षित युवक इतने मन्दोत्साह हों, उसका

भविष्य उज्ज्वल नहीं कहा जा सकता। हमारा वकील समुदाय तो इस संग्राम से ऐसा भाग रहा है, जैसे आदमी की-सूरत देखते ही गीदड़ भागे। हमारे बड़े से बड़े नेता—जिनकी जूतियों का तस्मा खोलने के लायक भी यह लोग नहीं—धड़ाधड़ जेलों में बन्द किये जा रहे हैं; पर यह हैं कि अपने बिलों में मुँह छिपाये पड़े हैं। यहाँ तक कि स्वदेशी वस्तु-व्यवहार की प्रतिज्ञा पर दस्तख़त करते हुए भी उनके हाथ काँपने लगते हैं और क़लम हाथ से छूटकर गिर पड़ती है। और आज़ादी का नमक देखकर तो उन्हें जूड़ी-सी चढ़ आती है। हमें यह देखने का अरमान ही रह गया, कि कोई वकील किसी जत्थे का नायक होता। नहीं, वह तमाशा देखना भी ख़तरनाक समझते हैं। बस, मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। कचहरी गये, और घर आये। उन्हें दीन-दुनिया से कोई मतलब नहीं। इस बेग़ैरती का भी कोई ठिकाना है! अभी किसी सरकारी पार्टी में शरीक होने का नेवता मिल जाय, तो मारे ख़ुशी से पागल हो जायँ। नेवते के कार्ड के लिए बड़ो-बड़ी चालें चली जाती हैं, नाक रगड़ी जाती हैं, और वह कार्ड तो साक्षात कल्प-वृक्ष ही है। गोरी सूरत देखी और माथा ज़मीन पर टेक दिया। ऐसे लोगों के दिन अब गिने हुए हैं। स्वाधीन भारत में ऐसे देशद्रोहियों के लिए कोई स्थान न होगा। वह जनता, जिसे यूनिवर्सिटियों की हवा नहीं लगी, और आन्दोलनों की तरह इस संग्राम मे भी आगे-आगे है। हमारे छोटे-छोटे दूकानदार, मज़दूर, पेशेवर ही सैनिकों की अगली सफ़ों में हैं और भविष्य उन्हीं के हाथ मे है। लक्षण कह रहे हैं, कि सूट-बूटवाले अंग्रेज़ों के गुलामों की वही हालत होनेवाली है, जो रूस में हुई है। यह लोग ख़ुद अपने पाँव में कुल्हाड़ी मार रहे हैं। जनता और सब मुआफ़ कर देती है, पर देश-द्रोह को वह कभी मुआफ़ नहीं करती। राष्ट्रीय संस्थाओं को देखिए—गुजरात-विद्यापीठ, काशी-विद्यापीठ, अभय-आश्रम, गुरुकुल-कांगड़ी, प्रेम-विद्यालय वृन्दावन आदि ने अपने-अपने सिपाहियों के जत्थे भेजे और भेज रहे हैं। उनके छात्र जान हथेली पर रक्खे मैदान में निकल पड़े हैं; पर यूनिवर्सिटियों ने भी कोई जत्था भेजा? हमे तो ख़बर नहीं। यूनिवर्सिटियों में भी कोई प्रोफ़ेसर आगे बढ़ा? कहाँ की बात! अपने लोग यह रोग नहीं पालते। आनन्द से भोजन करें, रूसी उपन्यास पढ़ें, ताश खेलें, ग्रामोफ़ोन या रेडियो का आनन्द उठायँ, या इस झंझट में पड़ें? ज़िन्दगी सुख भोगने के लिए है, झींकने के लिए नहीं! काश यह यूनिवर्सिटियाँ न खुली होतीं, काश आज उनकी ईंट से ईंट बज जाती, तो हमारे देश में द्रोहियों की इतनी संख्या न होती। यह विद्यालय नहीं, गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं। स्वाधीन भारत ऐसे विद्यालयों की जड़ खोदकर फेंक देगा।

देहातों में प्रोपेगंडे की ज़रूरत

अब तक हमारे आन्दोलन शहरों ही तक महदूद रहे हैं; लेकिन नमक-कर-भंग देहातों में भी जा पहुँचा है। सत्याग्रही दलों का देहातों से पैदल निकलना ऐसा प्रोपेगंडा है, जिसके महत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। नौकरशाही का आतंक देहातों

पर शहरों से कहीं ज़्यादा छाया हुआ है। वहाँ सब-इंसपेक्टर का दर्जा ईश्वर से कुछ ही कम होता है और कांसटेबुल तो खुदमुख्तार बादशाह ही हैं। कोई आन्दोलन जिससे पुलीस के रोब-दाब में फ़र्क़ पड़े, उसकी हवा भी वहाँ नहीं पहुँचने पाती। मगर अब समय आ गया है, कि हमारे स्वयंसेवक बड़ी संख्या में देहातों में पहुँचें और जलसों और जुलूसों से लोगों में राजनैतिक भाव भरें और उन्हें आनेवाले महासंग्राम के लिए तैयार करें। अगर देहातों में यह आग लग गयी, तो फिर किसी के बुझाये न बुझेगी। हम यह मानते हैं, कि देहातों में नौकरशाही दमन के कठोर से कठोर शस्त्रों का प्रहार करेगी, जमींदारों को भड़कायेगी, तरह-तरह की ग़लतफ़हमियाँ फैलायेगी ; पर हमें इन कठिनाइयों का सामना करना है। हमें यह समझा देना है, कि इस राज्य में सबसे ज़्यादा हमारे देहात ही सताये जाते हैं, और स्वराज्य में सबसे ज़्यादा हित देहातवालों ही का सिद्ध होगा।

हिन्दू-मुसलिम बाँट-बखरे का प्रश्न

भारतीय एकता के विरोधी यह कहते कभी नहीं थकते, कि जब तक हिन्दुओं और मुसलमानों में हिस्से का समझौता न हो जाय, मुसलमान इस संग्राम में शामिल नहीं हो सकते। इस कथन में कितनी सच्चाई है, इसे मुसलिम जतना अब समझने लगी है। वह यह है, कि जब तक एक तीसरी शक्ति इन दोनों जातियों के वैमनस्य से फ़ायदा उठानेवाली रहेगी, एकता का सूर्य कभी उदय न होगा। पूरी एकता तो स्वराज्य मिल जाने पर ही हो सकती है। हिस्से का निश्चय करने के लिए एक से अधिक बार कोशिशें की गयीं, यहाँ तक कि आज भी सर तेजबहादुर सप्रू सर्वदल-सम्मेलन करने में लगे हुए हैं ; मगर उन कोशिशों का फल क्या निकला ? समझौता न हुआ, न हुआ। कोई रोज़गार शुरू किया जाता है, तो पहले ही से यह निश्चय नहीं कर लिया जाता, कि हम इतने रुपये फ़ी सैकड़े नफ़ा लेंगे। पहले तो उसके लिए पूंजी जमा की जाती है। फिर संगठन शुरू होता है, तब माल की तैयारी होती है, इसके बाद खपत का सवाल होता है, आखिर में नफे का प्रश्न आता है। यहाँ पहले ही से नफ़े के हिस्से तय करने की सलाह दी जाती है। अरे भाईजान, पहले पूंजी तो लगाओ, अभी नफे का क्या सवाल है ? हिन्दुस्तान अगर इतने दिनों की गुलामी से कुछ सीख सका है, तो वह यह है, कि समाज के किसी अंग को असन्तुष्ट रखकर राष्ट्र दुनिया में उन्नति नहीं कर सकता। हमें विश्वास है, कि भारत इस सबक़ को अब कभी न भूलेगा। महात्मा गांधी ने तो यहाँ तक कह दिया है, कि मुसलमान जितना चाहें ले लें, इसमें हिस्से का सवाल ही नहीं। स्वराज्य के अधीन राजपद धन कमाने का साधन नहीं, प्रजा की सेवा का साधन होगा। हम तो यही समझे बैठे हैं। अगर उस दशा में भी हमारे मुसलमान भाई राजपदों या मेम्बरियों में बड़ा हिस्सा लेने का आग्रह करेंगे, तो स्वराज्य-सरकार उनके मार्ग में बाधक न बनेगी। उस वक्त राजपद वही स्वीकार करेंगे, जो देश के लिए

त्याग करना चाहेंगे, धन-लोलुप और विलासी जनों के लिए स्वराज्यशासन में कोई स्थान न होगा।

मशीनगन और शान्ति

शान्ति स्थापित करने के दो साधन हैं। एक तो मानवी है, दूसरा दानवी। एक मशीनगन है, दूसरा देश की वास्तविक दशा को समझना और उसके अनुकूल व्यवहार करना। सरकार ने अपने स्वभावानुसार मशीनगन से काम लेना ही उचित समझा है। इसका परिणाम क्या होगा, सरकार को इसकी चिन्ता नहीं। पुलीस और सेना उसके पास है। देश में जितने स्वाधीनता के उपासक हैं, वह सब बड़ी आसानी से तोप का शिकार बनाये जा सकते हैं। भारत ग़रीब है, यहाँ ऐसे आदमियों की कभी कमी न रहेगी, जो पेट के लिए अपने भाइयों का गला काटने को तैयार रहें। काँग्रेस के लोग जेल में पहुँच ही गये। और दलों के इने-गिने आदमी हैं, उनको फाँस लेना और भी आसान है। रहे हमारे लिबरल भाई, उनकी परवा ही किसे है? सरकार उनकी सहायता के बगैर भी राज कर सकती है। टैक्सों को दूना कर देने का उसे अख्तियार हैं। इस तरह वह इससे बड़ी फ़ौज भी रख सकती है। मशीनगनों के सामने चूँ करने का किसे हौसला हो सकता है। अंग्रेज अधिकारियों के वेतन बड़ी आसानी से बढ़ाये जा सकते हैं। कुछ थोड़े से ओहदे हिन्दुस्तानियों को देकर बड़ी आसानी से काम लिया जा सकता है। समाचार-पत्रों को एकदम बंद कर देने से फिर कहीं से विरोध की आवाज़ भी न आवेगी। सरकार अपने दिल में सन्तोष कर सकती है, कि अब किसी को कोई शिकायत नहीं रही। रिफ़ार्म की, गोलमेज़-कान्फरेन्स की और डोमिनियन स्टेटस की चर्चा ही व्यर्थ है। यह इसी दानवी नीति का फल है, कि आज भारत में अंग्रेज़ों का कोई दोस्त नहीं है। जो लोग अपने स्वार्थवश सरकार की खुशामद करते हैं, वे भी उसके भक्त नहीं हैं। ऐसा प्रजा पर राज करना, अगर अंग्रेजों के लिए गौरव की बात है, तो हम नहीं समझते, कि वह अपनी सभ्यता और उच्चता का किस मुँह से दावा कर सकती है। अगर अंग्रेज़ों की जगह इस वक़्त हब्शी होते, तो वे भी दमन ही तो करते। दमन शासन का सबसे निकृष्ट रूप है और अंग्रेज़ों ने उसी का आश्रय लिया है। क्या उनका खयाल है, कि जिस शक्ति से दबकर उन्होंने सुधार किये और कान्फ़रेन्स के वादे किये, वह शक्ति अब ग़ायब हो गयी है? दमन उस शक्ति को दिन-दिन मज़बूत कर रहा है। उस राज्य के लिए इससे बढ़कर कलंक की दूसरी बात नहीं हो सकती, कि उसे हर एक बात के लिए मशीनगनों ही की शरण लेना पड़े। जिस राज्य में जनता पर महज इसलिए गोलियाँ चलायी जायँ, कि वह अपने लीडरों की गिरफ्तारी पर शोक मनाने के लिए जमा होती है, उसके चल-चलाव के दिन अब आ गये हैं। पेशावर में जो हत्याकाण्ड हुआ है, वह कभी न होता, अगर नौकरशाही ने मशीनगनों और फ़ौजी हथियारों से जनता को धमकाया न होता। वह ज़माना गया, जब जनता पशुबल के

प्रदर्शन से डर जाया करती थी। अब वह डरती नहीं, वह उसे अपनी पराधीनता का हेतु समझकर उसकी जड़ खोदने के लिए और दृढ़ संकल्प कर लेती है। नमक कानूः टूट गया। सरकार की मशीनगनें उसको न बचा सकीं। लाखों नमक बनानेवाले आज गर्व से सिर उठाये घूम रहे हैं। आर्डिनेन्स भी टूट जायगा। कोई कानून, जिसको राष्ट्र के नेताओं ने स्वीकार नहीं किया है और जिसका केवल पशुबल पर आधार है, अब जनता उसके सामने सिर झुकाने को तैयार नहीं है। सरकार अगर आँखें बन्द रखना चाहती है, तो रक्खे ; पर उसके आँखें बन्द कर लेने से देश की स्थिति नहीं बदल सकती। देश अब अपनी क़िस्मत का मालिक आप बनना चाहता है। और उसकी क़ीमत अदा करने का निश्चय कर चुका है। पेशावर और कराची जैसे कांड उसके पतन को और निकट ला रहे हैं।

अप्रैल १९३०

दमन

दमन का बाज़ार गर्म है। निर्बल का एकमात्र आधार रोना है, सबल का एक मात्र आधार आँखें तरेरना। दोनों क्रियाएँ आँखों से ही होती हैं ; लेकिन उनमें कितना बड़ा अन्तर है ! स्वेच्छाचारी सरकारों की बुनियाद पशु-बल पर होती है। वह हरेक अवसर पर अपना पशु-बल दिखाने को तैयार रहती हैं। प्रजा की हरेक शिकायत की दवा उनके पास संगीन और मशीनगन है। पशु-बल पर उनका अखंड विश्वास है। उनकी समझ में यह हरेक बीमारी की अचूक दवा है। वह कभी इसे स्वीकार नहीं करतीं, कि यह दवा कभी-कभी चूक भी जाती है। अगर पुराना इतिहास इसके विरुद्ध कोई प्रमाण देता है, अगर रूस, इटली, फ्रांस और स्वयं इंग्लैंड आदि देशों में इसका व्यर्थ होना सिद्ध हो गया है, तो हमारी सरकार इससे यह नतीजा निकालती है, कि उन देशों में उतना दमन नहीं किया गया, जितना ज़रूरी था। अगर पक्का, सोलहों आना दमन होता, तो मजाल थी, कि शासकों को सफलता न होती। उन देशों के शासक कच्चे थे, दमन करना न जानते थे। हमारी सरकार दमननीति के व्यवहार में सबसे बाजी लिये जा रही है और यह कौन कह सकता है, कि वह गलती पर है। पुरानी कहावत है, कि मार के आगे भूत भागता है। आखिर आंदोलन करनेवाले, आदमी ही तो हैं ! मार्शल लॉ से, जेलखानों में बन्द करके, सरकार उन्हें चुप कर सकती है ; मगर जैसा जर्मनी के प्रिंस बिस्मार्क जैसे पशुबलवादी को भी स्वीकार करना पड़ा था, कि "संगीन से तुम चाहे जो काम ले लो ; पर उस पर बैठ नहीं सकते।" हमारी सरकार दमन के व्यवहार से, चाहे जाति को चुप कर दे ; पर उसे शान्त नहीं रख सकती। उसके लिए दोनों रास्ते खुले हुए हैं। एक तो प्रजा की शान्ति—उससे उत्पन्न होने-

वाली विभूतियों की ओर ले जाती है, दूसरी प्रजा की अशान्ति—उससे उत्पन्न होने वाली विपत्तियों की ओर। एक तरफ कीर्त्ति है, गौरव है, पारस्परिक सहानुभूति है; दूसरी ओर अपकीर्त्ति है, अन्याय है, नोच-खसोट है। हम यह कभी स्वीकार नहीं कर सकते, कि अँगरेज़ों को नेकनामी से प्रेम नहीं। व्यक्ति की भाँति ही कोई जाति इतनी पतित नहीं हो सकती, कि उसे बदनामी की लज्जा न हो। क्या आनेवाली अँगरेज़ जाति इतिहास के पन्नों में अपने पूर्वजों की क्रूर कथाएँ पढ़कर गौरवान्वित होगी? क्या अँगरेज़ जाति चाहती है, कि उसके और भारत के बीच इतना वैमनस्य हो जाय, जो सदियों में भी न मिटे? अँगरेज़ों का भविष्य उनके वाणिज्य और व्यवसाय पर है। क्या भारतीय जनता को असन्तुष्ट रखकर वह अपने व्यापार को जीवित रख सकते हैं? मि० वेजवुड बेन ने अभी अपने व्याख्यान में कहा है, कि बड़ी से बड़ी फौजी ताकत भी भारतीय किसानों को अँगरेजी चीजें लेने पर मजबूर नहीं कर सकती। तब जान-बूझकर सरकार क्यों इतनी निर्दयता से दमन पर कमर बाँधे हुए है, यह हमारी समझ में नहीं आता। हमने मि० वेजवुड बेन के व्याख्यान को बड़े ध्यान से पढ़ा। उससे हमें घोर निराशा हुई। वह अभी तक भारतीय आंदोलन का तत्त्व ही नहीं समझे, या शायद समझते हुए भी न समझने की चेष्टा कर रहे हैं। अगर उनका ख्याल है, कि यह आंदोलन काँग्रेस के थोड़े-से आदमियों का खड़ा किया हुआ है और उन्हें जेल में बन्द करके या डंडों से पीटकर इसकी जड़ खोदी जा सकती है, तो यह उनकी भूल है। यह एक राष्ट्रीय आंदोलन है, यह भारतीय आत्मा के स्वाधीनता-प्रेम की विकल जाग्रति है। महात्मा गांधी क्यों भारत के हृदय पर राज्य कर रहे हैं? इसीलिए कि वह इस विकल जाग्रति के जीते-जागते अवतार हैं। वह भारत के सत्य, धर्म, नीति और जीवन के सर्वोत्तम आदर्श हैं। उन्हें जेल में बन्द करके सरकार ने अगर कोई बात सिद्ध की, तो वह यह है कि जिस शासन में ऐसा देव-तुल्य पुरुष भी स्वाधीन नहीं रह सकता, वह जितनी जल्द मिट जाय, उतना ही भारत के लिए और समस्त संसार के लिए कल्याणकारी होगा। मि० बेन फरमाते हैं, कि किसानों पर इस आंदोलन का असर नहीं है और न मुसलमानों पर है। हम मि० बेन को इतना सादालौह न समझते थे। स्वराज्य-आंदोलन खासकर किसानों ही का आंदोलन है। क्या किसान इतने बड़े मूर्ख हैं, कि वह अपना हित भी नहीं समझते? सम्भव है, कि उनके पास अपने भावों और विचारों के प्रकट करने का वैसा अवसर, साधन और साहस न हो, जिसका मि० बेन जैसे आदमी पर असर पड़ता; पर इसका यह आशय नहीं, कि वह इस आंदोलन में शरीक ही नहीं हैं? अगर इस आंदोलन में उनका कोई फ़ायदा न होता, शिक्षित समाज ने उन्हें बेवकूफ बनाकर केवल अपना मतलब गाँठना चाहा होता, तो सम्भव था, किसान शरीक न होते; लेकिन जब किसानों की आर्थिक कठिनाइयों का सुधार इस आंदोलन के मुख्य तत्त्वों में है, तो किसान क्यों न शरीक

होंगे ? किसानों से ज्यादा कर और कौन देता है ? उनके खेत में उपज हो या न हो ; पर उन्हें लगान अवश्य देना पड़ेगा और लगान भी वह जो बराबर बढ़ता चला जाता है । क्या किसान बोलते नहीं, तो क्या अपनी दशा को महसूस भी नहीं करते ? महात्मा जी ने तो खुद किसानों को 'बेज़बान' कहा है । अभी तो इस आंदोलन को चले हुए तीन महीने भी पूरे नहीं हुए । ईश्वर ने चाहा, तो सरकार को यह भी मालूम हो जायगा, कि किसान इस आंदोलन में कहाँ तक शरीक हैं ! रहे मुसलमान । पिछले वैमनस्यों के कारण अभी कुछ मुसलमान जनता ऐसी अवश्य है, जो इस आंदोलन को शुबहे की निगाह से देखती है ; पर अधिकांश लोग हमारे साथ हैं, जैसा कि जमेयतुल-उलेमा के फैसले से ज़ाहिर है । पेशावर मुसलमानों का शहर है और वहाँ की जनता पर जो कुछ हुआ है, उसने हमारे बहुत से मुसलिम भाइयों की आँखें खोल दी हैं । अभी बम्बई के भिंडी बाज़ार में मुसलिम जनता पर जो कुछ किया गया है, उसका असर भी ज़रूर होगा । फिर क्या यह अँगरेज़ी सरकार के लिए गौरव की बात है, कि वह आंदोलन के तत्व पर विचार न करके ऐसे विचारों से सन्तोष प्राप्त करे, कि इस आंदोलन में फ़लाँ शरीक हैं, फला नहीं शरीक हैं । यह एक अप्रिय सत्य है पर उसे विवश होकर कहना ही पड़ता है, कि मुसलिम नेताओं में इस वक्त कुछ ऐसे लोग मौजूद हैं, जिन पर मुसलिम जनता का विश्वास नहीं । कुछ मुसलिम नेता इस आंदोलन से अपना मतलब गाँठने की फ़िक्र में पड़े हुए हैं और मुसलिम जनता के हितों को अपने स्वार्थ पर बलिदान कर रहे हैं । क्या लगान कम हो जाने से केवल हिन्दू किसानो का हित होगा ? क्या स्वदेशी के प्रचार से केवल हिन्दुओं का हित होगा ? मेम्बरियों और ओहदों के लिए झगड़ना मुसलिम जनता के हितों को थोड़े से शिक्षित समाज के स्वार्थ की भेंट करना है । हमें पूरी आशा है, और उसके लक्षण भी दिखायी दे रहे हैं, कि बहुत जल्द मुसलिम जनता अपने नेताओं से फिरकर इस आन्दोलन में शरीक हो जायगी । मुसलिम जनता को भी अब यह बात मालूम हो गयी है, कि सरकार को न हिन्दुओं से प्रेम है, न मुसलमानों से । उसके मार्ग में जो बाधक होगा, चाहे वह हिन्दू हो, या मुसलमान, उसके साथ किसी तरह की रिआयत न की जायगी । सरकार को नीच हिन्दू-जातियों से भी कुछ आशा है । कहीं-कहीं उसकी तरफ़ से इस आन्दोलन के विरोध की आवाज़ें भी आ रही हैं । हमें इस बात से लज्जा और खेद है, कि ऊँची जातों ने नीची जातों के साथ पूर्वकाल में ऐसा अच्छा सलूक नहीं किया, जैसा उन्हें करना चाहिए था ; लेकिन जागा हुआ हिन्दू-समाज अब अपने पिछले दुर्व्यवहारों का प्रायश्चित कर रहा है और कांग्रेस उन पुराने लचर और अमानुषीय बन्धनों को तोड़ने में अपना पूरा ज़ोर लगा रही है । कांग्रेसी हिन्दू की नज़र में सभी हिन्दू बराबर हैं । वह किसी के साथ मिलने, साथ भोजन करने, देवमन्दिरों में एक साथ पूजा करने में आना-कानी नहीं करता । वह हिन्दू-धर्म के ठीकेदारों से लड़ने पर भी तैयार है । एक

अछूत भाई से बराबरी के नाते से मिलकर कांग्रेसमैन को जितना आनन्द होता है, उसे बयान करने की ज़रूरत नहीं। उसका बस चले, तो वह आज ही ऊँच-नीच के बन्धनों को तोड़ दे। हमें विश्वास है, कि बहुत थोड़े दिनों में ऊँच-नीच का भेद केवल इतिहास में रह जायगा; मगर हम सरकार से पूछते हैं, आप जो अछूतों के बड़े हितैषी बनते हैं, आपने उनके उद्धार के लिए क्या किया है? आपने क्यों बेगार नहीं बन्द की? क्या आपको यह नहीं मालूम कि बेगार जिन से ली जाती है, वह यही नीच भाई हैं? जरायमपेशा जातियों की सृष्टि किसने की है? आपने या काँग्रेस ने? नीच भाइयों की शिक्षा के लिए प्रबन्ध करने में आपने कितनी उदारता से काम लिया है? इन बातों के होते हुए भी आप किस मुँह से अछूतों के हितैषी बनने का दावा कर सकते हैं? हमारे आदि हिन्दू भाई अब अपना दोस्त-दुश्मन पहचानने लगे हैं और हमें पूरा विश्वास है कि वह इस अवसर पर अपनी समझ से काम लेंगे। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि काँग्रेस के द्वारा ही उनका उद्धार हो सकता है और कोई शक्ति उनका उपकार नहीं कर सकती।

जिस निर्दयता से दमन किया जा रहा है, उससे तो यह साफ़ मालूम होता है, कि सरकार भारत की जाग्रति से घबड़ाई हुई है। Law and order का ढकोसला बनाकर सरकार खुद Law and order को भंग कर रही है। क़ानून केवल प्रजा ही के लिए नहीं है। सरकार पर भी उसके बनाये हुए क़ानून उतने ही लागू होते हैं, जितने प्रजा पर; मगर हम यहाँ देखते हैं, कि इस जाग्रति को दबाने के लिए सरकार किसी क़ानून की परवा नहीं कर रही है। जिस अपराध के लिए जो दंड नियत कर दिया गया है, उसका वह दंड न देकर सरकार जब जनता पर डंडों का प्रहार कराती है, तो इसे न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। आम तौर पर यही होता है, कि काँग्रेस का एक जुलूस निकलता है, अगर जुलूस को अपनी राह चले जाने दिया जाय, तो कोई चूँ भी न करे। काँग्रेस या उससे हमदर्दी रखनेवाली जनता लूटने के लिए जुलूस नहीं निकालती, न शांति-भंग करने के इरादे से चलती है; मगर सरकार इसे अपमान समझती है और जुलूस को रोकने के लिए नये-नये दफ़े लगाती है, पुलीस से निहत्थों को पिटवाती है और जिस चीज़ की रक्षा के लिए वह यह सब कुछ करने का दावा करती है, वह इस कार्रवाई से भंग हो जाता है। पेशावर, पटना, कलकत्ता, लखनऊ सभी जगह वही एक क़िस्सा है। हम लखनऊ को लेते हैं। जिस हज़रतगंज से काँग्रेस के जुलूस को रोकने के लिए सैकड़ों सिर तोड़ दिये गये, उसी हज़रतगंज से उसके पहले दो बार काँग्रेस का जुलूस शान्ति-पूर्वक निकल गया था और एक चींटी की भी जान न गयी थी। इससे स्पष्ट है, कि सरकार भारतीय जाग्रति को दमन के जोर से दबाना चाहती है। Law and order केवल बहाना है। शोलापुर की परिस्थिति पर सरकार ने जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, या पेशावर की तहक़ीक़ाती कमेटी के सामने

सरकारी कर्मचारियों ने जो बयान दिये हैं, उनसे भी यही प्रकट होता है, कि कर्मचारियों ने बेजा जल्दबाजी से काम लिया। पहले कहा गया था, कि शोलापुर में तीन पुलीसमैनों को मारकर जला दिया गया था। अब खुद सरकारी रिपोर्ट कहती है, कि यह बात ग़लत थी। तो फिर मार्शल लॉ जारी करने और हत्याकांड का अपराधी कौन है ? पेशावर में तहक़ीक़ाती कमेटी के सामने जो बयान हो रहे हैं, उनसे विदित होता है, कि जब तक जनता के तीन आदमी सशस्त्र कारों से कुचल नहीं गये, किसी ने पत्थर नहीं फेंके। एक कर्मचारी ने तो यहाँ तक कहा, कि फौज को बुलाने की कोई जरूरत न थी। फिर भी फ़ौज बुलायी गयी और कितने ही आदमी मार डाले गये। क्या यही Law and order की रक्षा है ? हम यह मानते हैं, कि कहीं-कहीं जनता ने पत्थर फेंके होंगे ; पर उसी वक्त, जब पुलीस या फ़ौज ने कोई ज्यादती की होगी। खेद तो इस बात का है, कि सेक्रेटरी तक पुलीस की इन डण्डेबाजियों की तारीफ़ें कर रहे हैं और हिज़ एक्सेलेंसी भी यही फरमाते हैं, कि कहीं उससे ज्यादा सख्ती नहीं की गयी जितनी ज़रूरी थी। हमारे नेता गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे हैं, कि पुलीस घोर अत्याचार कर रही है। इस कठोर दमन से उदासीन होकर लोग एसेम्बली और कौन्सिलों से धड़ाधड़ इस्तीफे दे रहे हैं ; पर सरकार यही कहे जाती है, कि जरूरत से ज्यादा सख्ती कहीं नहीं की गयी। सेक्रेटरी साहब ने तो इन इस्तीफों का ज़िक्र तक नहीं किया। अब तो स्त्रियों पर भी सख्ती होने लगी है। देखना चाहिए, यह दमन क्या-क्या गुल खिलाता है। हम तो इतना ही जानते हैं, कि जाग्रति दमन से दबनेवाली नहीं। दमन से वह और भी ज़ोर पकड़ेगी।

मई १९३०

डंडा

यों तो इंग्लैंड ने पिछले सौ सालों में बड़ी-बड़ी अद्भुत चीजों का आविष्कार किया, बड़े-बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक तत्त्वों का निरूपण किया ; लेकिन सबसे अद्भुत आविष्कार जो उसने हिन्दुस्तानी नौकरशाही के संयोग से किया है और जो अनन्तकाल तक उसके यश की ध्वजा को फहराता रक्खेगा, वह नीतिशास्त्र का यह चमत्कारपूर्ण, युगांतरकारी आविष्कार है, जिसे डंडाशास्त्र कहते हैं। यह बिलकुल नया आविष्कार है और इसके लिए इंगलैंड और भारत दोनों ही सरकारों की जितनी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है। इसने शासन-विज्ञान को कितना सरल, कितना तरल बना दिया है, कि इस आविष्कार के सामने डंडौत करने की इच्छा होती है। अब न कानून की ज़रूरत है, न

व्यवस्था की, कौन्सिलें और एसेम्बलियाँ सब व्यर्थ, अदालतें और महकमे सब फ़िज़ूल। डंडा क्या नहीं कर सकता—वह अजेय है, सर्वशक्तिमान् है। बस डंडेबाज़ों का एक दल बना लो, पक्का, मज़बूत, अटल दल। वह सारी मुश्किलों को हल कर देगा। मज़दूरों की सभा मज़दूरी बढ़ाने का आन्दोलन करती है—दो डंडा! किसानों की फ़सल मारी गयी, वह लगान देने में असमर्थ हैं, कोई मुज़ायक़ा नहीं—दो डंडा! तान-तान कर, कस-कस कर। डंडा सर्वशक्तिमान् है—रुपये निकलवा लेगा। कोई ज़रा भी सिर उठावे, ज़रा भी चूँ करे—दो डंडा! वह युवक कपड़े की दूकान पर खड़ा है, खरीदारों से कह रहा है—विलायती कपड़े न खरीदो—दो डंडा! उसकी इतनी हिम्मत, कि इंग्लैंड की शान में ऐसी अनर्गल बात मुँह से निकाले, ऐसा मारो कि ज़बान ही बन्द हो जाय। वह देखना,' एक स्वयंसेवक शराब-ताड़ी की दूकान पर जा पहुँचा। नशेबाज़ों को समझा रहा है—दो डंडा! देर न करो, ताबड़-तोड़ लगाओ, खूब कस-कर लगाओ। इन सिर-फिरों की यही दवा है। जहाँ कहीं राष्ट्रीयता की, जाग्रति की, आत्मगौरव की झलक देखो, बस तुरन्त डंडे से काम लो। इस मरज़ की यही अचूक दवा है, और इसका आविष्कार किया है—भारत सरकार और अँगरेज़ी सरकार ने मिलकर। कुछ न पूछिए! कितनी जाँफ़िशानी और परीशानी के बाद यह आविष्कार हो पाया है। इसका पेटेंट करा लेना चाहिए, वरना शायद कोई दूसरी जाति इस पर अधिकार कर बैठे! हालाँकि जहाँ तक हम समझते हैं, भारत के सिवा, जिसने अहिंसा का व्रत ले रक्खा है, संसार के और किसी भाग में यह आविष्कार उपयोगी सिद्ध न होगा; बल्कि उलटे आविष्कारकों के हक़ में ही घातक सिद्ध होगा। अहा हा! कितना सुन्दर दृश्य है! वह सड़क पर कई हज़ार आदमी झंडा लिये, क़ौमी नारे लगाते चले आ रहे हैं। बच्चे भी हैं, स्त्रियाँ भी हैं, बूढ़े भी हैं। अपने देश से प्रेम करने के लिए उम्र की क़ैद नहीं है। इधर लट्ठबंद, भालेबंद और राइफ़लबंद पुलीस के जवान पैंतरे बदल रहे हैं, जैसे शिकारी कुत्ते शिकार को देखकर अधीर हो जाते हैं, कि कब छूटें और शिकार पर टूट पड़ें। जंजीर खोलते-खोलते आफ़त आ जाती है। बिलकुल यही हाल हमारे पुलीस के इन शूर-वीरों का है, जिनमें अँगरेज़ी सर्जेंट तो उबला पड़ता है, बहादुरी का जोश उसके दिल में आँधी की तरह उमड़ा आ रहा है। हुक्म मिलता है—चार्ज! फिर देखिए इन सूरमाओं की बहादुरी। निहत्थे, सिर झुकाकर बैठे हुए, ज़बान बंद रखने वाले आदमियों पर डंडों और भालों का वार शुरू हो जाता है। और अगर किसी तरफ से एकाध पत्थर आ गया, चाहे वह खुफ़िया पुलीसवालों ही ने क्यों न फेंका हो, तो प्रलय हो गया! बस 'फ़ायर' का हुक्म मिल गया। धड़ाधड़ बन्दूकें चलने लगीं और लोग पड़ापड़ गिरने लगे और हमारे अफ़सर लोग, जो ऐसे अवसरों पर तमाशा देखने के लिए अवश्य आ जाया करते हैं, खुश हो-होकर तालियाँ बजाने लगे। वाह क्या बहादुरी है, क्या डिसिप्लिन है, भारत के सिवा संसार में और कहाँ ऐसे वीर पैदा हो

सकते हैं और इंग्लैंड के सिवा और कहाँ ऐसे जोशीले अफ़सर और नीतिज्ञ !

तो आजकल डंडे भगवान का राज है ! सारे देश में शान्ति है !! आश्चर्य है, कि इस बीसवीं सदी में और सभ्यता के शिखर पर बैठनेवालों के हाथों, भारत-वासियों का यह हाल हो रहा है। कौन-सा हृदय है, जो आहत और दलित नहीं, कौन-सी आँख है, जो खून के आँसू नहीं रो रही है। शायद हमारे सर्वज्ञ और दयालु विधाता समझते हैं, कि लाठी से चोट नहीं लगती ; मगर वास्तव में लाठी की चोट गोली के ज़ख्मों से कहीं अधिक कष्टसाध्य होती है। पिंडारों का हाल इतिहास में पढ़ा करते थे ; पर आजकल जो अनीति हो रही है और प्रजा को जिस तरह कुचला जा रहा है, उस पर तो पिंडारे भी दाँतों उँगली दबाते ; पर अँगरेजी सभ्यता का एक अंग यह भी है, कि अपनी बुराइयों पर तो पर्दा डाला जाय और दूसरों पर खूब कीचड़ फेंका जाय। धरसाना, वीरमगाम, विलीपार्ली, लखनऊ, मिदनापुर, बंबई, दिल्ली, कहाँ तक गिनायें। यह अँगरेज़ी शौर्य और पराक्रम की एक अविश्रांत कथा है। निहत्थों पर, स्त्रियों पर, बालकों पर, राह चलते पथिकों पर, घर में बैठे हुए प्राणियों पर डंडों का वार करना ऐसी ही, वीर जाति का काम है और अगर कोई इसको यथार्थ रूप में बयान करने का साहस करे, तो उसके लिए पुलीस की दफ़ाएँ हैं, जेल हैं, डंडे हैं। इतना ही नहीं, नीचे से ऊपर तक, पुलीस के छोटे अधिकारियों से लेकर वाइसराय और सेक्रेटरी तक एक स्वर से पुकारते हैं—पुलीस का व्यवहार प्रशंसनीय था, उसने बड़े ज़ब्त से काम लिया। फिर कोई लाख कहे, हमारे बड़े से बड़े नेता फ़रियाद करें, चारों ओर से यही आवाज़ आती है। हमें तो इस पुलीस-प्रेम में सरकार की दुर्बलता ही का प्रमाण मिलता है। वह पुलीस को हरेक प्रकार से, क़ायदे और न्याय की परवा न करके, उसकी नीचता, मनोवृत्तियों को पोषित करके, उसकी पीठ ठोंककर अपने काबू में रखना चाहती है ; क्योंकि वह खूब समझ रही है, यह हाथ से गये और फिर सर्वनाश हुआ। जो शक्तियाँ किराये के मनुष्यों पर अवलंबित होती हैं—जनता के विश्वास, प्रेम और सहयोग पर नहीं—उनका यही हाल होता है। उन क्रूर कथाओं की कल्पना करके रोमांच हो जाता है।

इधर तो विदेशी वस्त्रों का प्रचार आर्डिनेंसों से हो रहा है, उधर सरकार की ओर से विदेशी चीज़ों के लिए प्रोपेगैंडा भी किया जा रहा है। विलायती चीज़ों के सस्तेपन और पायदारी की सराहना की जा रही है और उसके व्यवहार न करने से हिन्दुस्तान को जो हानि होगी, उसका रोना रोया जा रहा है। हमारी प्रजा-वत्सल सरकार से यह नहीं देखा जाता, कि उसकी नादान जनता, रद्दी स्वदेशी चीज़ों पर अपना धन नष्ट करे ! हमारे विधाता जनता की इस मूर्खता और अदूरदर्शिता से बड़े दुखी हो रहे हैं, बेचारों को दाना-पानी हराम हो रहा है ; पर जनता उनकी ओर मुखातिब भी नहीं होती। क्या अब भी किसी को संदेह हो सकता है, कि अँगरेज़ी सरकार किसके

लिए भारत का शासन कर रही है ?

अमन सभाएँ

अमन सभाओं का संगठन शुरू हो गया। अब की इनका नामकरण ज्यादा मार्जित हुआ है, कहीं वह हितकारिणी सभा है, कहीं शांति रक्षिणी। उसके प्रवर्तक साधारणतः दो-एक रायबहादुर या खान बहादुर होते हैं और प्रेरक जिले का अधिकारी-वर्ग। उनका प्रोपेगेंडा राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध हो रहा है। चौकीदार, थानेदार, पटवारी, तहसीलदार, हाकिम-पर्गना सभी उसकी मदद पर कमर बाँधे हुए हैं। उन्हें पूरा अख्तियार है, कि काँग्रेस की जितनी चाहें मिट्टी पलीद करें। उसे बदमाशों का दल कहें, चाहें लुटेरों का संघ, कोई उनकी ज़बान नहीं पकड़ सकता। काँग्रेस के विरुद्ध इस वक्त जो कुछ भी कहा जाय, जो कुछ भी किया जाय, वह सब उत्तम है, श्रेष्ठ है और काँग्रेस की ज़बान बन्द कर दी गयी है। प्रायः सभी बड़े प्रांतों में १४४ धारा लगा दी गयी है। समाचार-पत्रों का निकालना भी असम्भव कर दिया गया है। ऐसी दशा में काँग्रेस अपने विरुद्ध फैलाये गये आक्षेपों और लांछनों और अपवादों का जवाब कैसे दे। यह तो वैसा ही है—किसी आदमी के हाथ-पाँव बाँधकर, आप उसके घर में आग लगा दें। हमें ऐसी अमन सभाओं का पहले कुछ अनुभव हो चुका है। इन्हें टोडी सभा कहना ही उपयुक्त होगा। हमें आशा है, कि जनता अब ऐसी सभाओं का रहस्य खूब समझने लगी है। वह इन गोरखधन्धों में न फँसेगी। मज़ा तो यह है, कि प्रजा-हित का यह सागर उसी समय तरंगित होता है, जब काँग्रेस का आतंक घटा की भाँति छा जाता है। तभी बेगार कम करने के, नज़राने बन्द करने के, और इसी प्रकार के दूसरे अनुष्ठान किये जाने लगते हैं और काँग्रेस का दबाव कम होते ही फिर वही नोच-खसोट शुरू हो जाती है।

शिक्षा-विभाग और

यों तो हमारे शिक्षा-विभाग ने हमेशा राष्ट्रीय आन्दोलनों का विरोध किया है और छात्रों को उससे अलग रखने की बराबर कोशिश की है; पर अब की बार तो उसने निश्चय-सा कर लिया है, कि उसके छात्रों को आज़ादी की हवा भी न लगने पावे, लड़कों के कानों आज़ादी की भनक भी न पड़ने पावे! हम यह मानते हैं, कि छात्रों को अपना समय विद्याभ्यास में लगाना चाहिए, एकाग्रचित्त होकर ज्ञान-लाभ करना चाहिए; पर इसका यह अर्थ नहीं है, कि देश पर चाहे कितना ही बड़ा संकट आ पड़े, हमारे छात्र किताबों के कीड़े और परीक्षाओं के दास बने रहें। हमारा विश्वास है, कि स्काउटिंग का जैसा अच्छा अभ्यास काँग्रेस के स्वयंसेवकों को हो सकता है, वह कृत्रिम साधनों-द्वारा कदापि नहीं हो सकता। काँग्रेसी जत्थे के साथ एक बार निकलने में जितना मानसिक और आत्मिक विकास हो सकता है, उतना बरसों की रटंत और

पढ़ंत से भी संभव नहीं। एक बार दो-चार डंडे खा लेना या दो-चार महीने के लिए जेल-यात्रा कर लेना, हृदय और मस्तिष्क दोनों ही के लिए महान् लाभकारी है। शिक्षा का सर्वोत्तम रूप है, अनुभव। अनुभव-हीन शिक्षा ज्योति-हीन दीपक है। जीवन के सजीव संग्राम में जो अनुभव प्राप्त हो सकता है, वह और कहाँ से हो सकता है। और यह वह संग्राम नहीं है, जिसमें आदमी तकदीर को ठोकरों से जा पड़ता है, यह आस्मानी बला नहीं है, यह अपनी आत्मा को, अपनी बुद्धि को, अपने आपको, अस्वाभाविक बंधनों से मुक्त करने की जाग्रति-पूर्ण चेष्टा है। ऐसे आंदोलनों से छात्रों को दूर रखने की कोशिश वही शासन कर सकता है, जिसकी बुनियाद भय और मूर्खता पर हो। क्या हमने नहीं देखा है, कि जब यूरोपीय युद्ध छिड़ा हुआ था तो स्कूल और विद्यालय बंद हो गये थे, तब यह नीति कहाँ ग़ायब हो गयी थी ? तब क्यों नहीं इंग्लैंड के स्कूलों के इंसपेटरों ने इंग्लैंड के शिक्षा-विभाग के मंत्री के सभापतित्व में यह प्रस्ताव किया था, कि छात्रों को इस समर से दूर रक्खा जाय। इंग्लैंड के लिए वह समय जितना नाज़ुक था, उतना ही नाज़ुक हमारे लिए यह समय है और जब यह सारा उद्योग केवल भावी संतानों के लिए किया जा रहा, तो यह कहाँ का न्याय है, कि वही भावी संतान दूर से खड़ी तमाशा देखती रहे। इस विषय में प्रयागवालों ने जो कार्रवाई की है, उसका हम हृदय से समर्थन करते हैं। टोडियों से तो कुछ कहना व्यर्थ है, लेकिन जिसमें आत्मसम्मान का एक अणु भी है, उसे साफ़-साफ़ कह देना चाहिए, कि मैं इस अनर्थकारी प्रोपेगेंडा में नहीं शरीक हूँगा और ऐसे अन्याय-पूर्ण बंधनों के अधीन अपने बालकों को न पढ़ाऊँगा। उस नौकरी के लालच में, जो शायद कभी न मिलेगी, नवयुवकों के गले में गुलामी का पट्टा डालना, हमें तो कभी स्वीकार नहीं हो सकता। ऐसी पाठशालाओं में लड़कों को भेजना, जहाँ राष्ट्रीयता का इस कठोरता से गला घोंटा जा रहा हो, जो गुलाम पैदा करना ही अपना ध्येय समझे बैठी हों, सर्वथा लज्जास्पद है। हमें पूरा विश्वास है, कि शिक्षा-विभाग को इस विषय में मुँह की खानी पड़ेगी। अगर सरकारी सहायता बन्द होती हो, तो हो ; छात्रों पर फ़ीस बढ़ाकर, डोनेशनों से अध्यापकों का वेतन घटा कर, जिस तरह भी हो सके, इस चैलेंज को स्वीकार कर लेना चाहिए।

साइमन रिपोर्ट

साइमन रिपोर्ट प्रकाशित हो गयी। खूब धड़ल्ले से बिक रही है। सुनते हैं, लाखों तक संख्या पहुँच चुकी है। इंग्लैंड के कुछ लोग रिपोर्ट की तारीफों के पुल बाँध रहे हैं, कुछ बिगड़ रहे हैं, कि यह विधान तो इंग्लैंड को ग़ारत ही कर देगा। बहुत कम ऐसे प्राणी हैं, जो उसकी निन्दा करते हों ; पर भारत में ऐसा एक भी प्राणी नहीं, जो रिपोर्ट को लचर, रद्दी, घृणित और त्याज्य न कह रहा हो। मुसलमान और सिक्ख भी, जिन्हें प्रसन्न रखने की सिर तोड़ कोशिश की गयी है, रूठे हुए हैं। लिबरलों ने तो उसकी खूब दुर्गति बनायी है। यही रिपोर्ट लिखने के लिए, यह कमीशन इंग्लैंड से आया

था। गरीब भारत का लाखों रुपया खर्च किया, कितनी ही जगह डंडों की वर्षा करायी और देश में फूट का बीज बोया। और अँगरेजी सरकार, यह जानते हुए भी कि इस रिपोर्ट को भारत कभी स्वीकार न करेगा, इतने दिनों तक उसकी आड़ लिये शांतिपूर्वक बैठी रही। एस रिपोर्ट को देखकर अब सिद्ध हुआ, कि इंग्लैंड में विवेक और विचार का दीवाला हो गया है, केवल साम्राज्यवादिता का ज़ोर है और पशुबल ही राजनीति का मूलाधार है। संभव था, अगर दोनों तरफ़ दिल साफ़ होते, यह विधान सफलता से चलाया जा सकता। अगर शासकों के हृदय में कुछ परिवर्तन हो जाय, तो इस विधान के द्वारा देश का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। मगर वह Change of heart—कहीं नज़र नहीं आता। और ऐसी दशा में इस विधान से किसी उपकार की आशा नहीं की जा सकती। कुछ काग़ज़ी परिवर्तन तो अवश्य हो जायगा, किन्तु जनता की दशा पूर्ववत् ही बनी रहेगी—यही अन्याय, यही दमन, यही अनीति। भारत ने इस रिपोर्ट को उसी तरह पैरों से ठुकरा दिया, जैसे उसने साइमन कमीशन को ठुकराया था।

जून १९३०

अगर तुम क्षत्रिय हो

तो अपने क्षत्रिय-धर्म को पालो। क्या हम तुम्हें बतावें, कि क्षत्रिय-धर्म क्या है? यह तुम मुझसे कहीं ज़्यादा जानते हो। यह धर्म अपने संस्कारों के रूप में लेकर तुमने जन्म लिया है। बत्तख के बच्चे को कोई तैरना सिखाता है, या सिंह के बालक को शिकार करने की शिक्षा देनी होती है? क्या हम नौजवान क्षत्रियों से कहें, आज तुम्हारा धर्म क्या है? तुम्हारे बुज़ुर्गों ने किस तरह अपने धर्म का पालन किया था! क्या गरीबों को पीसकर, किसानों का गला दबाकर, छोटी-छोटी नौकरियों के लिए अफ़सरों की चौखट पर नाक रगड़-रगड़ कर, ज़रा-सी रिआयत के लिए नीच से नीच खुशामद करके उपाधि और पदवी के लिए अधिकारियों के सामने मत्था टेक कर ही उन्होंने धर्म का पालन किया था? कभी नहीं। वे सत्य की रक्षा में जानें लड़ा देते थे। मजाल न थी, कि उनके देखते कोई बलवान किसी दुर्बल को दबा ले। उसका खून पी जाते। दीन की पुकार सुनकर उनके खून में जोश आ जाता था। हेकड़ की हेकड़ी देख कर आँखों में खून उतर आता था। उनकी वीरता अफ़सरों के शिकार खेलाने या उनको खुश करने के लिए, पोलो खेलने तक रिज़र्व न थी।

क्या तुम भी उसी नीति को पालोगे? जो अफ़सरों के स्वागत में गरीबों के पैसे उड़ाती है, जो दीनों के रक्त से अमीरों और विशेषत: अधिकारियों की दावतें

करती है ? नहीं, जो लोग बूढ़े हो गये हैं, जिनमें जोश नहीं, जान नहीं, मान नहीं, जिनकी नसों में अभी तक नवाबों के जमाने की आराम-तलबी, और ऐश-परस्ती भरी हुई है, उनको सलामियाँ करने दो, दावतें खिलाने दो, डालियाँ पेश करने दो, खान-सामों और बैरों की नाज़बर्दारियाँ करने दो ; मगर तुम नौजवानों से हम यह आशा नहीं रखते ; क्योंकि तुमने उस युग में जन्म लिया है, जब पृथ्वी के हरेक भाग में ग़ुलामी की बेड़ियाँ टूट रही हैं । परम्परा के बन्धन ढीले हो रहे हैं । अन्याय एड़ियाँ रगड़ रहा है । सत्य और न्याय की विजय हो रही है । तुम्हारी आँखों के सामने संसार में क्या-क्या तबदीलियाँ हो गयीं, तुम नहीं जानते ? रूस की ज़ारशाही मिट गयी, ईरान की कजकुलाही मिट गयी, तुरकी की शाहन्शाही मिट गयी, चीन की ख़ाक़ानी मिट गयी, जरमनी की कैंसरसाही मिट गयी, यहाँ तक कि स्पेन ने भी स्वाधीनता की साँस ली ; मगर भारत कहाँ है ? वहीं, जहाँ था । दीन, दुखी, दरिद्र । जानते हो क्यों ? इसीलिए कि क्षत्रियों ने धर्म का पालन करना छोड़ दिया । क्या तुम जवान होकर भी उसी बूढ़ी, खूसट, लज्जास्पद, कायरता से भरी हुई, खुशामद में डूबी हुई नीति का पालन करोगे ? कभी नहीं, तुम नये युग के नाम-लेवा हो, तुम जवान हो, सजग हो, अभी नीच स्वार्थ ने तुम्हें अपने रंग में नहीं रँगा, अभी तुम्हारी कमर ने झुकना नहीं सीखा, तुम्हारे सिर ने सिजदे करना नहीं सीखा, तुम में जोश है । हमें तुमसे आशा है । तुम भारत के मुख से वह कलंक मिटा दोगे, जो आज उसे सिर नहीं उठाने देता । सत्य का संग्राम छिड़ गया है, उसमें वीरों की भाँति अपने कर्त्तव्य का पालन करो । क़ौम के बनने-बिगड़ने की ज़िम्मेदारी नौजवानों के सिर होती है । वह जवान ही है, जो सत्य के संग्राम में पहले क़दम उठाते हैं । तुम तो क्षत्रिय युवक हो, क्या हम तुम्हें बतायें, कि इस समय तुम्हारा धर्म क्या है ?

नवम्बर १९३०

स्वराज्य संग्राम में किसकी विजय हो रही है

जहाँ किसी नेता के पकड़े जाने का समाचार आया, किसी शहर में सौ-पचास आदमियों के घायल होने की ख़बर मिली और हमारे चेहरों पर मुर्दनी छायी । हमारे सिर झुक जाते हैं, मुँह से बेकसी की आह निकल जाती है और ऐसा जान पड़ता है, कि हमारे राष्ट्र की नौका अब डूबना चाहती है ; मगर सोचिए, वह हमारी हार के लक्षण हैं या जीत के ? महात्मा गांधी ने जब समर-क्षेत्र में पदार्पण किया ; तो उन्होंने खूब समझ लिया था, कि मैं पकड़ लिया जाऊँगा । उन्होंने अपने जाँनशीन भी चुन लिये थे । तो, अगर जेनरल की इच्छानुसार ही संग्राम चल रहा है, तो यह जेनरल

की हार है, या जीत ? अगर शत्रु विजयी होता, तो सबसे पहले वह हमारे जेनरल के रचे हुए चक्र-व्यूह को तोड़ता, जेनरल ने जितनी चालें सोच रक्खी थीं, उन सभों को पलट देता ; पर ऐसा वह नहीं कर सका। उसको झक मार कर हमारे जेनरल के आदेशों के सामने ही सर झुकाना पड़ा, यहाँ तक कि महात्माजी ने संग्राम को प्रगति की जो कल्पना की थी, वह अक्षरशः सत्य होती जा रही है। तो, यह हमारे जेनरल की विजय है, या पराजय ?

निःशस्त्र संग्राम का मूल-तत्व क्या है ? यही कि शत्रु को हम इतना दमन करने पर मजबूर कर दें, कि वह खुद अपनी ही निगाह में गिर जाय, खुद उसकी आत्मा उससे घृणा करने लगे, यहाँ तक कि उसकी पुलिस और सेना उसकी दमनकारी आज्ञाओं का पालन करने से इन्कार कर दे। उसके साथ ही हम विनय के प्रत्येक अंग का पालन करते रहें। अविनय का एक शब्द भी हमारे मुँह से न निकले। अविनय का एक भी विचार हमारे मन में न आवे। ऐसे विनय के आदर्श के सामने पशुबल बहुत दिनों तक अपना ज़ोर नहीं दिखा सकता। लोकमत पशुबल की कठोर गति देखकर कृपाशील हो जाता है, आन्दोलन का ज़ोर बढ़ने लगता है, सरकार के बड़े-बड़े भक्त उसका साथ छोड़ देते हैं, उसे ऐसे-ऐसे क़ानून बनाने पड़ते हैं, जिनसे जनता के स्वाभाविक जीवन में बाधा पड़ती है। जनता भी सत्याग्रहियों में सम्मिलित हो जाती है। अधिकारियों को संगीनों और मशीनगनों का आश्रय लेना पड़ता है, उसका आर्थिक और राजनीतिक दीवाला हो जाता है। यहाँ तक कि अधिकारियों को राज्य का संचालन करना असम्भव हो जाता है। क्या हम इन उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर रहे हैं ? आंदोलन इतने दमन के बाद भी क्या बढ़ता नहीं जा रहा है ? उसका क्षेत्र विस्तृत नहीं होता जा रहा है ? जिन शहरों में दस-बीस स्वयंसेवक न मिलते थे, उन्हीं शहरों में क्या अब दस-बीस आदमी रोज़ जेल नहीं जा रहे हैं ? हम इसे अपनी विजय कहें या पराजय ? कितने ही लिबरल नेताओं ने सरकार की दमन-नीति के विरोध में कौंसिलों से इस्तीफ़े नहीं दिये ? सैयद हसन इमाम और मालवीयजी जैसे लोग किस शक्ति से खिंच आये और जेल में तपस्या कर रहे हैं ? और अभी तो सातवाँ ही महीना है, क्या यह हमारी हार के चिह्न हैं ? मुझे तो यह शानदार फ़तह मालूम होती है।

संग्राम में स्वभावतः विजय वही लाभ करता है, जिसमें दम ज्यादा है, जो ज्यादा देर तक मैदान में खड़ा रह सकता है। जिसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जर्मनी की जीत युद्ध के जल्द से खत्म हो जाने में थी। समय के साथ उसकी शक्ति घटती जाती थी। अँगरेज़ों की जीत युद्ध के तूल खींचने में थी। उसी भाँति हमारी विजय-आन्दोलन के दीर्घ होने में है। हमारी शक्ति दिन-दिन बढ़ती जायगी, हमारा संगठन उत्तरोत्तर पूर्ण होता जायगा। अभी हमारा कार्य-क्षेत्र शहरों तक है। वह धीरे-धीरे देहातों में फैलेगा। समाज के कितने ही अंग अभी अछूते पड़े हैं। वे भी

धीरे-धीरे हमारे प्रभाव में आवेंगे। इसके विपरीत अँगरेज़ों की शक्ति, दिन-दिन क्षीण होती जायगी ; उसके सहायक, अलग होते जायँगे ; उसकी आय, कम होती जायगी ; उसका रोब, घटता जायगा ; उसकी साख, लुप्त होती जायगी और जब साख न रही, तो उस राज्य का अन्त ही समझ लो। अभी तक तो सितारा हमारा ही बुलन्द है और ग्रहों का योग बता रहा है, कि वह दिन-दिन बुलन्द ही होता जायगा। जनता पर जितने डन्डे पड़ते हैं, यह अँगरेज़ी आधिपत्य पर एक-एक कुल्हाड़ी के आघात से कम नहीं है। हमने यही समझ कर डन्डों का स्वागत किया है, सिर झुका-झुकाकर उसे अंगीकार किया है। यही हमारी विजय है। यही डन्डे बाजी, यही दमन, यही पशुता अँगरेज़ी राज्य का विध्वंस करेगी।

हमारी हार उस वक्त हो जाती है, जब हम विनय के आदर्श से गिर जाते हैं, जब हम पुलीस के विरुद्ध गालियाँ और कटु वचनों का प्रयोग करने लगते हैं, जब हम प्रतिकार के वश होकर वार करते हैं, जब हम दंगे-फ़िसाद पर आमादा हो जाते हैं। हमारी जीत लोकमत की सहानुभूति पर है। जिन कामों से आप लोकमत की सहानुभूति पा सकें, वह आपके रोकड़ खाते के हैं, जिन कामों से लोकमत की सहानुभूति खो दें, वह देना खाते के हैं। गालियाँ बक कर, या अधिकारियों के प्रति अपमान-सूचक इशारे करके आप लोकमत के विरुद्ध चले जाते हैं। वहीं आपकी हार है। पर, ऐसी वारदातें अभी तक इतनी कम हुई हैं, कि हम उन्हें उँगलियों पर गिन सकते हैं।

सबसे बड़ी बात, जो हमारी विजय को निश्चित कर देती है, वह 'हक़' है। हम 'हक़' पर हैं और 'हक़' की हमेशा विजय होती है। यह एक अमर सत्य है। समय भी हमारे साथ है। यह डिमाक्रेसी का युग है। निरंकुशता की जड़ें खोखली होती जा रही हैं। संसार ने निरंकुश शासन का, या तो अन्त कर दिया, या करता जा रहा है ; अतएव समय भी हमारे साथ है। लोगों के दिलों में स्वाधीनता की लगन पैदा हो गयी है, उसके लिए कुर्बानियाँ करने पर, उसकी कीमत देने पर, प्राणों की बाज़ी लगाने पर तैयार हैं। गोलियों और लाठियों के सामने साहस-पूर्वक खड़े रहना इतिहास में बहुत बड़े महत्व की बात है। इससे उस उन्माद का परिचय मिलता है, जो किसी महान उद्देश्य की सिद्धि के लिए लाजमी है। समय अपना प्रभाव दिखाकर रहेगा। अँगरेज़ों के बुरे दिन आ रहे हैं। आर्थिक दशा में वह अब दूसरे दरजे की शक्ति है, सैनिक और नाविक-बल में तीसरे दरजे की। यह बात न भूलनी चाहिए कि संसार की सहानुभूति हमारे साथ है। यद्यपि अभी तक उसका कोई प्रमाण नहीं मिला ; पर जर्मनी, जापान, अमेरिका तीनों ही भारतीय परिस्थिति को बड़े ग़ौर से देख रहे हैं। अमेरिका के कई प्रभावशाली सज्जनों ने, जिनका चर्च से सम्बन्ध है, मि० वेजवुड बेन को एक चेतावनी दे दी है, और कहीं-कहीं जलसों में भारत से सहानुभूति भी प्रकट की गयी है। यह सभी शुभ लक्षण हमारी विजय के परिचायक हैं।

हमें सबसे बड़ी शंका मुसलमानों की ओर से है। हिन्दू-मुसलिम दंगों की खबरें पढ़-पढ़कर हम हताश हो जाते हैं; लेकिन इस पहलू से भी हमारी पोज़ीशन दिन-दिन मज़बूत होती जा रही है। ढाका और किशोरगंज के दंगों के कारण कुछ भी क्यों न हों; पर देश में उनसे कोई खलबली नहीं मची। लोगों ने मन ही मन इन कारणों को समझ लिया और अब अधिक सावधान हो गये हैं। मुसलमानों में इस समय दो राजनीतिक दल हैं। एक काँग्रेस से सहानुभूति रखनेवाला मुसलिम नेशनलिस्ट दल, दूसरा मुसलिम-लीग दल। अब मुसलिम-जनता मुसलिम लीग पार्टी की चालों को खूब समझने लगी है। उसमें अधिकांश वही लोग सम्मिलित हैं, जो या तो अंगरेज़ी सरकार के नौकर हैं, या थे, या जिन्हें अपना कोई स्वार्थ निकालना है। निस्वार्थ भाव से देश सेवा करनेवाले, उस दल में बहुत कम हैं। नेशनलिस्ट दल ने तो लखनऊ में अपना अधिवेशन करके साफ़ कह दिया कि हम काँग्रेस के अवज्ञा-आंदोलन को न्याय-संगत समझते हैं और काँग्रेस की कुर्बानियों की प्रशंसा करते हैं। जब तक काँग्रेस गोलमेज़ कान्फ्रेन्स में न जायगी, यह लोग भी न जायँगे। दूसरे दल ने भी प्रयाग में अपना अधिवेशन किया। उसने काँग्रेस आंदोलन की निंदा की और गोलमेज़ सभा में जाने का निश्चय भी प्रकट किया; पर इतना उनको भी कहना ही पड़ा, कि यदि गोलमेज़ सभा में हमारा अभीष्ट न पूरा हुआ, तो वहाँ से लौटकर हम भी यही आंदोलन आरंभ करेंगे। हम जानते हैं, कि यह इस दल की धमकी है, और सरकार ने यदि उसके साथ थोड़ी-सी रिआयत कर दी, जिसकी बहुत कुछ संभावना है, तो वह सरकार का तरफ़दार रहेगा। मुसलमानों का एक तीसरा दल भी है, जो सोलहों आना काँग्रेस के साथ है। और आलिमों ने इसी दल को अपनाया है; इसलिए मुसलमानों की ओर से भी हम निश्चिन्त हो सकते हैं। काँग्रेस को इस समय अपनी उदारता दिखानी चाहिए और यह जानते हुए, कि दो-चार मेम्बरों की कमी-बेशी से किसी जाति का भविष्य नहीं बनता-बिगड़ता, मुसलमानों को असंतुष्ट न करना चाहिए। समय आने पर यह धर्मगत वातावरण आप ही आप दूर हो जायगा और आर्थिक सिद्धांतों के अधीन नये-नये दल बन जायँगे।

सारांश यह, कि हमें चारों ओर अपनी विजय के लक्षण दिखायी देते हैं, और हम इसी तरह क्षेत्र में डटे रहेंगे, तो निस्संदेह हमारी मनोकामना पूरी होगी। सरकार ने जो ये आर्डिनेंस पास किये हैं, इन्हीं से प्रकट है कि वह अपनी हार स्वीकार कर रही है। जब राजसंस्था अपने ही बनाये हुए क़ानूनों को पैरों तले रौंदना शुरू करे, तो उसकी दशा उस पागल की-सी समझनी चाहिए, जो आप ही अपनी देह को दाँतों से काटता है, आप ही अपना मांस नोचता है। ऐसा प्राणी बहुत दिन जीवित नहीं रह सकता। उसकी जिन्दगी का पैमाना लबरेज़ हो चुका है। आखिर इन विशेष क़ानूनों का—इन ग़ैरक़ानूनी क़ानूनों का क्या परिणाम हुआ? वही, जो होना स्वाभाविक था; पिकेटिंग को सरकार ने बंद करना चाहा था। पिकेटिंग का दिन-दिन ज़ोर बढ़ता

जा रहा है। समाचार-पत्रों के बंद करने में बेशक सरकार को सफलता हुई ; लेकिन कानून तोड़कर साइक्लोस्टाइल पर छपनेवाले पर्चों ने तो शासकों की नाक ही तराश ली। आंदोलन का जोर सौगुना बढ़ गया। इसमें भी सरकार को सफलता नहीं मिली। कहीं खादी पहनना अपराध है, कहीं गांधी टोपी लगाना अपराध है, कहीं तकली का व्यवहार करना अपराध है। लार्ड अर्विन अगर मातहतों की इन हिमाक़तों को पसन्द करते हैं, तो वह कठपुतली हैं, अगर नापसन्द करते हैं, और कुछ बोल नहीं सकते, तो कमज़ोर। मगर, हमें न उनसे कोई शिकायत है, न उनके मातहतों से। आपको डंडे चलाना मुबारक, हमें डंडे खाना मुबारक! अगर संसार का कोई नियंता है, तो वह न्याय करेगा। हमें अपने सत्य का ही बल है।

नवम्बर १९३०

पिकेटिंग आर्डिनेन्स

वाइसराय को स्वेच्छा से छः महीने के लिए कोई भी कानून जारी करने का अधिकार इसलिए दिया गया था, कि जब एकाएक कोई परिस्थिति ऐसी आ जाय, कि एसेम्बली में उस कानून को पास कराना असुविधाजनक हो और इधर देश में कोई अनर्थ हो जाने की शंका हो, तो प्रबन्ध-संचालन में कोई रुकावट न पैदा हो ; पर उसका इस तरह दुरुपयोग किया गया, कि प्रजा के स्वयंसिद्ध अधिकारों को कुचलने के लिए मनमाने आर्डिनेंस जारी किये गये। इस बात का एक क्षण के लिए भी विचार न किया गया, कि जिन लोगों को आर्डिनेंस द्वारा जनता पर जुल्म करने का अख्तियार प्राप्त होगा, वे कैसी-कैसी सख्तियाँ और उस अधिकार का कैसा बुरा इस्तेमाल करेंगे ; मगर जब ऊपर ही से अधिकारों के दुरुपयोग की क्रिया आरंभ हुई, तो यह मान लेना पड़ेगा, कि वाइसराय और उनके सहयोगी इस बात से बेखबर न थे, कि इन आर्डिनेंसों द्वारा जनता पर क़ानून की आड़ में हरएक प्रकार की सख्ती की जायगी, और यही उनका उद्देश्य था। क्रिया शुरू हो गयी और शासन-चक्र भीषण गति से चलने लगा। क्या वाइसराय और उनके सहयोगियों को यह मालूम है, कि इन आर्डिनेंसों द्वारा जनता का गला दबाकर कितनी रिशवतें ली जा रही हैं ? कितना जातिगत वैमनस्य बढ़ाया जा रहा है ? और जनता की आह और फ़रियाद का जवाब डंडों और गोलियों से दिया जा रहा है ? इस आंदोलन का और कोई फल निकले या न निकले ; लेकिन एक फल तो अवश्य निकला, कि नौकरशाही अपने नग्न रूप में जाहिर हो गयी। अब किसी अधिकारी का यह कहने का मुँह नहीं है, कि अँगरेज लोग भारत को न्याय और सभ्यता का सबक सिखाने के लिए उस पर राज्य कर रहे हैं। अँगरेज़ी शासन का उद्देश्य केवल एक है,

और वह है भारत में अँगरेजी व्यापार का प्रसार और शिक्षित अँगरेज बेकारों के लिए बड़ी-बड़ी जगहों का आयोजन। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भारत की गर्दन पर सवार है और उसे यह किसी तरह स्वीकार नहीं है, कि उसके स्वार्थ में जौ भर की कमी हो। आप उसके स्वार्थ में हस्तक्षेप न करें, तो वह एक खास दायरे के अन्दर आपके साथ न्याय, मनुष्यत्व और सौजन्य का व्यवहार करने को राजी है; लेकिन आपने उसके स्वार्थ की ओर आँख भी उठायी, तो आपकी कुशल नहीं! वह न्याय, मनुष्यत्व और सौजन्य सब गायब हो जायगा और शासन का विकराल रूप आपके सामने आ खड़ा होगा। यह हरएक आदमी का हक़ है, कि वह अपने किसी भाई को कोई अनुचित काम करते देख कर समझाये, रोके—सख्ती से नहीं, धमकाकर नहीं—हाथ जोड़ कर, पैरों पड़कर। यह जन्म-सिद्ध अधिकार है; मगर आज आप इतना कह दें, तो आपके लिए जेल का द्वार है। आपका भाई शराब पीता हो और अपना सर्वस्व बिगाड़े देता हो; पर आपको उसे समझाने या रोकने का हक नहीं है, यहाँ तक कि आप अपने पुत्र को भी नहीं रोक सकते। आप जेल में ठूँस दिये जायँगे, और विलायती कपड़ों के विरुद्ध तो जबान खोलना ही जुर्म है। किसी का पुलिस से इतना कह देना काफी है कि अमुक व्यक्ति मुझे कपड़े खरीदने से रोक रहा है। बस, आप बाँध लिये जायँगे और यह भी निश्चय है, कि आपको सजा भी हो जायगी। आप अपने को कितना ही बेकसूर साबित करें, आपकी एक न सुनी जायगी। कोई दूकानदार, जिसे चाहे एक इशारे में गिरफ़्तार करा सकता है। वह तो कहो, भारत में अभी लोग धर्म को भूले नहीं हैं और ऐसा कम होता है, कि निजी द्वेष निकालने के लिए लोग इस कानून से काम लें; पर सरकार ने अपनी तरफ से कोई बात उठा नहीं रक्खी, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि कुछ दूकानदार ऐसा कर नहीं रहे हैं। आज लगभग साठ हजार आदमी जेल में केवल इसीलिए बन्द हैं, कि उन्होंने अपने भाइयों को विदेशी कपड़े लेने से रोकने की चेष्टा की थी। अगर भारत के कल्याण पर सरकार की निगाह होती तो, क्या ऐसा कानून जारी किया जाता? विलायती कपड़े के व्यापारियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में जितनी सहायता दी है, उसके लिए देश चिरकाल तक उनका ऋणी रहेगा, अगर उन्होंने खुले दिल से आन्दोलन में भाग न लिया होता, तो हमें विदेशी-वहिष्कार में उसकी शतांश सफलता भी न होती, जितना हो रही है। उन्होंने बड़े-बड़े नुकसान उठाये और उठा रहे हैं। हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं, कि काँग्रेस को उनके साथ पूरी सहानुभूति है; पर परिस्थितियों ने काँग्रेस को विवश कर रक्खा है; मगर सरकार को यह आर्डिनेन्स जारी करके क्या मिला? महीने-भर में यह आर्डिनेन्स भी समाप्त हो जायगा और अँगरेजी कपड़ों का बाजार ज़रा भी न चेता और न चेत सकेगा। अपयश के सिवा और कुछ नहीं। आँकड़ों से सिद्ध होता है, कि इंग्लैण्ड में बेकारों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती है और कपड़े की खपत कम होती जाती है। हम मानते हैं, कि इस बहिष्कार से भारत को

भी कम क्षति नहीं पहुँच रही है। धनी के अपार धन-समूह से मुट्ठी-दो मुट्ठी निकल जाय, तो उसे क्या ख़बर होगी? दरिद्र के लिए पैसे-कौड़ी की हानि ही बहुत कुछ है; पर उसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा, कि दरिद्र चाहे दो-एक दिन निराहार सो रहे; पर धनी को अपने भोग-विलास में जरा-सी कमी भी असह्य होती है। हमने विलायती कपड़ों की नींव पर अपना जो व्यापार-भवन खड़ा किया है, वह वास्तव में हमारे लिए गुलामी का जेलखाना बन गया है और उस भवन को गिराये बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता।

गोलमेज़-कान्फ्रेंस

हम गोलमेज़-कान्फ्रेंस के निन्दकों में नहीं हैं। हम स्वीकार करते हैं, कि हमारे कितने ही नेता केवल राष्ट्र-हित के विचार से उसमें शरीक हुए हैं और तरह-तरह की बाधाओं का सामना करके वे देश के उद्धार के लिए कोई मार्ग सोच निकालने में जी-जान से लगे हुए हैं। वे अपनी ज़िम्मेदारियों को खूब समझते हैं और जो लोग उनकी निन्दा या उपेक्षा करते हैं, वे उनके साथ अन्याय करते हैं। यह समझना, कि कांग्रेस के लीडरों ही ने अक्लमन्दी का ठेका ले लिया है और जो लोग उसके बाहर हैं, वे सब के सब देश-द्रोही हैं, सरासर अन्याय है। गोलमेज़ में ऐसे-ऐसे अनुभवी नेता शरीक हैं, जिनकी हमने सदैव इज्ज़त की है और अब भी करते हैं। हमें विश्वास है, कि वे लोग कोई ऐसा काम न करेंगे, जिससे राष्ट्र को हानि पहुँचे; लेकिन हमें रुख के देखने से ऐसा अनुमान होता है, कि उन्हें अपने कार्य में विशेष सफलता की सम्भावना नहीं। एक तरफ़ हमारे मुसलिम नेता हैं, जो मि० जिन्ना की चौदह शर्तों को देश की भाग्य-रेखा बना डालने पर तुले हुए हैं। दूसरी ओर हिन्दू नेता हैं, जो इन शर्तों को उसी दशा में मन्जूर करना चाहते हैं, जब पहले यह तय हो जाय, कि गवर्नमेंट डोमिनियन स्टेट्स स्वीकार करने पर तैयार है। डोमिनियन स्टेट्स के विषय में अब यह स्पष्ट हो गया है, कि साम्राज्य का कोई भी अंग अपनी इच्छानुसार साम्राज्य से पृथक् हो सकता है। यह प्रत्येक डोमिनियन की इच्छा के अधीन है कि वह जब तक चाहे साम्राज्य में रहे और जब उसे साम्राज्य में रहना अपने लिये किसी कारण से अहितकर मालूम हो, तो अलग हो जाय। ऐसी दशा में डोमिनियन स्टेट्स और पूर्ण स्वराज्य में बहुत थोड़ा, या केवल नाम का अन्तर रह जाता है। हमारे विचार में भी डोमिनियन स्टेट्स की स्वीकृति पर ही मुसलिम शर्तों को मन्जूर करना चाहिए। इसके बग़ैर मुसलिम शर्तों को स्वीकार करने में बड़ी बाधाएँ खड़ी होंगी। सरकार की जो नीति है उसका तक़ाज़ा यही होगा, कि मुसलिम शर्तों को प्रधानता देकर थोड़ा-सा सुधार और कर दे। ऐसी दशा में आपस में वैमनस्य ही बढ़ेगा। हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं, कि भारत सुधार नहीं चाहता, वह अपने भाग्य निर्णय का अधिकार चाहता है। गोलमेज़वालों को समझ लेना चाहिए कि नुमायशी सुधारों को स्वीकार करके वे भारत में शांति-स्थापना

न कर सकेंगे। हम उनसे अनुरोध करते हैं, कि वे सबसे ज्यादा जोर इसी बात पर दें, कि कान्फ्रेंस की पहली शर्त डोमिनियन स्टेट्स की स्वीकृति हो। जब सरकार इस शर्त को मान ले तब वे आगे बढ़ें; अन्यथा अपनी आबरू लेकर भारत लौट आवें और राष्ट्र-संग्राम में सम्मिलित हो जावें। हमारे लिबरल नेता डोमिनियन स्टेट्स के साथ Safe guards की जो शर्त लगा दिया करते हैं उसके विषय में हमें यही निवेदन करना है कि Safe guards की आड़ में बहुत कुछ किया जा सकता है। यहाँ तक, कि डोमिनियन स्टेट्स को केवल नाम का गोरख-धन्धा बनाया जा सकता है। अतएव Safe guards से बहुत सावधान रहने की ज़रूरत है। अगर रुपये की थैली और फ़ौज़ पर सरकार का अधिकार रहा, तो डोमिनियन स्टेट्स का कोई अर्थ न होगा। इसलिए इन दोनों विभागों पर हमारा अधिकार परमावश्यक है।

वीरभूमि बारदोली

सशस्त्र संग्राम में किसी समय चित्तौर ने जो यश प्राप्त किया और भारत का मुख जिस भाँति उज्ज्वल किया, वही यश इस निशस्त्र संग्राम में बारदोली ने प्राप्त किया और उसी भाँति भारत का मुख उज्ज्वल किया है। सिद्धान्त पर अपना सर्वस्व बलिदान कर देने की ऐसी मिसाल कदाचित् इतिहास में मुश्किल से मिलेगी। व्यक्तिगत रूप से लोगों ने बड़े-बड़े त्याग किये हैं और अपनी आत्मा की रक्षा के लिए बड़ी-बड़ी क़ुर्बानियाँ की हैं; पर एक प्रान्त का प्रान्त आदर्श पर अपना सब कुछ अर्पण कर दे, इसकी नज़ीर नहीं मिलती। आज बारदौली ख़ाली है, वहाँ चारों तरफ़ ख़ाक उड़ रही है। वहाँ की—आदर्श पर जान देनेवाली—जनता सब कुछ त्याग कर आस-पास की रियासतों में जा बसी है। यह न समझिए, कि उनकी दशा भी उत्तरी भारत के किसानों की-सी है। नहीं, वे छोटे-छोटे ज़मींदार हैं। कुछ लोग कई-कई हज़ार सालाना कर देते हैं। उनमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनके घरवाले विदेशों में धनोपार्जन कर रहे हैं, उनके घर पक्के और विशाल हैं, घर के सामान मूल्यवान हैं और उनका जीवन भी व्ययसाध्य है; पर इस समय उन्होंने सिद्धान्त पर सब कुछ होम कर दिया। उनकी जायदाद दूसरों के हाथ में चली जायगी, उनके घरों में दूसरे लोग आ-आकर बसेंगे, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं है। वह शायद भारत के बसनेवालों से ऐसे अमानुषीय व्यवहार की आशा नहीं रखते। उनका यह दैवी साहस देखकर हम लज्जा से सिर झुका लेते हैं; क्योंकि हम अपने में वह तप और वह विश्वास नहीं पाते। तुम धन्य हो बारदोली के वीरो! अगर संसार का नियन्ता कहीं है, तो तुम्हारा यह त्याग निष्फल न जायेगा। तुमने स्वराज्य को अपने धर्म का अंग बना लिया है और धर्म की विजय अवश्य होगी।

नवाँ आर्डिनेन्स

पंजाब के एक अँगरेजी पत्र ने लार्ड इरविन को लार्ड-आर्डिनेन्स की उपाधि दी

है। और उन ऑर्डिनेन्सों की संख्या को देखते हुए—जो गत आठ महीनों में जारी किये गये हैं—यह उपाधि कुछ बेजा नहीं मालूम होती। जिस वाइसराय की सच्चाई और नेकनीयती की महात्माजी ने तारीफ की, वह स्वार्थी मन्त्रियों के हाथ में यों कठपुतली बनेगा, इसकी आशा हमें नहीं थी। ताबड़तोड़ ऑर्डिनेन्स निकलते चले जा रहे हैं; हालाँकि जनता पर उनका कोई असर नहीं होता। अब नवाँ ऑर्डिनेन्स निकाला गया है, जिनसे कर्मचारियों को काँग्रेस या अन्य विद्रोही संस्थाओं की जायदादों को जब्त कर लेने का अधिकार दे दिया है। हमारी समझ में नहीं आता, कि नौकरशाही कब तक सर्प की ओर से आँखें बन्द करके बाँबी पीटती जायगी! असन्तोष न मकानों में है, न जायदाद में, वह दिलों के अन्दर है, और जब तक उसे न दूर किया जायगा, यों व्यर्थ छाती पीटने से कोई नतीजा नहीं। क्या काँग्रेस के लिए किसी मकान की जरूरत है? वह किसी वृक्ष की छाँह में बैठकर विचार कर सकती है। उसका काम इसी तरह; बल्कि और जोरों के साथ चलता रहेगा। उसे किसी कोष की क्या जरूरत है, जनता की सहानुभूति ही उसका अखंड कोष है, जिसमें से अब तक करोड़ों रुपये निकल चुके हैं और आगे भी निकलते रहेंगे।

नवम्बर १९३०

स्वराज्य आंदोलन पर आक्षेप

अभी वाइसराय साहब ने फरमाया है कि सत्याग्रह आंदोलन ने लोगों में कानून के सम्मान और भय को निर्मूल और जनता की कुप्रवृत्तियों को जागृत कर दिया है। बिहार के गवर्नर साहब ने भी अपने एक भाषण में यही विचार प्रकट किये हैं। कानून के सम्मान को इस आंदोलन ने निर्मूल नहीं किया है, उसे निर्मूल किया है ग़ैर कानूनी कानूनों ने, पुलिस की लाठियों ने, जेल के डण्डों ने, और फौज की गोलियों ने! हाँ अब जनता उस कानून को कानून न मानेगी, जो किसी व्यक्ति विशेष के दिमाग से निकले हों। वह उसी कानून को कानून मानेगी, जिसके निर्माण में उसने स्वयं निर्वाचक रूप से भाग लिया है। काँग्रेस के स्वयंसेवक उसी तरह देवता नहीं हैं, जैसे पुलिस के कर्मचारी। पर वह अपना कर्त्तव्य समझते हैं और जानते हैं कि यह धर्म-संग्राम है और धर्म के बन्धनों को तोड़ नहीं सकते। हाँ, जब सख्तियाँ असहनीय हो जाती हैं तब आदमी पागल होकर जो कुछ कर बैठे वह थोड़ा है।

जनवरी १९३१

बम्बई के एक मजिस्ट्रेट का भ्रम

बम्बई के चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने शोलापुर दिवस मनाने के अपराध में काँग्रेस के कार्यकर्ताओं को दण्ड देते हुए फैसले में एक बड़े मजे की बात कही है। वह यह कि इस दिवस के मनाने का अर्थ है, खूनियों को प्रोत्साहित करना। यह बिलकुल गलत है। इसका अर्थ केवल यह है कि इन आदमियों को जो सज़ा दी गयी है, वह जनता की दृष्टि में ज़रूरत से कहीं ज्यादा कठोर है और नौकरशाही ने समस्त देश के मत को कुचलकर उन्हें फाँसी दी है। मारने का अख्तियार आपको है लेकिन रोने का अख्तियार मार खानेवालों को है। यह अधिकार आप उनसे छीन नहीं सकते।

जनवरी १६३१

काँग्रेस ज़िंदाबाद

गत वर्ष चौथी मार्च को महात्मा गांधी जी ने डांडी की ओर प्रस्थान करके स्वराज्य-संग्राम की रण-भेरी बजायी थी। पूरे साल भर के बाद चौथी मार्च को क्षणिक-संधि की घोषणा हुई और काँग्रेस ने पहला मोर्चा जीता। यह सफलता किन साधनों द्वारा प्राप्त हुई है, इसको दुहराने की ज़रूरत नहीं। वह सारे दृश्य अभी तक हमारी आँखों के सामने हैं। जिस काम को हम असाध्य समझ रहे थे, वह इतना सरल था, इसकी हमने कल्पना भी न की थी। हमने लगभग अस्सी हज़ार स्वयंसेवक जेल भेजे, काँग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं को बन्दी बनना पड़ा, पर सच पूछिये तो ऐसे महान उद्देश्य के लिए जितना त्याग किया गया वह कुछ नहीं के बराबर है। कुशल सेनापति वही हैं, जो थोड़े से थोड़े रक्तपात से बड़ी से बड़ी विजय कर दिखाये। महात्मा गांधी जी उन्हीं कुशल सेनापतियों में हैं। अहिंसा और सत्याग्रह का ऐसा अमोघ अस्त्र उन्होंने देश के हाथ में दिया, कि हम बृटिश सरकार की मशीनगनों और हवाई जहाज़ों को तुच्छ समझ कर निहत्थे मैदान में निकल पड़े और वह शक्तिशाली साम्राज्य, जिसने संसार पर अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए पचास लाख आदमियों का बलिदान कर दिया था, हमारा लोहा मान गया। योरोपीय महासमर में भारत ने भी लगभग पन्द्रह लाख सैनिकों का बलिदान किया था और असंख्य धन वारा था, पर उसका क्या फल निकला! वह पशुबल का संग्राम पशुबल से था। यह आत्मबल का संग्राम पशुबल से था और पशुबल को आत्मबल के सामने नीचा देखना पड़ा। हम यह नहीं कहते, कि हमारा अभीष्ट पूरा हो गया और हमें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी, पर जिस सरकार ने पहले हमारे उद्योग को हेय समझा

था और उसकी हँसी उड़ायी थी, उसी सरकार का हमसे सन्धि करने पर विवश होना क्या छोटी बात है ? जब विपक्षी ने हमारी शक्ति को स्वीकार कर लिया, तो वह हमसे फिर ताल ठोंकने का साहस नहीं कर सकता । जिस शत्रु के हृदय में आप अपना आतंक जमा सकते हैं, उसकी पीठ में धूल लगा देना उससे कहीं सरल है । मुश्किल होता है, अपनी शक्ति का सिक्का बिठाना । वह अभीष्ट काँग्रेस ने पूरा कर लिया । बृटिश सरकार अब दोबारा भारत की संयुक्त शक्ति का सामना करने का साहस नहीं कर सकती । उसे अब अगर कोई आशा है, तो वह भारत के विभिन्न समुदायों संप्रदायों का परस्पर वैमनस्य है । अगर काँग्रेस ने इस वैमनस्य को जीत लिया, तो फिर उसकी कोई माँग नहीं जो अँग्रेज सरकार पूरी करने के लिए मजबूर न हो जाय । गोलमेज़-परिषद् में सभी वर्गों ने डोमीनियन स्टेट्स का समर्थन करके अँग्रेज़ सरकार को चकित कर दिया था । प्रतिनिधियों का चुनाव जिस रीति से किया गया था, उससे सरकार ने यह आशा बाँध ली थी, कि यह एक स्वर होकर कुछ कह ही न सकेंगे । जितने मुँह होंगे, उतनी ही बातें होंगी । ऐसी परिषद् को बच्चों का खेल सिद्ध कर देना कुछ मुश्किल न था, लेकिन परिषद् ने एक स्वर होकर डोमीनियन स्टेटस की सदा बुलन्द की । हाँ, बृटिश सरकार की इतनी चाल चल गयी कि परिषद् ने संरक्षणों को स्वीकार कर लिया जिसने परिषद् को अपंग कर दिया । जो कुछ कसर रही, वह सांप्रदायिक स्वत्वों के बँटवारे के झमेले में पूरी हो गयी । महात्मा गांधी जी ने देखा कि अब समझौते का अवसर आ गया है और जब समझौता से कार्य सिद्ध हो तो बलिदानों की ज़रूरत क्या । आपने कहा है, कि "बलिदानों की एक सीमा तक तो आवश्यकता होती है ; लेकिन उस सीमा के निकल जाने पर कष्टों का आवाहन करना मूर्खता की पराकाष्ठा है ।" हमारा राष्ट्रीय आंदोलन महात्मा जी का चलाया हुआ है । वही इसके प्रवर्तक और संचालक हैं । जब उन्हें विश्वास है कि अब वह अवसर आ गया है, जब समझौते से ज्यादा सफलता की आशा है, तो कौन कह सकता है कि उन्होंने संधि करके भूल की । अब तो हमारी जीत इसी में है, कि भारत जो कुछ माँगे, एक स्वर होकर माँगे, फिर अंग्रेज़ सरकार को वह माँग पूरी करने के सिवा और कोई मार्ग न रहेगा । गोलमेज़-परिषद् में स्वत्वों पर जो नोच-खसोट हुई, उसका कारण यही था कि उसके प्रतिनिधि राष्ट्र भक्त न थे, पंथ-भक्त थे । अब वह अविश्वास का वातावरण बदल गया है, और हमें पूरा विश्वास है, कि साम्प्रदायिक विरोध की बाधा हमारे मार्ग में न खड़ी होगी । मुसलिम नौजवानों की मनोवृत्ति साम्प्रदायिक नहीं । इसका परिचय पहले ही मिल चुका है । हमारे मुसलिम नौजवान विशेष अधिकारों के उपासक नहीं, न वह सरकार का रक्षा का हाथ अपने सिर पर रहना आवश्यक समझते हैं । उनमें पुरुषार्थ है, उत्साह है, आत्मविश्वास है और वह राष्ट्र के हित के लिए पंथगत स्वत्वों को छोड़ना जानते हैं । जिस जाति में व्यापक भ्रातृ-भाव का आदर्श है, जहाँ कोई छोटा है न बड़ा है, सब बराबर हैं, वह जाति अगर विशेष अधिकारों और छोटी-छोटी

नौकरियों के लिए राष्ट्रहित में बाधक हों, तो वह अपने ऊँचे आदर्श से गिर जायगी। जब नारी जाति में इतना आत्मबल आ गया है कि वह देश के लिए कठिन से कठिन यातना सहने के लिए तैयार है तो क्या हमारे मुसलिम नौजवान इस अवसर पर अपने पुरुषार्थ का परिचय न देंगे? भारत की वीर देवियों ने इस कठिन अवसर पर जिस वीरता का परिचय दिया है, वह संसार के इतिहास में अद्वितीय है। वह कोमलाँगी रमणियाँ, जो परदे में रहना ही अपना गौरव समझती थीं, जिस वीरता से मैदान में आ खड़ी हुईं, उसने संसार को चकित कर दिया! हम तो यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं समझते, कि इस संग्राम में विजय का सेहरा नारी-जाति ही के सिर है। माताओं ने सदैव अपनी सन्तान के लिए अपना बलिदान किया है और आज उसी मातृत्व ने भारत का उद्धार किया है।

फरवरी १९३१

काँग्रेस

काँग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो गया। हमें कुछ शंका थी, कि शायद गांधी-इर्विन समझौते के विरोधी कुछ गुल न खिलायें, पर वह शंका निर्मूल सिद्ध हुई। विरोधियों ने चेष्टा तो की कि महात्मा गांधी के विरुद्ध प्रदर्शन किया जाय, और काली झंडियाँ भी निकालीं, लेकिन महात्मा जी के प्रभाव के सामने उनकी कुछ चली नहीं। काँग्रेस ने बहुमत से देहली के समझौते का समर्थन किया और महात्मा जी के नेतृत्व में काँग्रेस के प्रतिनिधियों का सम्मिलित होना निश्चित हो गया। सबसे अधिक प्रसन्नता हमें स्वराज्य की उस व्याख्या से हुई, जो काँग्रेस ने एक प्रस्ताव के रूप में मंजूर की है। उसने उन शंकाओं का शमन कर दिया, जो काँग्रेस की नीति के विषय में कुछ लोगों को थीं। अब काँग्रेस का ध्येय राष्ट्र के सामने है। वह ग़रीबों की संस्था है, ग़रीबों के हितों की रक्षा उसका प्रधान कर्तव्य है। उसके विधान में मज़दूरों, किसानों और गरीबों के लिए वही स्थान है जो अन्य लोगों के लिए। वर्ग, जाति, वर्ण आदि के भेदों को उसने एकदम मिटा दिया है। हम काँग्रेस को इस प्रस्ताव के लिए बधाई देते हैं। स्वराज्य की इस व्याख्या को लाखों की संख्या में बाँटना चाहिए। ऐसा कोई घर न होना चाहिए जिसमें उसकी एक प्रति न हो। अब जनता को इस विषय में कोई संदेह न रहेगा कि वह किन स्वत्वों के लिए लड़ रही है, स्वराज्य से उसे क्या लाभ होगा और उसकी प्राप्ति का क्या मार्ग है।

मार्च १९३१

स्वराज्य मिलकर रहेगा

कभी-कभी देश को देखकर हमें स्वराज से निराशा हो जाती है। जहाँ हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे की गर्दन काटने पर तुले हैं, जहाँ किसान और जमींदार में संघर्ष है, अछूतों और वर्णवालों में संघर्ष है, वहाँ स्वराज के विषय में शंकाओं का होना स्वाभाविक है। लेकिन इन सब बाधाओं के होते हुए भी स्वराज के पक्ष में एक ऐसी बलवान शक्ति है, जिसके सामने यह बाधाएँ बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकतीं और वह शक्ति है समय की प्रगति या संसार का जनमत। संसार ने चाहे और किसी विषय में उन्नति की हो या नहीं, लेकिन शासन व्यवस्था के सिद्धान्तों में पिछले बीस वर्षों में एक क्रान्ति-सी हो गयी है। आज कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी निर्बल राष्ट्र पर प्रभुत्व जमाने के लिए कोई न कोई बहाना ढूंढ़ने पर मजबूर है। वह निःशंक होकर यह कहने का साहस नहीं रखता कि हमने इस देश को जीता है, और तलवार के जोर से अपने अधीन रखेंगे। यदि वह ऐसा कहे तो संसार में उसके विरुद्ध ऐसा तूफान उठ खड़ा होगा कि उसे प्राण-रक्षा के लिए कहीं पनाह न मिलेगी। सबल स्वार्थ का सहन संसार अब नहीं कर सकता। आज चर्चिल या रादर मियर या साम्राज्यवाद का कोई दूसरा उपासक भारत पर कोई आक्षेप करता है, कोई दिल दुखानेवाली बात करता है तो उस पर चारों तरफ से बौछारें पड़ने लगती हैं, यहाँ तक कि चर्चिल के दल का नेता भी उसका समर्थन नहीं करता। अब अंग्रेज़ व्यापारी भी ज्यादा से ज्यादा यही माँगते हैं कि उन्हें हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानियों के बराबर ही हक़ मिले। कर्ज़ों के विषय में भी यह निश्चित-सा है कि भारत के सिर ऐसे क़र्ज़ नहीं मढ़े जा सकते जो भारत के हित के लिए न लिये गये हों। सारांश यह कि यह युग स्वराज का युग है, जनता एकाधिपत्य को सहन नहीं कर सकती, चाहे वह स्वदेशी ही क्यों न हो। जैसा लार्ड इर्विन ने हाल में इंगलैण्ड में कहा है—'प्रभुत्व का आदर्श अब नहीं रहा, यह साझेदारी के आदर्श का युग है।' भारत अगर अंग्रेज़ी साम्राज्य में रह सकता है तो गुलाम बनकर नहीं; बराबर का साझेदार बनकर। अगर आज भारत में जातिगत वैमनस्य बढ़ता है तो उसकी ज़िम्मेदारी भी सरकार ही के सिर पड़ती है। अधिकारी मण्डल को कानपुर में ऐसा कड़वा अनुभव हुआ है कि शायद ऐसे अवसरों को दूर रखने में वह कभी इतनी ग़फ़लत न करेगा। हिन्दू-मुसलमानों में मेल रहे इसकी भी सरकार को फ़िक्र रखनी होगी। क्योंकि वैमनस्य की ज़िम्मेदारी उसके सिर पड़ती है और अब संसार को यह धोखा नहीं दिया जा सकता कि अंग्रेज़ी राज्य का रहना इसलिए ज़रूरी है कि हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे को फाड़ न खायें। इस तरह की आवाज़ चाहे किसी तरफ़ से उठे, वह सरकार द्वारा प्रेरित समझ ली जाती है और उसका प्रभाव मिट जाता है। अतएव संसार के हाथ में यह जो भेद का आखिरी हथियार था वह भी निकम्मा हो गया, उसकी सारी बातें खुल गयीं। अब भारत या

संसार साम्प्रदायिक विद्वेषों से मुग़ालते में नहीं डाला जा सकता। उधर किफ़ायत की ज़रूरत और ख़र्च पूरा करने के लिए ऊँचे अधिकारियों को न तोड़कर करों का बढ़ाना और छोटे-छोटे अमलों का तकलीफ करना, यह सभी बातें, लोगों की स्वराज्य-लालसा को उत्तरोत्तर तीव्र करती जा रही हैं। देश को अपनी सारी, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक बीमारियों की एक ही अमोघ औषधि देख पड़ रही है और वह 'स्वराज्य' है और संसार का जनमत उसके साथ है। इंगलैण्ड के पास अगर अब कोई शक्ति बच रही है तो वह प्रोपैगण्डा है। अनुभव ने बतला दिया है कि एक मिसमेयो भारत को संसार की आँखों में इतना गिरा सकती है कि सारे देश का संयुक्त प्रयास भी अब उसे वहाँ से उठाने में सफल नहीं होता। हमें ऐसी मिसमेयो और उसी थैली के चट्टों-बट्टों से भारत की रक्षा करनी है। अगर ऐसे अवसर पर हमारे कुछ वक्तृता कुशल, प्रभावशाली नेता (सरोजिनी नायडू की भाँति) अमेरीका का भ्रमण करें, उसके साथ ही यह प्रयास भी किया जाय कि फ़िल्मों द्वारा भारतीय संस्कृति का शुद्ध और यथार्थ रूप संसार के सामने रखा जाय, तो हमें विश्वास है, देश का बड़ा कल्याण होगा।

मई १९३१

गोरी जातियों का प्रभाव क्यों कम हो रहा है

लार्ड इर्विन से किसी ने हाल में एक जलसे में पूछा—अंग्रेज़ों के प्रति भारतवासियों को इतना अविश्वास और अप्रतिष्ठा कब से हुई है और इसके क्या कारण हैं? इसका लार्ड इर्विन ने जो उत्तर दिया, वह विचार करने योग्य है। आपने फर्माया, गोरी जातियों की प्रतिष्ठा तो उसी वक्त उठ गयी जब जापान ने रूसियों पर विजय पायी। और कारण है, यूरोपीय महासमर में भारतवासियों का सम्मिलित होना और सिनेमा का भारत में प्रचार। इसका अर्थ यह है कि भारतवासियों को ज्यों-ज्यों गोरों के आंतरिक जीवन का परिचय मिलता जाता है, गोरों का प्रभाव मिटता जाता है। महासमर ने इतना ही नहीं सिद्ध कर दिया कि पुरुषार्थ और साहस में भारतवाले गोरों से जौ भर भी कम नहीं हैं, बल्कि यह भी सिद्ध कर दिया कि गोरे न्याय और धर्म और नीति और शिष्टता के पुतले नहीं हैं, जैसे वह भारत में बन जाते हैं। चाहिए तो था कि गोरों का रण-कौशल, उनका महान् संघटन, उनका दैविक धैर्य, उनकी नीति-परायणता और उदारता देखकर भारतवाले दिल में उनके क़ायल हो जाते, पर ऐसा नहीं हुआ। भारतवालों ने देखा कि यह लोग भी हमारे ही जैसी दुर्बलताओं से भरे हुए मनुष्य हैं, जो संकट पड़ने पर धर्म को ताक पर रख देते हैं, जो विजय-पाने के लिए अनीति और अनाचार के पिशाच बन जाते हैं, जो नीच स्वार्थ के प्रवाह में सद्भावों को भूल जाते

हैं। सारांश यह कि जिन गुणों के बल पर गोरे दूसरों पर राज करते हैं, उनमें से एक भी मौजूद नहीं और भारत में उनका जो रूप नज़र आता है, वह बना हुआ है। चरित्र-बल से ही एक जाति दूसरी जाति पर आतंक जमा सकती है। पशुबल से स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता। भारतवासियों ने देखा कि यह चरित्र-बल गौरांगों में नाम को भी नहीं है। किसी जाति का चरित्र उसके गिने-गिनाये महापुरुषों के आचरण से नहीं सिद्ध होता, बल्कि जन-साधारण के व्यवहार से। जिन देशों की जनता शराब को पानी की भाँति पीती हो, चाय को जीवन का आधार समझती हो, वह बहुत संस्कृत नहीं हो सकती। लड़ाइयों में जब गोरे लोग विजय पा जाते हैं, तो पराजितों के साथ कितना अमानुषीय व्यवहार करते हैं, यह जानी हुई बात है। भारत में तो गोरे सोलजरों का यह हाल है कि जिस इलाके में इनका पड़ाव पड़ जाता है, वहाँ स्त्रियों का राह चलना बंद हो जाता है। सीधे बोलना तो वह जानते ही नहीं। गोरे ही क्यों, हमारे सिविलियनों का भी यही हाल है। वह इतने मग़रूर, इतने विनयशून्य, इतने अक्खड़ होते हैं, कि कोई शरीफ़ हिन्दुस्तानी गला दबने ही पर उनसे मुलाकात करने जाता है। उनसे मिलने में भारतवालों को ऐसा अनुमान होता है कि वह अपनी आत्मा का खून कर रहे हैं। उनके सत्संग से शुभ प्रभाव लेकर तो शायद ही कोई लौटता हो। जो मिलता है, वह तीसमारखाँ बना हुआ, ऐसा रूप बनाये हुए, मानो वह अभी आकाश से उतरा है। महासमर ने इस भ्रम का निवारण कर दिया। भारतीयों को गोरों के साथ मिलने का, सोने का, बरतने का अवसर मिला और उन्होंने गोरों को जितना ही अंदर से देखा, उतनी उन्हें अश्रद्धा होती गयी।

मगर सिनेमा ने तो परदा और भी फ़ाश कर दिया। जो ढका हुआ था, वह भी खुल गया। महा समर में तो पन्द्रह लाख से ज्यादा आदमी नहीं गये। सिनेमा तो इससे कहीं ज़्यादा आदमी नित्य देखते हैं। हालाँकि कोशिश की जाती है कि यूरोप और अमेरिका के अच्छे ही फिल्म भारत में आयें। फिल्मों का नियमित रूप से सेंसर होता है, एक बाकायदा महकमा ही इस काम के लिए खुला हुआ है। अभी हाल में सिनेमा इन्क्वायरी कमेटी तहकीकात कर चुकी है, लेकिन फ़िर भी जो फिल्म आते हैं, उनका असर यह होता है कि भारतीयों को गोरे जीवन के कुछ ऐसे दृश्य देखने में आते हैं कि उनके दिल में उस जाति के प्रति घृणा-भाव उत्पन्न होते हैं। और यह उस जाति का हाल है, जो दुनिया को तहज़ीब सिखाने का दावा करती है। उसी जाति की एक मिसमेयो आकर भारतीय जीवन के कुछ कलुषित अंगों की तस्वीर खींचती है तो गोरी जातियों को रोमांच होने लगता है। अगर गोरों का जीवन आदर्श होता, उसमें ऐसी खूबियाँ होतीं कि दूसरों के दिल में उससे भक्ति और सम्मान का संचार होता; तो उसका यह उल्टा असर क्यों होता? पर बात यह नहीं है। गोरों ने आदि से ही प्रेम के बल पर नहीं, आतंक के बल पर संसार पर प्रभुत्व जमाया है। वह कालों की नजरों से अपने ऐबों को

छिपाकर अपनी नीतिमत्ता की साख बिठाये हुए थे और अब आधुनिक आविष्कारों ने उस परदे का ढका रहना मुश्किल कर दिया है। एक दिन था, जब भारतवाले गोरों को देवता समझते थे। तब आमदौरफ़्त की इतनी सुविधाएँ न थीं और गोरांगों को अपने काले दागों का छिपाना आसान था, पर अब वह दाग़ छिपाये नहीं छिपते, बल्कि उल्टे और स्पष्ट हो रहे हैं। गोरी जातियों को अब अगर कालों की प्रतिष्ठा का पात्र बनना है तो परदे में छिपकर नहीं, स्वामी बनकर नहीं, भाई बनकर ही सम्भव है। पश्चिमी सभ्यता का दिवाला हो रहा है। एक दूसरे महासमर के बादल मंडला रहे हैं। अगर यह भविष्यवाणी सत्य निकली तो संसार में उस सभ्यता की यादगार केवल मिलों के टूटे-फूटे चिन्ह और संसार के कोष में संघर्ष का सिद्धान्त मात्र रह जायँगे।

जून १९३१

देश की वर्तमान परिस्थिति

देश में इस समय आर्थिक संकट के कारण, जो दशा उपस्थित हो गयी है, उसे जल्द न सँभाला गया तो बड़े भारी उपद्रव की आशंका है। महात्मा गांधी क्रान्ति नहीं चाहते और न क्रान्ति से आज तक किसी जाति का उद्धार हुआ है। महात्मा जी ने हमें जो मार्ग बतलाया, उससे क्रान्ति की भीषणता के बिना ही क्रान्ति के लाभ प्राप्त हो सकते हैं, लेकिन एक ओर सरकार और उसके पिट्ठू ज़मींदार और दूसरी ओर हमारे कुछ तेज़दम और जोशीले कार्यकर्ता नादिरशाह बने हुए क्रान्ति के सामान पैदा कर रहे हैं। सरकार से तो हमें शिकायत नहीं। जो चीज़ हमारे काम न आये, उसे नष्ट कर देना भी राजनीति का एक सिद्धान्त है। शत्रु को बढ़ते देख कर फसल को जलाना, कुओं में विष डाल देना और घास को जला देना, हारनेवाले दल की पुरानी नीति है। इसी नीति से रूसियों ने नेपोलियन पर विजय पायी थी। देश में यदि इस समय जगह-जगह उपद्रव होने लगें ; तो स्वभावतः जनता का ध्यान लक्ष्य से हट कर घरेलू झगड़ों की ओर चला जायगा और स्वराज्य की नौका मझधार में चक्कर खाने लगेगी। कान-पुर के उपद्रव ने परिस्थिति को कितना बदल दिया, हम अपनी आँखों देख रहे हैं। हमें तो शिकायत अपने उन जोशीले भाइयों से है जो महात्माजी के किये-धरे को मिट्टी में मिला रहे हैं। हमारी जीत पहले भी धर्म पर जमे रहने में थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। हमने सरकार से जो समझौता किया है, उस पर हमें दृढ़ता के साथ डटे रहना चाहिए। हाथी के दाँत दिखाने के और, और खाने के और वाली नीति पर चलने में हमारा कल्याण नहीं है, एक साथ युद्ध और शान्ति दोनों की दुहाई न देनी चाहिए।

महात्मा जी ने किसान भाइयों को सलाह दी थी कि दखीलकारों को रुपये में आठ आने अवश्य देना चाहिए। यदि किसान इससे अधिक दे सकें तो दें, लेकिन इतना ज़रूर दें। किन्तु एक ओर तो हमारे ज़मींदार इससे अधिक वसूल करने पर तुले हुए हैं, दूसरी ओर हमारे कार्यकर्ता, जिनमें कुछ बड़े-बड़े नाम भी हैं, महात्मा जी के आदेशों पर ध्यान न देकर किसान भाइयों को अपना शिकार बना रहे हैं। इन वीर पुरुषों में होड़-सी लगी हुई है कि कौन गर्म से गर्म बात कहकर जनता पर अपने नेतृत्व का सिक्का जमा दे। सच्चा लीडर हम उसे कहेंगे, जो देश को धर्म के रास्ते पर चलाये, जिसके कर्म और वचन में कोई अन्तर न हो, जो भीतर से भी वैसा ही हो, जैसा बाहर से। बार-बार कहना कि हमें युद्ध के लिए तैयार रहना चाहिए, मानों समझौते की मुहलत केवल इसीलिए मिली है कि युद्ध की तैयारी की जाय, देश को धोखा देना है। देश को भारतीय चर्चिलों और राथरमियरों से बचाने की ज़रूरत है, वरना यह लोग स्वराज्य संग्राम को रक्तमय बना कर इसे बदनाम कर देंगे और संसार की सहानुभूति खो बैठेंगे। धर्म-युद्ध की जीत, धर्म को मज़बूत पकड़े रहने में है। जनता स्वयं विचार करने की शक्ति नहीं रखती। जनत्रंत में भी राष्ट्र की बागडोर गिने-गिनाये हाथों में ही रहती है। उसे जिस रास्ते पर लगाया जाय, उसी पर चलने लगती है। ज़रूरत है वातावरण को शान्त बनाने की। ज़हरीले वातावरण का परिणाम अभी हम कानपुर में देख चुके हैं। देश को जल की ज़रूरत है, अग्नि की नहीं। आग लगाकर जलाने के सिवा और क्या किया जा सकता है। क्रान्ति-क्रान्ति की दुहाई देकर, वक्तृताओं में हिंसा की पुट देकर, जोशीले और अदूरदर्शी कार्यकर्ताओं की पीठ ठोंककर, देश में जो आग लगायी जा रही है, इसका परिणाम अच्छा न होगा। घरेलू युद्ध से घातक कोई युद्ध नहीं होता और उपद्रव हो जाने पर उससे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेवाले, जलते हुए घरों से अपने हाथ सेंकनेवाले कितने आदमी कहाँ से निकल आते हैं, यह हम सभी जानते हैं। हम देश को इस परिस्थिति से बचाना चाहते हैं, क्योंकि हमने अब तक जो कुछ किया है, शान्त रह कर ही किया है और आगे भी जो हमारी जीत होगी, वह अहिंसा ही के बल से होगी। हिंसा का भूत हमारे सिर सवार हुआ और हमारा सर्वनाश हुआ। केवल मौखिक अहिंसा से काम नहीं चल सकता। हमें मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का अनुयायी होना पड़ेगा। यह कहना कि हमारा सर्वनाश तो पहले ही हो चुका है, कानपुर उस सर्वनाश की ताज़ा मिसाल है। जो लोग उस नरमेध की आहुति बन गये हैं या जिनका सर्वस्व लुट चुका है और आज जिन्हें रोटियों का सहारा नहीं, उनसे पूछो कि इस दशा और पूर्व दशा में क्या अन्तर है ? हमारा अपने किसान भाइयों से यही अनुरोध है कि वह महात्मा जी को अपना सच्चा नेता मानें और उनके बताये हुए मार्ग से जौ भर भी विचलित न हों। गरीबों और विचलितों का, महात्मा जी से बड़ा शुभचिन्तक संसार में दूसरा नहीं है। दूसरा कोई आदमी अगर उनसे कुछ और

कहता है, तो उससे कह दें, कि पहले आकर हमारी तरह हल में जुतो, पसीना बहाओ, हमारी ही बिरादरी के एक अंग बन जाओ, तब हम तुम्हारी सुनेंगे। अपनी वकालत चलाने के लिए, आनेवाले चुनाव में वोट लेने के लिए, अथवा अपनी व्यवसाय-वृद्धि के लिए हमारी खुशामद न करो। तुम टट्टी की आड़ से जो शिकार खेल रहे हो, उसे हम खूब जानते हैं। जो लोग महलों में रहते हैं, अमीरों की जिन्दगी बसर करते हैं, मोटर के नीचे एक कदम नहीं चल सकते, जिनको भोजन के लिए तर माल चाहिए, वह क्या जानें कि ग़रीबों पर क्या गुजरती है। वह तो आग लगाकर चल देते हैं, घर जलते हैं गरीबों के। इस वक्त अगर हमारे किसान भाई सोच-विचार से काम न लेंगे और महात्मा जी के मार्ग से हट जायँगे, तो उन्हें हमेशा के लिए पछताना पड़ेगा।

जून १६३१

महात्माजी की विजय-यात्रा

महात्मा गांधी के रवाना होते ही समस्त भारतवर्ष की आँखें लंदन की तरफ फिर गयी हैं। महात्माजी ने दिखा दिया है कि वह राजनीति में भी उतने ही कुशल हैं, जितने संग्राम में। कितने ही लाल बुझक्कड़ों को महात्माजी की राजनैतिक विवेक-शीलता में संदेह था। उनका खयाल था, महात्माजी धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र के लिए ही बनाये हैं। वह Saint हैं और राजनीति से उन्हें कोई लगाव नहीं। राजनीति में चालें हैं, तिकड़म बाजी है, आँखों में धूल झोंकना है, कहना कुछ और करना कुछ है। लेकिन महात्माजी ने सिद्ध कर दिया कि वह राजनीति में भी, धर्मनीति से जौ-भर भी इधर-उधर नहीं होते। सच तो यह है कि महात्माजी ने राजनीति को उसकी गंदगियों से पाक कर दिया है। उनकी राजनीति और धर्मनीति दोनों एक हैं। यही कारण है कि वह समर में जितने वीर और साहसी हैं, सन्धि में उतने ही दूरदर्शी और दृढ़। ऐसे विरले ही होते हैं, जिनमें यह दोनों गुण समान रूप से मौजूद हों। साधारणतः समर का वीर सेनापति, जो बड़ी-बड़ी सेनाओं का संचालन करता है, राजनीतिज्ञों की मंडली में आकर चकरा जाता है। उसी तरह राजनीति का धुरंधर पंडित युद्ध-क्षेत्र में जाकर अपनी अयोग्यता का प्रदर्शन करता है। महात्माजी की व्यापक बुद्धि, धर्म और समाज, संधि और समर में समान रूप से अपना चमत्कार दिखाती है।

लेकिन इस समय महात्माजी के सामने जो काम है, वह आसान नहीं है। लंदन में वह गोलमेज के चारों तरफ बैठे हुए, ऐसे-ऐसे चतुर खेलाड़ियों के बीच में खड़े होंगे, जिन्होंने राज्य-संचालन को जीवन-तत्व बना लिया है। जहाँ अंग्रेजी सेना असफल हो गयी है, वहाँ बहुधा अंग्रेजी डिप्लोमेसी ने विजय पायी है। इंग्लैंड में अब मजूरों का

अधिकार नहीं है। लेकिन जब मजूरों के हाथ में पूरा अधिकार था, उस समय भी साम्राज्यवादियों का इतना ज़ोर था कि मजूर-सरकार उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकती थी, और अब तो सर सामुयेल होर, लार्ड रीडिंग, लार्ड पील जैसे-जैसे सज्जन कैबिनेट में हैं, जिन्हें भारत से उतनी ही सहानुभूति है, जितनी स्वामी को सेवक से होती है। ऐसी दशा में महात्माजी का उद्देश्य अगर सफल हो सकता है, तो इसी तरह कि राष्ट्र की पूरी शक्ति महात्माजी के पीछे हो। हमको उतनी शंका अंग्रेज़ मिनिस्ट्रों से नहीं, जितनी अपने ही भाइयों से है। अंग्रेज़ व्यापारी हैं। व्यापार उनके जीवन के लिए अनिवार्य है। वह खेती-बाड़ी करके अपना निर्वाह नहीं कर सकते। उन्हें मालूम हो गया है कि भारत को तलवार के ज़ोर से दबाकर वह व्यापार नहीं कर सकते, केवल राज्य करने का व्यसन उन्हें अपने व्यापार को चौपट करने, अपने जीवन को खतरे में डालने, और अपनी हस्ती मिटा देने पर राजी नहीं कर सकता। बाल्डविन हों या चर्चिल, मैकडोनेल्ड हों या लायड जार्ज, इस बात को कोई नहीं भूल सकता कि इंग्लैंड का व्यापार ही उसके प्राण हैं और जिस दिन इंग्लैंड का व्यापार न रहेगा, उस दिन इंग्लैंड भी न रहेगा। हाँ, हमारे भाइयों में अब भी एक ऐसा शक्ति-शाली समूह है, जो स्वराज्य से डरता है। उसे भय है कि स्वराज्य में हिन्दू बहुमत उसे पीस डालेगा। इस समय हमारी सारी कोशिश अपने मुसलिम भाइयों की सहानुभूति प्राप्त करने, उनके दिलों से शंका और अविश्वास को मिटाने में लगनी चाहिए। यही हमारे राजनीतिक उद्धार की कुंजी है। काँग्रेस ने इस शंका और अविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा है, फिर भी वह पिशाच अभी तक छिपा बैठा है और जब अवसर पाता है, कहीं न कहीं अपनी पैशाचिक लीला दिखा देता है। मुसलमानों में इस वक्त कोई नेता नहीं है। जितने नेता हैं, वह एक-एक टुकड़ी के नेता हैं। मौलाना हसरत मौहानी पर अधिकांश मुसलिम जनता को विश्वास है; पर मौलाना इतनी जल्द-जल्द पहलू बदलते हैं, कभी पक्के राष्ट्रवादी बन जाते हैं, कभी पक्के मुसलिम लीडर, कि मुसलिम जनता उन्हें पहेली समझती है। ऐसी बिन दूल्हा की बरात किस अवसर पर क्या करेगी, नहीं कहा जा सकता। उन्हें समझावें तो कैसे, उनके साथ शर्तें करें तो कैसे। सभी अपनी-अपनी डफली अलग-अलग बजा रहे हैं। इसे स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए कि मुसलिम भाइयों की यह शंका तथा अविश्वास केवल दुराग्रह के कारण नहीं है। उसका कारण वह भेद-भाव, वह छूत-विचार, वह पृथकता है, जो दुर्भाग्य से अभी तक अपने पूरे जोर के साथ राज कर रही है। जब हिन्दू, एक मुसलमान के हाथ का पानी नहीं पी सकता, तो मुसलमान को कैसे उस पर विश्वास हो सकता है, वह कैसे उसे अपना मित्र और हित-चिंतक समझ सकता है? कुछ पढ़े-लिखे मुसलमान उँगलियों पर गिनने-लायक ऐसे मिलेंगे, जो समझते हैं कि यह भेद-भाव नफ़रत के कारण नहीं, इसीलिए नहीं, कि हिन्दू मुसलमानों को नीचा समझता है; बल्कि

इसलिए कि यह भेद-भाव का भूत उसके सिर पर हजारों बरस से सवार है, जो अपने स्वधर्मियों से भी उतना ही प्रथक रक्खे हुए है, जितना अन्य धर्मवालों से। ब्राह्मण को एक कायस्थ के हाथ का भोजन अखाद्य है। नहीं, एक प्रान्त के ब्राह्मण के लिए दूसरे प्रान्त के विप्रजी के हाथ का भोजन वर्जित है। यहाँ तक कि ऐसे-ऐसे कुलीन भी पड़े हुए हैं, जो अपने हाथ के सिवा और किसी के हाथ का पकाया भोजन खा ही नहीं सकते, चाहे भूखों मर जायँ। हिन्दू इस भिन्नता को समझता है और उसे इसके सहने की आदत पड़ी हुई है, वह किसी वर्ग का हो, उसे भी किसी न किसी को अछूत समझने का गौरव मिल ही जाता है; लेकिन आज मुसलमान इस फ़िलासफ़ी को नहीं समझ सकता। वह तो यही जानता है कि हिन्दू उसे नीचा समझते हैं और यह कोई भी आत्म-सम्मान रखनेवाली जाति नहीं सह सकती। ऐसे विचारों के रखते हुए कोई राष्ट्र नहीं बन सकता और अगर कुछ दिनों के लिए बन भी जाय, तो टिक नहीं सकता।

सितंबर १९३१

नया प्रेस बिल

सरकार ने समाचार पत्रों के लिए एक नया दंड-विधान सोच निकाला। क्रांतिकारियों की अमानुषीय लीलाओं को रोकने के लिए यही उपाय सबसे सरल समझा गया है। सरकार का कथन है कि समाचारपत्रों में उत्तेजना पैदा करने के लिए लेख निकलते हैं, हत्याकारियों की तस्वीरें छपती हैं, और अप्रत्यक्ष रूप से उनकी प्रशंसा की जाती है। यदि ऐसे समाचारपत्र हैं, और इसमें संदेह नहीं कि हैं, तो उनके साथ कानूनी बर्ताव होना चाहिए। इस वक्त भी जो कानून मौजूद है, उसके द्वारा सरकार ऐसे पत्रों की ज़बान बन्द कर सकती है, उसकी हस्ती मिटा सकती है। लेकिन एक नया कानून बना कर अधिकारियों को यह अधिकार दे देना कि वे जिस पत्र को चाहें, कुचल डालें और सरकारी नीति की निष्पक्ष आलोचना करने के लिए भी पत्रों को दण्ड दे सकें, खतरे की बात है। और यह कानून उस वक्त बनाया जा रहा है, जब भारत को स्वराज्य देने की बातचीत हो रही है। इस वक्त तो कहा जा रहा है, ज़िम्मेदार पत्रों को इस विधान से डरने का कोई कारण नहीं है, लेकिन अधिकारियों को कोई अधिकार देकर यह आशा करना कि वह उसका व्यवहार सोच-समझकर करेंगे और अपनी कारगुज़ारी दिखाने के लिए निरपराधियों पर भी आघात न कर बैठेंगे, तजरबे से गलत साबित हुआ है। महात्मा गांधी से बड़ा अहिंसावादी व्यक्ति और कौन होगा, पर उन्होंने भी इस विधान का विरोध किया है और इसे भारतीय जनमत के विकास में बाधक समझा है। अधि-

कारियों को कानून की सर्वशक्तिमानता पर अखंड विश्वास है। वह कानून की निरर्थकता को आँखों से नित्य देख-देखकर भी कोई उपदेश नहीं ग्रहण करते। रोज नये-नये कानून बनते हैं और रोज नये-नये अपराधों का आविष्कार होता है और यह होड़ बराबर चली जाती है। मगर, जैसे बाहरी लीप-थोप से जीर्णदीवार नहीं सँहल सकती, उसी भाँति विषमता से भरा हुआ समाज कानूनों से स्वस्थ नहीं रह सकता। चोरी, डाका, जाल, हत्या, इन सभी अपराधों का कारण सामाजिक वैषम्य है। जब इस वैषम्य में जाति-द्वेष मिल जाता है, तो इसका रूप और भी भयंकर हो जाता है। कोई भी समझदार आदमी हत्याकारियों की प्रशंसा नहीं कर सकता। संसार में इससे बड़ी भूल नहीं हो सकती कि हत्याओं से किसी देश का उद्धार हो सकता है। लड़ाई से लड़ाई का अंत हो सकता, तो आज संसार में शान्ति का राज्य होता। लड़ाई और द्वेष को प्रेम ही जीत सकता है। प्रेम, शक्ति का संचय किये बग़ैर नहीं हो सकता। अहिंसा कायरों का कर्तव्य नहीं, महान बलवानों का कर्तव्य है। प्रेम वही कर सकता है, जो शक्तिमान हो। चाहे वह शक्ति आत्मा की हो, या देह की। इन अपराधों का दमन करना सरकार का ही धर्म नहीं, राष्ट्र का धर्म भी है, क्योंकि ऐसे कृत्यों से राष्ट्र को हानि पहुँचती है। उसके नाम में ही कलंक नहीं लगता, उसका भविष्य भी अंधकार में पड़ जाता है। जब तक हमारी मनोवृत्ति ऐसी रहेगी कि ऐसी हत्याओं की गुप्तरूप से प्रशंसा करते रहें, किसी अंग्रेजी या हिन्दुस्तानी कर्मचारी की हत्या की खबर सुनते ही फड़क उठें, पत्र खोलकर पहले यही देखें कि कहीं कोई हत्या हुई या नहीं, उस वक्त तक हत्याओं का अंत न होगा। हमारा ऐसा विश्वास होना चाहिए कि द्वेषमय हिंसा करना ही धर्म-विरुद्ध नहीं, उसकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सराहना करना भी धर्म-विरुद्ध है। राष्ट्रों में लड़ाइयाँ होती हैं। वह खुल्लम-खुल्ला, ललकार कर होती हैं। क्षात्र धर्म में वैसी लड़ाई के लिए स्थान है। वीरता की प्रशंसा की गयी है और की जायगी। पर, छिपकर स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध की हत्या करना अत्यन्त घृणित है, और जो मनोवृत्ति ऐसे काम की तारीफ करती है, वह निस्संदेह अस्वस्थ है।

सितंबर १६३१

सरकारी खर्च में किफायत

घर में आग लगी हुई है और सरकार किफायत करने के मंसूबे बाँध रही है। महीनों कमेटी ने विचार किया, महीनों गवर्नमेंट विचार करेगी, तब महीनों के बाद किफायत शुरू होगी और किफायत भी क्या? छोटे-छोटे अमले निकाल दिये जायँगे; ऊँचे ओहदेदार चैन करते रहेंगे। राष्ट्र आखिर इसीलिए तो है, कि वह मरे और सर-

कारी कर्मचारी चैन करें। अगर आमदनी में कमी हो रही है, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। मनमाने कर बढ़ाये जा सकते हैं। रेल का किराया चौगुना कर दो, जिसे हज़ार बार ग़रज़ होगी, सफ़र करेगा। डाक के महसूल चौगुने कर दो, जिसे हज़ार बार ग़रज़ होगी, डाकखाने में जायगा। आख़िर डाक का काम तो रुक नहीं सकता। अभी कर वृद्धि के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश है। १०० रु० साल की आमदनी पर भी कर लगाया जा सकता है। प्रजा रोयेगी, रोये, सरकार का खर्च तो पूरा हो जायगा। ग़रीब से ग़रीब मुल्क का खर्च अमीर से अमीर मुल्क से बढ़ न जाय, तो बात ही क्या रही। आखिर भारत को मालूम कैसे होगा कि हम पराधीन हैं। इंग्लैंड का बादशाह अपने खर्च में कमी कर दे, आनन-फ़ानन वज़ीर से लेकर नीचे तक पन्द्रह फी सदी वेतनों में कमी हो जाय, पर भारत में ओहदेदारों का वेतन कैसे घटाया जा सकता है? उसका नाम लेना भी जुर्म है। भला फौज के खर्च में इससे ज्यादा कमी क्या हो सकती है! स्टेशनरी का खर्च कम कर दिया, बिजली का खर्च कम कर दिया, अब और क्या चाहिए। उधर प्रजा है कि भूखों मर रही है, न खाने को अन्न है न तन ढाँकने को वस्त्र। जो कुछ उपज हुई थी, वह लगान में गयी। कितने ही घरों में तो लोटा-थाली और गहने जेवर भी लगान की भेंट हो गये। पर खर्च में कमी नहीं हो सकती। गरीबों को एक जून भी ज्वार की रोटी न मयस्सर हो, पर हमारे साहबों को मक्खन और अंडे और शराब और अंगूर-अनार दिन में पाँच बार चाहिए। संसार मरे, हम तो जीते हैं। यही पच्छिमी सभ्यता है। कितना दुःख होता है, जब हम देखते हैं, कि हमारी सरकार को देश की परिस्थिति की बिलकुल चिन्ता नहीं। उसे तो डंडे का बल है। किसान आप मरेगा और लगान अदा करेगा, वरना डंडे से खबर ली जायगी। उसे इतना ही जिन्दा रहना चाहिए कि वह मरकर खेत जोत-बो सके। इससे ज्यादा जिन्दा रहने की उसे ज़रूरत नहीं। ईश्वर की दया से आबादी भी कम नहीं। अगर दस-पाँच करोड़ आदमी मर भी जायँ, तो क्या चिन्ता। ज़मीन परती नहीं रह सकती, और लगान फिर भी वसूल हो ही जायगा, कर मिल ही जायगा। अगर कमी की ऐसी ही ज़रूरत होगी तो मदरसे तोड़ दिये जायँगे, शफ़ाखाने बंद कर दिये जायगे या लड़कों की फीस दुगनी कर दी जायगी, और शफाखाने दवाओं की दूकान बना दिये जायँगे। बीमारी के लिए तो कहीं खोजने नहीं जाना है, और लड़के भी मदरसे आवेंगे ही। और न आवें तो सरकार का क्या बिगड़ता है। उससे लगान और कर में कोई कमी नहीं होती।

अगर यह दशा न होती तो स्वराज्य की कामना ही क्यों जन्म लेती।

—अक्टूबर १९३१

बंगाल आर्डिनेंस

बंगाल आर्डिनेंस पास करके सरकार ने वही किया, जो बमबाज़ों की इच्छा थी। बमबाज़ यही तो चाहता है कि सरकार को ऐसे-ऐसे अत्याचार करने पर उत्तेजित किया जाय, कि जनता उसे अपना दुश्मन समझने लगे। इस कानून ने यह उद्देश्य पूरा कर दिया। पुलिस शुबहे में निरपराधियों को पकड़ेगी ही। नतीजा यह होगा, कि जो लोग उस पार्टी से कोई सरोकार न रखते थे, वे भी सरकार के विरोधी हो जायँगे। बमबाज़ तो अपने को छिपाये रखता है। खटका देखते ही चम्पत हो जाता है। पकड़े जाते हैं वह जो लगन के साथ राष्ट्रीय काम करते होते हैं, और जिनसे पुलिस चौंकती रहती है। इसलिए यह क़ानून बमबाज़ों का तो अंत न कर सकेगा, हाँ, काँग्रेस और इसी उद्देश्य से काम करनेवाली दूसरी संस्थाओं का अन्त कर देगा। इधर कई महीनों से बमबाजों की उग्रता और सरकार का धैर्य देख-देख कर जनता को सरकार से सहानुभूति होने लगी थी, लेकिन इस क़ानून ने आकर उस स्प्रिट का गला घोंट दिया। बमबाज़ों तक तो हमारी आवाज़ पहुँच ही न सकेगी, लेकिन अगर उनमें नीति और धर्म का पूर्ण-रूप से लोप नहीं हो गया है तो उन्हें अपने कृत्यों के फलस्वरूप निरपराधियों को प्रताड़ित होते देखकर लज्जित होना चाहिए। दो-चार कर्मचारियों की हत्या करके वह चाहे अपने को विजयी समझ लें, लेकिन यथार्थ में उनके हाथों राष्ट्र का जो अहित हो रहा है, उसका अनुमान करना कठिन है। यह न तो बहादुरी है, और न ईमानदारी, कि तुम तो आग लगाकर दूर खड़े हो जाओ और घर दूसरों का जले। संसार पर आज भी प्रेम और सत्य का राज्य है। आज भी अन्याय को न्याय के सामने सिर उठाने का साहस नहीं होता। महात्मा जी ने प्रेम और अहिंसा का बल प्रदर्शित करके सारे संसार को चकित कर दिया है। अगर अभी उन शस्त्रों से हम विजय न पा सकें तो इसका यह कारण नहीं है कि वह शस्त्र दूषित हैं, बल्कि यह कि हम हिंसा भाव को दिल से निकाल नहीं सके। हिंसा से हिंसा और अहिंसा से अहिंसा उत्पन्न होती है। यह ध्रुव सत्य है और इस प्राकृतिक नियम को याद रखना बलवानों के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही सरकार के लिए भी है।

दिसंबर १९३१

गोलमेज सभा का विसर्जन

गोलमेज़ सभा जिस तरह पहली बार गपशप करके समाप्त हो गयी, उसी तरह दूसरी बार भी गपशप करके समाप्त हो गयी। समाप्त क्यों हुई, अभी कुछ और गप-

शप होगी और यह सिलसिला शायद दो-चार साल चलेगा। कमेटियों और तहक़ीक़ातों से असली बात को टालते रहना राजनीति की पुरानी चाल है और वह इस वक्त भी चली जा रही है। जहाँ किसी बात की शिकायत पैदा हुई और उस शिकायत ने ज़ोर पकड़ा कि फ़ौरन तहक़ीक़ाती कमेटी बना दी गयी। शिकायत करनेवालों में, जिनकी आवाज़ सबसे ऊँची थी, उन्हें उस तहकीकातो कमेटी में शरीक कर लिया गया। साल दो साल तहक़ीक़ात में लगे, तब तक वह शिकायत कुछ ठंडी पड़ गयी। अगर कमेटी ने ज़ोरदार शिफ़ारिशें कीं, तो उन पर विचार करने के लिए एक कमेटी और बना दी गयी। जब नौकरशाही कुछ करना नहीं चाहती, केवल बहानों से काम लेना चाहती है तो वह फौरन तहक़ीक़ात शुरू कर देती है। ऐसी-ऐसी मोटी बातों की तहक़ीक़ात होने लगती है, जिन्हें एक-एक बच्चा जानता है। और कमेटी के क़ायम होने से उसकी रिपोर्ट छपने और उस पर विचार होने तक, या तो यह बात ही पुरानी हो जाती है, या पब्लिक का ध्यान दूसरी बातों की ओर चला जाता है। गोल-मेज़ में भी यही अभिनय हुआ। माँगा तो जा रहा था स्वराज्य—अंग्रेजी राज्य की जनता की ही यह माँग थी, मगर फेडरेशन का स्वाँग खड़ा करके उसमें राजाओं को शरीक करके, ख्वामख्वाह एक उलझन डाल दी गयी। स्वराज्य का मुआमला पीछे दब गया। अब फेडरेशन का शोर सुनायी देने लगा। राजे अधिकतर दक़ियानूसी विचारों के हैं ही, सरकार का उनके ऊपर दबाव भी बेढब है, इसलिए बृटिश इंडिया की बढ़ती हुई स्वराज्य की इच्छा को पीछे रोक रखने के लिए फेडरेशन का स्वाँग खड़ा कर दिया गया। चार-छह साल तक तो मुआमला यों ही टल गया, मगर सच पुछिए, तो यह स्कीम ही बच्चों का तमाशा थी। अंग्रेजी सरकार असली अधिकार छोड़ना नहीं चाहती। फौज और माल और बड़ी व्यवस्थापक सभा की ज़िम्मेदारी देने पर तैयार नहीं है, तो हमारी समझ में नहीं आता, इस बैता-बहस कराने का अभिप्राय ही क्या था। कहा जाता है, तुम लोग आपस में खुद तस्फ़िया कर लो, जो चाहो वह हम दे देते हैं। यह गोलमेज़ सभा हुई ही क्यों? लिबरलों की माँगें मालूम थीं ही, मुसलमानों की माँगें भी मालूम थीं ही, काँग्रेस ने भी अपनी शर्त प्रकाशित कर ही दी थी, तो फिर वह कौन-सी जमाअत थी, जिसकी राय लेने के लिए गोलमेज़ सभा की गयी। वास्तव में गोलमेज़ सभा काँग्रेस आंदोलन का नतीजा थी, पर उसका उद्देश्य काँग्रेस की शर्तों पर विचार करना नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न दलों के प्रतिनिधियों को जमा करके उनमें जो मत-विरोध है, उसका प्रदर्शन करना था। भारत में उन भिन्न-भिन्न दलों का कोई असर न हो, कोई गिनती न हो, न उनके अनुयायियों की कुछ संख्या हो, पर इंग्लैंड में उन्हें वही महत्व दिया गया, जो काँग्रेस का था। इतने आदमी जमा ही क्यों किये गये? भिन्न-भिन्न विचारों के व्यक्तियों को जमा करके यह आशा करना कि वह आपस में मिलकर कोई समझौता करेंगे, दुराशा मात्र है। काँग्रेस ने जो संग्राम छेड़ा था, वह किसी जाति-विशेष, या

वर्ग-विशेष के हित के लिए नहीं छेड़ा था। वह राष्ट्र की ओर से सभी जातियों और वर्णों के हित को सामने रखकर लड़ने खड़ी हुई थी। इसीलिए उसमें हरेक जाति और वर्ग के आदमी शरीक थे। जहाँ तक स्वराज्य का सम्बन्ध है, काँग्रेस ही राष्ट्र थी। और किसी दल ने तो उँगली तक न उठायी। धन, जान, काँग्रेस ने बलिदान किये। पर जब समझौते का समय आया, तो काँग्रेस भी उसी लाठी से हाँक दी गयी, जिस लाठी से और दलवाले हाँके गये। काँग्रेस को राष्ट्र न समझ कर कई दलों में से एक समझा गया। काँग्रेस ने पहले ही समझ लिया था कि गोलमेज़ में कुछ होना-हवाना नहीं है, लेकिन चूँकि कई नेताओं का आग्रह था और उन्हें विश्वास था कि इंग्लैंड सच्चे दिल से न्याय करना चाहता है, इसलिए काँग्रेस ने महात्मा गाँधी को वहाँ अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजना स्वीकार कर लिया। लेकिन उसे शुरू से सभा के सफल होने में संदेह था और उसका संदेह सत्य निकला। अब काँग्रेस के ऊपर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि उसने मसालहत से काम लेने के बदले ज़िद से काम लिया। महात्मा गांधी शान्ति के उपासक हैं। मसालहत से काम लेने में वह जितना दबे और झुके, उसने विरोधियों को भी उनके शान्ति-प्रिय होने का विश्वास दिला दिया और यद्यपि अभी कोई प्रत्यक्ष फल नहीं निकला, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि महात्मा जी का जाना बेकार हुआ। इंग्लैंड का सबसे कट्टर दल भी केन्द्रीय उत्तरदायित्व स्वीकार करने पर बाध्य हुआ, मगर किसी वस्तु को आदर्श रूप मान लेना और बात है और उसे व्यवहार में लाना और बात। ऐसा अनुमान होता है कि काँग्रेस ने पिछले साल जो तपस्याएँ की हैं, वह इच्छित वरदान के लिए काफ़ी न थीं और अभी उसे और तपस्या करनी पड़ेगी।

दिसंबर १९३१

दमन की सीमा

काँग्रेस स्वराज्य माँगती है। सरकार स्वराज्य देने को तैयार है। तो फिर यह दमन क्यों? यह सत्याग्रह क्यों? या तो काँग्रेस स्वराज्य नहीं, कुछ और माँगती है, या सरकार स्वराज्य नहीं कुछ और देना चाहती है। आइये इस प्रश्न को देखें।

काँग्रेस के स्वराज्य माँगने का क्या उद्देश्य है? क्या केवल अधिकार, या ओहदे? हम जोर देकर कह सकते हैं, कि काँग्रेस अधिकार या ओहदे नहीं चाहती, वह शासन की विभूतियों में हिस्सा बँटाने की इच्छुक नहीं है। वह केवल देश को सुखी देखना चाहती है। देश में आधे आदमी बेकार पड़े हुए हैं, सौ में नब्बे आदमियों को पेट भर भोजन नहीं मिलता, सौ में नब्बे आदमी लिख-पढ़ नहीं सकते और इसलिए वे जो थोड़ा-बहुत कमाते भी हैं, उसे निश्चिन्त होकर खा नहीं सकते। कहीं साहूकार उनके मुँह का कौर छीन लेता है, कहीं पुलीस। काँग्रेस को अगर विश्वास हो जाय, कि देश

के लिए जो व्यवस्था गढ़ी जा रही है, उससे यह उद्देश्य पूरा हो जायगा, तो वह आज ही सरकार के साथ सहयोग करने लगे ; पर उसे यह विश्वास कैसे हो ?

काँग्रेस यही आश्वासन चाहती है । सरकार मौखिक आश्वासन तो देती है; पर जब उस पर अमल करने का समय आता है, तब तरह-तरह की रुकावटें पैदा की जाने लगती हैं, जिससे काँग्रेस को सरकार के इरादों पर संदेह होने लगता है । काँग्रेस की यह कमजोरी कहो या ताक़त, कि वह राजनीति की उलझनों से घबड़ाती है । वह अफ़सर में अफसरी का भाव नहीं, सेवा का भाव देखना चाहती है । हम यह भी माने लेते हैं, कि उसे धैर्य नहीं, वह ज़ल्द से जल्द देश का उद्धार करना चाहती है, चाहे इस जल्दबाजी से उन लोगों के स्वार्थ को हानि ही क्यों न हो, जो वर्तमान परिस्थिति से लाभ उठा रहे हैं । इसका कारण यह कदापि नहीं है, कि काँग्रेस वर्तमान स्वार्थों को कुचलकर खुद अधिकार का भोग करना चाहती है ; बल्कि राष्ट्र की दशा वास्तव में इतनी शोचनीय हो गयी है, कि उसके उद्धार में एक दिन का विलम्ब एक-एक युग के समान है ।

प्रजा भूखों मर रही है, हमारे विधाताओं को अपने हलवे-माँड़े में रत्ती-भर की कमी भी स्वीकार नहीं । सब खर्च ज्यों का त्यों चल रहा है । प्रजा के पास लगान देने को कुछ न हो ; मगर सरकार अपना लगान वसूल करके ही छोड़ेगी, चाहे किसान बिक जाय, तबाह हो जाय, चाहे उसकी ज़मीन बेदखल हो जाय, उसके बरतन-भाँड़े, बैल-बधिये, अनाज-भूसा सब का सब बिक जाय । आत्म रक्षा प्रकृति का नियम है । किसान भी प्रकृति का ही एक अंश है । वह भी चाहता है, कि पहले अपने खाने भर को स्वरक्षित रख ले, तब चाहे लगान दे, या साहूकार का ऋण चुकावे ; मगर विधाता अपना कर किसी तरह नहीं छोड़ सकते । उनके ख़याल में सरकार प्रजा के लिए नहीं ; बल्कि प्रजा सरकार के लिए है । सरकार का शासन रहेगा, और इसी शान से रहेगा, प्रजा से उसे कोई मतलब नहीं । खर्च में कोई कमी नहीं हो सकती, या हो भी सकती है, तो बराय नाम । प्रजा पर कर बढ़ाकर शासन का खर्च वसूल कर लिया जायगा । प्रजा के रहने को झोपड़े मयस्सर नहीं, सरकार को नयी दिल्ली बनवाने की धुन है ; प्रजा को रोटियों का ठिकाना नहीं, अधिकारियों को दस-दस और पाँच-पाँच हज़ार वेतन अवश्य मिलना चाहिए । कमी पूरी करने के लिए बीस मार्ग हैं—रेल और डाक का महसूल बढ़ाया जा सकता है, इनकम टैक्स बढ़ाया जा सकता है, माल पर महसूल बढ़ाया जा सकता है । खर्च बदस्तूर रहेगा, उसमें कमी नहीं हो सकती । इस सरकारी नीति से काँग्रेस का आश्वासन नहीं हो सकता और न होना चाहिए । सरकार यों तो जनता के हित-साधन का राग अलापते नहीं थकती ; लेकिन जब उसको परिचय देने का समय आता है, तो बग़लें झाँकने लगती है । गोलमेज़ सभा में भी विधाताओं को इसकी फ़िक्र न थी, कि प्रजा की दशा क्योंकर सुधारी जाय ; बल्कि यह फिक्र थी, कि काँग्रेस की शक्ति क्योंकर तोड़ी जाय । काँग्रेस के प्रोग्राम ने प्रजा को केंद्रित कर दिया था । काँग्रेस

ने शायद पहली बार प्रजा-हित को अपना मुख्य उद्देश्य बनाया था । जो लोग वर्तमान अनीति से फ़ायदा उठा रहे हैं, उन्होंने कांग्रेस की शक्ति तोड़ने में राजनीति का पूरा ज़ोर लगा दिया और अल्प संख्यक भाइयों का एक संघ बना डाला, जो बहुमत को अल्पमत कर देता है । बहुमत के विरुद्ध अल्पमतवालों को कुछ न कुछ असंतोष रहना स्वाभाविक है । इस भावना को खूब उत्तेजित किया गया और संघ का निर्माण हुआ । अगर वह संघ-विधान सफल हो जाता है—और लक्षण कह रहे हैं, कि वह अवश्य सफल होगा—तो बहुमत की शक्ति टूटी रखी है और बहुमत के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाली कांग्रेस चाहे निःशक्त न हो जाय पर उसके प्रभाव और विस्तार में कमी अवश्य आ जायगी ।

और यह चालें क्यों चली जा रही थीं ? केवल इसलिए कि प्रजा की वकालत करनेवाली संस्था कांग्रेस को अपंग कर दिया जाय । गोरों की सारी कोशिश कांग्रेस के विरुद्ध दलबंदी में लगती रही । मुसलमान भाइयों को, अछूत भाइयों को, दलित भाइयों को, सिक्ख भाइयों को, ईसाई भाइयों को इस तरह संगठित करने की आयोजना की जाती रही, कि ऊँची जातिवाले हिन्दू अलग हो जायँ और अल्पमत में हो जायँ । न-जाने किस तर्क से यह सोच लिया गया है, कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है और हिन्दुओं ही के हितों की रक्षा करती है । हालाँकि कांग्रेस में अछूत भी हैं, सछूत भी हैं, ईसाई भी हैं, सिख भी हैं, मुसलमान भी हैं । यही वह संस्था है, जो प्रत्येक विषय पर राष्ट्रीय-दृष्टि से विचार करती है और जाति-द्वेष से अपने को बचाती रहती है ।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए पृथक् निर्वाचन का विधान सोच निकाला गया । पृथक्ता ने हिन्दू-मुसलमानों में कितना वैमनस्य पैदा कर दिया है, यह उन सज्जनों को प्रोत्साहित करने के लिए काफ़ी था । एक तरह से यह निश्चय कर लिया गया, कि विच्छेद-नीति को बरता जाय । मुसलमान भाइयों को नौकरियों का प्रलोभन दिया गया । अछूत भाइयों को हिन्दुओं से अन्याय की शिकायत है ही और बजा शिकायत है । उन्हें पृथक् करते क्या देर लगती थी । वहाँ डाक्टर अम्बेडकर थे ही । वह बड़ी खुशी से इस गुट में आ गये । यह किसी ने सोचने की ज़हमत न उठायी, कि कांग्रेस ने जिस नीति की घोषणा की है, उससे राष्ट्र के किसी अंग को वास्तव में हानि पहुँचती है, या नहीं ? कांग्रेस अगर शासन का खर्च कम करने को कहती है, तो इसमें किसी जा त विशेष का हित है । कांग्रेस अगर किसानों का लगान कम करने को कहती है, स्वदेशी का प्रचार करती है, खद्दर का प्रचार करती है, नमक का कानून उठवाना चाहती है, नसीली चीज़ों का व्यवसाय बन्द कराना चाहती है ; तो इसमें राष्ट्र के किस अंग की हानि है ? इस प्रश्न पर विचार करने की ज़रूरत न समझी गयी । वहाँ तो कांग्रेस की शक्ति को तोड़ना ही ध्येय था, जिससे राष्ट्र में एकता न होने पाये और भेद-नीति द्वारा हमेशा देश पर विदेशियों का प्रभुत्व बना

रहे और इस नीति की सफलता के लिए आवश्यक था, कि काँग्रेस को ग़ैरक़ानूनी बना दिया जाय और उसके नेताओं और मददगारों को जेल भेज दिया जाय। इस तरह मैदान साफ़ करके भेद-नीति का बेखटके प्रचार किया जाय। काँग्रेस पर मनमाने आक्षेप लगाये जायँ और उसे राष्ट्र की आँखों में हेय सिद्ध किया जाय और अगर कोई इन आक्षेपों का जवाब दे, तो उस पर तरह-तरह के कानून लगा दिये जायँ। इस तरह साल-छः महीने के प्रोपेगेण्डा में काँग्रेस का जोर कम हो जायगा और फिर भेद-पीड़ित राष्ट्र पर मन-माने ढंग से शासन किया जायगा। काँग्रेस तो राष्ट्र के हित-चिंतन में लगी हुई थी और वहाँ इस बात पर बड़ों-बड़ों की अक्ल खर्च हो रही थी, कि किस तरकीब से इस बढ़ते हुए राष्ट्र को कुचला जाय। मि० बेंथाल की रिपोर्ट और सर हूबर्ट कार के पत्र ने इस भेद-नीति का भण्डा फोड़ दिया है और उसे नग्नरूप में संसार के सामने खड़ा कर दिया है। फ्रेंचाइज़ कमेटी जो कुछ करेगी, वह हम जानते हैं। उसे जो कुछ करना था, वह इंग्लैंड में पहले ही तय किया जा चुका है। इस तरह जो शासन विधान तैयार होगा, उसमें न शक्ति होगी, न एकता होगी, न संगठन होगा और राष्ट्र की दशा पहले से भी खराब हो जायगी। मि० बेंथाल की रिपोर्ट में 'स्वराज्य' या सुधार का उद्देश्य भी यही दिखाया गया है; अर्थात्—शासन में और शक्ति का संचार करना। तो यह निष्कर्ष निकला, राष्ट्र जिस स्वराज्य को अर्थ प्रजाधिकारियों की वृद्धि समझता है, शासन पक्षवाले उसी स्वराज्य को अर्थ शासनाधिकार वृद्धि बताते हैं। जब दोनों पक्षों में इतना मौलिक मत-भेद है, तब इस आशा को कहीं सहारा नहीं मिलता, कि राष्ट्र की दशा निकट भविष्य में कुछ सुधरेगी। व्यवस्था कुछ बदल दी जायगी; पर उससे राष्ट्र का वह हित न होगा, जिसे हम हित समझते हैं; बल्कि उसका उद्देश्य शासन की बेड़ियों का और मजबूत और राजसत्ता को और बलवान करना होगा। इंग्लैंड इसी तरह; बल्कि इससे भी ज्यादा निश्चिन्तता के साथ भारत का खून चूसता चला जायगा। गरीब देश इसी तरह भूखों मर-मरकर एक रोटी के लिए पसीना बहाता रहेगा और अधिकारी भी इसी तरह चैन की बंशी बजाते रहेंगे। जब राष्ट्र की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जायगी, तो फिर नौकरशाही क्यों किसी की सुनने लगी।

हालाँकि अल्पमतवालों में भी मत-भेद है। अछूतों का एक हिस्सा पृथक् चुनाव चाहता है, तो दूसरा हिस्सा मिले हुए चुनाव के पक्ष में भी है। मुसलमानों, ईसाइयों, सिक्खों, सभी जातियों में यही दशा हो रही है। इनमें कौन हिस्सा बलवान है, कौन हिस्सा वास्तविक रूप में प्रतिनिधि है, इसका फ़ैसला करने का हमारे पास कोई साधन नहीं। सरकार जिसे चाहे, प्रतिनिधि समझे, जिसे चाहे, न समझे। अधिकारयों की प्रवृत्ति पृथक्तावादियों की ओर ही है।

जो कुछ रही-सही आशा थी, उसका फ़ेडरेशन ने चिराग़ गुल कर दिया। धन्य है वह मस्तिष्क, जिसने फ़ेडरेशन की कल्पना की। सुनने में तो ऐसा मालूम होता है,

कि यह विधान संयुक्त अमेरिका के नमूने पर रचा जा रहा है ; पर वास्तव में यह केवल राष्ट्र को चिरकाल तक दासता में जकड़े रखने का एक चमत्कार-पूर्ण साधन है। राजाओं को १/३ जगहें दे दी जायँगी। मुसलमान भाई १ लिये ही बैठे हैं। बाक़ी १/३ में अछूत, दलित, हिन्दू, ईसाई, सिख, जमींदार, व्यापारी, किसान, स्त्री और न जाने कितने विशेषाधिकारों के लिए स्थान दिया जायगा। राष्ट्र का अन्त हो गया। राजाओं के प्रतिनिधि राज-सत्ता की उपासना करेंगे ही, मुसलमान जिस तरफ़ अपना फ़ायदा देखेंगे उधर जायँगे। सभी दल अपनी-अपनी रक्षा करेंगे। राष्ट्र की रक्षा कौन करेगा?

बात यह है, कि इंग्लैंड राज-सत्ता का अल्पांश भी छोड़ना नहीं चाहता। काँग्रेस ही एक ऐसी संस्था है, जो वास्तविक रूप में जन-सत्ता चाहती है ; जो जात-पाँत के झगड़ों से अलग रहकर राष्ट्र के उद्धार का प्रयत्न करती है ; जो दरिद्र किसानों के हित को सबसे ऊपर रखती है ; विभिन्नता में एकता उत्पन्न करके राष्ट्र को बलवान बनाना चाहती है ; जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है, कि देश का शासन, देश के हित के लिए हो, हम अपने ही देश में दलित और अपमानित न रहें, हममें यह व्यापक बेकारी न रहे, हमारी जनता पशुओं की भाँति जीवन न व्यतीत करे। हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें हमें राष्ट्र की इच्छानुसार परिवर्तन और सुधार करने का अधिकार हो, जिसमें हमारे ही धन से पलनेवाले कर्मचारी हमी को कुत्ता न समझें, जिसमें हम अपनी संस्कृति का निर्माण आप कर सकें। हम वह स्वराज्य चाहते हैं ; जिसमें हम भी उसी तरह रह सकें, जैसे फ्रांस या इंग्लैंड में लोग रहते हैं। इसके साथ ही हम उन बुराइयों से भी बचना चाहते हैं, जिनमें अन्य अधिकांश राष्ट्र पड़े हुए हैं। हम पश्चिमी सभ्यता की कृत्रिमताओं को मिटाकर उस पर भारतीयता की छाप लगाना चाहते हैं ; हम वह स्वराज्य चाहते हैं, जिसमें स्वार्थ और लूट प्रधान न हो, नीति और धर्म प्रधान हो। सरकार यह तो जानती है कि खुले हुए शब्दों में यह कहने से इस समय काम नहीं चल सकता, कि हम भारत में शासन करने आये हैं और शासन करेंगे, इसलिए मुँह से तो वह मीठी-मीठी, राजनैतिक सत्य से भरी हुई बातें कहती है ; लेकिन परिस्थिति में ऐसा परिवर्तन कर देना चाहती है, कि स्वराज्य की आवाज़ उठानेवाली कोई संस्था ही न रह जाय। लोग आपस में क्षुद्र स्वार्थों के लिए लड़ते रहें और सरकार ऊँचे आसन पर बैठकर न्याय का परिचय देती रहे। दरिद्र देशों में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं हो सकती, जो अपने स्वार्थ के लिए राष्ट्र का अहित करने को तैयार हो जायँ और ऐसे मनुष्यों का सहयोग सरकार को प्राप्त हो जायगा। फौज, पुलीस और ऐसे सज्जनों के सहयोग से भारत पर बहुत दिनों शासन किया जा सकता है ; लेकिन जो लोग इस नीति को देश के लिए घातक समझते हैं, उनका हमेशा दमन करना पड़ेगा ; अर्थात्—देश में हमेशा फौजी कानून से शासन किया जा सकेगा ; क्योंकि देश के सेवक चुप होकर न बैठेंगे और उनकी वाणी में सत्य का ऐसा आकर्षण है, कि जनता उनके झंडे के नीचे जमा होने से

रुक नहीं सकती। अतएव इंग्लैंड के सामने दो रास्ते हैं। एक तो राज-सत्ता का मार्ग है। तलवार के जोर से प्रजा को दबाये रक्खो, उनके खेत कटवाकर मालगुजारी वसूल कर लो, वह जो कुछ गाढ़ा पसीना बहाकर कमाये वह रेल, डाक, नमक आदि के महसूल बढ़ाकर, आमदनी के टैक्स के रूप में वसूल कर लो। दूसरा जन-सत्ता का मार्ग है। प्रजा पर प्रजा के हित के लिए शासन करो। राजा और प्रजा का भाव दिल से निकाल डालो। अफ़सरी की बलाय ताक़ पर रख दो और प्रजा के सेवक बन जाओ। इस तरह राष्ट्र को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाकर तुम यश के भागी ही न बनोगे, सुखी और स्वाधीन भारत, इंग्लैंड के लिए इस दरिद्र और दुखी भारत से कहीं ज्यादा मूल्यवान सिद्ध होगा; लेकिन इस वक्त इंग्लैंड इस तरह की बातें सुनने को तैयार नहीं है। वह भारत से अपना आतंक मनवा कर छोड़ेगा, मानो भारत ने कभी उसके आतंक को न माना था। आतंक तो वह लगभग दो सौ साल से देखता चला आता है। पहले वह इससे भयभीत होता था, अब भयभीत भी नहीं होता। अब तो आतंक से उसके मन में जलन होती है, अब तो उसे राजसी ठाट-बाट, धूम-धाम, चमक-दमक देखकर घृणा होती है, इक्कीस तोपों की सलामियाँ और स्पेशल गाड़ियों और मखमली पायंदाज उसे रोब में नहीं डालते, उसके दिल में घृणा का भाव उत्पन्न करते हैं। अब शासकों की स्वार्थ-नीति उनकी निर्दय माया-प्रेम, उनका निरीह, निष्फल आडम्बर, जैसे उसके जले पर नमक छिड़कते हैं। वह सरकार को केवल शोषक के रूप में देखता है। उसकी पुलीस उसे सताती है। उसके कर्मचारी उसके मुँह का कौर छीन कर खा जाते हैं। उसके बनाये हुए ज़मींदार उसे बेदर्दी से कुचलते हैं। उसकी बनायी हुई अदालतें उसे तबाह करती हैं। देहात से, सुधार और सहयोग और शिक्षा और स्वास्थ और सभी आयोजनाएँ, जिनसे राष्ट्र बनता है, जिनसे उसका विकास होता है, लापता हैं। हम दावे से कह सकते हैं कि आज सरकार के विषय में अगर जनता से वोट लिया जाय, तो समस्त भारत में पाँच वोट भी न मिलेंगे। और जब तक हमारे विधाता भारत का शासन भारत के हित के लिए न करेंगे, जब तक भारत को इंग्लैंड का मजूर समझा जायगा, जब तक भारत को द्रव्योपार्जन का अखाड़ा, मोटी नौकरियों का क्षेत्र और इंग्लैंड के माल का बाजार समझा जायगा, जब तक क़साइयों की भाँति इंग्लैंड की निगाह भारत के मांस पर रहेगी, उस वक्त तक देश में न शांति होगी और न उन्नति। दमन सब कुछ कर सकता है; पर देश का उद्धार नहीं कर सकता, और जब तक देश के उद्धार का आदर्श सामने न हो, शासन केवल लूट है, और कुछ नहीं।

अप्रैल १९३२

अछूतपन मिटता जा रहा है

जाति के बंधन इस कल-कारखानों के युग में बहुत दिन तक नहीं रह सकते। अब भी लोग होटलों में खाने नहीं जाते, कहीं बाहर भी जाते हैं, तो मित्रों या संबंधियों के घर ठहरते हैं। लेकिन राष्ट्रीयता इन भावों को तोड़े डालती है। कांग्रेस के स्वयं-सेवकों में सभी जाति और बिरादरी के युवक एक साथ, एक ही कैम्प में रहते हैं, साथ खाते हैं, साथ सोते हैं। इन कैम्पों में मुसलमान भी होते हैं और एकाध ईसाई भी निकल आता है। इस भाँति एक संयुक्त राष्ट्र की बुनियाद पड़ गयी है। इसमें संदेह नहीं कि महात्मा गांधी अछूतों की लड़ाई लड़ रहे हैं। और इस काम में उन्हें कितने ही सज्जनों का सहयोग मिल गया है, जो बड़ी एकाग्रता के साथ अछूतों में काम कर रहे हैं। सिद्धान्त रूप से तो ऊँच-नीच का झगड़ा मिट गया, मंदिर भी खुलते जा रहे हैं, लेकिन देहातों में यह हवा पहुँचते-पहुँचते अभी एक जमाना लग जायगा। आधी कठिनाई इसलिए बढ़ गयी है कि अछूत स्वयं अपने को नीच समझता है और ऊँची जातियों से दूर रहना ही अपना धर्म समझता है।

मई १९३२

पर्दा थोड़े दिनों का मेहमान है

पिछड़े हुए उत्तर भारत में भी पर्दा प्रथा उठी जाती है। पर्दे से समाज का जो अहित होता है, वह सभी जानते हैं। तंग और प्रकाशहीन घरों में बंद रहकर कितनी ही स्त्रियाँ क्षय का शिकार हो जाती हैं; लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के इस एक वर्ष में पर्दा टूट गया। कांग्रेस ने माताओं और बहनों को राष्ट्र के कर्मक्षेत्र में ला खड़ा किया है और वह हरेक काम में आगे-आगे चल रही हैं। जलसों में वे बोलती हैं, पिकेटिंग का सारा भार उनके ऊपर है, हज़ारों बहनें जेल गयी हैं। मेरठ जैसे शहर में भी, जहाँ पर्दे का पूरा रिवाज है, गांधीजी की गिरफ्तारी पर पाँच हज़ार औरतों का जुलूस निकला। हिन्दू विश्वविद्यालय में युवक और युवतियाँ साथ-साथ पढ़ते हैं, साथ बहसें करते हैं और साथ सामाजिक उत्सवों में शरीक होते हैं।

मई १९३२

मि० एच० एन० ब्रेलसफोर्ड के भारतीय अनुभव

मि० ब्रेलसफ़ोर्ड मजूरदल के उन सहृदय आदमियों में हैं, जो इंगलैंड के साम्राज्यवादियों की लुटेरी नीति का ज़ोरों से विरोध करते हैं। इस दल के एक दर्जन चुने हुए रत्नों में उनका भी शुमार है। बड़े ही विचारशील, उदारचेता, नीति-परायण व्यक्ति हैं। भारत के अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख बराबर छपते रहते हैं। महात्मा गांधी और लार्ड इर्विन से समझौते की बातचीत होने से पहले ही, जब महात्मा जी जेल ही में थे, यह महाशय भारत आये थे। यहाँ इन्होंने जो कुछ देखा, जो कुछ समझा, उस पर उन्होंने एक पुस्तक की रचना की है, जिसका नाम है 'विद्रोही भारत'। पुस्तक के दो-चार पृष्ठ पढ़ते ही आपको मालूम हो जायगा कि लेखक असाधारण बुद्धि और विचार का स्वामी है। अन्य सैर करनेवालों की भाँति वह सरकारी अफसरों के मेहमान नहीं रहे, बल्कि अपनी आँखों से देखने की और अपने कानों से सुनने की बराबर चेष्टा करते रहे। वह बड़े-बड़े शहरों की रौनक़ और बहार देखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, छोटे-छोटे गाँवों की जनता का जीवन भी देखा, कसबों को भी देखा, मजूरों के मकान भी देखे। उनका ध्येय था असली भारत को देखना। और अफसरों की मेहमानी में यह बात कहाँ मुमकिन थी। वहाँ दावतें मिलतीं, नाच मिलते, राजाओं के साथ शिकार खेलने के अवसर मिलते, असली भारत कहाँ मिलता, जो देहातों में गलता है, मरता है, रोता है।

भारत में आते ही विदेशी को यहाँ का पुरानापन पग-पग पर मिलने लगता है। देहातों का जीवन वही है, जो तीन-चार हजार साल पहले—वही पुराना हल है, वही पुरानी लढ़ी, वही पुराना जुआ और वही पुराना घर, वही पुराने बर्तन-भाँड़े। महाशय ब्रेलसफ़ोर्ड ने देहाती जीवन को बड़ी सूक्ष्म निगाहों से देखा है। देहातियों के साथ बैठे हैं, बातें की हैं, उनके हृदय तक पहुँचने की चेष्टा की है, इस प्रसंग में वह एक जगह लिखते हैं—

'भारत में किसानों को कितना परिश्रम व्यर्थ करना पड़ता है, इसका अन्दाज़ यों है कि एक एकड़ गेहूँ पैदा करने के लिए एक आदमी को लगातार चालीस दिन काम करना पड़ता है। मुझे इस पर पहले विश्वास न आता था, लेकिन सरकारी काग़ज़ों में भी यही अन्दाज़ा किया गया है। इससे कुछ-कुछ पता चलता है कि भारत क्यों दरिद्र है। उसे एक एकड़ गेहूँ के लिए एक मज़दूर की चालीस दिन की मेहनत लगानी पड़ती है। यही काम यूरोप में कलों की मदद से एक दिन से कम में ही पूरा हो जाता है, लेकिन अगर यहाँ के किसानों को कलें दी भी जायँ तो क्या लाभ। उन्हें आराम ज्यादा मिलेगा; इसके सिवा इस समय में उनके पास कोई काम करने को नहीं है।'

किसानों के मक़रूज़ होने की बात कौन नहीं जानता। महाशय ब्रेलसफ़ोर्ड

लिखते हैं—'यहाँ हरेक बच्चे को जन्म लेते ही क़र्ज़ का तरका मिलता है और क़र्ज़ों से दबा हुआ ही उसका सूखा हुआ शरीर चिता पर जल जाता है। सूद मामूली तौर पर साढ़े सैंतीस सैकड़े है। उस पर चक्रवृद्धि ब्याज ! कीटाणुओं की भाँति ही क़र्ज़ बढ़ने लगता है।

यहाँ ब्याह का रोग है। घर में खाने को हो या न हो, ब्याह अवश्य करेंगे। ईश्वर ने जन्म दिया है तो भोजन भी देगा। उक्त महोदय लिखते हैं—

'मैंने अन्दाज़ा लगाया, तो यहाँ एक ब्याह का खर्च चौदह पौंड (१८२ रु०) निकला। यह रकम बहुत बड़ी नहीं है, लेकिन जिनकी आमदनी तीन पेंस रोज़ाना हो, उनके लिए तो यह घातक है। लेकिन दरिद्रता ने इस समस्या को हल करना शुरू कर दिया है। ब्याह करने के लिए धन कहाँ से आये। जिस गाँव में ठहरा था, उसमें एक मजूर रेलवे में छह आने रोज पर नौकर है। गाँववाले उसे भाग्यशाली समझते हैं। खेती में यह बहार कहाँ ! वहाँ तो महाजन है, ज़मीदार है, पुलिस है और अदालत है। गाँव में दो तरह के किसान हैं। दख़ीलकार और ग़ैरदख़ीलकार। दख़ीलकार का लगान कम है, लगभग छह रु० एकड़। ग़ैर-दख़ीलकार को चढ़ा-ऊपरी के कारण दस रु० तक देना पड़ता है। उपज छह से आठ मन तक होती है। बाज़ों की पैदावार बारह मन एकड़ तक हो जाती है, लेकिन ऐसे भाग्यवान कम हैं। आठ मन की पैदावार बाज़ार दर सोलह रु० की होती है, इसमें दस रु० लगान दे दिया जाय, तो कुल छह रु० एकड़ की बचत होती है। इसमें तीन रु० बीज के निकल गये। किसान को शायद ही कुछ बचता हो। पंजाब में भी, जो भारत का सबसे खुशहाल प्रान्त है, किसान की आमदनी चार आना रोज़ से अधिक नहीं है।'

हिन्दुस्तानी बग़ावत क्यों नहीं करते

ब्रेल्सफ़ोर्ड साहब लिखते हैं—

'मुझसे पूछा जायगा कि जब भारतवाले इतने कष्ट में हैं, तो बग़ावत क्यों नहीं कर बैठते। इसका उत्तर यही है कि भारत दरिद्र है। जब पेट में भोजन नहीं जाता तो विद्रोह की कौन सोचे। मामूली हिन्दुस्तानी मामूली अंग्रेज मज़दूर की आधी ताक़त रखता है। विद्रोह बढ़ी हुई तिल्लीवाले आदमी नहीं करते। हिन्दुस्तानी में वह बल ही नहीं है जो गाली या मार खाने पर झटपट घूँसा तान देता है। फिर समाज और विरादरी का दबाव और रूढ़ियों का भार इतना ज्यादा है कि आदमी में कोई नयी बात सोचने या करने की क्षमता ही नहीं है। ऐसी सभ्यता में व्यक्तित्व का लोप हो जाता है।'

भारत क्यों इतना गरीब है

मि० ब्रेल्सफ़ोर्ड ने इस विषय की मीमांसा विस्तार के साथ की है। पहले वह सामाजिक कारणों पर आये हैं। ७३ फ़ीसदी भारतीय खेती-बारी में लगे हुए हैं। दस

फ़ी सदी कारख़ानों में, लेकिन औरतें बहुत कम काम करती हैं। ऊँची जातियों में परदे के कारण स्त्रियाँ खेतों में काम करने नहीं जातीं। नीच जाति की स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर ही काम करती हैं। फिर भी धनोपार्जन में भारत की स्त्री योरोपी स्त्रियों की बराबरी नहीं कर सकती। उस पर साधु-संन्यासियों और आलसी भिक्षुकों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। शिक्षित समाज भी कोई दफ़्तरी काम न पा सकने के कारण बेकार पड़ा हुआ है। जो मजूर हैं भी, वह आधी जान के। पौष्टिक भोजन की कमी ने किसानों और मजूरों को अधमुआ बना दिया है। जनसंख्या इतनी बढ़ गयी है, कि जोतने को ज़मीन नहीं मिलती। १७७१ में चालीस एकड़ ज़मीन एक आदमी के हिस्से में पड़ती थी। आज तीन एकड़ रह गये हैं। संयुक्त प्रान्त में तो ढाई एकड़ से ज्यादा नहीं है। उस पर बँटवारों ने खेतों को और भी छोटा कर दिया है। ऐसी दशाओं में इस ग़रीबी के दो ही इलाज हैं—खेतों की पैदावार बढ़ाना और जनता के लिए नये-नये साधन पैदा करना। सिंचाई कुल पाँच करोड़ एकड़ में होती है। आधी कुएँ और तालाबों से और आधी नहरों से। नहरों में एक बहुत बड़ा ऐब है कि उपजाऊ भूमि का एक भाग नहर और उसकी शाखाओं में लग जाता है। रेशम, लाख, शहद, अंडे, दूध आदि के पैदा करने में बड़ी गुंजाइश है। यहाँ गाय की पूजा तो बहुत होती है, पर उसके खाने को मयस्सर नहीं होता। १०० एकड जोत के पीछे यहाँ ६७ जानवर हैं, हालैंड में केवल ३८ और मिस्र में २५; इसका नतीजा यह है कि स्वस्थ मवेशियों का भोजन बूढ़े और बेकार जानवर खा जाते हैं। चूहे, बन्दर, सुअर और हिरन आदि जानवर भी कुछ कम नुकसान नहीं करते। गवर्नमेंएट को अभी तक शान्तिःस्थापन से ही छुट्टी नहीं मिली, कि वह प्रजा के आर्थिक उत्थान के प्रश्न पर विचार कर सकती। अभी तक तो उसने केवल इतना किया है, कि प्रजा से कर वसूल करके कर्मचारियों के वेतन दिये और प्रजा को काबू में रखा। यह साधन जिस लक्ष्य के हैं, वहाँ तक अभी हम पहुँचे ही नहीं, बल्कि साधन ही को लक्ष्य समझ लिया गया। पुलिस, फौज और प्रबन्ध में बड़ी-बड़ी रकमें खर्च की जाती हैं। सहयोग, कृषि, आरोग्य आदि विभागों की कोई परवा नहीं की जाती। यों समझो कि उन्हें बेकार समझा जाता है। देश के प्रति सरकार की वही मनोवृत्ति है, जो बेसमझ और स्वार्थी ज़मीदारों की अपने असामियों की ओर होती है। बेशक सड़कें और रेलें बनीं, कलों का प्रचार भी हुआ, लेकिन इसका नतीजा क्या हुआ? गाँववाले जो छोटे-मोटे धन्धे करके अपना निर्वाह किया करते थे, वे उनके हाथ से निकल गये। उसकी जगह विदेशों से सस्ती चीज़ों ने आकर ले ली। अभी तक इन चीज़ों का भीतर के देहातों में गुज़र न था—रेलें हरेक गाँव में, हरेक पैठ में, न पहुँच सकती थीं। लारियों द्वारा रही-सही कसर पूरी हो जायगी। नतीजा यही होगा, कि जैसे जुलाहे, धुने, रंगरेज़, बंजारे आदि रोज़गार खो बैठे और कोई और रोज़गार न पाकर जमीन जोतने लगते, वही हाल दूसरे पेशेवालों का होगा। मि० ब्रेल्सफ़ोर्ड की

समझ में नहीं आता कि सरकार ने कृषि की उन्नति की ओर क्यों अब तक ध्यान नहीं दिया ? इससे तो इंगलैण्ड के हित को धक्का न पहुँचता था, बल्कि प्रजा खुशहाल होने पर अंग्रेज़ी माल और अधिक मात्रा में खरीदती। अगर सरकार की ओर से प्रजा-हित का कोई काम शुरू भी किया जाता है, तो इतनी हुकूमत और सख्ती के साथ कि प्रजा उसे सरकारी विभाग और रुपये ऐंठने की कोई नयी स्कीम समझकर कोसों दूर भागती है और वह स्कीम असफल हो जाती है। इसका एकमात्र कारण यही है कि सरकार यहाँ केवल रोब से हुकूमत करना अपना मुख्य काम समझती है, दूसरे जन-हित के जितने काम हैं उन्हें बेज़रूरत और बेगार समझती है। उस स्कीम को सफल बनाने का भार पुलिस या प्रबन्ध-विभाग पर डाल दिया जाता है। पुलिस समझती है, कि उसके अधिकार में और वृद्धि हुई और मरीज़ को गला दबाकर दवा पिलाने लगती है। मरीज़ स्वभावतः ओठ बन्द कर लेता है। और दवा की एक बूँद भी नहीं पीता।

इस नोट के अन्त में हम लेखक के शब्दों को उद्धृत करेंगे—

'हमने इस अध्याय में उन हेतुओं का वर्णन किया है जो भारत के समाज-संगठन और हिन्दू धर्म-तत्व में निहित हैं। यह पराधीनता का शाप है कि हिन्दुस्तानी समाज विदेशी राज्य को हरेक बुराई का ज़िम्मेदार ठहराता है। और अपने सामाजिक विधानों की बुराइयों की ओर से या तो आँखें बन्द कर लेता है या उनकी और भी सराहना करता है क्योंकि कम से कम ये वस्तुएँ तो उसकी अपनी हैं। लेकिन हम इस बात को जितना ही अनुभव करते हैं, कि जात-पाँत, बाल-विवाह, अहिंसा धर्म और इसी तरह की और बातें भारत की आर्थिक सुदशा, आरोग्य और सामाजिक न्याय के मार्ग में रुकावटें डालती हैं, उतनी ही प्रबल इच्छा होती है कि भारत की इस पराधीनता का अन्त हो जाय। इन बाधाओं के हटाने के लिए, उस मनोवृत्ति को बदलने के लिए, जिसमें जनता पली है, उन शक्तियों को तोड़ने के लिए जो मिथ्यावाद और अंधविश्वास की पोषक है, भारत का स्वाधीन होना परमावश्यक है। वर्तमान शासन द्वारा इन रूढ़ियों और मिथ्या विचारों के विरुद्ध आन्दोलनों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। भारत की इस अवनति का मुख्य कारण यह है कि उसे बुद्धिवान और प्रत्यक्षवाद के उन आन्दोलनों से गुजरने का अवसर नहीं मिला, जिन्होंने अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में यूरोप को मध्यकालीन अंधकार से निकाल लिया। ऐसे आन्दोलन यहाँ जड़ न पकड़ सके, क्योंकि ज्यों ही भारत में सार्वदेशिक विचार की शक्ति उत्पन्न हुई, वह राष्ट्रीयता की ओर झुक पड़ी। राष्ट्रीयता शासकों में ऐब निकालती है, वह अतीत की बुराइयों पर आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि नहीं डालती।'

इस कथन में यूरोपीय मस्तिष्क झलक रहा है अवश्य, पर शासकों का अहंकार नहीं है।

मई १९३२

आर्डिनेन्स-बिल का एसेम्बली में विरोध

एसेम्बली में नया आर्डिनेन्स-बिल पेश हो गया। उस पर गर्मा-गर्म बहस भी हुई, पर बहुमत ने उसे सेलेक्ट कमेटी में विचारार्थ भेजना स्वीकार कर लिया। अब इसमें सन्देह करने का स्थान नहीं रहा, कि बिल पास हो जायगा। जहाँ तक आतंकवादियों का सम्बन्ध है, उन पर कड़े से कड़े कानून का भी कोई असर न होगा। उनकी अपनी दुनिया अलग है। न उन पर महात्मा गान्धी के अनुनय-विनय का कुछ असर होता है, न सरकार के कड़े कानूनों का। हाँ, उन पर अवश्य इसका असर पड़ेगा, जो खुल कर राष्ट्रीय आन्दोलन करते हैं। हमें भय है, कि आतंकवादियों की जो इच्छा है सरकार वही कर रही है। आतंकवादी इसके सिवा और क्या चाहते हैं, कि देश में अशान्ति हो, न किसी की जान सलामत रहे, न आबरू, न माल। छोटे बड़े सभी मे असन्तोष की आग भड़क उठे। क्रान्ति की सफलता के लिए यही दशा आवश्यक है। अगर यह बिल आतंकवाद का अन्त कर दे, तो राष्ट्र बड़ी खुशी से इसे अंगीकार करेगा। संदेह यही है, कि आतंकवाद का अन्त करने के बदले यह राष्ट्रीय आन्दोलन का अन्त कर देगा, और अखबारों के लिए तो अब ज़िन्दा रहना ही मुशकिल हो गया है। उन्हें प्रे[illegible] की कविताएँ और किस्से-कहानियाँ छाप कर अपने को सन्तुष्ट कर लेना चाहिए। सरकारी किसी नीति की आलोचना करना संकटापन्न है।

५ अक्टूबर १९३[illegible]

नवयुग

राष्ट्र केवल एक मानसिक प्रवृत्ति है। जब यह प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है, तो किसी प्रान्त या देश के निवासियों में भ्रातृभाव जागरित हो जाता है। तब उनमें रूढ़ियों से पैदा होनेवाले भेद, पुराने संस्कारों से उत्पन्न होनेवाली विभिन्नताएँ और ऐतिहासिक तथा धार्मिक विषमताएँ, एक प्रकार से मिट जाती हैं। प्रान्त के निवासियों में एक नये जीवन का संचार हो जाता है। एक नगर में बाढ़ आ जाती है, तो सारे देश में हाहाकार मच जाता है और पीड़ितों की सहायता के लिए चारों ओर से धन और जन की वर्षा होने लगती है। एक स्त्री का अपमान हो जाता है, तो सारे देश को ताव आ जाता है। प्रतिकार के लिए भाँति-भाँति के साधन जमा किये जाने लगते हैं। प्राचीन काल का भारत केवल इसी अर्थ में एक था, कि उसकी संस्कृति एक थी। हिमालय से राजकुमारी तक एक ही संस्कृति का विस्तार था—वही धर्म, वही आहार-

व्यवहार, वही जीवन। छोटी-छोटी बातों में प्रान्तीयता मौजूद थी, कोई धोती-कुरता पहनता था, कोई कुरता-पाजामा, कोई बड़ी-सी चोटी रखता था, कोई बहुत छोटी-सी ; मूल तत्वों में कोई अन्तर न था ; परन्तु राजे सैकड़ों-हज़ारों थे, उनमें बराबर लड़ाइयाँ होती रहती थीं। उनके स्वार्थ अलग थे। वर्तमान राष्ट्र का विकास न हुआ था। संस्कृति तो आज भी योरोप और अमेरिका की एक ही है ; लेकिन वहाँ बीसों ही राष्ट्र हैं, उनमें भी आपस में लड़ाइयाँ होती हैं, एक दूसरे को शंका और अविश्वास की आँखों से देखता है। एक-दूसरे को निगल जाने के लिए तैयार बैठा हुआ है। वर्तमान राष्ट्र योरोप की इजाद है और राष्ट्रवाद वर्तमान युग का शाप। पृथ्वी को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभक्त करके उनमें कुछ ऐसी प्रतियोगिता, ऐसी स्पर्द्धा भर दी गयी है, कि आज प्रत्येक राष्ट्र की यही कामना है, कि संसार की सारी विभूतियों पर उसी का अधिकार रहे, वही संसार में फलने-फूलने के योग्य है और किसी राष्ट्र को जीवित रहने का अधिकार नहीं है। एक-दूसरे से इतना सशंक है, कि जब तक अपने को फौलाद से मढ़ न ले, जब तक अपने को गोले-बारूद के अन्दर बन्द न कर ले, उसे सन्तोष नहीं। सब समझते हैं, कि सैनिक व्यय उन्हें मारे डालता है, सब चाहते हैं, कि इस शंकामय प्रवृत्ति का अन्त कर दिया जाय। बार-बार इसका उद्योग होता है, सम्मेलन होते हैं ; लेकिन सभी चेष्टाएँ निष्फल हो जाती हैं। जब दिलों में सफ़ाई नहीं है, तो सम्मेलनों से क्या होता है। वहाँ भी हरेक इसी फ़िक्र में रहता है, कि नयी-नयी युक्तियों से दूसरे राष्ट्रों को तो निरस्त्र करा दे ; पर आप अक्षुण्ण बना बैठा रहे। इसी राष्ट्रवाद ने साम्राज्यवाद, व्यवसायवाद आदि को जन्म देकर संसार में तहलका मचा रक्खा है। व्यापारिक प्रभुत्व के लिए महान युद्ध होते हैं, कपट-नीति चली जाती है, एक दूसरे की आँखों में धूल झोंकी जाती है। निर्बल राष्ट्र को उभरने नहीं दिया जाता। इसी राष्ट्र-वाद का फल है, कि कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे विस्तृत भूखंडों में—जो भारतवर्ष के बराबर की आबादी को आश्रय देने की सामर्थ रखते हैं—थोड़े से आदमियों ने एक राष्ट्र बना कर अपना एकाधिकार जमा लिया है और किसी एशिया-निवासी को उसके अन्दर नहीं जाने देते, हालाँकि यदि अन्य निर्बल देश उसके साथ यही व्यवहार करें तो वे उससे लड़ने पर तैयार हो जायँगे। अब यह प्रतियोगिता इतनी संक्रामक हो गयी है, कि हरेक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के माल को अपने मुल्क में आने से रोकने के लिए बड़े-बड़े कर लगाने का आयोजन कर रहा है। यह सारे अनर्थ इसीलिए हो रहे हैं, कि धन और भूमि की तृष्णा ने राष्ट्रों को चक्षुहीन-सा कर दिया है। पूर्व ऐतिहासिक काल में एक समय अवश्य ही ऐसा था, जब मानव-जाति किसी एक ही स्थान पर रहती थी। वह साइबेरिया था, या तिब्बत या भारत, इसके विषय में अभी तक मतभेद है ; पर राष्ट्रों की भाषा, नीति, रस्मोरिवाज, आदि में ऐसे कितने ही प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह धारणा पुष्ट हो जाती है। ज्यों-ज्यों जन-संख्या बढ़ती गयी, लोग भिन्न-भिन्न प्रान्तों

की ओर फैलते गये। जिसे जहाँ जलवायु अनुकूल मिला, वहीं वह आबाद हो गया। फिर शनैः-शनैः उन संस्कारों और संस्थाओं का विकास हुआ, जो किसी न किसी रूप में आज तक विद्यमान हैं। जलवायु और प्राकृतिक प्रभावों के कारण भिन्न-भिन्न प्रांतों के निवासियों की भाषा, आकृति, परिधान, यहाँ तक कि स्वभाव में भी परिवर्तन होते गये। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का विकास हुआ। संभव है, कुछ दिनों भिन्न-भिन्न प्रान्त-वालों में मेल रहा हो; पर ज्यों-ज्यों उनके पारस्परिक स्वार्थों में संघर्ष हुआ, उनमें वैमनस्य हुआ और एक दूसरे के आक्रमणों से बचने का प्रयत्न होने लगा। इस संघर्ष ने राष्ट्रों की सृष्टि की; अतएव वर्तमान राष्ट्र उसी युग के चिन्ह हैं और अभी तक उनमें यही प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं। प्राणी-मात्र को भाई समझनेवाला ऊँचा और पवित्र आदर्श इस राष्ट्रवाद के हाथों ऐसा कुचला गया कि अब उसका कहीं चिन्ह भी नहीं रहा और वह मानव-जाति का केवल अलभ्य आदर्श होकर रह गया है। इस युग में जीवित रहने के लिए राष्ट्रों का संगठित होना अनिवार्य-सा हो गया है; अन्यथा असंगठित प्राणि-समूहों का इस राष्ट्रीयता के युग में कहीं पता भी न लगेगा। हाँ, हमें इस शाप को मंगल-रूप में लाना पड़ेगा, इस विष को रस बनाना पड़ेगा। इस संघर्ष का मूल आज का घोर अनात्मवाद है। ईश्वर का संसार से बहिष्कार कर दिया गया है। योरप के बाज़े राष्ट्रों ने तो गिरजे और देवालय ढा दिये। नये युग के साथ अनात्मवाद और भी प्रचण्ड रूप में आ खड़ा हुआ है। रूस धर्म को अफ़ीम का नशा कहता है। स्पेन का भी कुछ यही विचार है। दोनों ही ईसाई धर्म के केन्द्र थे; पर दोनों ही देशों में गिरजे तोड़े गये हैं। धर्म-संस्थाओं ने शासक-समुदाय से इस तरह अपने को मिला लिया था और लोकवाद का इतना विरोध किया था और कर रहे हैं कि जनता अब स्वाधीनता की नयी उमंग में धर्म-संस्थाओं को मिटाने पर तुली हुई है। रूस और स्पेन दोनों देशों की यही दशा है। भारत में भी कुछ वही हवा चलती नज़र आती है। नये राष्ट्र बन रहे हैं और राजनीतिक नये सिद्धान्तों पर चल कर वे बलवान और संगठित भी हो जायँगे; लेकिन संसार में उनसे सुख और शान्ति की वृद्धि होगी, इसमें संदेह है। जहाँ शासन-संगठन के विरोध में ज़बान खोलना बड़े से बड़ा अपराध है, जिसकी सज़ा मौत है, वहाँ शान्ति कहाँ। विचारों को शक्ति से कुचल कर बहुत दिनों तक शान्ति की रक्षा नहीं की जा सकती। अनीश्वरता की वृद्धि ने संसार को इस दशा में पहुँचाया है और जब तक उसका प्रभुत्व रहेगा, राज-शास्त्र के नियमों के बदलने से विशेष कल्याण की आशा नहीं। कम से कम वह चिरस्थायी नहीं रह सकती। एक समय भारत में था, जब नृपति भी ऋषियों से काँपते थे। आज वह जमाना है, कि समस्त संसार में पशुबल की प्रधानता है। सुधार भी होते हैं, तो पशुबल से। मनुष्य में धर्म-बुद्धि जैसे रही ही नहीं।

लेकिन इस तिमिराच्छन्न आकाश में अब कहीं-कहीं रजत झालर नज़र आने

लगी है। यह नवयुग की ऊषा का चिन्ह है। दैवगति से वर्तमान संसार-संस्कृति का दीवाला निकल रहा है। साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद की जड़ें तक हिलने लगी हैं। जिस संगठन पर यह संस्कृति ठहरी हुई थी, उस संगठन में कम्पन शुरू हो गया है। मनुष्य ने जिन कृत्रिम साधनों का आविष्कार करके मानवजीवन को कृत्रिम बना दिया था, उनकी कलई खुलने लगी है। स्वार्थ से भरी हुई यह गुटबंदी जिसे आज राष्ट्र कहा जाता है, और जिसने संसार को नरक बना रखा है, अब टूटने लगी है। शासन की शक्ति अब कुबेर के उपासकों के कठोर और निर्मम हाथों से निकल कर उन लोगों के हाथों में आ रही है, जिन्हें राजविस्तार की विशेष कामना न होगी, जो दुर्बलों के रक्त पर चैन करना अपने जीवन का उद्देश्य न समझेंगे, जो सन्तोषप्रद शान्ति के उपासक होंगे। न्याय और धर्म की आवाज़ कुछ-कुछ उठने लगी है। जापान ने पचीस साल पहले मंचूरिया को ले लिया होता, तो कोई मिनकता भी नहीं। आज जापान सारे संसार में बदनाम हो रहा है। प्रायः सभी राष्ट्रों में ऐसे विचारवान पुरुष निकल रहे हैं, जिन्हें वर्तमान संस्कृति में संसार की तबाही के लक्षण दिख रहे हैं और वे एक स्वर से इसके परिष्कार की, और जरूरत पड़े तो, शान्तिमय क्रान्ति की, ज़रूरत समझ रहे हैं, और समझा रहे हैं। न्याय और धर्म की आवाज़ आत्मवाद के जागन के लक्षण हैं, और दुखी भारत की आशा आत्मवाद के विस्तार में ही है। जब भावना व्यापक रूप धारण करेगी, तब तक उस नवयुग के आवाहन के लिए हमें अविश्रान्त उद्योग करना है।

अक्टूबर-नवम्बर, १९३२

ंजाब पुलीस विभाग की रिपोर्ट

पंजाब पुलीस विभाग की रिपोर्ट, अन्य इसी प्रकार की रिपोर्टों की भाँति पुलीस की कारगुजारियों की तारीफ़ से भरी हुई है, पर उसके अन्त में एक ऐसा रिमार्क दिया गया है, जिस पर विचार करने की ज़रूरत है। पुलीस के जनता के सहयोग प्राप्त करने के विषय में कहा गया है—

"इस प्रकार का सहयोग व्यक्तिगत आचरण से सम्बन्ध रखता है। कुछ अफ़सरों को जनता की सहायता और सहयोग प्राप्त करने में बिलकुल कठिनाई नहीं होती और निष्कर्ष यही है कि जहाँ पुलीस मुस्तैद, कुशल और विश्वसनीय है, वहाँ जनता उसकी सहायता करने में आना-कानी नहीं करती।"

जहाँ पुलीस जनता का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकती, वहाँ जनता का उस पर विश्वास नहीं होता। अगर जनता के साथ पुलीस का व्यवहार अच्छा हो तो कोई वजह

नहीं कि वह उसके साथ सहयोग न करे। जब पुलीस के कर्मचारी नवाब बन जाते हैं और जनता पर जा-बेजा सख्ती करने लगते हैं, तभी जनता उनसे विरक्त हो जाती है।

२६ अक्टूबर १९३२

पुलीस-प्रशंसा

प्रयाग के कमिश्नर मि० बाम फ़ोर्ड ने एक जलसे में पुलीस कर्मचारियों की प्रशंसा करते हुए फ़रमाया है—

"मैंने प्रयाग में आपका धैर्य, सद्भाव और पाबंदी बहुत समीप से देखी है, और मेरी इच्छा है कि उन सज्जनों में से भी कुछ लोगों को यह अवसर मिलता, जो समझते हैं कि पुलीस का ओहदा पाते ही आदमी भला आदमी नहीं रह जाता।"

अधिकारियों के मुख से यह पुलीस प्रशंसा कोई नयी बात नहीं। बामफ़ोर्ड साहब की बिदाई का यह जलसा था। पुलीस-कर्मचारियों ही ने यह जलसा किया था। सज्जनता का यही तक़ाजा था कि मेहमान की थोड़ी-सी तारीफ़ भी अवश्य की जाय, लेकिन छोटे-बड़े लाट से लेकर हाकिम ज़िला तक, वाइसराय से लेकर चेम्बर आफ़ कामर्स के सभापति तक, एक भी तो ऐसा नहीं बचा, जिसने पुलीस के सद्व्यवहार और सदाचार की सनद न दी हो। अब तो शायद अपनी तारीफ़ सुनते-सुनते पुलीस का न भरनेवाला पेट भी भर गया होगा।

पर इन एक लाख प्रशंसा पत्रों से कहीं ज्यादा क़ीमती और विश्वास पैदा करनेवाला वह सर्टीफिकेट होता, जो किसी ग़रीब भारतवासी के मुख से निकलता। पुलीस एक ऐसा पत्र भी पेश कर सकती है? संसार में बुली नाम की एक वस्तु होती है। बुली अपने अफ़सरों की जूतियाँ चाटता है और जिन पर उसे कुछ अख्तियार होता है, उनका खून ही नहीं प्राण तक चूस लेता है। हमारे पुलीसवाले अधिकतर बुली ही होते हैं।

२९ अगस्त १९३२

हवाई जहाज़ से गोलाबारी

वर्तमान युग की वैज्ञानिक लड़ाई समरक्षेत्र में ही आदमियों को मक्खी की तरह मारकर सन्तुष्ट नहीं होती। शत्रु-राष्ट्रों पर हवाई जहाज से गोले बरसाने में भी

उसे संकोच नहीं है। कुछ परवा नहीं मासूम बच्चों और अबला स्त्रियों पर गोले गिरें। उस राष्ट्र का सफाया कर दो, जिसके योद्धा मैदान में आते हैं। जब राष्ट्र ही न रहेगा, तो सिपाही कहाँ से आवेंगे। कितनी पैशाचिक मनोवृत्ति है! मज़ा यह है कि सभी देशों के युद्ध-नेता इसकी भंयकरता और अमानुषिकता को स्वीकार करते हैं, पर कोई इसे रोक नहीं सकता। मि० बाल्डविन ने निःशस्त्रीकरण पर भाषण करते हुए इस नीति की निन्दा की थी, लेकिन फिर भी उसका व्यवहार बराबर हो रहा है और अंग्रेज सेना इराक़ में ऐसे हत्याकांड कर रही है कि उसी फ़ौज के एक पुराने अफसर ने उन विधानों पर प्रकाश डाला है, जो बादशाह फेसूल की सत्ता की रक्षा करने के लिए इराक़ में किये जा रहे हैं। और यह कृत्य गत दस साल से बराबर जारी है। कितने गाँवों का सत्यानाश हुआ, कितने जानवरों का बध हुआ, कितनी औरतों और बच्चों के प्राण गये और कितने अंग-भंग हो गये, इसका कौन अनुमान कर सकता है। मगर यह नयी सभ्यता का युग है। पराधीन राष्ट्रों के साथ किसी नीति का व्यवहार करने की जरूरत नहीं। अगर वे दुराग्रह करते हैं और साथ अपने प्रभुओं के तलवे नहीं सहलाते, तो उनको इसका मज़ा चखना पड़ेगा!

२६ अक्टूबर १९३२

बेगम आलम की ओजस्विनी अपील

पंजाब के प्रमुख नेता डा० मुहम्मद आलम की बेगम साहिबा ने अपने पति की बीमारी के विषय में जो भावपूर्ण वक्तव्य प्रकाशित कराया है, वह हमें स्वर्गीया बी अम्माँ के उन शब्दों की याद दिलाता है, जो उन्होंने अपने पुत्रों के विषय में कहे थे। अफ़वाह थी कि अली भाइयों ने सरकार से किसी प्रकार का समझौता कर लिया है और इस समझौते के आधार पर दोनों भाई मुक्त कर दिये जायँगे। बी अम्माँ ने यह अफवाह सुनकर कहा था—"यदि मेरे बेटों ने आत्म-सम्मान के विरुद्ध कोई फैसला किया है, तो खुदा मेरे इन कमज़ोर हाथों में इतना बल दे कि मैं उनका गला दबा दूँ।" उतने ही जोशीले शब्द बेगम आलम के हैं। इधर जेल में डा० आलम की हालत नाज़ुक हो गयी है। सरकार ने बेगम आलम को अपने पति की सेवा-शुश्रूषा करने की सुविधा दे दी है। जनता में इस ख़बर से ऐसी हलचल पड़ गयी कि सरकार से डा० आलम को छोड़ देने की अपील की जाने लगी। बेगम साहबा ने इस आन्दोलन का इन शब्दों में विरोध किया है—

"आजकल मुझे अपने पति की सेवा करने की इजाजत दी गयी है और उनकी

इस हालत की सारी बातें बताने को मैं तैयार नहीं हूँ, क्योंकि यह नैतिक विश्वासघात समझा जा सकता है, पर मैं राष्ट्र से पूछती हूँ, ऐसा मुतालबा क्यों करते हो, जिससे मुझे अपने नीमजान पति को वापस लेना पड़े और उन नतीजों की जिम्मेदारी उठानी पड़े, जो उनकी मौजूदा हालत से पैदा हो सकते हैं। क्या सरकार पर सारी जिम्मेदारी डाल देना इससे बेहतर न होगा ? उनकी हालत नाजुक है या नहीं, इस विषय में मैं कुछ कहना नहीं चाहती। पर हमें चाहिए कि उन्हें वीरों की मौत मरने दें, अगर खुदा न खास्ता यही नौबत आये। राष्ट्र के हित के सामने व्यक्तियां का कुछ मूल्य नहीं। कौम की भलाई के लिए ऐसे कितने ही आलम कुर्बान किये जा सकते हैं। मैं आशा, प्रार्थना और विश्वास करती हूँ कि मेरे पति को सेहत हो जायगी, पर अपमानित होकर जीवित रहने के बदले उनका इज्जत के साथ मर जाना मैं ज्यादा पसन्द करती हूँ।"

२६ अक्टूबर १६४२

आर्डिनेन्स की अवधि

इलाहाबाद में प्रकाशित होनेवाले अंग्रेजी पत्र "पायोनियर" ने अपने एक अग्रलेख में, भिन्न प्रान्तीय सरकारों के इस प्रयत्न की प्रशंसा की है कि "आर्डिनेन्स कानूनों को स्थायी रूप देने के लिए भारतीय दंड-विधान में ही शामिल किया जा रहा है और शीघ्र ही आर्डिनेन्स अधिक दृढ़ रूप में कानून का रूप धारण कर लेंगे। पत्र की राय में आर्डिनेन्सों का तो अन्त हो जाना चाहिए, क्योंकि [आर्डिनेन्स-शासन अनुचित है, पर अमन और अमन की रक्षा के लिए] आर्डिनेन्स की धाराओं का रहना जरूरी है। आगे चलकर, पत्र यह भी लिखता है कि आर्डिनेन्स से देश में व्याप्त अराजकता कम नहीं हुई है। प्रत्येक व्यक्ति यदि ईमानदारी से अपनी राय ज़ाहिर करे, तो वह ज़रूर ऐसे कानूनों का समर्थन करेगा, जिनसे अराजकता दूर हो।

अंग्रेज़ लेखकों और सम्पादकों के क़लम से निकली चीज़ बड़ी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है। सम्भव है, वे होती भी हों, पर इस लेख की तर्क प्रणाली देखकर, मनोविज्ञान तथा साधारण ज्ञान की बातों का भी इसमें अभाव पाकर हमें आश्चर्य होता है। दूसरी बार परिचालित आर्डिनेन्सों का जीवन-काल इसी दिसम्बर को समाप्त हो जाता है। विगत जनवरी महीने की शुरू साल की जो पहली भेंट भारतीय स्वाधीनता तथा संरक्षा के हिमायतियों ने दी थी, वह बड़े दिन के हिम-पात में विलीन हो जावेगी। पार्लमेंट ने वाइसराय को जिस सीमा तक अधिकार दिया था, उनके उपयोग की इतिश्री हो चुकने के उपरान्त अब भारतीय कौंसिलों की शरण लेनी पड़ी है और

इसीलिए आर्डिनेन्सों के लिए नैतिक समर्थन तथा सच्ची नीयत से समर्थन की ज़रूरत महसूस हो रही है।

आर्डिनेन्सों का उद्देश्य क्या है? दमन! भारत में जो अराजकता बढ़ती पर समझी जाती है, उसकी चाल को रोक देना! आर्डिनेन्स के इस युग में अपनी ओर से कुछ विशेष न कहकर, हम पायोनियर के ही शब्दों में कह देना चाहते हैं कि अभी तक आर्डिनेन्स इस अराजकता की बाढ़ को नहीं रोक सके हैं। जब वे अपने कार्य में शुरू १२ महीने में सफल नहीं हो सके, तो एक-दो या तीन साल के लिए उन्हें क़ानून का रूप देने से क्या लाभ होगा! यह किस तर्क या मनोविज्ञान से सिद्ध हो गया कि केवल क़ानून का रूप दे देने से—जो रूप चाहे कितना भी उग्र किया जावे, अपने पूर्ववर्ती के समान परिपक्व नहीं हो सकता—भारतीय अराजकता की प्रगति को रोक देगा! यदि क़ानून की एक ऐसी धारा है, जो अराजकता की कल्पना को भी डुबा सकती है, यदि ऐसा कोई उपाय है, जो नवयुवकों की क्रियाशक्ति को किसी अच्छे काम की ओर बहा ले जा सकती है, तो उसकी धारा कोई दूसरी ही है, उसका कोई दूसरा ही रूप है और पायोनियर-ऐसे पत्रों को असली सलाह देकर ही सरकार का कल्याण करना चाहिए, अन्यथा, ऐसी ही सलाहों से सरकार को धोखे की टट्टी में खड़ा कराया जा रहा है और सरकार भी अपने सच्चे हितैषियों को नहीं पहचान रही है।

३१ अक्टूबर १९३२

पूना का ईसाई-सम्मेलन

इस सप्ताह में वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति और साम्प्रदायिक बँटवारे पर विचार करने के लिए पूना में ईसाई-सम्मेलन हुआ। इसमें हरेक प्रांत के गण्यमान्य ईसाई महानुभाव एकत्र हुए थे। हर्ष और सन्तोष की बात है कि, उन्होंने बहुमत से सम्मिलित निर्वाचन का ही समर्थन किया। हाँ, ईसाइयों के लिए स्थान स्वरक्षित कराने पर ज़ोर दिया। इस तरह अल्पमतवालों का जो एक संघ गोलमेज परिषद् के अवसर पर बनाया गया था उसके चार पहियों में से एक पहिया और टूट गया। हरिजन तो पहले ही सलाम करके पृथक् हो गये थे। मुसलमानों ने भी संयुक्त निर्वाचन को स्वीकार कर लिया। ईसाई भी संघ से निकल गये। अब केवल ऐंग्लो-इंडियन रह गये हैं। उन्हें भी अब जनमत के आगे सिर झुकाने के सिवा कोई चारा नहीं।

७ नवम्बर १९३२

प्रांतीय कौंसिलों में दूसरा मेम्बर

इंगलैंड की शासन-व्यवस्था में दो हाऊस हैं । एक साधारण, जिसे हाऊस आफ कामन्स कहते हैं, और दूसरा विशेष जिसे हाऊस आफ़ लार्डस कहते हैं । कामन्स में तो जनता-द्वारा चुने हुए मेम्बर बैठते हैं । लार्ड में खानदानी रईसों का स्थान है । चूँकि पहले राज्य का अधिकार सोलहों आना अमीरों के हाथ में था और ज्यों-ज्यों जनता में राजनैतिक ज्ञान की वृद्धि होती है, वह उन अधिकारों को रईसों के हाथों से छीनकर अपने हाथ में रखना चाहती है, इसलिए यह दोनों संस्थाएँ बराबर एक दूसरे से लड़ती रहती हैं । वास्तव में इंगलैंड का गत दस शताब्दियों का राजनैतिक इतिहास इस द्वन्द्व के सिवा और कुछ नहीं है । जनता के क्रमिक विकास में सबसे बड़ी बाधा यही अमीरों की संस्था रही है । कोई नया बिल उस वक्त तक कानून नहीं बनता, जब तक लार्ड उसे स्वीकार न कर लें, यद्यपि जनसत्तावाद ने उनके अधिकारों के पर काट दिये हैं. फिर भी वह जब अवसर पाते हैं, रोड़े अटकाते जाते हैं । अब इस प्रान्त में भी ऐसी ही अमीरों की संस्था कायम करने का प्रस्ताव किया जा रहा है । उसमें हमारे राजे, ताल्लुकेदार और नवाब आदि होंगे । अभी तक तो उनकी रक्षा सरकार करती थी । जनता परिश्रम करती थी, वे उसका फल खाते थे । आनेवाली व्यवस्था में जनसत्ता की प्रधानता होने की संभावना है, इसलिए यह वर्ग इस दूसरी संस्था-द्वारा जनता के विकास में बाधा खड़ी करने की चेष्टा कर रहा है । जनता का विश्वास उन पर नहीं है । और जनता-द्वारा उनका चुना जाना असंभव-सा ही है । ऐसी अवस्था में वे अपनी रक्षा के लिए कोई मार्ग ढूँढ़ रहे हैं । अगर दूसरा मेम्बर स्थापित हो गया, तो उनकी कामना पूरी हो जायगी और वे ऐसे कानूनों का विरोध कर सकेंगे, जिनसे उनके स्वार्थ या अधिकार को धक्का लगता हो, मगर इस युग में अब स्वरक्षित स्थानों की गुंजाइश नहीं है । हमारे रईसों को समझ लेना चाहिए कि वे जनता के सेवक बनकर ही रह सकते हैं । स्वामी बनकर नहीं । हवा के साथ चलकर संभव है, उनकी नाव किनारे पर पहुँच जाय । हवा के विरुद्ध चलकर वह बीच ही में रह जायगी । अगर हमारे ज़मींदार और ताल्लुकेदार अपने भविष्य को संकट में नहीं डालना चाहते, तो उन्हें सेवा-भाव से जनता में रहना होगा । जनता के दुःख-सुख में शरीक होकर, उनकी कठिनाइयों को दूर करने में सहायक बनकर, उनकी सुविधाओं को बढ़ाकर वे अब भी उनके आदर और भक्ति के पात्र बने रह सकते हैं । उन्हें कुचलकर और अपने स्वार्थ का केवल यंत्र बनाकर अब वे सुख से नहीं सो सकते ।

१४ नवम्बर १९३२

महात्माजी की स्वाधीनता

पिछले अंक में हमने पाठकों की ओर से ब्रिटिश सरकार को यह धन्यवाद दिया था कि उसने महात्माजी पर से इतनी बाधाएँ उठा ली हैं कि वे अछूतोद्धार का कार्य कर सकते हैं, किन्तु इसके साथ ही, हमें यह देखकर खेद हो रहा है कि सरकार महात्माजी को एक अत्यन्त गम्भीर तथा गुरुतर कार्य करने की आज्ञा देती हुई उसी के समान महत्त्वपूर्ण अन्य कार्य भी नहीं करने देती। एसेम्बली की बैठक में, गत १५ नवम्बर को, श्री गयाप्रसाद सिंह ने होम मेम्बर मि० हेग से इस विषय में जो प्रश्नोत्तर किये थे, उससे यही प्रतीत होता है कि सरकार इस प्रश्न को केवल टाल देना चाहती है। आखिर क्या कारण है कि अछूतों को हिन्दुओं से एक करना राजनीतिक कार्य नहीं समझा जाता पर मुसलमानों को हिन्दुओं से एक करना राजनीतिक कार्य समझा जाता है और सरकार महात्माजी को इस बात के लिए अवसर नहीं देना चाहती। मान लिया जावे, कि उसे यह भय हो कि एकता के बहाने महात्माजी सत्याग्रह के समर्थकों से भी मिल कर काँग्रेस-कार्य कर सकते हैं, पर उन्हें सत्याग्रह के शत्रु मौलाना शौकतअली से भी न मिलने देना, क्या अर्थ रखता है? इसी से लोगों को सुबहा होता है, कि सरकार मुसलमानों को अपना ही समझती है और इसीलिए वह मुसलमानों को हिन्दुओं से नहीं मिलने देना चाहती, पर हिन्दू-मुसलिम ऐक्य को वह एक भयंकर राजनैतिक ऐक्य का प्रारम्भ समझकर उससे बेहद घबड़ाती है। जो भी हो, पर इस ऐक्य से इतना अधिक लाभ है, कि उसका महत्त्व वर्णन नहीं किया जा सकता और सरकार यह बड़े भारी परोपकार का कार्य करती, यदि वह महात्माजी को ऐक्य-प्रतिपादन में सहायक होने देती।

मि० हेग ने इस विषय में सरकार की ओर से जितनी बातें कही हैं, उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है, जिससे हमें उनके तर्क का तात्पर्य समझ में आ सके। मि० हेग का यह कहना कि अब तो सिन्ध का समझौता हो जाने के बाद मि० गान्धी की कोई ज़रूरत ही नहीं है, एक प्रकार से प्रयाग के एकता-सम्मेलन की खिल्ली उड़ाना है। श्री नवलराय के यह पूछने पर कि क्या सरकार महात्माजी को हिन्दू मुसलिम समझौता हो जाने पर भी, उसमें भाग न लेने देगी, मि० हेग ने कहा था कि "सम्मानित सदस्य को यह याद रखना चाहिए कि वे राजनैतिक-क़ैदी हैं।" इस उत्तर से यह स्पष्ट है कि सरकार राजनैतिक-क़ैदी की अपनी मनमानी व्याख्या भी करती है—महात्माजी ऐसे राजनैतिक क़ैदी हैं, जिन्हें कोई भी हक़ सरकार दे सकती है। ऐसी परिस्थिति में, हमें यह देखकर बड़ा खेद होता है कि जहाँ अपने एक कार्य से सरकार प्रजा की प्रशंसा की पात्र बन जाती है, वहीं वह किसी अनुचित कार्य-द्वारा उतनी ही निन्दा भी प्राप्त करती है।

२१ नवम्बर १९३२

बर्मा में राष्ट्रीयता का विजय

भारत का इक़बाल इस समय ज़ोरों पर है। पूना और प्रयाग में उसने भेद-भाव और साम्प्रदायिकता को नीचा दिखाने के बाद बर्मा में भी उतने ही मारके की विजय प्राप्त की। बर्मा को भारत से प्रथक् करने का एक प्रकार से निश्चय हो चुका था। प्रधानमंत्री ने इसकी घोषणा कर दी थी, लेकिन दैवयोग से अभी हाल में वहाँ आम चुनाव हुआ। चुनाव का आधार यही समस्या थी। पृथकतावादी और ऐक्यवादी दलों में मुकाबला हुआ और अंत में ऐक्यवादियों की विजय हुई। इसने इंगलैंड में हल-चल पैदा कर दी है। वहाँ तो दुनिया को यह दिखाया गया था कि बर्मा की जनता खुद भारत से पृथक् रहना चाहती है। पिछली दोनों गोलमेज़ों में बर्मा के जो प्रतिनिधि सरकार ने चुने थे, वह पृथकवादी दल के ही थे। संसार ने समझा होगा बर्मा को भारतवाले किसी स्वार्थवश ज़बरदस्ती अपनी ओर खींच रहे हैं, हालाँकि वे उससे मिलना नहीं चाहते। लेकिन चुनाव के इस निर्णय ने सिद्ध कर दिया कि बर्मा हिन्दुस्तान से मिलने को उत्सुक है, और उससे पृथक् होना स्वीकार न करेगा। अब इस निर्णय में तरह-तरह के अर्थ लगाये जा रहे हैं और दुनिया को दिखाया जा रहा है कि ऐक्यवादियों ने धोखे-धड़ी से काम लेकर फतह हासिल कर ली। देखा चाहिए, बर्मा के प्रतिनिधि अब गोलमेज़ में क्या कहते हैं।

२८ नवम्बर १९३२

राष्ट्र संघ पर डा० परांजपे का भाषण

लखनऊ विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर डा० आर० पी० परांजपे ने इलाहाबाद युनिवर्सिटी के पोलिटीकल क्लब में "राष्ट्र-संघ" पर भाषण देते हुए उसके सामाजिक और वैज्ञानिक विभागों पर अच्छा प्रकाश डाला। लेकिन आश्चर्य है, कि संघ पर भारत के ६-७ लाख रुपये तो खर्च होते हैं, पर संघ के स्थाई मंडल में उसका कोई स्थान नहीं है। उस स्थायी मंडल में इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली और जापान ये पाँच राष्ट्र हैं। इनमें केवल इंग्लैंड और फ्रांस का चंदा भारत से अधिक है। जर्मनी, इटली और जापान भारत के बराबर रुपये नहीं खर्च करते। पर उन्हें स्थायी मंडल में स्थान मिला हुआ है। ऐसी दशा में हम नहीं समझते भारत से इतने रुपये क्यों लिये जाते हैं। क्या इसीलिए कि इस विषय में भारत की कोई आवाज़ नहीं है ?

इस भाषण से हमें ज्ञात होता है, कि चाहे राजनैतिक समस्याओं के हल करने में

संघ को अभी मनोनीत सफलता न मिली हो, और मंचूरिया के विषय में उसका मौन धारण कर लेना उसके प्रभाव के लिए घातक है, फिर भी उसने कई महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के हल करने में अच्छी सफलता प्राप्त की है। गोरी स्त्रियों का वेश्यावृत्ति के लिए गुप्त रूप से जो व्यापार योरोप में जारी था, अफीम, कोकेन आदि जहरीली चीजों का जो धड़ल्ले से प्रचार हो रहा था, इन दोनों निषिद्ध व्यापारों को बंद कराने में संघ ने जो तत्परता दिखायी है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। दर्शन, साहित्य और विज्ञान के क्षेत्र में भी संघ ने भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को समीप लाने का उद्योग किया है और कर रही है। भविष्य में उसके द्वारा एक सार्वदेशिक संस्कृति के समन्वय होने की आशा की जा सकती है।

दिसम्बर १९३२

आर्डिनेंस बिल पास

एसेम्बली में आर्डिनेंस बिल पास हो गया और धूम से पास हो गया। पक्ष में ५६ रायें थीं, विपक्ष में केवल ३१। हम सरकार को और उन ५६ मेम्बरों को इस शानदार फ़तह पर बधाई देते हैं। अब कौन कह सकता है, कि देश इस बिल के पक्ष में नहीं है? और अगर किसी को यह कहने का दुस्साहस हो भी, तो कौन उसका विश्वास करेगा?

१२ दिसम्बर १९३२

इंग्लैंड का विश्वासी पुलीसमैन

इंडिया लीग डेपुटेशन ने लंदन पहुँच कर भारतीय परिस्थिति पर अपनी राय पहले ही प्रकाशित कर दी है। हाल में उसके एक मेम्बर मि० लियोनार्ड मैटर्स ने कहा है—

"भारत में प्रत्येक व्यक्ति काँग्रेसी मनोवृत्ति का है। इस समय भारत में सभी अंग्रेज स्त्री-पुरुषों का जीवन महात्मा गाँधी के हाथ में है और उन्हें बजातौर पर भारत में इंगलैंड का सबसे अच्छा पुलीसमैन कहा जा सकता है।"

ऊपर के शब्दों की टीका करने की हम कोई ज़रूरत नहीं समझते। इनमें रत्ती-भर भी अतिशयोक्ति नहीं है।

१२ दिसम्बर १९३२

बंगाल में आतंकवाद

बंगाल कौंसिल में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए होम मेम्बर ने क्रान्तिकारियों के अपराधों की जो लम्बी सूची दी, वह बहुत ही निराशाजनक है। इस एक वर्ष में केवल बंगाल में ऐसे १४६ कांड हुए। इनमें ढाका और मैमनसिंह जिलों में आतंकवादियों ने विशेष रूप से अपना ज़ोर दिखाया। इसका नतीजा इसके सिवा और क्या हो सकता था कि सरकार की दमन नीति और कठोर हो गयी। आतंकवादियों की समझ में कब यह बात आयेगी कि इन अपराधों से वे केवल राष्ट्र की उन्नति में बाधक हो रहे हैं। अगर उनमें देश और राष्ट्र के प्रति प्रेम है तो उनके लिए सेवा का मैदान खुला हुआ है। देश में सेवकों का अभाव है और ऐसे कितने ही तरीक़े हैं जिनसे वे देश का आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उपकार कर सकते हैं। इन हत्याकारी अपराधों से वे केवल अपना सर्वनाश नहीं करते, देश की उन्नति में भी बाधक होते हैं।

१९ दिसम्बर १९३२

गोलमेज़ में क्या हो रहा है

जिन लोगों को गोलमेज़ में केन्द्रीय उत्तरदायित्व का दरिया लहरें मारता नज़र आ रहा था, उन्हें लार्ड इर्विन की वक्तृता ने निराश कर दिया होगा, उन्हें अब मालूम हो गया होगा, कि जिसे वे ठण्डे-मीठे पानी का दरिया समझे बैठे थे, वह वास्तव में मृग-तृष्णा मात्र है। वाइसराय के अधिकार ज्यों के त्यों रहेंगे। फ़ौज और माल दोनों ही पर शासन का संरक्षण रहेगा। फ़ौज का खर्च भी साबिक दस्तूर रहेगा। वाइसराय इसी तरह आर्डिनेन्स भी बनाते रहेंगे। यही वह स्वराज्य है, जिसकी तीन साल से धूम मची हुई है? उसकी तो कलई खुल गयी! अब देखना चाहिए, प्रान्तीय स्वायत्त शासन की क्या गति होती है। फिर अभी तो फ़ेडरेशन तो बैठा ही हुआ है।

१२ दिसम्बर १९३२

लंदन में क्या होगा?

जहाँ दो बर्तन रक्खे रहेंगे वहाँ कुछ शोर होगा ही। ज़रा-सी हवा की ठेस से दो बर्तनों का आपस में लड़ पड़ना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि उनके खाली

होने पर तीव्र झनझनाहट का पैदा हो जाना। यदि बर्तनों में इतना काफी सामान रख दिया जावे कि ज़रा-सी हवा उनको हिला-डुला न सके तो आवाज़ का होना उसी प्रकार रुक जावेगा जिस प्रकार उनका टकराना। ठीक यही दशा भारत में हिन्दू और मुसलमानों की भी है। विदेशी शासन के कारण पेट में चारा तो है ही नहीं, सौ में पचहत्तर फी सदी को दोनों वक़्त भर पेट भोजन नहीं मिलता। इसीलिए, उनमें गंभीरता, सहिष्णुता-सन्तोष का अभाव हो गया है। लूट-खसोट, जुआ-चोरी या एक दूसरे के टुकड़े को छीन लेने की नीयत पैदा हो गयी है, और वे आये दिन आपस में लड़ने पर उतारू हो जाते हैं। विरोध की ज़रा-सी हवा से बर्तन झनझना उठते हैं। उनके विरोध से उत्पन्न शोर इतना तीव्र मालूम होता है कि लन्दन तथा उसके मुहल्ले डाउनिंग स्ट्रीट में बैठे हमारे शासक यह समझते हैं, कि इन दो को एक स्थान पर रखा ही नहीं जा सकता। ज़रूरत यह है कि हर वक़्त एक आदमी दोनों बर्तनों के बीच में खड़ा रहे।

किन्तु हमारे लड़ने से जो इतना ऊब गये हैं, जो हमारी लड़ाई को वाक़ई रोकना चाहते हैं, क्या कभी उन्होंने हमारे विरोध के कारणों की भी जाँच की है? क्या उन्हें कभी यह भी मालूम हो गया है, कि हमारी लड़ाई की सतह में हमारी दरिद्रता का करुण-क्रन्दन, हमारे रोग-शोक-सन्ताप का वीभत्स चीत्कार छिपा हुआ है। क्या कभी यह भी सोचा गया है, कि काश मुसलिम-व्यापार उन्नति पर होता, काश हिन्दू किसान खुशहाल होता और काश दोनों को अपनी मुसीबतों को अपने आप दूर कर देने का हक़ हासिल होता। आज मुसलमानों की नंगी ग़रीबी कौन नहीं जानता। घर में मिट्टी के बर्तनों और तन पर मखमल का कोट पहने हुए मुसलमान बड़ी आज़ादी से मारकाट पर उतारू हो जाता है। अगर कोई उसका घर भी लूट ले, तो उसका क्या जावेगा, पर, जहाँ मुसलमान अमीर हैं, वहाँ बिरले ही झगड़ा होते सुना गया है। जबलपुर में ज्यादातर व्यापार मुसलमानों के हाथ में है। वहाँ दंगा हुआ भी तो पचास साल में एक बार!

इसलिए हम तो हिन्दू-मुसलिम विरोध को दो भिखारियों का एक रोटी के टुकड़े के लिए कलह मानते हैं। हमें तो इसमें कोई तथ्य ही नहीं दीखता, कि दोनों को हमेशा लड़ाई से बचाने को एक तीसरे की जरूरत है। ज़रूरत है, पर वह रोटी की और रोटी के लिए तभी उम्मेद की जा सकती है जब अपनी हुकूमत अपने हाथ में हो, अपना व्यापार अपने हाथ में हो, अपना पैसा अपने हाथ से खर्च हो और हम खुद अपने ऊपर सरगना हों। गोलमेज़सम्मेलन की बैठकें लगातार फिर हो रही हैं। इस बार पिछली बार की तरह कोई धूमधाम नहीं है, कोई हलचल नहीं है, गान्धीजी के समान कोई व्यक्तित्व नहीं है—पर इस बार सम्मेलन के सामने वह चीज़ है जो उसके सामने पिछली बार न थी। वह है हिन्दू मुसलमानों का प्रयाग का समझौता। इस समझौते की, इससे बढ़कर विजय और क्या हो सकती है, जब मौलाना शौकतअली ने लण्डन पहुँचते ही कह दिया कि अब हिन्दू और मुसलमानों में एका हो गया। अब ज़रूरत है इस बात की कि प्रयाग

के समझौते को तुरंत मान लिया जावे।" यहाँ भारत में भी श्री राजगोपालाचारी, तथा श्री राजेन्द्र प्रसाद ऐसे माननीय कांग्रेसी नेताओं ने, मौलाना अब्दुलमजीद, मौलाना अब्बुल कलाम आज़ाद ऐसे नर्म-गर्म दोनों-पक्ष के मुसलिम नेताओं ने मुसलमानों से और हिन्दुओं से अपील की है, कि वे तुरन्त इस समझौते को अपना लेवें। हमें हर्ष है कि डा० मुन्जे ऐसे हिन्दू नेताओं ने, जो इसके पक्ष में नहीं हैं, हमारा विरोध कर प्रगति को रोकने में बाधा नहीं पहुँचाई है। फिर इस समझौते का विरोधी कौन है—नहीं, जिनके विषय में मौलाना शौकतअली ने अभी लन्दन में कहा है कि "वे भारत के नकली नेता हैं।"

इतना होते हुए भी फ्री प्रेस के संवाददाता का लंदन से तार है कि इस बार समझौता हो जाना विशेष कठिन नहीं है, पर हिन्दू-मुसलिम समस्या को बहुत बढ़ाकर कहा जा रहा है। रायटर का ही भेजा हुआ तार है कि "एक भारतीय गोलमेज़ी सदस्य का वचन है कि हिन्दू-मुसलिम समस्या को बहुत ही तूल दिया जा रहा है।" तूल देने की जो बात थी वह हम ऊपर लिख चुके हैं। यदि हमारी ग़रीबी को तूल देकर बतलाया जाता तो हम भी कृतज्ञ होते। हमारे विरोध का यदि वाकई में असली कारण बतलाया जाता तो हम भी कृतज्ञ होते। अगर वह झूठी बातों को तूल दे रहे हैं, चाहे हिन्दू या मुसलिम या योरोपीय नेता ही क्यों न हो—तो हम तो यही कहेंगे कि जिस प्रकार प्रयाग के समझौते के विषय में मौलाना शौकतअली भारत में "नकली" नेताओं से डर रहे हैं, उसी प्रकार हमें भी लन्दन में गये हुए भारत के नकली नेताओं से डर है। यदि इन लोगों ने हमारे ऐक्य को डंकों की चोट वहाँ ऐलान न कर, हमारे विरोध के असली कारण को दूर न करा दिया तो हम यही कहेंगे कि आगे एक आने वाली पीढ़ी उनकी इस प्रत्यक्ष नीचता को स्मरण रखेगी, हमारा ग़रीबी से सूखता हुआ खून उनके पाप के खाते में दर्ज होगा और हमारी तरक्की की कफन में जो कीलें ठुक जावेंगी, उसकी सारी जिम्मेदारी इन लोगों पर होगी।

भारत तो इस वक़्त कानून के शिकन्जे में कसा हुआ कराह रहा है। चाहे गोलमेज़ के प्रतिनिधियों की देश-सेवा के प्रति उसके हृदय में कितना ही शुबहा क्यों न हो, वह तो लन्दन की ओर टकटकी लगाये बैठा है और यह उसे उम्मीद है, कि यदि गोलमेज़ विफल भी हो तो कम से कम हिन्दू मुसलिम समझौते के नाम से तो न हो। यदि फिर से और इसी कारण हम विफल हुए तो ज़िम्मेदारी हमारी भी है और ऐसे मेम्बरों को बिना हमसे पूछे, भेजनेवाली सरकार की भी।

१२ दिसम्बर १९३२

गोलमेज़ सभा का विसर्जन

गोलमेज़ की महफ़िल का तीसरा दौर भी ख़तम हो गया, लेकिन साक़ी ने शराब में कुछ ऐसी कारस्तानी की कि न कुछ रंग जमा न सुरूर गठा। शायद ऐसे ही मौक़े के लिए स्वर्गवासी सुरुर ने यह शेर कहा था—

बजाय मय दिया पानी का एक गिलास मुझे।
समझ लिया मेरे साक़ी ने बदहवास मुझे॥

साक़ी ने तैयारियाँ तो ऐसी-ऐसी की थीं कि पीनेवाले शायद समझे थे शैम्पेन न सही, जानी वाकर तो कहीं नहीं गया। बड़े-बड़े ख़ुम मँगवाये थे, जिनकी ख़ुशबू से दिमाग़ ताज़ा हो जाता था। साफ़-सुथरी बोतलों में उनकी लाली देख कर पीनेवालों के मुँह में पानी भर-भर आता था। मैख़ाने के द्वार पर मैकशों की भीड़ लगी हुई थी। लोग बेकरार होकर मिन्नतें कर रहे थे—लिल्लाह! हमें भी अन्दर आने दो। बदमिज़ाज साक़ी बड़ी मुश्किलों से दरवाज़ा खोलता था। पहला दौर चला। लोग मुँह फीका करके एक दूसरे का मुँह देखने लगे मानों कह रहे हों—यार यह तो कुछ समझ में नहीं आती, कुछ फीकी-फीकी-सी है। साक़ी उनका रुख देखकर मुसकराया और बोला—तुम लोग ठर्रा पीनेवाले हो, इसका मज़ा क्या जानो। इसका लुत्फ़ इसके फीकेपन में ही है। फिर दूसरा दौर शुरू हुआ। अबकी दो-एक मैकशों ने साफ़-साफ़ कह दिया—हज़रते साक़ी, यह तो कुछ है नहीं, फीकी-फीकी-सी लगती है। साक़ी ने झिड़का नहीं, त्योरियाँ नहीं बदलीं, सद्भाव से मुसकरा कर बोला—इसके फीकेपन पर न जाओ, यह वह चीज़ है जो अपना सानी नहीं रखती। तीसरा दौर शुरू हुआ, बिलकुल पानी। पहले दोनों दौरों में कुछ गर्मी, कुछ तेज़ी, कुछ तलख़ी थी, इस दौर में तो निखालिस पानी। पीनेवाले हैरान होकर कभी बोतल की ओर देखते हैं, कभी ख़ुम की ओर, कभी साक़ी की ओर और कभी एक दूसरे के मुँह की ओर। अगर यह पानी ही पिलाना था तो यह महफ़िल सजाने की, इस बोतल, ख़ुम, सुराही और प्याले की क्या ज़रुरत थी। मगर पीनेवालों का सरूर गठे या न गठे, यह तो कोई कह ही नहीं सकता कि महफ़िल नहीं जमी, दौर नहीं चले। साक़ी के दाम खड़े हो गये!

गोलमेज़ सभा समाप्त हो गयी। ख़ूब गपशप हुई, एक दूसरे की तारीफ़ें हुईं, यारों ने अपनी-अपनी ज़बान की चुल मिटाई, और अपने घर सिधारे। जहाँ सन् ३० में थे, वहीं आज भी हैं। नहीं, वहाँ से भी पीछे। तब यह आर्डिनेंस न थे, साम्प्रदायिकता की यह प्रधानता न थी, राष्ट्रीयता की विरोधक इतनी व्यवस्थाएँ न थीं। हम आगे बढ़ना चाहते थे। हमें पीछे ढकेल दिया गया। हम राष्ट्र-निर्माण का अधिकार चाहते थे, उस अधिकार को सात तालों के अन्दर बन्द कर दिया गया। आज भारत अपने

शासकों के पाँव के नीचे पड़ा सिसक रहा है, परास्त और पददलित। सायल साखी के द्वार पर भिक्षा माँगने गया था। साखी ने केवल यही नहीं कहा—लौट जाओ। उसने सायल को धक्के देकर निकाल दिया। और उसकी झोली में जो कुछ था उसे भी छीनकर जमीन पर फेंक दिया। वही मसल हुई चौबे जी छब्बे बनने गये थे, दूबे ही रह गये। हमने गोलमेज़ से बहुत बड़ी आशाएँ न बाँधी थीं, लेकिन कुछ न कुछ पाने की आशा अवश्य रखते थे। कम से कम एक चुटकी भर आटा तो मिल ही जायगा। लेकिन वह चुटकी तो न मिली, झोली अलबत्ता छिन गयी।

चलते चलाते हैरान सर सैमुएल होर ने कुछ मीठी-मीठी बातें कीं, लार्ड सैंके ने भी ज़ख्म पर मरहम रक्खा, लेकिन मीठी बातें तो हम बहुत दिनों से सुनते आते हैं। उन बातों का क्रियात्मक रूप कुछ और ही होता है। दुधार गाय दो लात भी मार दे तो उसे हम खुशी से सह लेते हैं, लेकिन उस गाय को कौन पालेगा जो यों तो बड़ी सीधी है, उसकी नाँद में भूसा, खली, दाना डाल जाओ, ज़रा भी नहीं बोलेगी, उसकी पीठ सहलाओ, चुपचाप खड़ी रहेगी, लेकिन तुमने थन में हाथ लगाया कि उसने तानकर लात जमायी।

समस्या थी अधिकार की, माली अधिकार की, फौजी अधिकार की, जिम्मेदार शासन की। यह समस्याएँ एक भी हल नहीं हुईं। हम कुछ नहीं जानते फेडरेशन कब आवेगा, वह किस रूप-रंग का होगा, उसमें रियासतों और अंग्रेजी इलाकों में क्या सम्बन्ध होगा, व्यवस्थापक सभाओं के क्या अधिकार होंगे, वह फ़ौजी खर्च में कुछ कमी-बेशी कर सकेगी, फौज के भारतीयकरण की प्रगति को कुछ तेज़ कर सकेगी! क्या गवर्नर जेनरल और गवर्नरों के अधिकारों को ज्यों का त्यों रहने दिया जायगा? वे अब भी उसी स्वेच्छा से आर्डिनेन्स बनाते रहेंगे? प्रान्तीय स्वराज्य का बड़ा शोर सुन रहे थे। क्या वह भी उसी तरह मिनिस्टरों के अधिकार में होगा जैसे अब है या काउंसिल का उन पर कुछ असर होगा? इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर हमें नहीं मिलता। अगर सारी चीख़-पुकार का नतीजा यही हुआ कि १०० की जगह २३० मेम्बर काउंसिलों में बैठें, तो मुफ्त की जहमत और ख़ामख्वाह शासन का ख़र्च बढ़ाना है। इससे तो यही कहीं अच्छा है कि यह सारी व्यवस्थापक सभाएँ और कार्यकारिणी सभाएँ तोड़ दी जायँ और गवर्नर साहबान स्वच्छन्दता से राज्य का संचालन करें। उस दशा में कम से कम इतना फ़ायदा तो होगा कि सिर का बोझ कुछ हलका हो जायगा। जब हमें रूखी रोटियाँ ही मिलनी हैं तो हलुआ और मोहन भोग हमारे सामने क्यों रखा जाय। हम उन पदार्थों को देखने से ही तृप्त नहीं हो सकते, उन्हें खाना भी चाहते हैं। या तो हमारे पत्तलों पर लाकर डालिए या हमारी आँखों के सामने से हटा ले जाइए।

हाँ, दो एक बातों में ज़रूर गोलमेज़ में मुस्तैदी दिखायी गयी। पहली दोनों

सभाओं में यह स्पष्ट रूप से नहीं स्वीकार किया गया था कि मुसलमानों को केन्द्रीय सभा में ३३$\frac{1}{3}$ हिस्सा दिया जायगा। अबकी सर सैमुएल होर ने विदाई का यह पुरस्कार मुसलमानों को दिया। इलाहाबाद के एकता सम्मेलन में हिन्दू-मुसलमानों में यह समझौता हुआ है। सेक्रेट्री साहब ने उस पर सरकारी मुहर लगा दी। अब वह पक्का हो गया। कुछ ऐसे मुसलमानों को जो बड़ी सभा में अपनी संख्या निश्चित न होने के कारण असन्तुष्ट थे, अब शिकायत की कोई गुंजाइश न रहेगी और वे एकता सम्मेलन से अधिक से अधिक जो पा सकते थे उसे यों मिलते देखकर शायद सम्मेलन से पृथक् हो जायँ। सिंध के विषय में भी सर सैमुएल ने वैसी ही तत्परता से काम लिया। पिछली गोलमेज़ में उन्होंने सन्देहात्मक शब्दों में सिंध की समस्या स्वीकार की थी। रुपये का प्रश्न बाधक हो रहा था और जब तक रुपये की कोई सबील न हो जाय इस विचार को स्थगित कर दिया गया था। एकता सम्मेलन ने सिंध का अलग किया जाना स्वीकार कर लिया। सर सैमुएल ने तुरन्त उस पर भी सरकारी मुहर लगा दी। इस तरह एकता सम्मेलन ने महीनों सिर खपाने के बाद समझौते की जो शर्त तय की थी उन्हें तुरन्त स्वीकार करके सर सैमुएल ने एकता सम्मेलन के नीचे से तख्ता खींच लिया है। बंगाल का मुआमला बाक़ी है। हिन्दुओं पर दबाव डाला जा रहा है कि वे अपने हिस्से की कुछ जगहें मुसलमानों को दे दें। ज्योंही हिन्दुओं ने रजामंदी दे दी, उस पर भी सरकारी मुहर लग जायगी। मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन के साथ वह अधिकार मिल जायँगे, जिसके लिए उन्होंने संयुक्त निर्वाचन की शर्त मानी थी। मि० रैमजे मैकडोनेल्ड के कथनानुसार यहाँ के सम्प्रदायों में परस्पर सहयोग से जो समझौते होंगे उनमें से जो गवर्नमेंट को पसन्द आयेंगे वे स्वीकार कर लिये जायेंगे, जो न पसन्द आयँगे वे छोड़ दिये जायँगे। एकता सम्मेलन ने संयुक्त निर्वाचन को स्वीकार किया है। सरकार ने उसी तत्परता से इस समझौते को नहीं स्वीकार किया, क्योंकि मुसलमानों की एक बड़ी संख्या संयुक्त निर्वाचन को स्वीकार नहीं करती। हिन्दुओं की भी बड़ी संख्या सिंध का अलग किया जाना, मुसलमानों को एक तिहाई जगहों का दिया जाना स्वीकार नहीं करती। सर सैमुएल होर ने उन हिन्दुओं के विरोध की ओर ध्यान न दिया। चित पड़े तो मेरा, पट पड़े तो मेरा।

आर्थिक संरक्षणों की चर्चा करते हुए सर सैमुएल होर ने फरमाया—

"पिछले साल इस विषय पर भलीभाँति विचार करने के बाद ब्रिटिश सरकार इस नतीजे पर पहुँची है कि आर्थिक प्रबन्ध की जिम्मेदारी दिये बिना, शासन की सच्ची जिम्मेदारी नहीं दी जा सकती, अतः हम राजनीतिज्ञ भारतीयों की इस सम्बन्ध की उचित माँग को भी पूरा करना चाहते हैं और महाजनों की इस माँग की भी रक्षा करना चाहते हैं कि भारत की आर्थिक साख हमेशा बनी रहेगी—उसके बिगड़ने का सवाल भी कभी पैदा न होगा। इसके सिवा एक और बात है। इधर भारत सचिव के नाम थोड़ी

मुद्दत पर बहुत बड़ी रक़म क़र्ज ली गयी है, जिसे अगले छः साल में चुकाना होगा, अतः इसका संतोषजनक प्रबन्ध करना पड़ेगा कि संघ-सरकार को कलंक न लगे। इसके लिए यह आवश्यक है कि कुछ ऐसे संरक्षण रहें, जिनसे दुनिया का विश्वास बना रहे और संघ-सरकार भविष्य में मामूली सूद पर कर्ज़ पा सके।"

आनेवाली संघ-सरकार के साख और विश्वास की ओर से सर सैमुएल होर इतने सचिन्त हैं यह बड़े हर्ष की बात है, मगर शायद किसी राजनीतिज्ञ ने भी सत्य को इतने भद्दे आवरण में छिपाने की चेष्टा न की होगी। संघ-सरकार अबोध बालकों की मंडली होगी, जिसे दुनिया में अपनी साख और विश्वास को जमाने की फिक्र न होगी। क्या इंग्लैंड की साख दुनिया में इतनी बढ़ी हुई है कि केवल उसके प्रतिबंधों से ही भारत की साख बन जायगी? इस कथन का साफ-साफ अर्थ यह है कि शासकों को भारत पर विश्वास नहीं है और वे उसे वह अधिकार नहीं देना चाहते, जिस पर और सारे अधिकारों और व्यवस्थाओं का दारोमदार है।

२ जनवरी १९३२

गोलमेज़ का मासया

गोलमेज सभा ने अपने तीनों पन भोगकर जीवन-लीला समाप्त कर दी। भारत को उससे पहले भी कोई आशा न थी, इसलिए उसे उससे अधिक निराशा भी नहीं हुई। निराशा तो जब होती कि हमने उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी होतीं। लेकिन वह इस हद तक बंध्या होगी, इसका हमें खयाल न था। हम समझ रहे थे पहाड़ खोदा जा रहा है तो कम से कम चुहिया तो निकलेगी ही। कितना तुम-तराक किया गया। सर साइमन आये। महीनों उसकी हलचल रही। फिर गोलमेज़ों का ताँता बँधा। राजे-महाराजे, मैं-तू, ऐरा ग़ैरा नत्थू खैरा सब जमा हुए, और तीन साल की खुदाई के बाद निकला क्या कि कुछ नहीं। चुहिया भी निकल आती तो कुछ तमाशा तो होता, देखते कैसे दौड़ती है, कैसे उछलती है। लेकिन कुछ भी न हुआ। फ़ेडरेशन का हाथी जहाँ था, वहीं खड़ा झूम रहा है, बल्कि कई क़दम पीछे हट गया। वाइसराय के अख्तियार ज्यों के त्यों, फ़ौज का मामला ज्यों का त्यों, माल का विषय ज्यों का त्यों। हाँ, पहाड़ खोदने से खंदक अवश्य निकल आयी। और उस साम्प्रदायिकता के खंदक में सारा देश डूब गया। पंथवाद जो समस्त संसार के लिए अभिशाप सिद्ध हो चुका है और जिसे सदियों के संघर्ष के बाद संसार ने दफना पाया है, उसे खोदकर हिन्दुस्तान में ला खड़ा किया गया। देश राष्ट्र बनना चाहता था। उसे पंथवाद में ढकेल दिया गया।

नयी-नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। जहाँ केवल हिन्दू-मुसलमान थे, वहाँ हिन्दू, मुसलमान, अछूत, सिक्ख, ईसाई, अधगोरे, गोरे इतने जंतु निकाल खड़े किये गये और इन सबों ने अपने तेज़ दाँतों और पैने नखों से शिशु राष्ट्र को धर दबोचा। यह सर्वदल-सम्मेलन, एकता सम्मेलन और हरिजन-आंदोलन सब उसी पंथवाद के जन्तुओं को मार भगाने के उपाय हैं, लेकिन कोई उपाय सफल नहीं होता।

बेशक जो लोग गोलमेज़ में शरीक हुए उनमें से कुछ महानुभाव खुश हैं। सर लियाक़त हयात-खाँ खुश हैं, मि० ग़ज़नवी खुश हैं। उसी टुकड़ी के और लोग भी खुश होंगे। सर इक़बाल को खुश होना ही चाहिए। मगर इन महानुभावों की खुशी ही यह बतला रही है कि तमाशा फीका है। थियेटरों में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जिनका काम है, वाह-वाह करना। ऐक्टर स्टेज पर आया और उन्होंने तालियाँ पीटनी शुरू कीं। क्या इन्हीं महानुभावों को खुश करने के लिए गोलमेज़ की गयी थी? वह नाखुश कब हुए थे? सर तेज़बहादुर सप्रू और मि० जयकर के सम्मिलित वक्तव्य में भी कुछ आशा है, पर उसमें 'यदि 'और' 'किन्तु' इतने लगे हुए हैं कि शीघ्र ही उस आशा की कलई खुल जाती है। आप फरमाते हैं—

"Despite many moments of grave anxiety during the progress of our discussions in London and the fact that there are still loose nooses to tie up, the general atmosphere, as our work developed, became one of increasing friendliness and mutual understanding. Even where an agreement was not reached, there was an obvious desire to appreciate each other's view."

यहाँ तक तो ठीक है लेकिन आप आगे कहते हैं—

"For this and other reasons it is, we argue, all the more necessary that Indian opinion should direct itself closely to concrete elements of the entire problem and our resources should be consolidated in order to enable that opinion to effectively assert itself at all subsequent stages. We do not disguise from ourselves the probability of strong opposition from certain reactionary circles in England and India but we are confident that if our countrymen organise the full forces of public opinion or a constructive plan for the achievement of a satisfactory and workable constitution, the success will be within our grasp."

मतलब यह है कि हम अमर हो सकते हैं, अवश्य अमर हो सकते हैं, केवल

सुधा मिलनी चाहिए। सब कुछ जनमत के संगठित होने और उसके प्रबल रूप से व्यक्त होने पर मुनहसर है। यह तो कोई नयी बात नहीं हुई। यह तो हम बहुत दिन से जानते हैं और बराबर कहते आये हैं कि सब कुछ जनमत के संगठित होने पर मुनहसर है। इतना समझाने के लिए गोलमेज़ों, रिपोर्टों और कमेटियों की ज़रूरत न थी। अगर तीन वर्ष के बाद गोलमेज़ का यही नतीजा निकला है, तो हम इसे गोलमेज़ के मर्सिये के सिवा और कुछ नहीं कह सकते। जनमत का संगठित होना वर्तमान परिस्थिति में कहाँ तक संभव है, इसे सर सप्रू हमसे ज्यादा जानते हैं। भारत के चुने हुए बोलने वाले और विचारक गोलमेज़ में शरीक हुए। जनमत के संगठित होने का और कौन-सा रूप है? अगर भारत में कुछ इस विषय का आन्दोलन किया जाय तो उसमें रुकावटें और बाधाएँ हैं। उधर साम्प्रदायिक मत-भेद रोज़ ही नयी-नयी समस्याएँ खड़ी करता रहता है। इन परिस्थितियों में जनमत का संगठित होना और निश्चयात्मक रूप में प्रकट होना आसान नहीं है। स्पष्ट शब्दों में हम इसे गोलमेज़ का मर्सिया समझते हैं। हम जहाँ से चले थे, वहीं आज भी खड़े हैं। तब हमारे सामने थोड़ा-सा मैदान था, दो-चार कदम आगे चल सकते थे। अब हमारे सामने साम्प्रदायिकता की दीवार खड़ी है, हम एक कदम भी नहीं उठा सकते। सर सैमुएल होर की मीठी बातों ने इन महानुभावों में कैसे आश्वासन पैदा कर दिया, हमें तो यही आश्चर्य है। एक ओर तो सर सैमुएल ने केन्द्रीय ज़िम्मेदारी की आशा दिलायी लेकिन दूसरी ओर उन्होंने एकता-सम्मेलन में तय हुए समझौते में उन शर्तों को जिनसे मुसलमान खुश होंगे, कितनी तत्परता से स्वीकार किया है कि ऐसा जान पड़ता है वह इसकी राह देख रहे थे। सिन्ध को अलग करने के विषय में जो आर्थिक बाधाएँ थीं, उनकी बिलकुल परवाह नहीं की गयी। एकता सम्मेलन में केन्द्रीय सभा में मुसलमानों को ३२ जगहें देने का निश्चय हुआ था, जिसे मुसलमान-प्रतिनिधियों ने स्वीकार कर लिया था। लेकिन सर सैमुएल ने ३२ को बड़ी उदारता से ३३ १/३ कर दिया। हालाँकि मि० रामजे मैकडोनल्ड ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय में स्पष्ट कहा था, कि वही तबदीलियाँ स्वीकृत होंगी जिन्हें भारतवाले आपस में तय कर लेंगे, लेकिन जब भारत ने आपस में ३२ जगहें मुसलमानों को देना तय किया, तो सेक्रेटरी साहब ने ३३ १/३ क्यों दे दिया? इन प्रमाणों से उनकी मनोवृत्ति का साफ़ पता चलता है। साम्प्रदायिकता सरकार का सबसे बड़ा अस्त्र है और वह आख़िर दम तक इसे हाथ से न छोड़ेगी। इस विषय में मि० ब्रेल्सफोर्ड ने बहुत ही सफ़ाई के साथ कहा है—

"सर तेजबहादुर सप्रू और मि० जयकर के उस विरोध-सूचक नोट का जो उन्होंने गोलमेज़ सभा के सम्मुख रखा है, यह आशय है कि कोई स्वाभिमानी भारतीय इस व्यवस्था को उसके वर्तमान रूप में स्वीकार करने का साहस न करेगा। भारतीय जिम्मेदारी अभी तक केवल एक शब्द जाल है। भ्रम को दिल से निकाल डालना ही

अच्छा है। अगर हम भारत के नेताओं को कैद करना बन्द कर दें, तब भी भारत इस स्वाँग को स्वीकार न करेगा।"

सर लियाक़त हयातखाँ ने अपने बयान में कहा है कि साम्प्रदायिक निर्णय में कोई कमी-बेशी होने की संभावना नहीं है। इसका अर्थ इसके सिवा और क्या है कि अवसर पड़ने पर जिस परिवर्तन से अपनी नीति सफल होती जान पड़ेगी, उसे स्वीकार कर लिया जायगा, लेकिन अपनी नीति के विरुद्ध कोई परिवर्तन स्वीकृत न होगा। और वह नीति क्या है? इसे सारा भारत समझता है।

२३ जनवरी १९३३

भारत अपना निर्णय खुद करेगा

श्री बर्नार्ड शा संसार के प्रसिद्ध विचारक और साहित्यकार हैं! शायद उनसे ज्यादा सर्वप्रसिद्ध पुरुष इस समय संसार में नहीं है। है चार्ली चेपलिन भी मशहूर, लेकिन उसकी गणना विचारकों में नहीं है। श्रीबर्नार्ड शा भ्रमण के इरादे से भारत आये हैं, लेकिन दो एक दिन बम्बई में जहाज़ पर ही रहकर उनका विचार कोलम्बो चले जाने का है। ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष के विचार भारत के विषय में क्या हैं यह हम सभी जानना चाहते हैं। आपकी स्पष्टवादिता संसार प्रसिद्ध है। आप बेलाग बात कहते हैं और कड़वे से कड़वे सत्य को प्रकट करने में भी नहीं हिचकते, लेकिन उनकी वाणी और व्यक्तित्व में ऐसा जादू है कि उनके मुँह से कड़वी बातें सुनकर भी लोग आनंदित होते हैं, उनके घूसे और थप्पड़ खाकर भी हँसते हैं। आपने फ्रीप्रेस के प्रतिनिधि से भारत के विषय में जो कुछ कहा वह हममें से बहुतों की आँखें खोल देगा। भारत की समस्या पर आपने फरमाया—

"भारत के मामले भारतीयों द्वारा ही तय होंगे, विदेशियों द्वारा नहीं। भारत किसी दूसरे के प्रयत्नों से विजयी न होगा। यदि आप की ब्रिटिश सरकार के साथ में लड़ाई हो रही है तो आप को यह आशा न रखनी चाहिए कि मानव-प्रेम के उमंग में आकर फ्रांस, जर्मनी, स्कैंडिनेविया या अमेरिका दौड़ पड़ेगा और आप की मदद करेगा। आप की मदद के लिए कोई उँगली तक न उठावेगा। आपको किसी के पीछे दौड़ने की ज़रूरत नहीं।"

इस विषय में भारत को कभी भ्रम नहीं हुआ। हाँ, आफ़त का मारा आदमी कभी-कभी जान-बूझकर ऐसों से आशा करने लगता है। जिनसे उसे आशा की दूरतम संभावना भी नहीं होती, लेकिन जापान-चीन समस्या पर प्रमुख राष्ट्रों की उदासीनता

देखकर भारत को जो भ्रम हो रहा था वह पूरी तरह मिट चुका है।

इंग्लैंड और भारत के भावी सम्बन्ध के बारे में श्री बर्नार्ड शा ने कहा—

"इंग्लैंड ब्रिटिश साम्राज्य का बहुत ही छोटा अंग है और समय आवेगा जब इंग्लैंड स्वयं भारत से पृथक् होना चाहेगा। जब आपका अपना राज हो जायगा तब आपको सार्वजनिक भाषण करना जुर्म क़रार देना चाहिए, जिसकी सज़ा फाँसी हो। आपको याद रखना चाहिए कि जब आप अपने राज्य का संगठन कर लेते हैं तब बातें करने के लिए समय नहीं होना चाहिए।"

इससे तो भारत के वाक्य-धुरंधरों को बड़ी निराशा होगी। संसार में इस सार्वजनिक भाषण ने जितना उपद्रव किया है उतना शायद और किसी बात ने न किया होगा। यह इसी सार्वजनिक भाषण का नतीजा है कि आज केवल वाक् चातुरी पर अधिकार और नेतृत्व का आधार है। जो वाणी-कुशल है वह चाहे कितना ही स्वार्थी, दंभी हो, पर राष्ट्र का नेता बन जाता है। संसार ने स्वीकार कर लिया है कि जो बातों का शेर है वह कामों का भी शेर है, हालाँकि इन दोनों का संयोग बहुत कम होता है।

हमें यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि महामना मालवीय जी ने श्रीबर्नार्ड शा को काशी आने का निमंत्रण दिया है।

२३ जनवरी १९३३

तीसरी गोलमेज़ की रिपोर्ट

तीसरी गोलमेज़ की रिपोर्ट प्रकाशित हो गयी। इस "जेबी कमेटी" की कार्रवाई के ऊपर हम कई बार लिख चुके हैं। हमी नहीं, सारा भारत एक स्वर से इसकी निर्जीवता, निरर्थकता तथा निश्चेष्टता पर अपना मर्सिया पढ़ चुका है; अतः कमेटी की रिपोर्ट पर कुछ लिखना केवल पुरानी बातों को दुहराना होगा। फिर भी, इसकी "कतिपय आवश्यक" साथ ही हास्यास्पद बातों की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना उचित होगा।

घने अक्षरों में २०४ पृष्ठों की छपी इस रिपोर्ट में २४ दिसम्बर की आखीरवीं बैठक की पूरी कार्रवाई के साथ अन्य दिनों की संक्षिप्त कार्रवाई दी गयी है और साथ में २२ याददाश्तें भी हैं। रिपोर्ट ने पहला विचारणीय विषय लोथियन कमेटी की मताधिकार रिपोर्ट रखा है और इस रिपोर्ट को स्वीकार भी कर लिया है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय कौंसिलों का चुनाव प्रत्यक्ष तथा राज्यपरिषद् का चुनाव अप्रत्यक्ष होगा। केन्द्रीय कौंसिल में सदस्य-संख्या ३०० हो या ४०० हो—यह अभी विचाराधीन ही रखा गया है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों का प्रबन्ध के सम्बन्ध में क्या नियम होगा, यह स्पष्टतः

निश्चित नहीं है। पर, इतना निश्चित है कि केन्द्रीय सरकार केवल शान्ति और व्यवस्था सम्बन्धी विषयों में हस्तक्षेप कर सकती है।

लोथियन कमेटी की रिपोर्ट से बहुतों को बेहद असन्तोष है। इस कमेटी ने भारतीयों को नागरिकता के ज्ञान से इतना शून्य समझा है, उसने हमारे यहाँ की निर्वाचक-सूची को, मताधिकार के अधिकार को, वोट देनेवाली संख्या को इतना संकुचित, इतनी छोटी और ऐसी अप्रतिनिधि-पूर्ण कर दिया है कि हमें यह कहते लज्जा-सी आती है कि यदि भारत की भावी कौंसिलों का चुनाव पैंतीस करोड़ की आबादी में से केवल चार करोड़ ही लोग कर पावेंगे तो वे कौंसिलें हमारी नागरिकता की जीती-जागती बेइज्जती की पुतलियाँ बनी रहेंगी। "जेबी कमेटी" ने हरेक बालिग़ भारतीय को मताधिकार क्यों नहीं दिया, यह समझ में नहीं आता। अगर ये कौंसिलें हरेक बालिग़ के वोट से बनकर तैयार होतीं तो किसका लाभ ही विशेष होता? कौंसिलों को एकदम निर्जीव कर देने की काफ़ी गुंजायश कर दी गयी है।

दूसरा प्रश्न है प्रान्तीय प्रबन्ध में केन्द्रीय हस्तक्षेप का. हम इसे सर्वथा वैध समझते हैं कि हरेक केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय शासन में दस्तन्दाज़ी कर सकती है, किन्तु इस बात का निर्णय कौन करेगा कि अमुक प्रान्तीय कार्य शान्ति और व्यवस्था के प्रतिकूल है? "शान्ति और व्यवस्था" के नाम पर भारत की केन्द्रीय सरकार ऐसा काम करती आयी है, जिससे हमें इन शब्दों की शब्द कोष में ही नयी परिभाषा देखनी पड़ती है, अतएव, यदि गवर्नर जनरल को स्वच्छन्द अधिकार इतने अधिक मिलनेवाले हैं, तो वैसी परिस्थिति में इस प्रकार का "गोल" अधिकार हरेक प्रान्त की उन्नति में बड़ा बाधक हो सकता है। यदि इसी के साथ, यह भी नियम होता कि "गवर्नर जेनरल हरेक प्रान्त के उन्हीं मामलों में हस्तक्षेप कर सकेंगे, जिसको उनका मंत्रि-मण्डल बहुमत से शान्ति तथा व्यवस्था को भंग करनेवाला समझेगा।"—तो हमें सन्तोष होता। राज परिषद् का रखना भी तय हो गया है और चूंकि हम नये शासन-विधान में कौंसिलों को एकदम निर्जीव समझते हैं, अतएव राज परिषद् रहे या न रहे, दोनों ही दशा बराबर हैं।

सब कुछ निर्भर करता है गवर्नर जेनरल के अधिकार तथा मंत्रियों की शक्ति पर। अब यहाँ पर यह जानना रोचक होगा कि मंत्रिगण क्या कर सकते हैं। रिपोर्ट के अनुसार गवर्नर जेनरल को रक्षित विभाग में सेना, विदेशी विषय तथा धर्म के मामलों में सलाह देने का अधिकार होगा। अब ज़रा गवर्नर की ज़िम्मेदारियाँ देखिये-१—भारत या उसके किसी भाग को शान्ति भंग की नाज़ुक अवस्था आने पर उसे रोकना। २—अल्प-संख्यकों की रक्षा। ३—सरकारी नौकरों के हक़ व अधिकारों की रक्षा। ४—शासन-सम्बन्धी रक्षित विषय। ५—रियासतों के अधिकारों की रक्षा। ६—व्यापार सम्बन्धी भेदभाव की रुकावट।

मन्त्रिमण्डल की राय के बिना ही वह निम्नलिखित कार्य कर सकते हैं—

१—व्यवस्थापक मण्डल को भंग करना, बुलाना या उसका कार्यक्रम तय करना।

२—कानून की स्वीकृति देना या न देना या कानून के विषय में ब्रिटिश सरकार को सूचित करने के लिए स्वीकृति को रोक रखना।

३—खास बिलों को पेश करने की मंजूरी देना।

४—आवश्यकता होने पर साधारण समय में बड़ी कौंसिलों का संयुक्त अधिवेशन करना।

५—नाजुक हालत में कौंसिल के विरुद्ध मत देने पर भी कार्रवाई करना।

६—केन्द्रीय कौंसिलों के विरुद्ध मत देने पर भी कार्रवाई करना।

७—इन्हीं के लिए नियम भी बनाना।

८—कौंसिलों की बैठक न होने के समय, मंत्रियों की सलाह से आर्डिनेंस बनाना।

अस्तु, दो लाख रुपया खर्चकर, जिस "जेबी गोलमेज" की बैठक हुई थी, उसकी रिपोर्ट का यही सारांश है। इस पर विशेष टीका करना व्यर्थ है। गवर्नर जेनरल के अधिकार इतने व्यापक हैं कि हम यह जानना चाहते हैं कि आखिर कौंसिल और मंत्रियों का मर्ज ही क्यों पाला जा रहा है। "व्यापारिक भेदभाव" ऐसे अधिकारों से गवर्नर जेनरल स्वदेशी कारोबार की भी, अगर वे चाहें तो वृद्धि तक को रोक ही सकते हैं। कोई भी ऐसा काम नहीं है जिस पर गवर्नर जेनरल का नियन्त्रण न हो और यदि इतने नियन्त्रणों से हमको "प्रजातंत्र" या "स्वराज्य" मिल रहा है तो यह कहना होगा कि इन "विशेषाधिकारों" में दोनों का दम घुट जावेगा।

६ फरवरी १९३३

नये-नये सूबों की सनक

अंग्रेजों के आने के पहले भारत में बहुत-से छोटे-छोटे स्वाधीन राज्य थे, जो आपस में बराबर लड़ते रहते थे। ये राज्य भाषा या जाति की एकता के कारण नहीं प्रादुर्भूत हुए थे। जो बलवान था, उसने दूसरे राज्यों के इलाके दबाकर अपने राज्य में मिला लिये। जैसे योरप में नेपोलियन की महत्वाकांक्षा थी कि योरप के राष्ट्रों को परास्त करके एक बलवान केन्द्रीय शासन के अधीन कर दिया जाय, उसी भाँति भारत में केन्द्रीयता और प्रान्तीयता में हमेशा संघर्ष होता रहा। अशोक और चन्द्रगुप्त से पहले भी बड़े-बड़े महीपों ने चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। मुगल, मरहठे, सिक्ख सभी ने प्रांतीयता को दबाने का प्रयत्न किया। जब तक केन्द्रीय शासन के हाथों में शक्ति थी, प्रांतीयता दबी रही; लेकिन केन्द्र के शक्तिहीन होते ही प्रांतों ने स्वाधीनता

के झंडे उड़ाना शुरू किये और राष्ट्रीयता की भावना ही ग़ायब हो गयी। अँग्रेजों के राज्य-विस्तार ने राष्ट्र-भावना की सृष्टि की और भारत को एक शक्तिशाली, सुव्यवस्थित राष्ट्र बनाने की आकांक्षा उत्पन्न हुई। किसी एक भारतीय झंडे के नीचे सम्पूर्ण देश को जमा करना असाध्य था। एक दूसरे से सशंक था, उसी तरह, जैसे आज योरोपीय राष्ट्रों की दशा है। अँग्रेजों से उन्हें वंशगत या जातिगत द्वेष न था, उनसे पुराने अपमान के बदले न चुकाने थे; अतएव ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जिन्होंने अँग्रेजों का हृदय से स्वागत किया और अँग्रेजों की सफलता के अन्य कारणों में यह भी एक कारण हो सकता है। देश में जो विचारवान थे, वे आपस की ईर्ष्या और विद्वेष से तंग आ गये थे और शांति को किसी दाम पर भी लेने को तैयार थे। केन्द्रीय शक्ति के सिवा इन स्वाधीन राजों को काबू में रखने का और कोई साधन न था। बहुत दिनों के बाद भारत को केन्द्रीय शासन का अवसर मिला और उसका शुभ फल यह हुआ कि देश में राष्ट्र-भावना का विकास होने लगा और दिन-दिन उसका प्रसार होता जा रहा है।

लेकिन इधर कुछ दिनों से फिर प्रांतीयता का भाव ज़ोर पकड़ने लगा है। कहीं प्रतिद्वन्द्विता के वशीभूत होकर, कहीं निकट स्वार्थ के कारण और कहीं ऐतिहासिक आधार लेकर नये-नये सूबे की माँग की जा रही है। बिहार और सीमाप्रांत को पृथक हुए, अर्सा हुआ, अब सिंध और उड़ीसा पृथक होने के लिए जोर मार रहे हैं। आंध्र प्रांत भी पृथक होना चाहता है। दिल्ली से भी पृथक प्रांत बनाये जाने का आन्दोलन शुरू हो गया है; पर इन नये उम्मेदवारों में एक भी ऐसा नहीं, जो नये प्रांत की आर्थिक ज़िम्मेदारियाँ उठा सके। नये-नये प्रान्तों से नये-नये नगरों का विकास होता है, काउंसिलों में ज्यादा आदमियों के लिए जगहें निकल आती हैं, नये हाईकोर्ट में ज्यादा वकीलों की खपत हो सकती है। यह सब सही है; पर रुपये किसके घर से आवें? यह उम्मेदवार स्वयं इसे स्वीकार करते हैं कि वह नये कर अंगीकार करने को तैयार नहीं हैं। हर नये प्रांत के खर्च का तखमीना लगभग दो करोड़ सालाना होता है। दिल्ली या उड़ीसा या सिंधा निकट भविष्य में यह खर्च उठा सकेंगे, इसकी कोई आशा नहीं है। नतीजा इसके सिव और क्या होगा कि दूसरे सूबों से उनकी सहायता की जाय। फौज के या दूसरे राजकीय मदों में किसी तरह की कमी की गुंजाइश नहीं है। नये कर लगाये नहीं जा सकते, तो फिर यह सूबे कैसे बने?

खर्च को छोड़िए। प्रांतीयता की मनोवृत्ति राष्ट्रीय मनोवृत्ति की विरोधिनी है। वह हमारे मन में संकीर्णता का भाव उत्पन्न करती है और हमें किसी प्रश्न पर सामूहिक दृष्टि डालने के अयोग्य बना देती है। और इतिहास कह रहा है कि इसी संकीर्ण मनोवृत्ति ने भारत को पराधीन बनाया। दो सदियों की पराधीनता ने हम में ऐक्य का जो भाव जगाया है, वह इस बढ़ती हुई प्रांतीयता के सामने कै दिन ठहर सकेगा?

नये प्रान्तों की रचना का एक ही उज्र हो सकता है ; अर्थात्—उनसे नये प्रान्तों के विकास और उन्नति की चाल तेज़ हो जाय ; मगर इसकी कोई संभावना नहीं, क्योंकि ये नये उम्मेदवार केन्द्रीय सहायता के बल पर ही अपने क़िले बना रहे हैं। यह आशा करना कि केन्द्र से उन्हें इतनी प्रचुर सहायता मिल जायगी कि वे शिक्षा, व्यवसाय, कृषि आदि विभागों की कायापलट कर सकेंगे, दुराशा मात्र है। गवर्नरों और मिनिस्टरों के बढ़ जाने से ही तो कोई नयी जाग्रति न उत्पन्न हो जायगी। ये संस्थाएँ विवश होकर अपने को जीवित रखने के लिए, या तो प्रजा पर विशेष कर लगायँगी, या इन विभागों की ओर से उदासीन हो जायँगी, नतीजा यही होगा कि प्रजा की दशा में तो कोई अन्तर न होगा—या वह और भी बदतर हो जायगी—केवल गर्दन में जुआ और भारी हो जायगा। किसी नये विधान को प्रजाहित की दृष्टि से देखना चाहिए। अगर यह अर्थ नहीं सिद्ध होता, तो उससे कोई लाभ नहीं। पहले प्रान्तों में मिनिस्टर न थे, काउँसिलों का यह रूप न था। नये विधान ने यह सारा आडम्बर जनता के सिर पर लाद दिया ; पर उससे जनता का क्या हित हुआ ? हमारी आर्थिक दशा में क्या उन्नति हुई ? प्रजा की दशा अब भी वही है, जो इन विधानों के पहले थी। केवल अधिकारियों की संख्या बढ़ गयी। तात्पर्य यह है कि हमें यथासाध्य प्रांतीयता को दबाना चाहिए, जो अब भी हमारी एकता में बाधक हो रही है।

दिसम्बर १९३२

१९३२

जगत की यह समूची माया आशा की भित्ति पर टिकी हुई है। दरिद्रता की घोर यातना सहता हुआ जीव जीता है, इस आशा पर कि कभी तो उसकी हालत सुधरेगी, और इसी प्रकार आशा करता हुआ वह जगत के उस पार तक चला जाता है। धन के मद में प्रमत्त, मान की सरिता में बहता हुआ अपने धन मान से अघा कर, पशु की तरह जीवन बिताता रहता है, इस आशा में कि शान्ति की कोई भी मात्रा उसे कभी मिल जावेगी। हम हिन्दुओं ने "आशा" को "कर्म-भोग" का ऐसा रूप दे दिया है, कि वैधव्य की यातना सहती हुई विधवा भी अपने अगले जीवन के सुख की कल्पना कर प्रसन्न होने की चेष्टा करती है।

जब आशा हमारे स्वभाव का एक अंग है, तब सदैव आगे की ओर टकटकी लगाये रहना बड़ा सुखद होता है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, बीते हुए काल का दुःख आनेवाले समय की अच्छाई की आशा से भूल जाता है। वर्ष पर वर्ष बीता जा रहा है। युग पर युग बीत गये। अतीत की कहानी इतिहास के पन्नों में सड़ रही है, वर्त-

मान की कथा तो हमारे हाड़-मांस से चिमटी हुई, हमें अक्षर-अक्षर याद है। धीरे-धीरे करके ईसाई-साल के १९३१ वर्ष बीत गये। एक हज़ार नौ सौ बत्तीस वर्ष के पहले की बात है, जब दीनता के दास, सत्याग्रह की मूर्ति, अहिंसा के अवतार ईसा ने मनुष्यता की सेवा में अपना प्राण अर्पण कर दिया था। उसी महापुरुष को अमर बनाने के लिए ईसवी सन् चला था। पता नहीं इससे वह महापुरुष कहाँ तक अमर हो सका। कम से कम, उसके नाम के साल ज्यों-ज्यों बूढ़े होते जाते हैं, उसके नाम का जादू दूर होता-सा नज़र आता है। जो ईसा के जितने ही पक्के हिमायती हैं, वे उतने ही लोलुप, उतने ही अनाचारी और पराये वैभव के शत्रु हैं। अब दूसरे का सत्यानाश उनके लिए कौतुक है और एक के बाद दूसरा वर्ष इसी सत्यानाशी कौतुक का चलचित्र है।

१९३२, वह चला गया। जब १९३१ गया था, हमने, जगत-भर ने, यह आशा प्रकट की थी, कि मुसीबतों का, आर्थिक संकटों का वह वर्ष समाप्त हो गया। आशा की गयी थी, कि १९३२ में सभ्यता का जी हल्का हो सकेगा। दुनिया की आर्थिक दुरवस्था सुधरेगी। पैसे की बाज़ार में जो आँख आ गयी है, वह 'आर्थिक सम्मेलनों की दवा से सुधर कर अच्छी हो जावेगी, पर १९३१ में हम जितने सुखी थे, आज उससे और भी दूर हैं। हर साल सुख की आशा करते बीत जाता है।

इस साल दुनिया का अर्थ संकट ज्यों का त्यों रहा। जर्मनी की हालत और भी गिर गयी। उसके विरोधी फ्रांस ने उसके बाज़ार को पंगु कर रखा है, इसलिए कि वह धनी होकर फिर लड़ाई न करे, पर उलटा फल यह हुआ कि जर्मनी ने अपनी दरिद्रता की दुहाई देकर लड़ाई के बाद लाये गये अन्याय-युक्त हरजाने में एक पाई भी देना कबूल न किया। फ्रांस और ब्रिटेन इत्यादि यही रुपया लेकर अमेरिका का क़र्ज़ा चुकाते हैं। १९३१ में सब की प्रार्थना पर अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर ने एक वर्ष की मुहलत दी थी। १९३२ में फ्रांस, ब्रिटेन आदि ने फिर अमेरिका से मुहलत माँगी, किन्तु अमेरिका का व्यापार भी एकदम चौपट हो गया है। सोने की लालच से फ्रांस तथा अमेरिका ने दुनिया का तीन-चौथाई सोना अपने यहाँ खींच लिया है। राज्यों का लेन-देन सोने में होता है। सोने की कमी से व्यापार का पलड़ा उलट गया। अमेरिका सोना लेकर चाटता रह गया। उसके व्यापार में यकायक रुपया आता है—जाता है। कुछ महीने में ही पचासों बैंक उलट गये, ३१५ करोड़पतियों से घटकर ७५ ही रह गये। उसमें दम कहाँ कि कर्जे की रक़म छोड़े। उसने प्रार्थना नामंजूर कर दी। ब्रिटेन, फ्रांस ने अपना अर्थ सम्हालने के लिए अपने आधीनों पर हाथ साफ़ करना शुरू कर दिया। भारत से एक अरब का सोना ब्रिटेन खिंच गया। जहाँ सोना पैदा होता है, यानी दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने भी बाहर सोना भेजना बन्द कर दिया, पर भारत का सोना ब्रिटेन की बाज़ार में चला गया। ब्रिटेन का सोना वहाँ तालों में बन्द है। फ्रांस में भी, इसी अर्थ के कारण दो मंत्रि-मंडल बन-बिगड़ चुके हैं।

गणतन्त्रशासन जर्मनी पर लादा गया था—समर के बाद। जर्मनी उसके लिए उत्सुक भी होता तो भी हार के बाद मिली चीज़ से घृणा होती है। इसीलिए जर्मनी में बड़े उथल-पुथल होते हैं। दुःखी राष्ट्र हरेक नेता को अपना असली रक्षक समझकर उसी के भुलावे में पड़ जाता है। पहले डा० ब्रूनिंग बड़े प्रिय थे, पर हरजाना-समस्या न सुलझा सकने के कारण वे विस्मृति के गर्भ में गये। हिटलर ने उनका स्थान लेना चाहा, पर इस साल जर्मनी ने जून के महीने में हिटलर को जहाँ बहुत ऊँचा स्थान दिया, वहीं नवम्बर के चुनाव में हिटलर को गिरा दिया। हिन्डेनबर्ग राष्ट्रपति बने रहे। यह जर्मन स्वभाव की दृढ़ता तथा प्राचीनता का प्रेम फल है, पर वान पापेन की सरकार बनी और बिगड़ी, जर्मन-अव्यवस्था ज्यों की त्यों है। १९३१ में ३२ की तुलना में कहीं दृढ़ सरकार थी।

चीन बेचारा इस वर्ष भी पहले वर्ष की अपेक्षा अधिक पिसा। जापान ने जापानी माल के बहिष्कार के कारण क्रुद्ध होकर चीन के शंघाई नामक उन्नत स्थान पर तटस्थ भाग में सेना सजायी, थापाई में भीषण नर-संहार किया। पर जाग्रत चीन के थप्पड़ों से हार कर सुलह भी कर ली। एक ओर की हार की कसर भी निकाल ली। वर्षों का षड्यंत्र सफल हुआ। मंचूरिया उसने हड़प लिया।

राष्ट्र-परिषद् ताकती रह गयी। सभी राष्ट्र चिल्लाते रह गये। जापान निगल गया—और इस वर्ष इस नीचता के विरोध में चीनी आयेदिन जान दे रहे हैं। राष्ट्र-परिषद् के जाँच-कमीशन की रिपोर्ट पड़ी सड़ रही है। राष्ट्र-परिषद् ने तो जेनेवा में निरस्त्रीकरण के लिए, इसी साल दो सम्मेलन कराये, पर जर्मनी की इस जायज़ माँग पर कि उसे सबके बराबर सेना रखने का हक़ दिया जावे या सब उसके बराबर सेना घटायें, सबकी नीयत का पर्दा फ़ाश हो गया। जेनेवा में इस वर्ष ज्यादा महत्वपूर्ण कार्य होनेवाला था, पर गत वर्षों से अधिक कलह ही हुआ।

अफ़गानिस्तान में सरकारी अत्याचार ज्यों का त्यों है। तुर्किस्तान हर महीने उन्नति कर रहा है। ईराक ने अपना स्वत्व यहाँ तक पहचाना है कि उसके तेल के सोतों पर ब्रिटेनवाले जो ज़बर्दस्ती अधिकार किये बैठे थे, वह छीन लिया गया। फ़िलीपाइन को दस वर्ष बाद आज़ादी मिलने का वादा अमेरिका ने किया है। सीलोन में इस साल से ऐसा शासन-विधान ब्रिटेन ने चलाया है जिसे वहाँ कोई नहीं चाहता।

अभागे भारत की बात क्या कहिये। ज्यों-ज्यों समय ढलता है, हमारे वैभव की सन्ध्या निकट आती जाती है। विदेशी सभ्यता के प्रहार से पुरुषों का पुरुषत्व अपने ही दलितों-पतितों के साथ अत्याचार करने में व्यय हो रहा है; दरिद्रता में सूखकर नब्बे प्रतिशत भारतीय कंकाल हो रहे हैं; स्त्रियाँ बच्चा पैदा करती हैं और उन्हें भी अकाल मार कर मर जाती हैं। विदेशी शासन से भारत का क्या भला होगा, जब

जहाँ के लिए यह स्वदेशी शासन है, वहीं की प्रजा विपत्ति से कराह रही है। ३१ दिसम्बर १९३१ को गाँधीजी ने वाइसराय लार्ड विलिंगडन से मिलने की अनुमति माँगी थी ताकि वे सत्याग्रह की उमड़ती आँधी को रोक सकें। वाइसराय ने अर्जी नामंजूर ही नहीं की, अर्ज़ीदाँ को गिरफ्तार भी कर लिया। बस, उसी समय से, कुछ तो काँग्रेस की जल्दबाज़ी, दूसरे नौकरशाही की जड़ता से सत्याग्रह का वेग, ब्रिटिश वस्तु का बहिष्कार तथा दमन का जो भयंकर प्रवाह चला है, उस पर कुछ लिखना दोनों ओर से बुरा बनना है। काँग्रेस ने भी यदि चाहा होता तो लड़ाई थम सकती थी, सरकार भी यदि चाहती तो लड़ाई न होती, या होती भी तो कभी की सुलह हो गयी होती। सरकार शायद स्वयं सुलह नहीं चाहती, क्योंकि उसने सर तेजबहादुर सप्रू तथा जयकर ऐसे सुलह के हिमायतियों को भी गाँधी जी से बातचीत करने की मनाही कर दी। वह ऐसी आत्मा से पूर्ण पराजय की कामना करती है, जो अपने को, अपनी आत्मा को अजेय समझता है। सर सेमुएल होर ने कहा है कि "काँग्रेस से किसी प्रकार के समझौते की बातचीत तो हो ही नहीं सकती।" अगर काँग्रेस भी वही कहेगी तो क्या होगा ?

अस्तु, सरकारी दमन विरोध में गोलमेज़ के लिए नियुक्त मश्विरा देनेवाली कमेटी से सर तेज और श्रीजयकर ने त्यागपत्र देकर उसे निर्जीव बना डाला। लोथियन कमेटी मताधिकार की जाँच के लिए आयी और बिना सार्वजनिक सहानुभूति, सहायता या समर्थन पाये—अपने काम का तमाशा कर चली गयी। प्रधानमंत्री ने अपना "साम्प्रदायिक निर्णय" सुनाया, जिससे कोई भी प्रसन्न न हो सका। भीख माँग कर पद के लोभी मुसलमान और भी माँगने लगे। हिन्दू समुदाय को जो तमाशा-सा हक़ भी मिला वह हरिजनों को उनसे अलग कर और भी भद्दा कर दिया गया। इसी के फलस्वरूप महात्माजी का इतिहास-प्रसिद्ध अनशन शुरू हुआ। इसने देश-भर में ही नहीं दुनिया में आग लगा दी। कुछ दिन बड़ी द्विविधा में बीते। पूना-पैक्ट ने गाँधीजी को जीवन प्रदान किया, हिन्दू समाज को ऐक्य तथा हरिजनों के प्रति देश में अनूठा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। जड़ तथा मूर्ख सनातनी चाहे जितना रोकें, यह आन्दोलन मर नहीं सकता। हाँ, १९३१ में गुरुवयूर-मंदिर की समस्या हल न हो सकी। यही भेंट, जिसके पीछे महातमाजी पुनः अपने प्राणों की बाजी लगा रहे हैं, १९३३ में मिलती है। इसी वर्ष दो बार अपना ताण्डव-नृत्य कर काले कानून अब अस्थायी पिशाच के रूप में कानून बन कर हमें ग्रसने के लिए तत्पर हैं।

लन्दन में तीसरी गोलमेज़ का तमाशा हुआ, जिसमें कुछ ऐसे ही सदस्य बुलाये गये जो शरीफ बच्चे समझे गये। तीसरी गोलमेज़ का अभिनय खतम भी हो गया। शरीफ़ बच्चे भी उससे प्रसन्न न हुए। सर तेजबहादुर सप्रू, जयकर, सर चिमनलाल सीतलवाद और श्री माननीय शास्त्री भी उसकी विफलता की घोषणा कर रहे हैं।

एक से एक बढ़कर विभूतियाँ भी काल की भेंट चढ़ायी गयीं। सर सी० पी० स्काट, मि० लिटन स्ट्रैची, महारानी सुनीति देवी (कूच-बिहार), सर बी० एन० शर्मा, मि० के० वी० रंगस्वामी ऐयंगार, सर दोराबताता, सर अलीइमाम, श्री विपिन चन्द्र पाल, पं० पद्म सिंह शर्म्मा, श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर ऐसे रत्न लुट गये। शायद भारत ने ही इस दिशा में भी सबसे अधिक हानि उठायी।

अस्तु, यह वर्ष असफलताओं का वर्ष रहा। जिसने जो किया, असफल रहा, चाहे वह काँग्रेस का आन्दोलन, सरकार का दमन, निरस्त्रीकरण-सम्मेलन या गोलमेज़ सम्मेलन ही क्यों न हो। १९३२ अपनी सम्पूर्ण असफलता और अशान्ति इस नये वर्ष के जिम्मे छोड़ गया है। आओ १९३३, तुम अपनी समस्याओं से संघर्ष करो।

जनवरी १९३३

काले कानूनों का व्यवहार

एसेम्बली में काले कानूनों के पास होते देर नहीं लगी कि उनका अमलदरामद शुरू हो गया। सबसे पहले बिहार प्रांतीय सरकार ने कदम उठाया है और एक विज्ञप्ति द्वारा उसे बिहार में लागू कर दिया। बम्बई सरकार भी पीछे नहीं रही। उसने बम्बई, कराची, अहमदाबाद, खांदेश, रत्नागिरी आदि स्थानों में उसे जारी कर दिया। सीमा-प्रान्त में भी पेशावर में उसका व्यवहार शुरू हो गया। यह आनेवाले स्वराज्य का शुभ सन्देश है।

जनवरी १९३३

क्या कटौतियों को बहाल किया जायगा ?

इधर देश से सोने का जो समुद्र बहकर विलायत चला गया, तो भारत सरकार के करों में विशेष वृद्धि हो गयी। इस वृद्धि का यह अर्थ लगाया जा रहा है कि भारत की आर्थिक दशा सुधर रही है, तो फिर १० फ़ी सदी कमी क्यों न बहाल कर दी जाय ? हम भी चाहते हैं कि उस कमी को सरकार जल्द से जल्द पूरा कर दे। आमदनी का बढ़ाना तो सरकार के हाथ में है। हम उसे ऐसे उपाय बता सकते हैं जिससे उसकी आमदनी बहुत आसानी से एक चौथाई बढ़ सकती है। जब इतनी आसानी से कर बढ़ाये जा सकते हैं तो यह घोर अन्याय है कि सरकारी ओहदेदारों की, विशेषकर ऊँचे वेतनवालों की, आमदनी में कमी की जाय ! आखिर बेचारों के बैंक एकाउन्ट में कुछ क्षति हो रही है या नहीं !

२ जनवरी १९३३

देसी रजवाड़े

अलवर नरेश

अन्यत्र हमने बिगुल (लाहौर) के सम्पादक श्री फीरोज़चन्द का अलवर समस्या पर एक सारगर्भित लेख प्रकाशित किया है और आशा करते हैं कि पाठक लेख की प्रत्येक पंक्ति को ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे। इस लेख में अलवर दंगे का कारण, उसके जिम्मेदार तथा 'तीसरे शरारती' के विषय में विद्वान लेखक ने जितने कारण बतलाये हैं, सभी हमें मान्य—स्वीकार हैं, तथा हमें इस बात का बड़ा दुख है कि भारत सरकार इस विषय में उतनी दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य को नहीं निभा रही है जैसा कि चाहिए और यह इस दोष की भागी है कि देशी—रियासतों के नरेश ब्रिटिश-रियासत के शरारतियों के शिकार बन रहे हैं।

जैसी आशा है, शायद अलवर के अंतरंग प्रबन्ध में बहुत कुछ ब्रिटिश अफ़सरों का हाथ हो जावे। जो लोग अलवर के विरुद्ध बलवा कर रहे थे, उन्हें तभी यह सबक़ मिलेगा कि गये छब्बे बनने, दूबे होकर लौटे। पर इस प्रकार के दंगों के बाद देशी रियासतों के शासन में सरकार क्यों हस्तक्षेप करती है, यह हम नहीं समझ सकते। बर्मा विद्रोह के फलस्वरूप सर चार्ल्स इनेस की गवर्नरी का कार्यकाल बढ़ाया गया था। मोपला विद्रोह के बाद बम्बई सरकार में क्या हेर-फेर हुआ! और इन बलवों का और अलवर या काश्मीर के दंगे का क्या मुकाबिला? बड़े की बात बड़े ही जानें।

६ फरवरी १९३२

अलवर

अलवर नरेश ने इधर मेव उपद्रव के विषय में जो भाषण दिया है और उसके बाद ही अलवर में राजभक्त मेवों और उपद्रवी मेवों में जो संघर्ष हो गया है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि अलवर के दंगे का कारण केवल उपद्रवियों का गढ़ा हुआ षड्यन्त्र था, न कि राज्य की कोई लापरवाही या महाराज की भूल। इस विषय में जो कुछ शंकाएँ समाचार-पत्रों में फैलायी गयी हैं, उनका समुचित उत्तर देकर महाराज ने बड़ा अच्छा किया। सरकारी हस्तक्षेप के विषय में भी महाराज की दृढ़ता की हम सराहना करते हैं। हमारी सम्मति में, इस विषय में महाराज अलवर को पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए कि जिस तरह, जैसे भी, वे उपद्रव को दबावें तथा किसी प्रकार से भी ऐसा काम न करें जिससे पुनः उपद्रव होने की आशंका हो। उन्होंने लगान में

छूट और प्रायः सभी अपराधियों को क्षमा-प्रदान करने की जो सूचना निकाली है, वह आवश्यकता से अधिक कृपा नहीं है, और आशा है, इसी से उपद्रवी शान्त होने में ही अपना कल्याण समझेंगे।

२७ फरवरी १९३३

महाराजा अलवर का मेमोरियल

सहयोगी "रियासत दिल्ली" को खबर मिली है कि महाराजा अलवर हिज़ मैजेस्टी के पास एक बड़ा लम्बा-चौड़ा मेमोरियल भेज रहे हैं। ४० साल तक राज-संचालन के बाद अभी आपने इतना भी अनुभव न किया कि उनके खुदा पोलिटिकल एजेन्ट हैं और मि० इबेटसन हैं। हिज़ मैजेस्टी अपने कर्मचारियों पर विश्वास रखते हैं और महाराजा की खातिर से वह आज अपनी नीति न बदलेंगे।

२७ मार्च १९३३

बरार का मुआमला

मुद्दतों के बाद और लाखों खर्च करने पर हिज़ एक्ज़ाल्टेड हाइनेस निज़ाम की अभिलाषा पूरी हो गयी और बरार को उनकी भेंट करने पर सरकार ने रज़ामंदी दिखायी। मगर अब खबर है कि निज़ाम ने बरार को वापस लेने से इनकार कर दिया है। फ़ायदे की तो कोई बात थी नहीं, केवल मन को समझाने की बात थी। हम खुश हैं कि ऐन वक़्त पर हुज़ूर निज़ाम की सूझ-बूझ काम कर गयी और वह ऐसे सूबे को लेने को उत्सुक नहीं हैं जिस पर उनका नाम मात्र का अधिकार रहेगा। बरारवाले इस तबादले से खुश न थे। अब वे भी निज़ाम के यश गायेंगे।

२७ मार्च १९३३

अलवर नरेश

इधर कुछ वर्षों से हिन्दू राजाओं पर विचित्र विपत्ति छा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई छिपी शक्ति इनके राज्य में विप्लव तथा हलचल मचाकर, धीरे-धीरे

इन्हें चौपट करने पर तुली है। और अभी तक, ऐसे कोई लक्षण नहीं प्रकट होते जिनसे यह कहा जा सके कि इस शक्ति को, इस षड़यन्त्र को किस प्रकार फोड़ा जाय, दण्ड दिया जाय तथा हिन्दू राजाओं की रक्षा की जाय। काश्मीर के साथ जो घोरतम अन्याय हुआ है, उसका घाव अभी हमारे दिलों पर ताजा है कि अलवर की घटना सामने आ गयी है। इधर अलवर में जो भीषण उपद्रव हुए हैं, तथा उसे दबाने के लिए महाराज की सरकार ने जो घोर चेष्टाएँ की हैं, उसकी कहानी पूरी तरह प्रकाश नहीं पा सकी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महाराज अलवर में कई दोष थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने एक हिन्दू-राज्य को मुसलिम रियासत बना रक्खा था; पर इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उन्होंने मेवा के विप्लव को दबाने में दृढ़ता से काम लिया था। विप्लव को दबाने की कैसी तथा किस प्रकार की चेष्टा की गयी थी, इसकी बड़ी रोचक गाथा का भण्डाफोड़, ब्रिटिश सरकार ने कहाँ तक क्या किया, उसका रहस्योद्घाटन बड़ी कौंसिल के पिछले अधिवेशन में कराने का प्रयास किया गया था; पर सरकार ने बात ही टाल दी। अब यकायक उसने अलवरेन्द्र से यह कहा कि या तो वे अपने राज्य में जाँच-कमीशन बैठावें, या दो वर्ष के लिए राज्य को ही छोड़ दें। जाँच-कमीशन का सामना करने के लिए इन्दौर-नरेश तथा भरतपुर नरेश से भी कहा गया था; पर दोनों ने ही इस अपमान को स्वीकार करना अनुचित समझा था। अलवरेन्द्र ने भी इस माँग को नामंजूर कर उचित ही किया है। अब दो वर्ष तक दूध के धोये ब्रिटिश अफसर अलवर की दशा सुधारेंगे—जैसे काश्मीर की दशा को आजकल सुधारा जा रहा है।

भारतीय नरेशों पर भारतीय सरकार का ऐसा नियंत्रण एक ओर यह परम्परा स्थापित करता जा रहा है कि ब्रिटिश भारतीय सरकार देशी रियासतों में हस्तक्षेप कर सकती है—और बुरी तरह हस्तक्षेप कर सकती है। इस परम्परा के स्थापित हो जाने से, आगामी भारतीय सरकार भी उसी के अनुसार कार्य कर सकेगी—हमें इस बात की प्रसन्नता है। पर, आश्चर्य इतना ही है कि इस परम्परा का उपयोग हिन्दू राजाओं से ही क्यों हो रहा है। हिन्दू-सभा चिल्लाती हुई मरी जा रही है। पर भूपाल में हिन्दुओं की दशा की जाँच नहीं हो रही है। भावनगर रियासत के विषय में हिन्दू सभा ने जो अपील प्रकाशित की है, उसे पढ़कर खून का आँसू उतर आता है। भावनगर में एक भी सरकारी अफसर जा कर वहाँ के हिन्दुओं पर होनेवाले अत्याचार की जाँच नहीं कर आता—सरकार उस दिशा में इतनी तत्परता नहीं दिखा रही है।

अस्तु, हमारे पास जो थोड़े बहुत समाचार हैं, उनसे हम विशेष नहीं लिख सकते। फिर भी, हम अलवरेन्द्र के साथ सरकारी व्यवहार को हिन्दू-नरेशों पर कुठाराघात समझते हैं। यह भी संभव है कि अलवरेन्द्र को यह अनुभव हो जायगा कि हिन्दुओं

के हितों की हत्या कर, उन्होंने अपने राज्य को मुसलिम-राज्य बनाने का जो पाप किया था, उसका प्रायश्चित सामने आ गया।

२९ मई १९३३

महाराजा अलवर का संन्यास

जिस वक्त भारत धर्म-महामंडल ने महाराजा अलवर को 'राजर्षि' की उपाधि प्रदान की थी, उसे इसकी क्या खबर होगी कि एक दिन ऐसा आयगा, जब महाराजा साहब को जबरन संन्यास लेना पड़ेगा। अलवर के राज्य में वर्षों से कुप्रबन्ध चला आता था। राजर्षि के खर्च का पारावार न था और राज्य की आमदनी उसके लिए पूरी न पड़ती थी। अन्धाधुन्ध कर्ज लेकर, तरह-तरह के कर लगाकर, कर्मचारियों के वेतन रोककर, किसी तरह काम चल रहा था, प्रजा के सुख-दुख की परवा किसे थी। उसका जीवन तो केवल राजकोष की पूर्ति के लिए बना हुआ था। आखिर पैमाना लबरेज़ हो गया और महाराजा साहब को संन्यास लेना पड़ा। महाराजा साहब काश्मीर के विषय में हमने सुना कि जिन दिनों काश्मीर राज्य में दंगे हो रहे थे और मुसलिम प्रजा अपने हिन्दू भाइयों के जान-माल को तबाह कर रही थी, उस समय महाराज साहब अपनी नृत्यशाला में बैठे वेश्याओं का नाच देख रहे थे। इतिहास में ऐसी मिसालें पहले भी आ चुकी हैं, 'नीरो' की कथा प्रसिद्ध है। नृत्यकला की ऐसी ज़बरदस्त उपासना हमारे देशी रजवाड़े ही कर सकते हैं। महाराजा अलवर के विषय में तो ऐसी कोई बात नहीं सुनने में आयी लेकिन यह तो सभी जानते हैं कि जिन दिनों अलवर में पुलीस गोलियाँ चला रही थी, महाराजा साहब काशी और प्रयाग में लीडरी के मज़े लूट रहे थे, और अच्छे-अच्छे व्याख्यान दे रहे थे। यह वह वक़्त था, जब राजा साहब को अलवर और मेवों के बीच में होना चाहिए था। अब वह ज़माना नहीं रहा (कम से कम देशी रजवाड़ों के लिए। अंग्रेज़ी सरकार की बात छोड़िए) कि राजा साहब चाहे प्रजा पर कितना ही जुल्म करें, चाहे उनके कर्मचारी प्रजा का गला कितना ही रेतें, प्रजा उसे ईश्वर की इच्छा और दीनबन्धु की आज्ञा समझकर चुपचाप सहती चली जाय। जब प्रजा राजा के लिए जान देती है तो राजा भी प्रजा के लिए जान देता है। जो राजा अपनी प्रजा को केवल भेड़-बकरी समझता हो, उसकी प्रजा भी राजा को गीदड़ या भेड़िया ही समझती है, मगर राज का पद ही कुछ ऐसा अनर्थकारी है कि आदमी को सामने की चीज़ नहीं सूझती। अपनी आँखों देख रहे हैं कि जर्मनी का क़ैसर अभी तक डेनमार्क में निर्वासित पड़ा हुआ है, ज़ार का क्या हाल हुआ, स्पेन

के राजा की क्या गत हुई, पुर्तगाल के राजा कहाँ भागे, लेकिन फिर भी आँखें नहीं खुलतीं। अगर हमारे महाराजों की यही नीति रही तो वह दिन दूर नहीं है जब इन सबों का निशान दुनिया से मिट जायगा और दुनिया को इसका बिलकुल खेद न होगा।

मई १९३३

रियासतों का संरक्षण एक्ट

यह कानून एसेम्बली में अच्छे बहुमत से पास हो गया। उसी विषय पर बहस करते हुए मि० बी० दास ने एक बड़े मजे की बात कही—क्यों न सभी राजाओं को पेंशन देकर अलग कर दिया जाय और राज्य का प्रबन्ध सरकार करे। हम तो समझते हैं, अगर सरकार यह प्रस्ताव करे, तो बहुत से राजे उसे मंजूर कर लेंगे। आखिर अलवर के ऋषिराज और इन्दौर के महाराज कितने आनन्द से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। न ऊधो का लेना, न माधो का देना, मजे में दस-पाँच लाख सालाना पेंशन लीजिए, पेरिस या लंदन में विहार कीजिए और पच्छिमी कामिनियों पर डोरे डालिए। यहाँ इस चिख-चिख में क्या रखा है। कहीं हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे हैं, कहीं जत्थे निकल रहे हैं, जान आफत में है। उस पर चारों तरफ से गालियाँ मिल रही हैं। जनता एक तरफ पैंतरे बदल रही है, सरकार दूसरी तरफ आँखें दिखा रही है। इस झंझट में क्यों सिर खपाइये।

१६ अप्रैल १९३४

हमारे देशी नरेशों का पतन

आजकल समाचार पत्रों में हमारे देशी नरेशों के पतन की अनेक कथाएँ पढ़ने को मिल रही हैं। ऐश-आराम से उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती। प्रजा निर्धनता, बेकारी और करों के बोझ से बुरी तरह दबी हुई कराह रही है। राज-परिवार के आत्म-सम्मान का ध्यान रखनेवाले लोग उनके राग-रंग और पतित कर्मों का विरोध कर रहे हैं, किन्तु उन महाराजाओं के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती! वे अपने परिवार के स्पष्टवादी लोगों, और यहाँ तक कि अपनी रानियों, को भी अपने महलों में कैद कर देते हैं। ऐसी बातों की पोल न खुलने देने के लिए कोई कोशिश उठा नहीं रखते और निरंकुशता के

मद से मत्त होकर भोग-विलास और प्रजा के रक्त-शोषण में लीन हो जाते हैं।

मध्यभारत प्रजा-परिषद् के मंत्री श्री कन्हैया लाल वैद्य ने Whither Jhabua? नाम की पुस्तिका हमारे पास भेजी है। इस पुस्तिका में झाबुआ नरेश के काले कारनामों को प्रकट किया गया है और यह दिखलाया गया है कि झाबुआ किस ओर जा रहा है। इस पुस्तिका में यहाँ के महाराजा उदयसिंह पर जो भीषण आरोप लगाये गये हैं, उन्हें निराधार नहीं माना जा सकता। एक देशी नरेश भोग-विलास और पतन की किस सीमा तक पहुँच सकता है, यह बात इस पुस्तिका में सप्रमाण बतलायी गयी है। इसे पढ़कर लज्जा से सिर नीचा कर लेना पड़ता है। झाबुआ नरेश ने अपनी महारानी गौर जी को एक प्रकार से क़ैद-सा कर रखा है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि महाराजा साहब की कोप-दृष्टि के कारण उनका जीवन सदैव संकट में रहता है। वे उनका अपमान ही नहीं करते, उनके साथ क्रूरता का अमानुषिक व्यवहार भी करते हैं। हमें इसकी प्रसन्नता है कि महारानी ने इन बातों की शिकायत पोलिटिकल एजेण्ट को लिखकर भेजी है। उन्होंने बहुत ही करुणापूर्ण शब्दों में उनसे अपने जीवन की रक्षा के लिए प्रार्थना की है और यह भी उन्हें लिखा है कि उनके पतिदेव महाराजा उदयसिंह स्नायु सम्बन्धी कमज़ोरी से अत्यधिक पीड़ित हैं। महारानी ने जो अर्ज़ी पोलिटिकल एजेण्ट को भेजी है, इस पुस्तिका में उसकी प्रतिलिपि दी गयी है। हम महारानी के साहस की प्रशंसा करते हैं। इधर ताज़े समाचारों से मालूम हुआ है कि पोलिटिकल एजेण्ट ने बड़ी सतर्कता से इस ओर ध्यान दिया है और शीघ्र कोई खास कार्रवाई होने वाली है। हमारी राय में ऐसी स्नायु-संबंधी अत्यन्त कमज़ोरी से ग्रस्त और स्त्री जाति का अपमान करनेवाले क्रूर नरेश के प्रति बहुत शीघ्र उचित कार्रवाई की जानी चाहिए।

हम श्री कन्हैयालाल वैद्य को धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने बड़ी निर्भयता के साथ, झाबुआ नरेश की इन लीलाओं को प्रकाशित किया।

जून १६३४

झाबुआ नरेश का निर्वासन

झाबुआ नरेश के खिलाफ वर्षों से आन्दोलन हो रहा था। प्रजा आपके शासन से अत्यन्त असन्तुष्ट थी। अनेक बार आपकी शिकायतें हुईं, और आप दाँव-पेंच से अपने को बचाते रहे। आखिर आपके कुकर्मों का घट भर गया और इन्दौर-स्थित सेण्ट्रल इण्डिया के पोलिटिकल एजेण्ट ने आपको बुला भेजा। ता० ११ सितम्बर को सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित करके आपको शासन से अलग करके अनिश्चित काल के लिए निर्वासित घोषित कर दिया गया। अब राज्य विशेषरूप से नियत एक मंत्री के हाथ में रहेगा;

जो सरकार द्वारा चुना जायगा। सरकार को इस समय ध्यान रखना चाहिए कि जिस उद्देश्य से राजा को अलग किया गया है, यदि नयी व्यवस्था से उसकी पूर्ति न हुई, प्रजा के कष्ट दूर न हुए तो परिणाम और भी दुःखदायी हो जायगा।

सितंबर १९३४

बर्मा-सम्बन्धी निर्णय

बर्मा में कौंसिल के नवीन निर्वाचन से यह बिलकुल स्पष्ट हो गया है कि लगातार १० वर्ष की गवर्नरी में वहाँ के गवर्नर सर चार्ल्स इनेस जो परिस्थिति पैदा करना चाहते थे, वह न हो सकी—यानी बर्मा की जनता आज एक स्वर से भारत से पृथक् होने के लिए तैयार नहीं है। जहाँ तक पढ़े-लिखे लोगों के बीच फुटमत कराने में तथा बहुत से ऐसे लोगों को खड़ा करा देने का संबंध था, जो लन्दन में जाकर बर्मा को भारत से अलग करा देने का राग अलापें, सर चार्ल्स असाधारण रूप से सफल रहे। पर, बर्मा के भारत से अलग हो जाने से धनी तथा समृद्धिशाली और आराम कुर्सीवाले भारतीयों की विशेष हानि नहीं है। हानि उनकी है जो तेल के सोतों पर, खानों पर, चाय के खेतों में, चावल की काश्तकारी में काम करते हैं—और जिनके ये अमूल्य साधन सदा के लिए विदेशियों के हाथ में और विदेशियों के लिए सुलभ रखने का षड्यन्त्र विदेशी व्यापारिक कर रहे हैं। अतएव, जिस प्रकार, कुछ समय के लिए अद्भुत गति से चार्ल्स की कृपा से, बर्मा और लन्दन में भारत-विरोधी आन्दोलन उबल पड़ा था; ठीक उसी प्रकार से बर्मा लोकमत भी अद्भुत रीत्याजागृत होकर बर्मा के पृथक्करण का विरोध कर रहा है। बर्मा कौंसिल का चुनाव उसी प्रकार संकुचित दायरे में होता है तथा लोकमत को इतना कम स्थान मिलता है कि उसको भी निर्जीविता का वही सार्टिफिकेट प्राप्त है जो अभागिनी भारतीय कौंसिलों को। फिर भी, उसने सरकारी सदस्यों के कौंसिली चालों की उपेक्षा कर, आज वह अद्भुत कार्य किया है जो बर्मा ऐसे ही प्रांत के लिए सम्भव था—और वह यह कि कौंसिल ने बहुमत से भारत से पृथक्करण का प्रस्ताव पास किया। दूसरे प्रस्ताव में भारत से अलग होने का हक-अधिकार स्वयं बर्मावालों के निश्चय की वस्तु घोषित किया गया।

बर्मा को निश्चय का घातक घाव सर चार्ल्स इनेस को लन्दन में लगा होगा। उनकी गवर्नरी का कार्यकाल ही जिस उद्देश्य से बढ़ाया गया था, वह भ्रष्ट हो गया। पर, सरकार भी अपनी बात को रँगना खूब जानती है। उसने तुरंत बर्मा कौंसिल के प्रस्तावों को दो-रुखा बतलाना शुरू किया है और लन्दन के तथा भारत के नीम-सरकारी पत्र एक स्वर में शोरकर रहे हैं कि प्रस्ताव का उद्देश्य यही है कि लोकमत केवल

अपनी इच्छा को व्यक्त करना चाहता है, अन्यथा भारत के साथ रहने की उसकी ज़रा भी इच्छा नहीं है। यदि बर्मा का भावी शासन-विधान शीघ्र घोषित कर दिया जावे और बर्मा जनता को सन्तोष हो जावे कि उसे भारत से अलग रहने पर भी, कोई दुःख न झेलना होगा तो वह भारत की ममता त्याग दे। इसीलिए, अनुमानतः शीघ्र ही ब्रिटिश सरकार अधिकारी तौर पर यह घोषणा करनेवाली है कि भारत से बर्मा पृथक् किया जावेगा और उसका भावी शासन-विधान अमुक भित्ति पर दृढ़ होगा।

दिल्ली में व्यवस्थापक महासभा का अधिवेशन इसी अवसर पर प्रारम्भ हो रहा है और समाचार है कि सरकार की इस घोषणा की आशंका से जेबी गोलमेज़ के मेम्बर तथा भारत में अरब का सपना देखनेवाले मि० गज़नवी या सर मुहम्मद याक़ूब तक घबड़ाये हुए हैं। उन्हें भारत की इस भयंकर हानि तथा सरकार की भीषण नादानी, लोकमत की उपेक्षा, प्रजासत्ता के अनादर के प्रति बड़ा खेद और संदेह तथा क्रोध-सा हो रहा है। क्रोध का कोई कारण नहीं। प्रजा के मत की सरकार कितनी चिन्ता करती है, यह लिखने की बात नहीं है। एसेम्बली तथा कौंसिल के मेम्बर भी ज़रा-ज़रा से स्वार्थ के लिए, काठ के खिलौनों की तरह, सरकार के हाथ की पुतलियाँ बन जाया करते हैं। ओटावा बिल, आर्डिनेन्स-बिल के पास होने में सरकार को जो अद्भुत सफलता मिली थी, उसे यह कहकर नहीं भूल जाना चाहिए कि कौंसिल निर्जीव है, लोक-मत क्या करे, किन्तु साफ़ बात तो यह है कि सरकार चाहे वह अपनी ही क्यों न हो, सदैव अपनी नीति को सफल करने के लिए हर प्रकार की राजनीति चलेगी। यह कोई पाप नहीं है, पर हमारे प्रतिनिधि कहे जानेवाले क्यों उन बिलों के समय तटस्थ—विरोधी—अनुपस्थित थे। सच पूछो तो इन कौंसिल एसेम्बली में प्रजा के मित्र नहीं, शत्रु ही अनेक हैं, सभी स्वार्थी-नीति बर्तना चाहते हैं। ऐसी दशा में इन दुर्बल सदस्यों से बर्मा के प्रश्न पर भी प्रबल विरोध की हमें आशा नहीं। यदि विरोध होगा भी तो उसका कोई नैतिकमहत्व न होगा। बर्मा भारत से अलग हो जावेगा। भारत के हितैषी भारत का एक हाथ ही तोड़ देंगे।

इस विषय में कांग्रेसी तथा लिबरल नेता मौन रहकर ही काम चलाना चाहते हैं, यह कहकर चुप रह जाना कि हम तो बर्मा को अपने साथ रखना चाहते हैं। पर इसका निर्णय बर्मा स्वयं कर ले, एक घातक मूर्खता-सी है। बर्मी यदि न चाहते हों तो हमें चाहिए कि हम उनको इसके लाभ बतलावें, अपने साथ रखने के फ़ायदे बतलावें, आश्वासन दें तथा उन्हें समानाधिकार देने की प्रतिज्ञा करें। सरकार जब अपनी ओर से इस प्रश्न को तटस्थ होकर नहीं देखती तो हम क्यों चुप रहें। बर्मा हमारा है, भारत का है, हम बर्मा के हैं, भारत के हैं।

६ फरवरी १९३३

बर्मा का पृथक्करण

गत सप्ताह गुरुवार और शुक्रवार को सैगेंग में बर्मी जनता का एक उत्साहपूर्ण सम्मेलन हुआ था। उसमें सर्व-सम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुए थे :

१—सम्मेलन प्रधानमंत्री की शासन-विधान की योजना को अस्वीकार करता है।

२—सम्मेलन बर्मा के भारत से पृथक्करण का पूर्ण विरोधी है।

३—बर्मा को पूर्ण ज़िम्मेदारीयुक्त शासन-विधान चाहिए।

४—बर्मा किसी भी दशा में व्हाइट-पेपर के आधार पर निर्मित शासन-विधान नहीं स्वीकार करेगा।

इस अवसर पर डॉ० बा मा का व्याख्यान बड़ा प्रभावशाली था और उसने यह स्पष्ट कर दिया कि बर्मी कभी भी भारत से पृथक् होना नहीं चाहते थे। सरकार ने इस विषय में केवल एक आन्दोलन खड़ा कर रखा था। कौंसिल भी पृथक्करण का विरोध कर चुकी है। अब सरकार को चाहिए कि तुरन्त बर्मा को भारतीय-संघ में शामिल करे।

१७ अप्रैल १९३३

बर्मा की असली आवाज़

बर्मा के भारत से पृथक्करण के विरोधी बहुमत के दो प्रमुख नेता यू० चिट-हिलैंग और डॉ० बा माँ ने निम्नलिखित संदेश भारत-सचिव वाइसराय तथा बर्मा के गवर्नर के पास तार से भेजा है। इस सन्देश की भाषा इतनी स्पष्ट है, विचार इतने स्पष्ट हैं, तथा बातें इतने मार्के की हैं, कि हम नीचे उसका अविकल अनुवाद मात्र दे देते हैं। आलोचना की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। सन्देश इस प्रकार है—

'८ मई को कामन्स सभा में आपका यह उत्तर कि ब्रिटिश सरकार बर्मा सम्बन्धी नीति के निर्णय को उस समय तक के लिए स्थगित करती है, जब तक कि कौंसिल के विशेष अधिवेशन की कार्यवाही की सूचना ब्रिटेन में न पहुँच जाय—देश में घोर असन्तोष फैला रहा है। उस अधिवेशन की कार्यवाही अधूरी है ; क्योंकि जिस ढंग से अधिवेशन की कार्यवाही का संचालन किया जा रहा था, उसके विरोध-स्वरूप वाध्य हो कर पृथक्करण-विरोधी नेताओं को कार्यवाही से हाथ खींचना पड़ा था। इस विषय में हम आपका ध्यान उन सन्देशों की ओर दिलाते हैं, जो हम पहले भेज चुके हैं। कौंसिल की कार्यवाही केवल पृथक्करण के समर्थक मेम्बरों के प्रस्ताव को स्वतः रद्द करा देना था। खुले तौर पर यही किया गया था और इसका यही उद्देश्य था, कि पृथक्करण का समर्थक प्रस्ताव गिर न जावे तथा विरोधी अपना प्रस्ताव पेश न कर सकें।

पृथक्करण-विरोधी दल बहस समाप्त करने का प्रस्ताव भी दो कारणों से न पेश कर सका। एक तो यह कि प्रतिपक्षियों ने बहुत संशोधन पेश कर दिये थे, दूसरे सभापति का व्यवहार तथा अधिकार प्रतिकूल प्रतीत होता था। सभा के ४४ सदस्यों के हस्ताक्षर से जो विज्ञप्ति गवर्नर के पास भेजी गयी थी, उससे पृथक्करण-विरोधी पक्ष की जीत की निश्चितता सिद्ध होती है।'

ऊपर लिखी बातें यह साफ तौर पर सिद्ध करती हैं कि बर्मा पृथक्करण का विरोधी है और वास्तव में वह क्या चाहता है तथा प्रधान मंत्री द्वारा प्रस्तावित शर्तों के बजाय उसकी क्या मंशा है। ऐसी दशा में ब्रिटिश सरकार अपनी नीति की घोषणा करने में जो विलम्ब कर रही है, वह बर्मा के स्पष्ट निर्णय को स्वीकार करने में विलम्ब करने की चेष्टा मात्र है। ऐसे कार्य से बर्मा का भाग्य और भी घपले में पड़ जायगा और उसे किसी भी प्रकार का शासन विधान न मिल सकेगा।

बर्मा-पृथक्करण विरोधी दलों की ओर से तथा बर्मा कौंसिल की ओर से हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि ४४ मेम्बरों द्वारा समर्पित पृथक्करण विरोधी दल के प्रस्ताव को स्वीकार, पृथक्करण-विरोधी सदस्यों के बहुमत का एक प्रतिनिधि-मंडल बनाकर भारतीय संघ-शासन विधान के निर्माण में बर्मा को उतना ही अवसर दीजिए, जितना भारत को दिया जा रहा है।

इस अपील के विरोध में, बर्मा की सरकार की देखरेख में पलनेवाला मिया मिट्ठू दल कोई तर्क-युक्त उत्तर नहीं दे सका है। भारत-सचिव बर्मा का स्वार्थ विशेषतः चाहते हैं, या अपने देश का, यह इस अपील पर उनके निर्णय से तय हो जायगा।

२६ मई १९३३

मार्च का बजट

मार्च बहुत ही निकट है। भारत-सरकार का आर्थिक वर्ष समाप्त होनेवाला है। सरकारी सूचनाओं के बल पर जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, यह वर्ष सरकार के लिए १९३१ की अपेक्षा कहीं सफल रहा। अपने आय-व्यय को बराबर करने के लिए सरकार ने हर तरह के उपाय किये। आय-कर बहुत अधिक बढ़ा दिया गया। मध्यम श्रेणी के लोग ही हरेक आर्थिक संकट में सबसे अधिक हानि उठाते हैं और इन्हीं अभागों की इस साल भी उसी प्रकार दुर्दशा रही। फ़ी रुपये में तीन पाई का आय-कर कितना अधिक होता है, यह लिखना व्यर्थ है। इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। आय-कर के महकमे से लोगों को इधर कितना कष्ट हो रहा है तथा इस महकमे को प्रजा के प्रतिबन्ध से कितना दूर रखा गया है, यह सभी को अच्छी तरह

मालूम है और इस बात को हमसे अधिक स्वयं सरकार जानती है। अस्तु इस वर्ष सरकार ने आय-कर की आमदनी बहुत बढ़ा ली है। तीन बार नया कर्ज़ लिया है, जिसकी सफलता का कारण व्यापार का अभाव और रुपये का बेकार पड़ा रहना है। सरकार ने आर्थिक कष्ट के नाम पर वस्त्र-व्यवसाय की रक्षा तथा अन्य उपयोगी कार्यों में बाहर से आनेवाले माल पर या अन्य प्रकार से "संरक्षण" की नीति अस्वीकार-सी कर दी। भारत के बाहर सोना भेजना नहीं रोका गया और इस अभागे देश का अरबों का सोना बाहर बह गया। सरकार को अपने "कस्टम्स" की आमदनी का विशेष ध्यान रहा, न कि भारत की दरिद्रता का। रेलवे तथा अन्य महकमों से लाखों आदमी निकाल दिये गये। "कमी" के नाम पर लाखों बेगुनाह ग़रीब वर्ष भर से भूखों मरने के लिए छोड़ दिये गये, पर मोटा वेतन पानेवालों के वेतन में नाम मात्र की कमी की गयी। काँग्रेस तथा अन्य ग़ैर-कानूनी क़रार दी गयी संस्थाओं का रुपया ज़ब्त करने से सरकार ने अच्छा द्रव्य संचय किया था और "जुर्माने" के रूप में भी लाखों रुपया वसूल किया गया।

इस प्रकार सरकार का बजट सम्हला मालूम होता है और सर जार्ज शुस्टर अपने आख़ीरवें बजट को "सफल" ब्यौरे के रूप में पेश करना चाहते हैं। यदि वे नवम्बर में भारत से चले गये—हालाँकि उन्हें रोकने के लिए अभी से विज्ञापन शुरू हो गया है—तो वे अपने यश को कलंकित करके नहीं जाना चाहते, अर्थात् सरकारी नौकरों की तनख्वाह में १९३३ के मार्च के बाद से पिछली १० प्रतिशत कमी घटाकर ५ प्रतिशत कर दी जायगी। मद्रास-सरकार की सूचना है कि ३१ मार्च, १९३३ के बाद पूरी कमी बहाल कर दी जायगी।

हम सरकारी नौकरों को पराया नहीं समझते। वे भी हमारे भाई हैं। उनकी वृद्धि हमारी वृद्धि है। पर, हम जानना चाहते हैं कि क्या १० को भूखा मार कर एक का पेट पालना ठीक है? सरकार के बजट का लाभ कितने ग़रीबों की दरिद्रता के बल पर हुआ है। कितने ग़रीब बिना पेट भर खाये कराह रहे हैं? कितने अनाथ बच्चे दो घूँट को तरस रहे हैं? कितनी अभागिनी माताएँ सूखी पत्तियाँ भी नहीं चबा पातीं, तो उनके स्तनों से दूध कैसे निचुड़े? दूध की जगह रक्त निचुड़ आता है। पैसे के लोभ से लोग अपने शरीर का एक-एक तिनका सोना बीनकर बेचते हैं। अब कितनों के पास पीतल का लोटा-थाली भी नहीं है। ये अभागे क्या करेंगे? सरकार का बजट तो सम्हला है, पर देश के एक भी अभागे की हालत सुधरी है? सरकार की समृद्धि प्रजा की समृद्धि है। उसका वैभव, प्रजा का वैभव है। उसकी श्री हरेक नागरिक और किसान के मुख पर बिखरी हुई दिखनी चाहिए, पर वहाँ चारों ओर कंकाल है। व्यापार है नहीं, विलायती माल करोड़ों रुपये का बढ़ रहा है। लोग देशी रोज़गार पनपा नहीं पाते। सरकार को अपनी ज़कात का, अपनी चुंगी का, अपने बजट का ध्यान है।

मान लिया जाय, कि वह अपने ही कर्मचारियों को विश्वास-पात्र करने के लिए

उनके वेतन को ज्यों का त्यों करना चाहती है। ठीक है, पर सरकारी कर्मचारी ही प्रजा नहीं है। देश की आबादी उन्हीं में नहीं है। ईश्वर कृपा से हरेक सरकारी कर्मचारी को खाने का आधार है। यदि ५ प्रतिशत् कमी न भी रहे, या रहे भी, तो कुछ विशेष नहीं बनता-बिगड़ता, पर सरकार ने १९२१-२५ के मँहगी के ज़माने में सभी तनख्वाहों को काफ़ी बढ़ा दिया। आज वेतन वही है, मँहगी नहीं है, पर, सरकार को उनकी ओर देखना चाहिए, जो दाने-दाने को तरस रहे हैं, जिनके आधार मध्यम श्रेणी के लोग थे, पर आय-कर तथा अन्य बाधाओं की चपेट से जो कंगाल हो रहे हैं। सरकार के पास कुछ बचत है, तो उचित तो यह है कि वह भारतीय-वस्त्र व्यवसाय को और संरक्षण दे, इससे देशी व्यापार पनपे। खद्दर को प्रोत्साहन दे, इससे यह उद्योग फैले। अतिरिक्त आय-कर उठा ले, जिससे मध्यम श्रेणीवाले साँस ले सकें। सहोद्योगिक-संस्थाओं को, देशी-व्यवसाय को, वह उन्नत कर करोड़ों प्राणियों की जान बचा सकती है। थोड़े से प्रयास से, यदि वह चाहे तो लगान में और भी छूट की जा सकती है। एक कर्मचारी का वेतन पूरा करने से कहीं अच्छा है, एक किसान के लगान में छूट करना। जो वेतन पाता है, उसे विश्वासपात्र तथा अधिक भक्त बनाने से कहीं भला है जो वेतन नहीं पाता उसे शान्त रखने में। हम भारतीय जनता को सत्याग्रह या आन्दोलन की सलाह नहीं दे रहे हैं। हम सरकार से अनुरोध करते हैं, कि वह स्वयं ज़रा ध्यान-पूर्वक अपना कर्तव्य सोचे। इस विषय में कलकत्ता तथा बम्बई के वाणिज्य-मंडल ने सरकार के पास महत्वपूर्ण तार भेजे हैं। हरेक देश-हितैषी को इस दिशा में जमकर आन्दोलन करना चाहिए। क्या सरकार लोकमत का आदर एकदम न करेगी?

१३ फरवरी १९३३

महात्मा जी का पत्र

बड़े लाट के नाम महात्मा जी ने जो पत्र भेजा है, उसकी पूरी नकल नहीं मिल सकी है; पर पत्र में गांधी जी ने जो कुछ लिखा होगा वह बहुत ही सोच-समझकर, इसमें सन्देह नहीं। पत्र का जो सारांश प्रकाशित हुआ है, उससे प्रत्येक भारतीय सहमत है। यदि वायसराय यरवदा-समझौता के हस्ताक्षर करनेवालों को भारतीय लोकमत का प्रतिनिधि मानकर, उस समझौते को स्वीकार कर सकते थे, तो मन्दिर-प्रवेश के विषय में उन्हीं की राय को क्यों नहीं मानते? उस समय सनातनी यरवदा-पैक्ट के हिमायती नहीं थे; पर अब स्थिति क्यों तथा कैसे बदल गयी है, यह हम नहीं समझ सकते। क्या वायसराय पर गान्धी जी के पत्र का असर पड़ेगा?

१३ फरवरी १९३३

राजनैतिक नेताओं की रिहाई

एसेम्बली में राजनैतिक नेताओं की रिहाई के सम्बन्ध में जो प्रश्न पूछे गये हैं तथा उनका जो उत्तर दिया गया है, उनसे यह स्पष्ट है कि सरकार एक ओर सुधार का कार्यक्रम पूरा करना चाहती है, दूसरी ओर दमन को भी कम नहीं करना चाहती। वायसराय ने एसेम्बली की कार्यवाही शुरू करते समय जो भाषण दिया था, उससे यह स्पष्ट हो गया था कि उनको यह आशा है कि धीरे-धीरे जनता सरकारी-दमन-नीति की ज़रूरत को स्वीकार कर लेगी तथा वैध कार्यक्रम की आँधी में काँग्रेसवाले बहकर, वैध कार्यकर्ता हो जावेंगे। ईश्वर करे काँग्रेसवाले रचनात्मक कार्य की ओर झुकें। ईश्वर करे, जैसा भी, जो कुछ भी शासन-सुधार हो, उसी को अपनाकर उसे ही सफल या असफल बना दिया जावे। काँग्रेस यदि सत्याग्रह समाप्त कर स्वयं कुछ विश्राम ले, या देश को विश्राम दे, तो भी हम प्रसन्न होंगे। पर, इसका उपाय ज़िद नहीं है, झगड़ा नहीं है, दमन नहीं है तथा काँग्रेस को नगण्य समझते रहना नहीं है। लार्ड विलिंग्डन या उनकी सरकार जब तक काँग्रेस को हेय या तुच्छ या उपेक्षित समझेगी, तब तक उसे अपने आत्म-सम्मान के लिए ही सही, अपनी सत्ता को प्रमाणित करने के लिए संघर्ष करना ही होगा। यदि सरकार काँग्रेस से अधिक शक्तिशालिनी है, तो उदारता ही शक्तिशाली का सबसे घातक अस्त्र होता है। वह एकबार सभी राजनैतिक बन्दियों को छोड़ क्यों नहीं देती ? दमन की शक्ति उसके हाथ में है। वह जब चाहे तब उन्हें बन्द भी कर सकती है। जहाँ तक हमें मालूम है, भारतीय सरकार की राय तथा लन्दन में इस विषय में गहरा मतभेद है। ज़रूर बातचीत हो रही है; पर भारत-सरकार किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहती। काँग्रेस भी सरकारी उदारता के सहारे अपने कार्यकर्ताओं को छुड़ाना अनुचित समझती है। उसकी राय क्या है, यह केवल अनुमान से ही जाना जा सकता है : पर सरकार भी दमन से थक गयी है, यह आये दिन की गिरफ्तारियों तथा छूट से मालूम हो जाता है। काँग्रेस भी साधन-रहित-सी होकर केवल केन्द्रीय प्रदर्शन कर अपनी आत्मा को संतुष्ट कर लिया करती है। अपव्यय दोनों ओर से हो रहा है, चाहे वह शक्ति का हो या धन का ; पर समस्या सुलझाना सरकार के हाथ है। अतः दोष उसी का अधिक है, इसमें सन्देह नहीं।

१३ फरवरी १९३३

सर तेज का मत

सर तेज बहादुर बड़े ही नर्म विचार के नेता हैं। उन्हें सरकारी कर्मचारियों की उच्छृङ्खलता पर कम क्रोध आता है—देर में आता है। पर, पुण्यात्मा स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू का ६ तारीख को बरसी मनाने के लिए प्रयाग में जो सर्व-दल की महती सभा होनेवाली थी, उस पर दफा १४४ लगाकर, वहाँ के कर्मचारियों ने उस पवित्रात्मा के प्रति बड़ा कटु अनादर-भाव प्रकट किया है। इस विषय में सर तेज ने जो यह कहा है कि—'आखिर लोकमत को त्रस्त करने की कोई सीमा होती है'—इससे अधिक हम कुछ नहीं कहना चाहते !

१३ फरवरी १९३३

ह्वाइट पेपर का मसविदा

९ फरवरी को बम्बई में सभी राजनैतिक दलवालों की एक विराट् सभा हुई थी, जिसमें सर चिमनलाल सीतलवाद सभापति थे। उन्होंने आरम्भ में ही गोलमेज़ सभा द्वारा निर्धारित नवीन शासन विधान सम्बन्धी प्रस्तावों की कड़ी आलोचना करते हुए कहा था कि यद्यपि ये प्रस्ताव मौजूदा परिस्थिति से बहुत आगे ले जाते हैं फिर भी नर्म से नर्म विचारवाले सज्जनों ने जो आशा की थी, उससे भी थोड़े हैं। संघ शासन तय है पर देशी राज्यों के संघ शासन में शरीक होने की शर्तें लचर हैं।

सर चिमनलाल का यह भी मत था कि गवर्नर जेनरल के विशेष अधिकारों में भारतीय रियासतों तथा व्यापार की रक्षा भी है। जो काम मंत्री के हाथ में रहेंगे उनके विरुद्ध भी वह निर्णय करेगा। वह आर्डिनेन्स जारी करेगा, उन्हें स्थायी क़ानन का रूप स्वयं दे सकेगा। सबसे बड़ी शिकायत तो यह है कि गवर्नर जेनरल ब्रिटिश पार्लमेंट भारत-सचिव और पार्लमेंट की इच्छानुसार शासन करेंगे, उनकी नियुक्ति तक में भारतीय लोकमत की कोई पूछ न होगी। संरक्षणों की इतनी भरमार है कि शासन की ज़िम्मेदारियाँ कुछ नहीं के बराबर हैं।

सर चिमनलाल के भाषण के अनन्तर बम्बई के भूतपूर्व अर्थ-मन्त्री सर गोविन्द प्रधान ने अपने भाषण में स्पष्ट कह दिया कि आर्थिक संरक्षणों से देश की उन्नति का रास्ता ही रुक गया। गोलमेज़ के भूतपूर्व मेम्बर मि० एच० पी० मोदी का कहना था कि भारतीय सरकारी ख़र्च घटाना चाहिए और अर्थ का नियंत्रण करना चाहिए। पर, नवीन शासन-विधान में इसकी कोई उपयोगी गुंजाइश नहीं है। कई वक्ताओं की यहाँ तक राय थी कि नये शासन-विधान में एक नौकर को भी अपने मन से हटा देना किसी

मंत्री के लिए संभव न होगा।

अंत में सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास हुआ कि यह सभा शासन-विधान-सम्बन्धी गोलमेज़ी प्रस्तावों के प्रति असंतोष प्रकट करती है और उसकी राय में वे भारतीय माँगों से बहुत कम हैं। यदि उनमें आवश्यक और सन्तोषपूर्ण परिवर्तन नहीं किया जाता तो इससे नये शासन-विधान को जारी करने में दिक्कत पैदा हो जावेगी और देश में घोर असन्तोष पैदा हो जावेगा।

इसी प्रस्तावित शासन-विधान के विषय में बम्बई के लिबरल नेताओं तथा अन्य नर्म नेताओं की ओर से एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी, जिसे इसी १२ फरवरी को, श्रीमान् सी० वाई० चिन्तामणि की अध्यक्षता में होनेवाली युक्तप्रान्तीय लिबरल-संघ ने भी स्वीकार किया है और इस "बयान" में साफ़ तौर पर लिखा हुआ है कि सर सेमुएल होर की अधिकारपूर्ण घोषणा तथा तीसरी गोलमेज़ से लौटे भारतीय सदस्यों से भावी शासन-विधान का बाहरी खाक़ा मालूम हो गया है और यदि भारत का भावी शासन-विधान भारतियों के लिए सन्तोषजनक बनाना है तो उसे केन्द्रीय शासन में जिम्मेदारी अवश्य देना चाहिए, केन्द्रीय व्यवस्थापक महासभा को यह अधिकार होना चाहिए कि व्यापार, विनिमय, उद्योग आदि के विषय में अपनी इच्छानुसार नियम बनावे, संरक्षण हों, पर बहुत थोड़े हों, और भारत के हित के ही हों। पर इस विषय में अभी तक जो कुछ मालूम हो सका है, वह नर्म से नर्म भारतीय नेता की आशा से कहीं कम है।

उस लम्बी विज्ञप्ति का इतना ही सारांश हमारे लिए पर्याप्त है। अपनी ओर से कुछ जोड़ने की भी ज़रूरत नहीं है। सरकार स्वयं यह जानती है कि उसका प्रस्तावित शासन-विधान, जो पार्लमेंट में पेश किये जाने के लिए "ह्वाइट पेपर" के रूप में प्रकाशित होगा, वह लोगों को पसन्द आयेगा। कई प्रमुख लिबरल तो यहाँ तक कह चुके हैं कि भारत में फिर से "ज़ार-सत्ता" के रूप में "वाइसराय-सत्ता" आनेवाली है। पंडित नानकचन्द ने डी० ए० वी० कालेज में भावी शासन विधान पर भाषण देते हुए कहा था कि प्रस्तावित प्रान्तीय स्वराज्य से भारत में राष्ट्रीयता स्थापित न हो सकेगी। पंजाब के हिन्दुओं के लिए तो उन्होंने यहाँ तक कहा कि चुपचाप बैठे रहने पर वे सदा के लिए दब जायँगे।

आगे चलकर पंडित जी ने कहा था कि आप महात्मा गांधी को दोष दें वा सर तेजबहादुर सप्रू को, नया शासन-विधान तो आ ही रहा है, और वह जारी भी हो ही जायगा। वह कुछ को पहले और कुछ को बाद में पीस डालेगा। पंजाब के हिन्दू पहले पीसे जायँगे। जिन्होंने साम्प्रदायिक निर्वाचन का समर्थन किया था, वे सबसे पहले चिल्लायँगे। मैं ऐसी शासन प्रणाली की बिलकुल ही सहायता नहीं करूँगा जो हिन्दुओं को मुसलमानों का और मुसलमानों को सिखों का विरोधी बनाती हैं।

पंडित नानकचन्द गोलमेज़ी हैं। उनके लन्दन जाते समय हम उसी प्रकार उनके

विरोधी थे जितना श्री केलकर के। हमें हर्ष है कि अब उनकी भी आँख खुली है और वे गोलमेज़ का आडम्बर समझ गये हैं। बुराई से भी भलाई होती है। अच्छा हो, यह शासन-विधान ही बुरा हो। इससे हिन्दू और मुसलमान एक होकर आत्मनिर्णय तो सीख जायँ और भीख तो न माँगा करें। हम पंडित नानकचन्द की इस राय से सहमत हैं कि—राजनीति में कोई बात तय नहीं होती। प्रत्येक दशा में परिवर्तन हो सकता है। बंग-भंग की नीति का, सरजान साइमन की सिफारिश तक में भी परिवर्तन तो करना ही पड़ा था। पर अन्त में प्रश्न यह है कि भावी शासन-विधान से हम अपनी रक्षा किस प्रकार करें।

सुना जाता है कि कलकत्ते में काँग्रेस का "जायज़" अधिवेशन होनेवाला है। सरकार बार-बार काँग्रेस की ओर से इशारे का संकेत चाहती है, पर वह कभी काँग्रेस को एकत्रित होकर निश्चय करने का अवसर नहीं देती। इस समय यदि सरकार ह्वाइट पेपर को प्रकाशित कर काँग्रेस को भी उस पर विचार करने का मौक़ा देती तो न जाने इस समय कैसा निर्णय हो जाता। हो सकता था, कि थकी काँग्रेस वैध योजना बनाती, पर सरकार ने अपने दमन से उसके लिए युद्ध की अनिवार्य दशा उत्पन्न कर रखी है। क्या वह अब भी, शासन-विधान का गहरा घाव लगाने के पहले, जनता के हित के लिए इतना भी करेगी?

२० फरवरी १९३३

सर सेम्युएल का उत्तर

हाउस ऑफ़ कॉमन्स में मि० टामस विलियम्स के एक प्रश्न के उत्तर में सर सैम्युएल होर ने कहा है कि तब तक भारतीय राजनैतिक बन्दियों या महात्मा गांधी की रिहाई का प्रश्न ही नहीं हो सकता जब तक सरकार को यह उम्मेद न हो जाय कि उनकी रिहाई से सत्याग्रह के पुनः प्रारम्भ होने की आशंका नहीं है। इस उत्तर से हमारी आशंका सच निकली। लन्दन की सरकार रिहाई के लिए तय्यार है; पर भारत की सरकार ने भावी विपत्ति का एक थोथा आडम्बर रच रखा है, इसी कारण लन्दन को दिल्ली के आगे सर झुकाना पड़ा है। भारत-सरकार यदि समझती है कि काँग्रेस-नेता खुद छूटना चाहते हैं तो वह ग़लती करती है। काँग्रेसी स्वयं नहीं छूटना चाहते, वे फिर जेल जाना चाहते हैं। उनको छुड़ाने के लिए हम उत्सुक हैं जो देश में शांति तथा व्यवस्था के साथ ही, वैध और परिश्रमी कार्यक्रम देखना चाहते हैं। काँग्रेस के नेताओं को न छोड़कर सरकार जनता को और भी असन्तुष्ट कर रही है। सत्याग्रह जनता करती है, और वही काँग्रेसी नेताओं को छुड़ाना चाहती है। सरकार से अधिक शायद

लिबरल सत्याग्रह के विरोधी हैं । सरकार इस कारण सत्याग्रह से डरती है कि उससे अराजकता की सम्भावना रहती है, और लिबरल सत्याग्रह से इस कारण डरते हैं कि उनकी लोक-प्रियता को सत्याग्रही चाट गये और वे जनता की निन्दा के पात्र बनाये जाते हैं ; पर लिबरलों का भी यह विश्वास है कि राजनैतिक बन्दियों के छूटने से देश में अधिक शान्ति तथा सुख का वायुमण्डल बन जायगा । १३ फरवरी को युक्त-प्रान्तीय लिबरल-संघ ने इस आशय का महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पास किया है ; पर हमारी समझ में हमारा यह सब लिखना नक्कारखाने में तूती की आवाज़ ही होकर रह जायगा ।

२० फरवरी १९३३

कलकत्ता काँग्रेस

कलकत्ते में काँग्रेस का अधिवेशन होना निश्चित हो चुका है । अभी तक यही तय न था कि काँग्रेस वहाँ पर होगी । अब स्थानापन्न राष्ट्रपति अणे ने इस विषय में विज्ञप्ति प्रकाशित कर सबका संदेह दूर कर दिया है । भारत-सरकार सदा से कहती आ रही है कि राष्ट्रीय काँग्रेस नाजायज़ नहीं है । इसलिए अणे महोदय भी काँग्रेस के इस अधिवेशन को पूरे जायज़ ढंग से करना चाहते हैं । सरकार को स्थान इत्यादि की पूरी सूचना दे दी गयी है । यद्यपि इस काँग्रेस के प्रतिनिधियों के संबंध में आपत्तिजनक शंकाएँ हो सकती हैं ; पर यह तो निश्चित है कि काँग्रेस ने इस बार पूरे वैध रीति से काम करना शुरू किया है । इस समय देश की जैसी स्थिति है, उसे देखते हुए क्या सत्याग्रह जारी रखना चाहिए या कोई दूसरा कार्य-क्रम तैयार करना चाहिए—यही विचारणीय प्रश्न है । संभव है, काँग्रेस कोई दूसरा निर्णय करे । सरकार काँग्रेस से यही चाहती है कि वह सत्याग्रह समाप्त करे । यह तो वह भी स्वीकार करती है कि काँग्रेस कुचली नहीं जा सकती । क्या वह इस बार काँग्रेस को विचार करने का अवसर देगी ?

२७ फरवरी १९३३

एसेम्बली की अवधि

वाइसराय महोदय की घोषणा के अनुसार एसेम्बली का कार्यकाल अनिश्चित काल के लिए बढ़ा दिया गया । इसका कारण यह है कि नये शासन विधान के अनुसार एसेम्बली का निर्वाचन अब नयी योजना के अनुसार कराया जावेगा । सूचना से

कुछ लोगों को इसलिए प्रसन्नता हो गयी है कि शीघ्र ही नयी शासन-योजना कार्यान्वित होगी। कुछ लोगों की यह धारणा है कि सरकार अभी तक शासन-योजना को कार्य-रूप में परिणत करने की अवधि पर निश्चय नहीं कर सकती है और इसीलिए उसने एसेम्बली की अवधि बढ़ाकर, उसे अधिक जीवन प्रदान कर, प्रसन्न कर, इस प्रश्न को टाल दिया है। एसेम्बली के वे सदस्य, जिन्होंने केवल जनता के प्रतिनिधित्व के बल पर अपना विज्ञापन किया है, अपने कुचालों से जनता को, अपने निर्वाचन-क्षेत्रों को और अपने देश को कलंकित किया है और जिन्हें यह आशा नहीं है कि वे फिर दूसरे निर्वाचन में चुने जावेंगे वे अपने देशद्रोही कार्यों के लिए अधिक अवसर पाने से प्रसन्न हैं और होंगे, किन्तु जनता को सरकारी-सूचना से कई प्रकार की चिन्ता हो गयी है। एक तो यह कि काँग्रेस की उदासीनता के कारण एसेम्बली तथा कौंसिलों में द्वितीय श्रेणी के राजनीतिज्ञ और तृतीय श्रेणी के विचारक एकत्रित हो गये हैं। इनके हाथ से जन-हित को हमेशा धोखा उठाना पड़ा है। जब कभी सार्वजनिक-महत्व का प्रश्न आता है, ये सरकारी सम्मान के लोभ में फँसकर जनता के हित का सर्वनाश कर देते हैं। औरों की बात तो जाने दीजिए, एसेम्बली के वर्तमान सभापति श्रीषरामुखम् चेट्टी ने भी, अपने विरोधी दल के मुखियापन का बाना त्याग कर ओटावा में शरीक होकर भारत की औद्योगिक उन्नति की कफ़न में कील ठोंक दी थी। सरकार बार-बार अपने प्रस्तावों में इसलिए जीतती जाती है कि एसेम्बली में राष्ट्रीय दल और स्वतंत्र दल के लिए इस समय सबसे जरूरी काम आपस में लड़ना है। श्री गया प्रसाद सिंह की चेष्टा या श्री बी० शर्मा के प्रयास का कोई फल नहीं निकल रहा है और एसेम्बली के सदस्य आपस में लड़कर ही अपनी शक्ति का व्यय कर डालते हैं।

प्रान्तीय कौंसिलों की भी यही दशा है। युक्त प्रान्तीय कौंसिल को ही लीजिए। जब मि० चिन्तामणि का "एक्साइज़ बिल" पर संशोधन रद्द हो सकता है, मि० जे० पी० श्रीवास्तव ऐसे आदमी को मंत्री-पद से, नवाब मुहम्मद यूसुफ को मंत्री-पद के परम्परागत अधिकार से नहीं हटाया जा सकता, सरकार खुलेआम एक महत्वपूर्ण नगर के नागरिक जीवन को ही समाप्त करने की कल्पना कर सकती है और गलत या सही जो कुछ भी सरकार चाहती है करा लेती है—तो फिर ऐसी एसेम्बली और कौंसिलों का कार्यकाल बढ़ाना केवल एक उपहासास्पद और अनुचित संस्था का आडम्बर बढ़ाये रखना है। नवीन शासन-योजना में ये कौंसिल विशेष उपयोगी ही हो जावेंगी, यह हमारा तात्पर्य नहीं है। संभव है, इनका प्रभाव और भी कम हो जावे। पर उपयोगी एक वस्तु अवश्य होगी, वह होगा, प्रजा-पक्ष का बहुमत से सरकार को लोक-निन्दा का ज्ञान कराते रहना। इसीलिए सरकार इस समय यदि एसेम्बली का—साथ ही कौंसिलों का भी अन्त निकट आ रहा है—निर्वाचन करा देती है तो उसे पता चल जाता कि जनता का इस आडम्बरमय सभा पर कितना अविश्वास है। काँग्रेस पर दमन होने के

बाद केवल एसेम्बली और कौंसिल ही ऐसी संस्थाएँ रह गयी हैं जिसके द्वारा जनता के विरोध की, जनता के दुर्बल विरोध की आवाज़ उठायी जा सकती है और उस संस्था के द्वारा अपने असली विचार प्रकट करने का अवसर न देना नितान्त अनुचित है।

यह हम जानते हैं कि जिस प्रकार दुर्ग की दीवाल से टकराकर लहरें लौट आती हैं, उसी प्रकार सरकार के द्वार से यह विरोध भी वापस आवेगा, पर हम अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेंगे, यदि इस बात को स्पष्ट किये बिना ही सरकारी सूचना का मौन विरोध करेंगे।

२० मार्च १६३३

आनेवाला श्वेत पत्र

यद्यपि यह सभी जानते हैं कि आनेवाले श्वेत पत्र में क्या है, लेकिन फिर भी समस्त देश में उसको देखने की उत्सुकता है। मि० चर्चिल, सर सैमुएल होर, वाइसराय आदि की वक्तृताओं से और अँग्रेज़ी समाचार पत्रों के अनुमानों से हमें श्वेतपत्र की व्यवस्थाएँ कुछ विशेष आशाजनक नहीं मालूम होती हैं, मगर हम उसे देखने के इसलिए इच्छुक हो रहे हैं कि अभी जो कुछ केवल अनुमान है, उसे देख लेने पर वह यथार्थ हो जायगा। अनुमान में एक तरह की अनिश्चितता रहती है। अनुमान के आधार पर हम न कुछ कह सकते हैं न अपने कार्य क्रम का कोई रूप निर्माण कर सकते हैं। यथार्थ ज्ञान हो जाने पर यह तो निश्चित रूप से ज्ञात हो जायगा कि हमें क्या मिला और अब हमें क्या करना है।

अभी तक अनुमानों से हम आनेवाली व्यवस्था का जो रूप खड़ा कर सके हैं, वह यही है कि प्रांतों को एक ऐसा स्वायत्त शासन प्रदान किया जायगा जिसमें प्रजा के प्रतिनिधियों को सरकारी कर्मचारियों के विषय में कोई अधिकार न रहेगा। कर्मचारियों के अधिकार ज्यों के त्यों बने रहेंगे। केन्द्र में सेना, अर्थ विभाग और फॉरेन बिभाग पर वाइसराय का अधिकार रहेगा। वाइसराय आवश्यकता पड़ने पर आर्डिनेन्स जारी कर सकेगा और व्यवस्थापक सभा के फैसलों को रद्द कर सकेगा। भारत की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि सेना-विभाग में यहाँ के बाशिन्दों को बहुत कम स्थान दिया जाता है, हालाँकि देश के आय का बहुत बड़ा भाग सेना पर खर्च हो जाता है। यह शिकायत बदस्तूर रहती है। अर्थ विभाग से हमें यह शिकायत है कि भारत की अर्थनीति भारत के लाभ की दृष्टि से नहीं, वरन् इंग्लैण्ड की लाभ की दृष्टि से स्थिर की जाती है। वह शिकायत भी ज्यों की त्यों रहती है। हमारी सरकार से केवल राजनैतिक अधिकारों की लड़ायी है। हम ऐसे अधिकार चाहते हैं कि हम इस स्थिति में आ जायँ कि देश की

आमदनी को प्रजाहित के कामों में खर्च कर सकें, देश को सुखी और सन्तुष्ट बना सकें। अगर यह अधिकार नहीं मिल रहे हैं तो केवल कौंसिलों में जगहों के लिए आपस में झगड़े करने की हमें क्या ज़रूरत है। हमारा उद्देश्य केवल इतना ही नहीं है कि हमारे दस-पाँच भाई मिनिस्टर हो जायँ, हमारे प्रतिनिधियों की संख्या दुगनी हो जाय। हमारा उद्देश्य केवल देश को स्वस्थ और सुखी बनाना है। अगर हमारे पास धन खर्च करने का अधिकार नहीं है तो हमारे ये उद्देश्य कैसे पूरे हो सकते हैं? और ये उद्देश्य न पूरे हुए तो जनता के लिए यह व्यवस्था क्या उपकार करेगी।

लेकिन इंग्लैण्ड में मि० चर्चिल और उनके अनुयायियों का बलवान दल इस व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करता है। वह सिरे से इसे मानता ही नहीं कि भारत में किसी सुधार की ज़रूरत है। वह डंडे के जोर से राज्य करने के पक्ष में है और अन्त तक भारत को पैरों के नीचे दबाये रखना चाहता है। मि० चर्चिल तो यहाँ तक धमकी दे रहे हैं कि वह अपने कट्टर दल को संगठित करके श्वेत पत्र का पार्लमेंट में विरोध करेंगे और उसे रद्द करा देंगे। मि० चर्चिल को लार्ड इर्विन और सर सैमुएल होर चाहे कितना ही भला-बुरा कहें पर यह उन्हें भी खूब मालूम है कि इंग्लैण्ड में आज मि० चर्चिल का जितना जोर है, उतना किसी भी एक व्यक्ति का नहीं है। यह गैर मुमकिन है कि इन धमकियों का भारत सचिव पर कोई असर न पड़े। सर होर शायद एक दिन इंग्लैण्ड के प्रधान मंत्री बनने की कल्पना कर रहे होंगे। कंजर्वेटिव दल को अप्रसन्न करके वह अपने भविष्य को संदेह में नहीं डालना चाहते। इधर भारत में भी फेडरेशन के विषय में हमारे राजों में दिन-दिन मतभेद बढ़ता जा रहा है। फेडरेशन आनेवाली व्यवस्था का मुख्य अंग है। अगर वही खटाई में पड़ गया तो व्यवस्था का मूल्य ही क्या रह जाता है।

सारांश यह परिस्थिति बहुत निराशाजनक है। हमें अब जो कुछ आशा है, वह संसार की विचार-क्रान्ति से। वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से दुनिया निराश हो गयी है। निःशस्त्रीकरण, जर्मनी में राजनैतिक संग्राम, रूस और इटली की राज्य-व्यवस्था—यह सभी कह रही हैं कि संसार सुख और शांति का कोई साधन खोज रहा है पर जहाँ उसे खोजना चाहिए वहाँ न खोजकर इधर-उधर भटकता है। कभी इस गढ़े में गिरता है कभी उसमें। मगर लक्षणों से प्रकट हो रहा है कि जनता पर अब साम्राज्यवाद का जादू नहीं रहा। साम्राज्यवाद में एक स्वाभाविक गौरव का अंकुर है, इसमें संदेह नहीं। एक पददलित हिन्दू भी हिन्दू राजाओं को अपनी मुसलमान प्रजा पर अत्याचार करते देखकर चुप साध जाता है। वह यह नहीं चाहता कि उस हिन्दू राजा की प्रजा ज़रा भी सिर उठाये। इसी तरह मुसलिम जनता भी निजाम और भोपाल के ऊपर गर्व करती है। लेकिन पश्चिम में इस साम्राज्यवाद की मनोवृत्ति से लोग इतने तंग आ गये हैं कि अभी हाल में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में छात्र संघ में,

अपने एक मुबाहिसे में यह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकार किया, कि यह सभा किसी दशा में भी राजा और देश के लिए अपना रक्त न बहायेगी। दूसरे मुबाहिसे में इस प्रस्ताव को निकाल डालने के लिए दूसरा प्रस्ताव पेश हुआ। इस नये प्रस्ताव के पक्ष में केवल १५३ वोट आये और विपक्ष में ७५०। इससे यह साफ पता चल रहा है कि हवा किधर चल रही है। हमें अपने देश में यही विचार क्रान्ति पैदा करना है।

२० मार्च १९३३

सादा और सफ़ेद

जिस बात की आशंका थी, वह सामने आ गयी। सफ़ेद-पत्र १७ मार्च को प्रकाशित हो गया। इसके विषय में हम अपनी शंकाएँ प्रकट कर चुके हैं। अब हम देखते हैं कि यह प्रस्ताव शंका से अधिक भीषण है। लीडर के शब्दों में—"यह चाहे जो कुछ हो—केवल स्वराज्य नहीं है।" उसी पत्र की राय में "भारतीय सुधारक इस योजना को कभी नहीं स्वीकार कर सकते!" कलकत्ते के "एडवान्स" के शब्दों में—"अंग्रेज सरकार ने मि० चर्चिल और उनके दलवालों को यह पर्चा बतौर इनाम के दिया है। इससे पता चलता है कि भारत पर गोरे चमड़े का कितना बोझा होगा।" इसी पत्र का साथी "लिबर्टी" भी लिखता है कि—"राष्ट्रीय विचारवालों को ब्रिटिश बुद्धिमत्ता के विषय में जितना संदेह था, उसको इस सफ़ेद पत्र ने प्रमाणित किया है।" दिल्ली के "नैशनल काल" की राय में—"इस पर्चे के द्वारा वाइसराय को १०० हिटलर और मुसोलिनी के अधिकार मिल जावेंगे।" "हिन्दुस्तान टाइम्स" की राय में—"यह प्रगति का उपहास मात्र है।" बम्बई का "बाम्बे क्रानिकल" लिखता है कि—"इस पर्चे का उद्देश्य भारत के साथ किये गये वादे को पूरा करना नहीं है, पर उस पर गोरे आदमी का पंजा मज़बूती से जकड़े रखना है।" राष्ट्रीय मुसलिम-पत्र कलकत्ते का अंग्रेजी दैनिक "मुसलमान" भी लिखता है कि—"भारत को उस समय अधिक सुख मिलता यदि ११९ पेज का यह दस्तावेज न प्रकाशित होता........हमारी राय में उदार सरकार ने, विशेष कर बंगाल के मुसलमानों को उनकी "राजभक्ति" का इनाम दिया है।"

"अमृत बाजार पत्रिका" का कथन है कि ऐसी एक भी बात इस सफ़ेद पर्चे में नहीं है जिससे यह कहा जावे कि भारतीय मत का कुछ भी आदर किया गया है।"

सर चिमन लाल सीतलवाद, मौलाना शौकत अली, सर पी० गिनवाला, मि० चागला, पं० हृदयनाथ कुंजरू, मि० केलकर ऐसे उदार विचार के लोग भी इस पर्चे से अति दुखी हैं। "हिन्दुस्तान टाइम्स" के एक व्यंग चित्र में इस सफ़ेद पर्चे को "सादा"

पर्चा दिखलाया गया है। "नैशनल काल" के अनुसार तीन गोलमेज़ रूपी पहाड़ खोदने पर, एक करोड़ रुपया खर्च करने पर, सफेद-पर्चा रूपी यह चुहिया निकली है।

देश का लोकमत भारत के भावी शासन-विधान की इस योजना से अति क्षुब्ध हो उठा है। विस्तारपूर्वक इसका विचार करना भी व्यर्थ है। इसकी ओर तो ध्यान भी देना उचित नहीं। यदि ब्रिटेन के सहयोग और साथ का यही हमें पुरस्कार मिल रहा है तो हम ब्रिटिश बुद्धिमता से एकबार फिर विचार करने का आग्रह करेंगे।

ज़रा भावी-शासन-विधान के विषय में सोचिए तो! भारत की सरकार फ़ेडरल या संघ-सरकार होगी। उसके अध्यक्ष होंगे सम्राट् के प्रतिनिधि गवर्नर जेनरल। शासन-कार्य में इनकी सहायता के लिए एक मंत्रिमंडल होगा जिसमें ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधि होंगे। गवर्नर जेनरल ही देश की रक्षा, विदेश तथा अर्थ की नीति का मुख्यतया निरंकुश शासक होगा। अन्य महकमों के लिए वह मन्त्रिमण्डल की सलाह से आमतौर पर काम करेगा, पर आवश्यकता पड़ने पर वह उनकी सलाह की भी उपेक्षा कर सकता है। यह मण्डल भारतीय-संघ महासभा के प्रति जिम्मेदार होगा। बड़े लाट अपने राज-काज के लिए तीन कौंसिलर भी रख लेंगे। समय पड़ने पर वे "अपने आर्डिनेंस" के बल पर शासन करेंगे। व्यापार-सम्बन्ध में, भेदभाव की नीति में वे तुरन्त हस्तक्षेप करेंगे। महा-सभा दो होंगी। एक अपर—जिसमें २५० मेम्बर होंगे, जिसमें रियासतों के राजाओं के नामजद १०० प्रतिनिधि होंगे। लोअर में ३७५ में १२५ मेम्बर रियासतों के होंगे। बजट छोटी सभा से पहले निकलेगा पर यदि बड़ी सभा उसे न पास करे, तो बड़े लाट दोनों सभाओं का सम्मिलित अधिवेशन बुलायेंगे। ऐसी दशा में उसकी छीछालेदर निश्चित है। देशी रियासतों की कुल जन-संख्या के आधी रियासतों के संघ में शामिल होने पर, तभी संघ-राज्य की रचना होगी। इसके बाद रिजर्व-बैंक की स्थापना का होना जरूरी है। इनमें विलम्ब होने पर प्रान्तीय स्वाधीनता के नाम का आडम्बर शुरू हो जावेगा जिनमें गवर्नरों को भी वही निरंकुश अधिकार हैं। तीन प्रांतों में अपर-चैम्बर भी होगा। जैसे अभागे युक्त प्रांत में। यहाँ अपर चैम्बर के ३४ मेम्बरों में १७ मुसलमान और शेष में हिन्दू, ईसाई, सिख, ऐंग्लो-इण्डियन और यूरोपियन होंगे! दो प्रांत सिन्ध और उड़ीसा बढ़कर कुल ११ प्रांत होंगे। प्रांतों में भी मन्त्रिमण्डल होगा जो अपने कार्यों के लिए प्रांतीय सभा—जिसे "लेजिस्लेटिव एसेम्बली" कहा जावेगा—के प्रति जिम्मेदार होगा।

इण्डियन सिविल सर्विस, पुलिस-सर्विस आदि की नियुक्ति आज-कल की तरह भारत-सचिव ही करेंगे। अंग्रेजों की संख्या भी उतनी ही रहेगी जितनी अब है। पाँच साल बाद इस प्रश्न पर विचार किया जावेगा। बर्मा का प्रश्न अछूता रह गया।

मताधिकार लोथियन कमेटी के अनुसार होगा। ब्रिटिश-प्रजा का केवल १४

प्रतिशत वोट दे सकेगा। यह है वह स्वराज्य जो हमें तीन साल की लगातार दिमाग-रेज़ी के बाद मिला है!

२७ मार्च १९३३

सफेद काग़ज़ पर अभी और भी सफेदी चढ़ेगी

समस्त देश में सफेद काग़ज़ पर हाय-हाय मची हुई है, यहाँ तक कि कानपुर की जमैयतुल-उलेमा और मुसलिम लीग भी उससे असंतुष्ट है। लेकिन इंग्लैण्ड में परिस्थिति जो रंग पकड़ रही है उससे मालूम होता है कि सफेद काग़ज़ में तरमीम करनी पड़ेगी। मि० चर्चिल और उनकी पार्टी को कामन्स में मुँह की खानी पड़ी है अवश्य, मगर कामन्स के मेम्बरों ने केवल संयुक्त शासन की साख बनाये रखने के लिए चर्चिल के विरुद्ध वोट दिया। वास्तव में कंज़र्वेटिव-दल चर्चिल के साथ है और वह श्वेत पत्र का जनाज़ा निकाल कर ही छोड़ेगा। जो लोग मेम्बरियों और मिनिस्टरियों पर दाँत लगाये बैठे हैं, उनकी आजकल नींद हराम हो रही होगी। शायद दाना-पानी भी छूट गया हो। मगर सर होर उनके कितने ही शुभेच्छु हों, मि० चर्चिल से बैर नहीं मोल ले सकते। हम कहते हैं एसेम्बली और काउंसिलों में चुनाव का झगड़ा ही क्यों रखो? क्यों न वाइसराय और गवर्नरों को अपनी मर्जी के मुताबिक मेम्बर चुन लेने का अधिकार दे दो। बस, सारा झगड़ा मिटा जाता है, गवर्नर और वाइसराय को इतना अधिकार देकर फिर आप माल और पुलिस और रेल सभी कुछ में उत्तरदायित्व दे सकते हैं। ऐसे-ऐसे राजनीतिक धुरंधर जमा हैं, पर यह मोटी-सी बात किसी की समझ में नहीं आती। वाइसराय को इस काम में सर फ़ज़ले हुसेन से काफ़ी मदद मिलेगी। और सर हेली नवाब छतारी की सम्मति ले सकते हैं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि भारत के आपके हाथ से जाने की रत्ती भर भी शंका नहीं है। यह जो चारों तरफ़ सफेद काग़ज़ पर हाय-हाय हो रही है इसकी मंशा तो आप समझते ही हैं। खुदा के फ़ज़ल से आप राजनीति में कुशल हैं ही। जो आज गला फाड़-फाड़ कर चिल्ला रहे हैं कि सफेद-पत्र कोरा काग़ज़ है, पीछे ले जानेवाला है, अविश्वासपूर्ण है, अपमानजनक है, वही अवसर पड़ने पर मेम्बरी और मिनिस्टरी के लिए दौड़ेंगे और आपके बूट चाटेंगे। शक्तिशाली जमींदार पार्टी मुंह से चाहे जो कुछ कहे, दिल से आपके साथ है; फिर, लिबरल हैं, वह भी आपका साथ नहीं छोड़ सकते। चिंता की कोई बात नहीं। मि० चर्चिल से विरोध करके अपने भविष्य को संकट में डालना बुद्धिमानी की बात नहीं। लार्ड इर्विन ने तो अपने व्याख्यान में मि० चर्चिल को बहुत कुछ समझाया था, उनकी सारी शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा की थी, मगर चर्चिल भी जनाब एक ही

घाघ है। वह यह कब गँवारा कर सकता है कि सर होर भारत हिन्दुस्तानियों को सुपुर्द करके मीठी नींद सोवें। किसी ने शंका की थी कि आयरलैंड में भी तो ब्रिटिश सरकार ने ऐसा ही विधान दिया था, उसका क्या नतीजा हुआ। आयरलैण्ड कंधा झाड़ कर अलग हो गया। फिर भारत में भी क्या वही बात नहीं हो सकती। लार्ड इर्विन ने इस शंका का कितना सुन्दर जवाब दिया है कि वाह! आपने फरमाया—

"आइरिश संधि के अनुसार हमने अपने पदाधिकारियों को हटा लिया। भारत में हम वह ग़लती नहीं कर रहे हैं। हमने निश्चय कर दिया है, कि आजकल की तरह योरोपियनों को भारत में जगहें मिलती रहेंगी और इन अधिकारियों की रक्षा पार्लमेंट के कानून से होती रहेगी। आइरिश सन्धि के अनुसार हमने ब्रिटिश फ़ौज हटा ली थी। हम भारत में ऐसा नहीं करने जा रहे हैं और इसका कारण हरेक समझदार आदमी समझता है। एक तीसरा कारण यह था, कि आयरलैंड में वाइसराय को वह पक्के, ठोस अख्तियार नहीं थे, जो आज वाइसराय को भारत में प्राप्त हैं और आनेवाले विधान में भी बने रहेंगे।"

फिर भी यह चर्चिल दलवाले न जाने क्यों सर होर के पीछे पड़े हुए हैं, मगर जब वह किसी तरह नहीं मानते, तो आपको उनकी बात माननी ही पड़ेगी। आप भी मजबूर हैं, इसलिए जैसा हमने निवेदन किया है आप वाइसराय और गवर्नरों को, मेम्बरों को चुन लेने का अधिकार दे दीजिए। जनता द्वारा चुनाव की झंझट ही क्यों रहे और अब जन-तन्त्र को मानता ही कौन है? यह तो स्टालिन, मुसोलिनी और हिटलर का युग है। अब जन-तंत्रवादियों को कौन पूछता है। लायड जार्ज साहब ने अपनी एक स्पीच में जनतन्त्र के विषय में जो कुछ कहा ठीक ही कहा—

"समस्त संसार में जन-तन्त्र का विश्वास उठ गया। आये दिन हम देख रहे हैं, कि स्वाधीनता पैरों तले कुचली जा रही है मानों वह व्यर्थ की वस्तु है और वह एकाधिपति आ गया है जो पहले से कहीं व्यापक, कहीं निर्दय, कहीं निश्शंक है।"

१० अप्रैल १९३३

अविश्वास

अधिकांश भारतीय स्वराज्य इसलिए नहीं चाहते कि अपने देश के शासन में उनकी आवाज ही पहले सुनी जावे, पर स्वराज्य का अर्थ उनके लिए आर्थिक स्वराज्य होता है। अपने प्राकृतिक साधनों पर अपना अधिकार, अपनी प्राकृतिक उपजों पर अपना नियंत्रण, अपनी वस्तुओं का स्वच्छन्द उपभोग और अपनी पैदावार पर अपनी इच्छानुसार मूल्य लेने का स्वत्व—यही उनकी सबसे बड़ी, सबसे पहली, सबसे उत्कृष्ट माँग

है। यह माँग स्वराज्य का अंग नहीं, स्वराज्य इसी माँग का अंग है।

आज भारत में यदि स्वराज्य के लिए इतना आन्दोलन हो रहा है, तो केवल इसलिए कि भारतीय यह समझने लगे हैं कि जब तक विदेशी-सत्ता है, उन्हें अपने देश की उपज का सुख लूटने का अवसर न मिलेगा, रोज़गार और व्यापार चौपट रहेगा, सरकारी आय का सैंतालिस करोड़ रुपया सेना पर खर्च हो जावेगा, उधर अधिकांश भारतीय बच्चे दाने-दाने के लिए मोहताज होकर सड़क और गलियों में भूखों मरे दिखलायी देते रहेंगे। हिन्दुस्तान में इतना अनाज पैदा होता है फिर भी आधे से अधिक हिन्दुस्तानी दोनों वक्त भर पेट भोजन नहीं कर सकते। इतना कपड़ा बुना जा रहा है, फिर भी कितने बच्चे ऐसे हैं जिनके तन पर इतना भी वस्त्र नहीं कि वे जाड़े में सर्दी से बच जावें! कितनी ऐसी स्त्रियाँ और कन्याएँ हैं जिनके पास अपना तन तक ढँकने के लिए भी वस्त्र नहीं है!

हम यह नहीं कहते कि इस लाचारी और दुर्दशा का कारण भारत में अंग्रेजी सरकार है। अंग्रेजी सरकार से भारत को अनेक लाभ भी हुए हैं, जिनका सदैव कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करना होगा, पर इस दुर्भाग्य के लिए कोई क्या कहे कि भारत की आर्थिक दुर्दशा अंग्रेजी-राज्य के समय में ही हुई और यही नहीं, इसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी अंग्रेजी सरकार के सिर है। और भारतीयों का ऐसा विश्वास हो गया है कि अपना शासन अपने हाथ में आने पर वे अपनी दरिद्रता में अधिक योग्यता के साथ लड़कर उसका निराकरण कर सकेंगे। भारतीय अर्थशास्त्री यह बतलाता है कि अंग्रेजी सरकार अपने देश के स्वार्थ की बलि कर भारत का कल्याण नहीं कर सकती। वह उसी अंश तक भारत का कल्याण करेगी, जिस अंश तक उसके देश का स्वार्थ नहीं टकराता।

इस प्रकार स्वराज्य की मीमांसा कीजिए—स्वराज्य का अर्थ केवल आर्थिक स्वराज्य है। आज भारत का उद्योग-धन्धा पनप उठे, आज भारत के घर-घर में खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न, पहनने के लिए दो गज़ कपड़ा हो जावे, आज घर-घर में केवल स्वदेशी वस्तु हो, अथक परिश्रम के स्थान पर थोड़ा विश्राम हो, जीवन में कुछ कविता कुछ स्फूर्ति, कुछ सुख मालूम पड़े—तो कौन कल इस बात की चिन्ता करेगा कि भारत की पार्लमेण्ट में अंग्रेज हैं या हिन्दुस्तानी। जो भी कोई शासक हो, शासन का फल चाहिए। आम खाने से काम है पेड़ गिनने से नहीं।

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि हमारी भी यही राय है। हम यह जानते हैं कि हमारे एक अंग की यह भी मनोवृत्ति है कि सुराज्य हो या न हो, स्वराज्य चाहिए, पर आम जनता स्वराज्य का जो अर्थ समझती है, वही हमने ऊपर दिखलाया है। जनता का विचार ग़लत हो सकता है, पर प्रत्येक देश की जनता की एक ही मनोवृत्ति है। इसलिए कभी साम्यवाद, कभी वर्गवाद और कभी पूंजीवाद पनप उठता है। कभी कोई

नेता समूचा शासन हड़प लेता है, कभी कोई। जिस किसी ने अपनी लचर से लचर योजना का विज्ञापन कर यह सिद्ध कर दिया कि उसी को अपनाने से आर्थिक-दशा जादू की तरह सुधर जावेगी, वही दल शासनाधिकार पा जावेगा।

अतएव, ब्रिटिश सरकार के लिए इस समय एकमात्र उपाय, एकमात्र पथ, जिससे वह भारतीय लोकमत को अपने पक्ष में कर सकती है, जिससे वह भारत को अपने हाथ से खोने से बचा सकती है, यही है कि भारत को आर्थिक स्वराज्य दे दे। एक बार वह ब्रिटेन का स्वार्थ भूलकर भारत का स्वार्थ सोच ले। एक बार वह भारतीय सेना के सैंतालिस करोड़ खर्चे को केवल १५ करोड़ वार्षिक कर दे। एक बार वह सभी विदेशी माल पर, एक सिरे से दूसरे सिरे तक, कड़ी चुंगी लगाकर भारतीय व्यापार को पनपा दे और फिर देखिए भारतीय संतुष्ट होकर क्या माँगते हैं।

संभव है, ब्रिटिश सरकार सेना चाहती हो, पर हमारे पास ऐसा कोई सुबूत नहीं है, जिससे हम यह कह सकें कि वह सचमुच ऐसा चाहती है। उसकी अभी तक की जो आर्थिक नीति रही है, वह इतनी घातक और इतनी दुःखद रही है कि इस समय हम अत्यन्त दुखी हो रहे हैं। पंजाब वाणिज्य-मंडल के अध्यक्ष मि० रौबर्सन टेलर ने, १० अप्रैल को मंडल की वार्षिक बैठक में एक सूचनापूर्ण व्याख्यान दिया था। उस व्याख्यान में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण बातें बतलायी थीं। वे कहते हैं—

"मौजूदा परिस्थिति के कारण घोर मानसिक-मन्दी छा रही है। विश्वास का पुनः स्थापित हो जाना अनिवार्य है। इधर हमारे कुछ बहुत ही मन्दी के वर्ष बीते हैं। देश की अधिकांश जन-संख्या किसान है और लगातार मूल्य के गिरने के कारण वह कंगाल हो गयी है। फ़सल के बोने के व्यय की भी वसूली नहीं हो पाती। सर्वव्यापी आर्थिक मन्दी से उद्योग और वाणिज्य कुंठित हो रहे हैं। देश की आमदनी भी कम हो गयी है और इसीलिए, बजट को संतुलित करने के लिए अर्थ-सदस्य को अप्रत्यक्ष रूप से कर लगाना पड़ रहा है जिससे उद्योग-व्यवसाय की टाँग टूट गयी है। इससे स्वभावतः देश में उदासीनता और शोक छा गया है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि पुनः निर्माण करने के लिए विश्वास का पुनः स्थापित करना आवश्यक है। आजकल की राजनैतिक दशा भी आर्थिक दशा के साथ जुती हुई है और कभी-कभी हमें उसके कारण भय मालूम पड़ता है, पर यहाँ पर भी भिन्न-भिन्न वर्गों में जो पारस्परिक अविश्वास छाया हुआ है तथा जिसके कारण देश की प्रगति रुक रही है, देश संघ-सरकार स्वीकार नहीं कर रहा है, यदि वही अविश्वास हट कर विश्वास का भाव उत्पन्न हो जावे तो बहुत बड़ा कल्याण हो। इसके लिए मानवी चेष्टा, दृढ़ शक्ति और अपने लक्ष्य की प्राप्ति का दृढ़ व्रत चाहिए। संसार में सब प्रकार की अनुकूल परिस्थिति होने पर भी विश्वास के अभाव में कुछ नहीं हो सकता।

"देश की प्रगति के लिए दूसरी बाधा कर का अत्यधिक भार है।....उद्योग-

धन्धा गिरा हुआ है। बेकारी चारों ओर फैली हुई है। रुपया सस्ता है, बहुतायत से मिल सकता है, पर उसके उपयोग के लिए कहीं कोई साधन नहीं है। अभी तक उद्योग या वाणिज्य के कार्यों में उसका उपयोग नहीं हो रहा है। मुझे भय है कि जब तक सरकार स्वयं पथ दिखलाकर विश्वास उत्पन्न करने का उपाय नहीं दिखलावेगी, तब तक कुछ भी न हो सकेगा। अब समय आ गया है, जब सरकार गम्भीरतापूर्वक यह विचार करे कि कौन-सा सार्वजनिक खर्चा देश की नयी आर्थिक, द्रव्य-सम्बन्धी दशा को देखते हुए, समाज-हित के लिए होगा।''

मि० टेलर के व्याख्यान की इस टुकड़ी की ओर हम सरकार का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हमने ऊपर यह बतलाने की चेष्टा की है कि अब समय आ गया है, जब सरकार आर्थिक 'स्वराज्य को रोक नहीं सकती। हम राजनैतिक बात तो एक ओर छोड़ देते हैं, देश की आर्थिक दुर्दशा अकथनीय है और उसका कारण है सरकार की आर्थिक नीति के प्रति जनता का घोर अविश्वास। यह अविश्वास तीव्रतम होता जा रहा है। इसको दूर करना ही चाहिए। और बिना सरकार के चेते यह अविश्वास दूर न होगा। यह दुर्दशा समाप्त न होगी। अविश्वास दूर करने का कार्य सरकार की ओर से ही प्रारम्भ हो सकता है। वही जो चाहे कर सकती है। अब उसे इसी अविश्वास को दूर करना चाहिए।

१७ अप्रैल १९३३

भारत के विरुद्ध प्रचार

अभी हाल में भारत के हितैषियों ने जेनेवा में बड़ी धूम-धाम के साथ "भारत दिवस" मनाया था। इस अवसर पर विद्वान वक्ताओं ने बड़े सूचना-पूर्ण व्याख्यान देकर भारत के विषय में जो चारों ओर ग़लत-फ़हमी फैलायी जा रही है, उसका मुँह तोड़ जवाब दिया था। सबसे अच्छा भाषण महात्मा जी की जीवनी लिखनेवाले रोमेरोलाँ नामक फ्रेंच पंडित की बहन मदाम रोलाँ का था। योरोप के कोने-कोने से प्रतिनिधि यहाँ पर एकत्रित हुए थे। इस प्रयत्न को, इसके संयोजकों को, हम हार्दिक बधाई देते हैं, धन्यवाद देते हैं।

इस समय भारत ज्यों-ज्यों स्वाधीनता की ओर अग्रसर होता जा रहा है, उसे बदनाम करने की, हर प्रकार से उसके राष्ट्रीय दुर्गुणों को बढ़ा चढ़ाकर दिखलाने की चेष्टा हमारे शत्रु कर रहे हैं। इसीलिए, भारत के हितैषियों को यह आवश्यकता महसूस हुई कि वे एक दिन "जेनेवा-दिवस" मनाकर भारत का परिचय करायें। इसीलिए लन्दन से श्रीयुत पटेल ने इस बात की सलाह दी थी कि भारत के विरुद्ध विदेशी-प्रचार

का उत्तर देने का प्रबन्ध किया जाय। इसीलिए, आज से कई वर्ष पूर्व ही अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के मेम्बर श्री सम्पूर्णानन्द ने एक आवेदन-पत्र ही इस आशय का तैयार किया था। पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी इस पर जोर दिया था, पर इस दिशा में विशेष प्रयत्न न हो सके और हमारे विषय में हर प्रकार के भ्रष्ट समाचारों का कोई खण्डन नहीं होने पाता है !

अब कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया है और यदि ईश्वर ने चाहा तो वे अपने प्रयत्न में सफल होंगे। हम अपने पाठकों से इस दिशा में पूरी सहायता की आशा करते हैं और कवीन्द्र के इन शब्दों से पूरी सम्मति प्रकट करते हैं कि—"आवश्यकता इस बात की है कि देश की वर्तमान परिस्थिति का सच्चा चित्र हम विदेशों में बहुत शान्ति व गम्भीरता और संयम के साथ, किन्तु दूसरों के मुँह तोड़ जवाब के लिए, मय आंकड़ों और नज़ीरों के उपस्थित करें।

२४ अप्रैल १९३३

आर्थिक स्वराज्य

यदि भारत को आर्थिक स्वराज्य नहीं मिल रहा है, तो केवल इसी कारण कि ब्रिटेन कभी भी, अपने भरसक, भारत के हित के सामने अपने हित का हवन नहीं कर सकता। इसीलिए भारत को राजनैतिक स्वराज्य भी नहीं दिया जा रहा है, कि संभव है कि आर्थिक शक्ति भी प्राप्त हो जाय और यह दुधारू गाय ब्रिटेन के हाथ से निकल जाय।

फिर भी भारतीय अपनी माँग पर माँग पेश करते ही जाते हैं, चाहे उसे कोई सुननेवाला हो अथवा नहीं। अभी दिल्ली में "फ़ेडरेशन आफ आल-इंडियन चैम्बर्स आफ़ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज़" (अखिल भारतीय व्यवसाय वाणिज्य-मण्डल) की बैठक में आर्थिक स्वराज्य की सर्वसम्मति माँग पेश की गयी है। इसमें कई उपयोगी प्रस्ताव पास हुए हैं। सभापति श्री बालचन्द हीराचन्द ने एक प्रस्ताव द्वारा सरकार से यह प्रार्थना की थी कि स्वर्णमुद्रा की अपनी नीति में तुरत परिवर्तन कर दे। रुपये और पौंड का सम्बन्ध तोड़ दिया जाय। आपने कहा कि जब संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे देश भी यह जरूरत समझते हैं कि अपने देश का सोना बाहर जाने से रोकें, भारत सरकार का इस बात पर गर्व करना कि भारत से बाहर इतना सोना चला गया, गौरव की बात नहीं है। श्री आर० के० सिध्वा ने कहा कि जब तक वह सम्बन्ध तोड़ नहीं दिया जायगा, तब तक बहुमत कोई भी शासन स्वीकार नहीं कर सकता। प्रस्ताव तो पास हो ही गया, पर यदि श्री के० सन्तानम का यह संशोधन पास हो जाता कि यदि व्यापारी ही

अपने पास से सोना बाहर न जाने दें तो सोना बाहर न जावे, तो और भी उपयुक्त बात होती।

सर पुरुषोत्तमदास ने कर्मचारियों के वेतन की पाँच फ़ी सदी काट-छाँट के पूरा किये जाने का विरोध करते हुए यह उचित ही कहा था कि—"जब तक सेना की बागडोर ब्रिटिश सरकार के हाथ में रहेगी, भारत दुहा ही जाता रहेगा। काट-छाँट पूरा करके भारत के करदाता तथा अन्य कर देनेवालों पर बहुत कड़ा बोझ लादा जा रहा है।" प्रस्ताव पास हो गया—पर क्या यह संभव है कि सरकार इनमें से कोई भी बात स्वीकार करेगी।

२४ अप्रैल १९३३

हमारी गुलामी बढ़ेगी

बंगाल के भूतपूर्व लाट और भारत के कुछ समय तक स्थानापन्न बड़े लाट—लार्ड लिटन ने लार्ड्स सभा में "व्हाइट पेपर" पर अपना विचार प्रकट करते हुए यह कहा था कि "एक पार्लमेण्ट की रचना कर उसे कोई अधिकार न देना—यह जान-बूझ कर झगड़ा पैदा करना है।" लार्ड लोथियन ने इसी श्वेत-पत्र पर अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए यह कहा था कि यह कल्पना से भी परे बात है कि ब्रिटेन दमन या निरंकुशता के बल पर भारत पर शासन कर सकता है। अतएव उसे समुचित अधिकार न देना विपत्ति मोल लेना होगा। पर यह अधिकार किस प्रकार का होगा और कैसे दिया जा रहा है, इस विषय में लन्दन की प्रसिद्ध पत्रिका "नाइन्टीन्थ सेन्चुरी" में मि० जी० टी० गैरट ने स्पष्टतः लिख दिया है। आपने लिखा है कि "हरेक रियासत के पीछे एक लम्बी लगाम लगा दी गयी है, जिसकी छोर ब्रिटिश सरकार के हाथ में है।" आपकी राय में—"वाइसराय तथा प्रान्तीय गवर्नरों को जो 'अतिरिक्त और विशेषाधिकार' दिये गये हैं, वे तुरत हमें 'लम्बी डोर' की याद दिला देते हैं। सेना को सुरक्षित विषय बना लेने से राष्ट्रीय सेना की रचना का प्रश्न अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया जाता है। आर्थिक संरक्षणों से बड़ा गहरा सन्देह पैदा हो जाता है....।"

सरकारी श्वेत-पत्र के द्वारा जो अधिकार मिलनेवाले हैं, उनकी यही कहानी है, यही रहस्य है, पर बात यहीं समाप्त नहीं होती। कुमारी विलकिंसन ने जेनेवा में अपने एक प्रभावशाली व्याख्यान में अभी हाल ही में कहा है कि "श्वेत-पत्र की ९० वीं धारा के अनुसार भारतीय कौंसिल, गवर्नर या वाइसराय-द्वारा स्वीकृत भी किसी कानून को बारह महीने के भीतर सम्राट की सरकार रद्द कर सकती है।" ऐसी दशा में, कुमारी जी के शब्दों में, "असली अधिकार तो ब्रिटिश पार्लमेण्ट को मिले हैं, भारत को

कहीं कुछ भी कोई भी अधिकार नहीं मिला है।"

"इण्डियन क्रिश्चियन मेसेंजर" नामक पत्र ने, जिसे सरकार भी उग्रमत का नहीं कह सकती, इसी श्वेत-पत्र पर इस प्रकार विचार प्रकट किया है—"बहुत समय से जिस दस्तावेज़ की प्रतीक्षा थी, उसी श्वेत-पत्र के पन्नों को पढ़ने के बाद, उस पर लोगों की राय भी खूब समझ लेने के बाद, हम इस बात को साफ़ तौर पर स्वीकार कर लें कि इससे किसी प्रकार का कोई उत्साह नहीं पैदा होता है। संघ शासन-प्रणाली न जाने कब तक के लिए टाल दी गयी है और वह भविष्य के गर्भ में पड़ी रहेगी। प्रांतों के गवर्नर और गवर्नर-जेनरल को एकदम निरंकुश शासक बना दिया गया है। प्रांतीय स्वाधीनता की छाया मात्र रह जायगी, संघ-व्यवस्थापक महासभा में रियासतों के नुमाइन्दे भर जावेंगे, ऊची नौकरियों की भर्ती भारत सचिव के हाथ में रहेगी, अनेक संरक्षण होंगे। और वे केवल भारत के हित के लिए नहीं होंगे! सेना और विदेशी सम्बन्ध पर ब्रिटिश गवर्नर-जेनरल का एकाधिकार रहेगा। हम अपनी राय फिर जाहिर कर दें कि हमारी समझ में भारत के दुःखों के प्रति सहानुभूति पूर्वक विचार नहीं किया गया है। हमें रोटी के स्थान पर पत्थर ही खाने को दिया जा रहा है। अभी भारत का युद्ध बहुत समय तक चलेगा।"

यदि यही बातें कांग्रेस कहती तो उसे छापना या पढ़ना भी गैर कानूनी हो जाता। यदि यही बातें हम अपनी ओर से कहते तो यह अपराध होता, पर ये विचार उनके हैं जो ब्रिटेन और भारत के समानरूप से मित्र हैं, जो दोनों की एकता में, मित्रता में, समान-रूप से दोनों का हित देखते हैं। माननीय श्रीनिवास शास्त्री को कोई भी अराजक नहीं कह सकता। पर, १६ अप्रैल को कलकत्ता में लिबरल महासभा के अवसर पर, व्हाइट पेपर पर प्रस्ताव पेश करते समय उन्होंने कहा था—"अंग्रेज यह भूल सकते हैं कि लार्ड अरविन ने भारतीयों से क्या वादा किया था, पर भारतीयों को चाहिए कि वे अंग्रेजों को उनके वादे की याद दिलाते जावें।......मैंने सत्याग्रह आन्दोलन में भाग नहीं लिया था, पर मैं यह कहूँगा कि सत्याग्रह के समान कोई आन्दोलन कभी एकदम नहीं दबाया जा सकता। यदि ठिकाने से, बुद्धिमानी से उसे सुलझाया न जावे, तो एक दिन ऐसा आवेगा जब वह फिर से प्रकट हो जायगा और तब उसे किसी तरह दबाना संभव नहीं। मैं एक आत्म-शासन के अधिकार से युक्त "कामनवेल्थ" का निवासी बनने के लिए तैयार हूँ, पर वह कामनवेल्थ ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, दक्षिण अफ्रिका आदि के साथ समान दर्जे पर होना चाहिए। इससे कम कोई भी दशा, कभी किसी हालत में किसी को भी स्वीकार न होगी और इससे विरोध का बीज और भी पनपेगा।" अन्त में शास्त्री जी ने कहा—"आज जो भी राजनैतिक परिस्थिति है वह वर्तमान आन्दोलन के ही कारण है। क्या हम इस आन्दोलन के सैनिकों के अद्‌भुत त्याग और बलिदानों को भूल सकते हैं? क्या हम यह भूल सकते हैं कि हरेक नगर और ग्राम में पुलिस ने उनके

साथ कैसा व्यवहार किया है ? क्या इन सब पीड़ाओं का कोई फल न निकलेगा ? सर सैमुएल होर देश की मौजूदा दशा से प्रसन्न हैं, पर वे क्या करना चाहते हैं ? क्या पुनः ऐसी परिस्थिति पैदा करना चाहते हैं जिससे यह आन्दोलन उठा था ?"

शास्त्रीजी के अतिरिक्त मि० जोशी, मि० जे० एन० बसु, पं० हृदयनाथ जी कुंजरु—सबने एक स्वर से, एक मन होकर श्वेत-पत्र की भर्त्सना की थी। सेना के ही विषय में पंडित कुंजरु ने कहा था—"हम चाहते हैं कि हमारी सेना में सब भारतीय सिपाही और भारतीय अफ़सर हों !" पर यह तो दिवा-स्वप्न है ! श्रीयुत चिन्तामणि ने इस शासनविधान को, इसी अवसर पर "अवैध-शासन-विधान" का नाम दिया था और इसी श्वेत-पत्र के विषय में दिल्ली में होनेवाली अखिल भारतीय वाणिज्य मंडल की राय है कि—"यह शासन-विधान अत्यधिक दक़ियानूसी, पीछे ले जानेवाला और अमान्य है।" अधिवेशन अध्यक्ष श्री बालचन्द हीराचन्द ने कहा था—"इस श्वेत-पत्र की योजना जब माडरेटों को ही स्वीकार नहीं है तो और किसे स्वीकार हो सकती है ?"

यह है श्वेत-पत्र पर इस समय प्रायः सभी प्रकार के विचारवालों की सम्मति। इस सप्ताह भारत की दो प्रसिद्ध तथा जिम्मेदार संस्थाओं ने भी इसकी भर्त्सना कर दी। काँग्रेस इसकी ओर आँख उठाकर देखना भी नहीं चाहती और फिर भी हमारे अभागे देश में कुछ ऐसे भारतीय हैं, जो यह आशा करते हैं कि "संयुक्त पार्लमेण्टरी कमेटी" में इस योजना को इस प्रकार गढ़ लिया जायगा कि वह भारतीयों की महत्वाकांक्षा को पूरी कर सकेगी और इसी आशा से केवल सलाहकार की हैसियत से वे लन्दन जाना चाहते हैं। यदि उनकी नीयत केवल लन्दन घूमने की नहीं है, यदि वे प्रजा के पैसे से सैर नहीं करना चाहते, तो उन्हें "इंडियन एक्सप्रेस" पत्र की इस राय से यह समझ लेना चाहिए कि संयुक्त पार्लमेण्टरी कमेटी क्या करेगी। पत्र लिखता है—

"यदि संयुक्त पार्लमेण्टरी कमेटी के सदस्यों के नाम की मीमांसा की जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि अधिकांशतः वही इसके सदस्य हैं जिन्होंने श्वेत-पत्र के निर्माण में सहायता की है। यह कल्पना में भी बात नहीं आती कि वे इस पत्र में कोई नये विचार पैदा करेंगे, या रद्दो-बदल करेंगे।"

श्वेत-पत्र से कोई भी प्रसन्न नहीं है। इसके परिवर्तन की कोई आशा नहीं है। अतएव हमें घोर दासता के लिए तैयार रहना चाहिए।

२४ अप्रैल १६३३

रिज़र्व-बैंक

भारत-सचिव तथा श्वेत-पत्र की सूचना के अनुसार भारत में केन्द्रीय शासन में उसी

समय ज़िम्मेदारी दी जा सकेगी, जब कि यहाँ पर एक 'रिज़र्व बैंक' की स्थापना हो जायगी। यही बैंक भारत का असली केन्द्रीय बैंक होगा। इस समय भारत सरकार की ओर से जो कुछ सुविधा और सहूलियत इम्पीरियल बैंक को है, वही इस रिज़र्व बैंक को प्राप्त होगी; इसके अलावा उसे अनेक अधिकार होंगे, जिनमें से एक अधिकार मुद्रा-चलन पर नियंत्रण और नोट-चलन पर पूरा अधिकार भी हो सकता है। कई दृष्टियों से इस प्रकार के बैंक की स्थापना भारत के उद्योग-धन्धे को वृद्धि के लिए, भारत की मुद्रा-नीति को नियंत्रित करने के लिए, भारत के सभी बैंकों को एक प्रभाव में, एक शासन में रखने के लिए और सभी प्रांतों की अर्थ-नीति को एक केन्द्रीय विभाग से निर्धारित करने के लिए रिजर्व बैंक का होना जरूरी है। यदि भारत सरकार ने भारतीयों के हित का वास्तव में ध्यान रखा होता, तो अब तक कई वर्ष पहले यह बैंक स्थापित हो गया होता, भारत का अरबों का सोना बाहर न बह गया होता, भारत का सोना लन्दन के बैंक में इस तरह न जमा कर दिया जाता कि यदि आज जरूरत पड़े तो भारत का आर्थिक दिवाला तक निकल सकता है और लन्दन में सोना पड़ा रह जा सकता है। भारत में रिजर्व बैंक न होने का ही यह फल है कि आज हमारी काग़ज़ी मुद्रा १७७ करोड़ की है, पर उसके पीछे सरकारी कोष में केवल २६ करोड़ का सोना है; आज भारत में केवल इतना सोना है कि सरकार का एक वर्ष का ही काम चल सकता है। फिर भी सोना बाहर चला जा रहा है, विनिमय की दर घातक बनी हुई है, लगभग दो अरब का सोना बाहर चला गया। अमेरिका ऐसे धनी देश भी अपना सोना बाहर जाने से रोक रहे हैं, पर भारत के अर्थ-मन्त्री को इस बात का गर्व है कि वे भारत से काफ़ी सोना भेजकर भारत का देना-पावना चुका रहे हैं। यह सब इसीलिए हो रहा है कि भारत की कोई शुद्ध अर्थ-नीति नहीं है; कोई निश्चित योजना नहीं है, कोई भी केंद्रीय बैंक नहीं है।

बिना केंद्रीय बैंक के कोई सभ्य-सरकार अपना काम ठिकाने से चला ही नहीं सकती। इस समय दुनिया के बत्तीस सभ्य देशों में केंद्रीय बैंक हैं जिनमें से १७ देशों के केंद्रीय बैंक शेयरवालों के हाथ में है, सात केवल राज्य के हाथ में हैं और आठ तो मिले-जुले हैं।

भारत में रिज़र्व बैंक के लिए—"बैंकों के बैंक" के लिए १६२७ में बहुत ज़ोर दिया गया था। उस समय सर बैसिल ब्लैकेट अर्थ-सदस्य थे। वे इस विचार को पसन्द करते थे, पर वह बैंक हिस्सेदारों का हो या राज्य के हाथ में हो—इसी पर मतैक्य न हो सकने के कारण बात ठण्ढी पड़ गयी। बैंकिंग जाँच कमेटी ने इस विषय को आगे बढ़ाया। संघयोजना के साथ वह विषय फिर सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगा। इसके दो प्रकार के समर्थक हैं। एक का कहना है कि यदि इसे हिस्सेदारों का बैंक बना दिया जायेगा तो विदेशी पूँजीपति काफ़ी हिस्सा खरीदकर इसे अपनी मुट्ठी में कर लेंगे; पर, एक मत यह भी कहता है कि एक हिस्सेदार को, चाहे वह कितना ही हिस्सा ख़रीदे, एक ही वोट देने का अधिकार देना चाहिए। इस प्रकार यदि हिस्सेदारों

का ही बैंक रहेगा, तभी कल्याण होगा। दूसरा पक्ष यह कहता है कि वास्तविक कल्याण त भी होगा जब कि यह बैंक राज्य के हाथ में होगा। राज्य के हाथ में भी रहने के अनेक फ़ायदे हैं, पर भारत सरकार ने एक निराली ही नीति निकाली है। वह इस बैंक को दो में से किसी के भी हाथ में नहीं रखना चाहती। यह एक बोर्ड की रचना करना चाहती है जो स्वतंत्र होगा।

जो हो, यहाँ पर हम इस प्रश्न के दोनों पहलुओं की मीमांसा नहीं करना चाहते। प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है और इस पर तुरन्त विचार होना चाहिए। चाहिए तो यह था कि सरकार पहले केन्द्रीय शासन की स्थापना कर तब केन्द्रीय बैंक स्थापित करती ; पर वह घोड़े के आगे गाड़ी रख रही है। वह चाहती है कि बैंक की स्थापना हो जाय, तब केन्द्रीय शासन स्थापित किया जाय ! इस बैंक की स्थापना के विषय में परामर्श करने के लिए लन्दन में एक समिति भी बैठेगी, जिसमें भारत की ओर से भी अनेक प्रतिनिधि भेजे जायेंगे। सर जार्ज शुस्टर ने एसेम्बली में यह घोषणा की है कि इस विषय पर निर्णय तथा निश्चय के लिए लन्दन में एक सम्मेलन होगा। भारत सरकार भारत सचिव की सलाह से, इसमें शरीक होने के लिए भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या तथा उनका नाम निश्चित कर प्रकाशित करेगी। यह सूची एक सप्ताह के भीतर ही प्रकाशित हो जायगी। इस सूची पर बहुत कुछ निर्भर करता है। यदि सरकार ने वास्तव में विशेषज्ञ अर्थ-शास्त्री या प्रजा के असली प्रतिनिधि चुने तो ठीक ही है, अन्यथा यह निश्चित है कि "भर्त्ती" के मेम्बर भारत के असली हित की हत्या करेंगे और रिजर्व बैंक जो अपनी रचना के बाद केवल एक बोर्ड के हाथ में रहेगा, भारत का कुछ भी कल्याण न कर सकेगा और हम तथा हमारा देश उसी प्रकार दरिद्रता तथा अनुचित अर्थ-नीति का शिकार बना रहेगा।

क्या हम सरकार से इतनी आशा करें कि वह, इस विषय में प्रजा के हित का, भारतीयों के स्वार्थ का, तथा भारतीय किसानों के लाभ का, विचार कर उदारतापूर्वक भारतीय-रिजर्व बैंक सम्मेलन में सब प्रश्नों पर विचार करने का अवसर देगी तथा उसके सदस्यों की जो सूची प्रकाशित होनेवाली है, वह हमारे मन में सम्मेलन के प्रति विश्वास पैदा कर सकेगी ?

१ मई १९३३

जापान के माल का बहिष्कार

बम्बई के मिल मालिकों ने जापानी कपड़े का बहिष्कार-बिल पास कराके अपना रास्ता साफ़ कर लिया। अब उन्हें अख्तियार है, जितने मँहगे कपड़े चाहें बेचें और

ज़ितना लाभ चाहे उठावें। उनकी बला खर्च में किफ़ायत करे। भारत की जनता नंगी तो रहेगी नहीं; लेकिन जापान ने भारत की रुई बन्द कर दी तो यहाँ के मिल-मालिक उस रुई के खरीदने का ज़िम्मा लेते हैं? और किसान का माल न बिका तो वह कपड़ा कैसे खरीदेगा? बम्बईवाले कहते हैं—जापान का भारत की सस्ती रुई के बगैर काम ही नहीं चल सकता। वह झक मार कर खरीदेगा; लेकिन यह तो सोचिए कि वह रुई खरीदकर करेगा क्या? क्या अपने लिये कफ़न बनायेगा? उसे अपने मिल बंद करने पड़ेंगे और भारत की रुई टके सेर में भी कोई न पूछेगा। इन राजनैतिक चालों के चक्कर में गरीब जनता का कचूमर निकला जा रहा है, पर यह तो डेमाक्रेसी है, यहाँ जनता के हानि-लाभ का क्या ज़िक्र। यहाँ तो मिल-मालिकों का प्राधान्य है, रिआया जाय जहन्नुम में। जापान दोनों ओर का भाड़ा देकर भी, ५० फ़ीसदी चुंगी देकर भी अपना माल भारत के माल से सस्ता बेच सकता है और यहाँ के मिलवाले अपना माल सस्ता बेचने की फ़िक्र नहीं करते। उनके हलवे-माँडे में कमी नहीं हो सकती। उन्हें अच्छा मुनाफ़ा अवश्य चाहिए, चाहे वह जनता के रक्त से ही क्यों न मिले।

१ मई १९३३

मिसेज़ सुब्बारोयाँ का वक्तव्य

मिसेज़ सुब्बारोयाँ उन दो महिलाओं में एक हैं, जो दूसरी गोलमेज में भारतीय स्त्रियों की प्रतिनिधि थीं। आपने हाल में समाचारपत्रों में एक वक्तव्य प्रकाशित किया है, जिसमें आपने दिखाया है कि नयी व्यवस्था में भारतीय स्त्रियों के लिए वोटिंग की जो शिक्षा-संबंधी शर्त रखी गयी है, उससे स्त्रियों को उतने वोट न मिल सकेंगे, जिसका इस व्यवस्था में अनुमान किया गया है अर्थात्—पुरुषों के अनुपात से १:७। आपको भय है कि स्त्रियाँ इतनी वोटिंग शक्ति न प्राप्त कर सकेंगी। वक्तव्य के अन्त में आपने महिलाओं की स्वरक्षित जगहों के लिए साम्प्रदायिक आधार का विरोध करते हुए लिखा है—

"मुझे खेद है कि सरकार ने हमारी इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया है कि स्त्रियों को इन स्वरक्षित जगहों के लिए पंथगत विचारों से अलग होकर खड़ा होने दिया जाय। महिलाओं को साम्प्रदायिकता से विशेष प्रेम नहीं है और उन्होंने एक स्वर से इसका विरोध किया है। सरकार का कथन है कि अगर सभी पंथों के लोग आपस में मिलकर समझौता कर लें तो वह इस निश्चय को बदल सकती है, लेकिन अब तक बहुत उद्योग करने पर भी समझौते की कोई आशा नहीं दीखती। भविष्य के विषय में तो इस समय कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन मुझे सच्चा विश्वास है कि भारत की

देवियाँ चाहें किसी द्वार से राजनैतिक जीवन में प्रवेश करें, वे अपने दल में पंथगत भेद-भाव को न आने देंगी। अब तक हमारी देवियों ने जो कुछ किया है, पूर्ण सद्भाव और सहयोग से किया है, भेदों को बीच में नहीं आने दिया है। और देश के लिए उनकी यह नीति सर्वथा प्रशंसनीय है और मुझे आशा है कि राजनैतिक क्षेत्र में भी वह सहयोगिता का परिचय देंगी।"

हमारी भी यही शुभकामना है।

मई १९३३

महात्मा जी का सफल तप

जब तक हंस पाठकों के हाथ में पहुँचेगा, महात्मा जी की तपस्या कुशलपूर्वक पूरी हो चुकी होगी और समस्त देश में उनके आनन्दोत्सव मनाये जाते होंगे। जब महात्मा जी ने इस तपस्या की इच्छा प्रकट की, तो भारत काँप उठा। इस अवस्था में और ऐसा स्वास्थ्य रहने पर भी आप २१ दिन का उपवास-व्रत करने जा रहे हैं, चारों ओर से आपके पास पत्र और तार आने लगे—आप यह व्रत करके अपने प्राणों को संकट में न डालिये। भारत की एकमात्र आशा आप हैं। आपको वह नहीं खो सकता। अपने-पराये सभी मना करते रहे, पर महात्मा जी के संकल्प अचल होते हैं। आप महीनों के आत्मचिन्तन के बाद जब इरादा कर लेते हैं, तो वह पक्का होता है। आपका व्रत आरम्भ हुआ और आज १७ दिन पूरे हो चुके हैं। आप स्वस्थ हैं, प्रसन्न हैं और पूरी आशा है कि आपकी तपस्या सकुशल समाप्त होगी। आप Man of Destiny हैं और आपकी आत्मा में वह असीम संचित शक्ति है, जिसकी साधारण प्राणियों को खबर नहीं। इस तपस्या का प्रत्यक्ष फल क्या होगा, इसका अनुमान समाचार-पत्रों के संवादों से नहीं किया जा सकता। शिक्षित समाज की मनोवृत्ति में धीरे-धीरे पर दृढ़ रूप से क्रान्ति हो रही है, और राष्ट्र चेतना अब बहुत दिनों यह अमानुषीय अन्याय नहीं सह सकती।

मई १९३३

महात्मा जी की अपील पर सरकार का जवाब

महात्मा जी ने अपने वक्तव्य में सरकार से बन्दियों को छोड़ने की जो अपील की थी, उसका सरकार ने बहुत ही निराशाजनक जवाब दिया। जब काँग्रेस ने सत्या-

ग्रह को एक महीने के लिए स्थगित कर दिया, तो क्या गवर्नमेन्ट को कम से कम अपने वचन का पालन करने के लिए ही बन्दियों को मुक्त न करना चाहिए था, एक महीने के लिए सही ? जब सत्याग्रह फिर शुरू हो जाता, तो उन्हें सारे बन्दियों को गिरफ़्तार कर लेने का अख़्तियार था। पर सरकार ने परिस्थिति का, राष्ट्र की शान्ति का और महात्मा जी के सम्मान का, जरा भी विचार न किया और अपने कम्युनिक में साफ लिखा दिया—जब तक कांग्रेस कमेटी सत्याग्रह को उठा न देगी, वह कैदियों के साथ किसी तरह की रिआयत न करेगी। इससे अगर कुछ नतीजा निकाला जा सकता है, तो वह यह है कि सरकार कांग्रेस से इतनी भयभीत है कि एक महीने के लिए भी कैदियों पर विश्वास नहीं कर सकती, उसी तरह जैसे कोई शेर को पिंजरे में फँसाकर उसे खोलते डरता हो, कि न जाने बाहर निकलकर क्या ग़ज़ब ढाये। सरकार बार-बार कह चुकी है कि कांग्रेस-आन्दोलन निर्जीव हो गया है। निर्जीव चाहे न हुआ हो ; पर यह सभी मानते हैं, कि जनता में निराशा इतनी गहरी हो गयी है कि अब उन्हें अपनी तक़दीर को रोने के सिवाय और कोई सहारा ही नहीं रहा। वह अपंग की भाँति आँखों से देखते हैं, दिल में कुढ़ते हैं ; पर कुछ नहीं कर सकते। ऐसी दशा में कांग्रेस के नेता छूट-कर भी क्या कर लेते। फिर कितने कांग्रेसी ऐसे भी हैं, जो राजनीति की ओर से निराश हो गये हैं और देश के उद्धार के लिए किसी योरोपीय संघर्ष की राह देख रहे हैं; और अब अपना जीवन जन-सेवा में लगाना चाहते हैं। उन्हें जेल में रखकर सरकार उन्हें जबरदस्ती राजनीति में फँसाये हुए है। जो कुछ हो, सरकार का यह व्यवहार मुगलों या अफ़गानों के ज़माने का-सा है, आजकल के शिष्ट शासन का-सा नहीं।

१४ मई १९३३

दक्षिण-अफ्रिका का नया चुनाव

दक्षिण अफ्रिका में भारतीय बहुत ही अधिक मात्रा में बसे हुए हैं। फिर भी कौंसिल में उन्हें इतना कम स्थान दिया गया है कि नये चुनाव का परिणाम देखकर यह सोचना पड़ता है कि भारतीय-विरोधी गोरे अधिक संख्या में विजयी हुए हैं, कि समर्थक। नये चुनाव में हरज़ोग (प्रधान मंत्री) तथा स्मट्स (जेनरल—गांधी जी के समर्थक तथा मंत्रि-मंडल के सदस्य) के मेल के कारण राष्ट्रीय सरकार बहुत बड़ी संख्या में विजयी हुई। १५० सदस्यों की कौंसिल में १५० राष्ट्रीय दल के हैं। मज़दूरदल की बुरी तरह हार हुई है। इस प्रकार, इस कौंसिल में भी भारत-विरोधियों का बहुमत हो गया है। यदि कोई आशा है तो जेनरल स्मट्स से। उनके मंत्रिमंडल में रहने से भारतीयों के हितों की थोड़ी बहुत रक्षा होती रहेगी।

२९ मई १९३३

सिविल सर्विस

भारतीय सिविल सर्विस ही भारतीय-स्वायत्त-शासन के विकास की सबसे बड़ी बाधा है, और यही सिविल सर्विस भावी शासन-विधान में भी भारत का शासन करेगी, यही श्वेत-पत्र का सबसे प्रबल विरोध है। भारत-सचिव ने सिविल सर्विस की नयी भरती अपने हाथ में रखी है और जो इस समय सिविल सर्विस में हैं, उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया है। चूंकि लन्दन ही दिल्ली पर हुकूमत करेगा इसलिए यह आसानी से कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रान्त में गवर्नर के ऊपर भी सिविल सर्विस की हुकूमत चलेगी, जो सीधे लन्दन तक अपनी शिकायत पहुँचा सकता है और लन्दन को बाध्य कर सकता है कि वह दिल्ली के द्वारा भी प्रान्त के शासन में दस्तन्दाजी करे। इस प्रकार यह तय है कि भावी शासन-विधान सिविल-सर्विस का शासन होगा।

जो लोग इस बात को अच्छी तरह से नहीं समझते थे, वे भी समझने लगे हैं। स्वयं सिविल सर्विस के पुराने घाघ भी यही कबूल करते हैं। लार्ड चेम्सफोर्ड की कौंसिल में होममेम्बर तथा रौलट बिल के पेश करनेवाले, भारतीय सिविल सर्विस के एक पुराने मेम्बर सर विलियम विंसेंट ने, जिन्होंने लार्ड रीडिंग के शासन-काल में, पहला सत्याग्रह आन्दोलन दबाने के लिए सब कुछ किया था, हाल ही में अपना एक लेख प्रकाशित किया है, जिसमें आपने इस बात पर संतोष प्रकट किया है कि भावी शासन-विधान में 'भारतीय सिविल सर्विस' वालों को काफी संरक्षण मिला है। आपकी सम्मति में—'यदि भारत में वास्तव में सच्चा तथा न्यायपूर्ण शासन चलाना है, तो सिविल सर्विस का रहना जरूरी है।' पर इसके साथ ही चूंकि उन्हें नये ढंग का और अधिक काम करना पड़ेगा, तथा इसके लिए अधिक योग्य लोगों की जरूरत होगी, इसलिए उनको अधिक वेतन इत्यादि देना चाहिए। आपकी यह भी राय है कि बड़े लाट को जो विशेष नियुक्तियाँ करनी हैं तथा अपना ही एक मंत्री चुनना है, वह भी सिविल सर्विस का ही एक आदमी होना चाहिए।

संक्षेप में, भारत में जो कुछ हो, वह सिविल सर्विस का ही होना चाहिए! भारत को असल स्वराज्य नहीं मिल रहा है। स्वराज्य मिल रहा है सिविल सर्विस को! यही होगी हमारी भावी स्वाधीनता!!

१४ मई १९३३

सत्याग्रह

महान् व्रत समाप्त हो गया। ईश्वरीय सत्ता ने मानवीय कलेवर की रक्षा की।

आत्मबल ने शारीरिक इन्द्रियों को जीत लिया। लोक-तृष्णा को देवी-महत्वाकांक्षा ने वशीभूत कर लिया। महात्मा गांधी अपने व्रत में सफल हुए। ईश्वर ने उनकी जो परीक्षा ली थी, उसमें वे उत्तीर्ण प्रमाणित हो गये। गांधी जी ने इस प्रकार की कई परीक्षाएँ सफलतापूर्वक पास की हैं। उनके लिए यह परीक्षा भी साधारण थी। भारत-ऐसे दार्शनिक देश के लिए ऐसी परीक्षाएँ आश्चर्य की वस्तु नहीं हैं। आज न जाने कितने साधु-महात्मा अपनी कुटियों में, एकान्त में बैठे हुए ईश्वर के सामने ऐसी ही परीक्षा दे रहे हैं।

किन्तु, उपवास भंग करने का क्रम बड़ी सतर्कता की आवश्यकता रखता है। कहते हैं, कि एक रात का उपवास सात दिन न सोने के बराबर है। गांधी जी में इस समय भोजन-ग्रहण करने की भी शक्ति, कुछ थोड़े समय के लिए तिरोहित हो गयी है। अंतड़ियों को, क्षुधा को, जठराग्नि को जो काम सौंपा गया था, वह कुछ समय के लिए छीन लिया गया था। बेकारी से शक्ति में जंग लग जाता है। लोहे से काम लेते ही रहना चाहिए। वह काम के लिए ही बना है, अतएव गांधी जी को उसी समय भय से मुक्त तथा पूर्णतः स्वस्थ समझना चाहिए, जब वे लगातार पन्द्रह दिन तक नियमित रूप से भोजन करते रहें, इसलिए राष्ट्र की आशंका तथा चिन्ता का समय अभी नहीं बीता है।

जिस उद्देश्य से उपवास किया गया था, वह पूरा हुआ या नहीं, यह तो स्वयं गांधी जी ही कह सकते हैं। ईश्वरीय प्रेरणा से उन्होंने उपवास किया था और वही प्रेरणा इस विषय में भी अपना विचार प्रकट करेगी, पर गांधी जी की यही प्रेरणा ही, यही ईश्वरीय निर्देशानुसार काम करने की शक्ति ही उनका सबसे बड़ा बल है। निस्संदेह आज भारत में गांधी जी के उतने अनुयायी नहीं हैं, जितने १९२१ या १९३० में थे। इस विषय में ऐंग्लोइण्डियन पत्र—"सिविल एण्ड मिलिटरी गज़ेट" की सम्मति से हम सहमत हैं। यह भी प्रकट और सत्य है, कि गांधी जी के विरोध में काँग्रेस में एक बहुत बड़ा दल तैयार होकर, उनसे, उनकी निरंकुश लीडरी से, लोहा लेने के लिए पैंतरे बदल रहा है। काँग्रेस में बहुत से कार्यकर्ताओं का यह विचार है और कुछ अंश तक सत्य है, कि अछूतोद्धार आंदोलन को वर्तमान रूप देकर गांधी जी ने सत्याग्रही तथा सरकार-विरोधी काँग्रेसवालों के लिए केवल दो ही मार्ग छोड़े हैं—एक तो यह कि वे देश-सेवा करें, झण्डा उठावें और जेल चले जायँ (श्रीमती सरोजनी नायडू ने मौजूदा काँग्रेस आंदोलन के विषय में इसी प्रकार के भाव प्रकट किये थे।) या देश-सेवा छोड़ कर हरिजन सेवा करें—और यह कोई नहीं कह सकता, कि हरिजन-सेवा देश-सेवा से बढ़कर है। दूसरी शिकायत यह है, कि उन्होंने देश के गाढ़े दुःख-दर्द में केवल कोरी गप्प उड़ाकर, दूर के ढोल पीटकर शरीक होनेवाले लिबरलों के लिए सार्वजनिक रंग-मंच पर एक "सही-सलामत" बचे रहकर, काम करने का अवसर दे

दिया । अब लिबरल देश के नेता हैं, लोडराने क़ौम हैं, और जनता के लिए अपना प्राण तक बलिदान कर देनेवाले काँग्रेस-सेवक जेल की चिड़िया !

महात्मा जी के विरुद्ध अनेक अभियोगों में से दो ही गिनाये गये हैं । उनके दोषों पर विचार करना पहले तो असंभव-सा है, दूसरे पटेल या सुभाष-ऐसी प्रतिभा तथा त्यागियों का काम है ! पर एक बात स्पष्ट है—प्रकट है—सत्य है । वह यह कि उस वृद्ध का इतना विरोध होते हुए भी जब वह सामने आता है, हरेक की ज़बान ऐंठ जाती है, विरोधी विरोध करते हैं, पर स्वयं उन्हें अपने ऊपर लज्जा आती है । कोई हरिजन-आन्दोलन में विश्वास करे या नहीं—उसे अनायास ही उसमें खिच जाना पड़ेगा । कोई लोक-सेवा के जिस किसी मार्ग पर चलना चाहे, गांधी की सत्ता उसे विचलित कर देगी । यही आत्मबल है । यही आत्मशक्ति है । यही ईश्वरीय-विभूति है, जो गांधी जी ने अपनी तपश्चर्या से उपार्जित की है ।

जो मूर्ख है, अज्ञ है, अल्पज्ञ है, जो कोरी भौतिकता का ही ज्ञान रखता है, वह ईश्वरीय-प्रेरणा से काम करनेवाले की महत्ता का अनुमान नहीं कर सकता, इसीलिए उसे ऐसे कार्यकर्त्ता ढोंगी मालूम होते हैं । ऊपर हमने जिस ऐंग्लोइण्डियन पत्र का ज़िक्र किया है, उसके सम्पादक भी इसी प्रकार के अज्ञानियों में से हैं, अन्यथा उन्होंने एक सम्पादकीय टिप्पणी लिख कर महात्मा जी के उपवास करने की नीयत पर ही शुबहा न किया होता । यही नहीं, इस पत्र को इस बात का भी खेद है कि उपवास के कारण "काँग्रेस" का नाम फिर विशेष रूप से सुनायी देने लगा है । आतिशबाजी से कुत्ते का डरना हमारी समझ में आ सकता है, पर काँग्रेस के नाम से किसी अध-गोरे का बौखला उठना समझ के बाहर की बात है । पर, इस पत्र ने यह भी सलाह देने की जल्दी की है कि यदि "गांधी सत्याग्रह पुनः प्रारंभ कर दें, तो सरकार उन्हें फिर से क़ैद कर ले ।" ऐसी सलाह देकर नक्कू बनने की आवश्यकता नहीं । यह तो हाथ में छुरी लेकर अनायास किसी से कहना है कि मेरी नाक काट लो । गांधी जी का जो स्वाभिमान है, वह विदित ही है । वे यदि सत्याग्रह की घोषणा करेंगे, तो सम्भवतः यरवदा जेल के द्वार पर बैठकर !

अस्तु हमारा अनुरोध है कि हरिजन कार्य में गांधी जी के उपवास की समाप्ति के कारण शिथिलता नहीं आनी चाहिए । वे अपने को "उपवास" के लिए ही तत्पर कर चुके हैं । ईश्वर करे, उनका यही अन्तिम उपवास हो । अब ऐसी नौबत न आवे । हम यह अनुमान करते थे कि पूना-पैक्ट के समय उपवास के बाद गांधी जी के उपवासों के प्रति जनता की सहानुभूति कम हो जायगी, पर देखा यह जा रहा है कि जो सहानुभूति कम करना चाहते थे, उन्हीं की सहानुभूति सबसे तीव्र उत्कट थी ! यह भी गांधी जी की विजय है । हमारी पराजय !

गांधी जी ने सत्याग्रह आरम्भ किया था । वे ही उसे स्थगित कर सकते हैं ।

सरकार ने उनकी अपील नामंजूर कर दी और सत्याग्रह के बन्दी नहीं छोड़े। इस नीति की जितनी निन्दा की जाय, थोड़ी है। सरकार ने गांधी जी की माँग की उपेक्षा कर यह सोचा होगा कि इसी में उसकी "शान" है। पर यथार्थ में इस नीति से उलटे सरकार के प्रति जनता की घृणा बढ़ गयी। सरकार यदि सत्याग्रह को हानिकर समझती है, तो उसे समाप्त करने का अवसर उसके हाथों खो गया। जनता सरकार द्वारा किये गये अपमान से कुपित है। वह भी इस मोह में पड़ गयी है कि वह सत्याग्रह स्थगित कर सरकार से हार मान लेती है। हमारी सम्मति में सरकार ने अपनी जड़ता दिखलाकर संसार की आँखों में अपने को अपराधी प्रमाणित कर दिया है, पर यदि जड़ता का जवाब जड़ता से दिया गया, तो हमारी बुद्धिमत्ता कहाँ रही ! हम संसार को यह कैसे दिखला सकेंगे कि देखो हम ही असली सभ्य तथा सुशिक्षित हैं।

काँग्रेस ने सत्याग्रह द्वारा वर्तमान शासन प्रणाली के प्रति जनता के भाव को व्यक्त कर दिया। निस्सन्देह लड़ाई कई वर्षों तक चल चुकी ! यद्यपि पराधीनता में सुख नहीं है, पर मनुष्यता को क्षणिक सुख से बहुत कुछ शान्ति मिलती है। अब जनता विश्राम चाहती है। उसे अपना व्यापार, अपना कारोबार, अपना घरबार संभालना है। आपको हमको पता नहीं कि इस सत्याग्रह-संग्राम में कितने ही सुखी परिवार स्वाहा हो गये। कितने बसे घर उजड़ गये। अब, फिर से इन कुटियों का बिखरा छप्पर छा देना है। यह स्वाधीनना का संग्राम एक दिन की वस्तु नहीं, सदियों का झमेला है। तब तक, लोगों को अपने अबोध शिशुओं को, अपनी गृह-देवियों को भूखों मारने के लिए न कहिये।

सरकार सोचती है कि काँग्रेस का बारबार अपमान करते रहने से फल यह होगा कि वह झूठे दम्भ में पड़ी रहेगी। नये शासन-विधान का बहिष्कार करेगी। सरकारी पिट्ठुओं के हाथ शासन में आते ही, कम से कम पाँच वर्ष तक, नये शासन-विधान को अपने रंग में रंगने की स्वाधीनता पा जायगी। उस समय यदि काँग्रेसवाले छूट कर आ भी जायेंगे तो भी उनकी लड़ाई भारतीय मंत्रियों से होगी। ब्रिटेन बदनामी से बचेगा।

हमारी समझ में यह है सरकारी नीति—कूटनीति ! क्या काँग्रेस इस नीति के चक्कर में पड़कर देश का सत्यानाश कर देगी ? क्या काँग्रेस इस अवसर पर झूठा दम्भ छोड़कर, राजनीति के ऊँचे पद पर नहीं उठेगी। ज़िद सभी जगह बुराई पैदा करती है पर राजनीति में ज़िद को स्थान नहीं देना चाहिए। जब हम यह लिख रहे हैं, हमें मालूम है कि यह सम्पादकीय लेख गांधी जी के सामने से नहीं गुज़रेगा। पर उनके कार्य-कर्त्ताओं, लेफ्टनेन्टों से हमारा अनुरोध है कि हमारे विचार को ध्यान से पढ़ें। यदि उसमें तथ्य हो तो, स्वस्थ होते ही महात्मा जी के कानों तक पहुँचाएँ। जो गाँधी-नेतृत्व के विरोधी हैं, वे भूल कर रहे हैं। इस समय भारत का नेता वही बूढ़ा हो सकता है, अतएव विरोध करने से कहीं अच्छा होगा उसके कान तक अपना मन्तव्य पहुँचाना और

ईश्वरीय प्रेरणा से काम करनेवाला कभी भूल न करेगा। साथ ही, हम सरकार से भी अनुरोध करते हैं कि वह वास्तविकता को समझकर, भारत का वास्तविक कल्याण करे।

५ जून १९३३

श्री सम्पूर्णानन्द जी

जहाँ तक हमें मालूम हुआ है, श्री सम्पूर्णानन्द जी के स्वास्थ्य पर झांसी की विकट गर्मी का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ रहा है। वज़न घट गया है, कमर का दर्द, बदन का दर्द बढ़ गया है। सम्भवतः क्षुधा भी कम हो गयी है। श्री सम्पूर्णानन्द जी काशी के प्रतिष्ठित नेता हैं। वे काशी-विद्यापीठ में दर्शन-शास्त्र के अध्यापक हैं। इसके पूर्व वे बहुत ही ऊँची नौम-सरकारी कर चुके हैं। वे कुशल सम्पादक तथा पत्रकार भी हैं। उन्हें केवल एक ही व्यसन है, पढ़ना! अत्यधिक घोरतम अध्ययन करना! इस समय वे चौथी बार, सत्याग्रह आन्दोलन में एक वर्ष का कठोर कारावास भोग रहे हैं—और वह भी झांसी ऐसे गर्म स्थान में। वहाँ वे एक दम अकेले हैं। "ए" क्लास के एकमात्र बन्दी हैं। उनके विषय में 'भारत' में भी एक सूचना प्रकाशित हो चुकी है, जिससे पता चलता है कि उनको झांसी की गर्मी बेहद सता रही है। क्या हम आशा करें, कि सरकार शीघ्र ही उन्हें किसी पहाड़ी या देहरादून ऐसे किसी ठण्डे स्थान में भेज देगी?

५ जून १९३३

चिटगाँव में सैनिक बर्बरता

विगत महासमर के समय में विजित तथा अधिकृत जर्मन प्रदेशों में भी ब्रिटिश तथा फ्रेंच सेना ने वहाँ की जनता के प्रति इतना अविश्वास न किया होगा, जितना चिटगाँव में अर्द्ध सैनिक-शासन में हो रहा है। हम क्रान्तिकारियों के कुकृत्यों के समर्थक नहीं हैं। हमें स्वयं चिटगाँव में क्रान्तिकारी उपद्रव के प्रति लज्जा आती है, पर हम किसी भी दशा में, किसी भी अवस्था में, यह मानने के लिए तय्यार नहीं हैं कि नगर भर पर अविश्वास कर राह चलते लोगों को "मित्र-उदासीन शत्रु" सूचक कार्ड देकर, उनकी तलाशी लेकर, सबके मन में अपमान तथा अनादर का भाव, असन्तोष तथा अशान्ति का भाव भर कर सरकार किसी प्रकार क्रान्तिकारियों को अपने अधिकार में कर सकती है। उनका दमन कर सकती है। इससे असन्तोषियों की मात्रा बढ़ेगी और असन्तोष ही

क्रान्ति की जड़ लगाता है। इस विषय में हम प्रयाग के 'लोडर' से पूरी तरह से सहमत हैं कि चिटगाँव में क्रान्तिकरी उपद्रव रोकने का एकमात्र उपाय वहाँ पर न्याय का समुचित शासन स्थापित करना है। और कोई उपाय सफलीभूत होगा, इसमें सन्देह है।

५ जून १९३३

अण्डमान के क़ैदी

काले पानी में कैदियों को भेजने की प्रथा समाप्त हो गयी थी, पर सरकार नेम उस पुराने अस्त्र से फिर काम लेना आरम्भ कर दिया है और समस्त देश ने एक स्वर से इस नीति की निन्दा की है। बहुत से कैदी विशेषत: बंगाली, अण्डमान टापू भेजे जा रहे हैं। इन कैदियों को भारत से जाने में, यात्रा में, जो बहुत कुछ कष्ट होता है वह तो होता ही है, इसके साथ ही, द्वीप में भी बड़ा कष्टमय जीवन बिताना पड़ता है। इस विषय में जो बहुत-सी बातें मालूम हुई हैं, वे प्रमाण के अभाव से, कानून के भय से पत्रों में नहीं प्रकाशित की जा सकतीं। उसकी जानकारी तथा जाँच-पड़ताल के लिए हमारे पास विशेष साधन भी नहीं हैं, किन्तु अभी हाल ही में "हिन्दुस्तान टाइम्स" आदि पत्रों में एक अपील प्रकाशित हुई है, जिसमें वहाँ के अभागे कैदियों की दुर्दशा का करुण चित्र खींचा गया है। इस अपील को पढ़ कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मनुष्यता के नाम पर, सभ्यता के नाम पर, एक साम्राज्य के अंग होने के नाम पर, हम भारतीय सरकार से अनुरोध करते हैं कि इस विषय में जनता की शंकाओं का समाधान करने के लिए तुरंत एक जाँच-कमीशन बिठाये। इससे अधिक हम इस विषय में क्या लिख सकते हैं। आशा है सरकार ध्यान देगी।

५ जून १९३३

काले पानी के राजनैतिक कैदियों की मौत

पाठकों को मालूम है कि सन् २१ से काले पानी के अपराधियों को अंडमान ले जाने की प्रथा सरकार ने बन्द कर दी थी। वहाँ का जलवायु, जेलों की दशा आदि का कैदियों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता था। जब सरकार किसी आदमी को कैद करती है, तो वह उसे स्वरक्षित रखने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेती है। सन् २१ में एक जेल कमेटी ने अंडमान के कैदखानों का मुआयना करके यह फैसला किया और सरकार

ने उसे स्वीकार कर लिया। आश्चर्य तो यही है कि स्वीकार कैसे किया, लेकिन उस वक्त राजनैतिक कैदियों का इतना आतंक न था। इस जमाने में तो सरकारों की दृष्टि में सबसे बड़ा पाप सरकार से विरोध करना है। साधारण कैदियों पर तो दया की जा सकती है, पर राजनैतिक कैदीदया की परिधि से बाहर की चीज़ है। रूस में फाँसी की सज़ा केवल सोवियट के खिलाफ विद्रोह करना है। भारत सरकार ने भी ऐसे कैदियों को काले पानी भेजना तय किया और जनता के रोने-गाने की परवाह नाकरके २९ आदमियों को भेज दिया। वहाँ कैदियों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने की खबर है। कैदियों ने १२ मई से अनशन कर दिया था और अब तक उनमें से तीन आदमियों की मौत हो चुकी है। यह हादिसे जिन परिस्थितियों में हुए हैं वह और भी शंकाजनक है। स्व० महाबीर सिंह ने १२ मई को भूख हड़ताल शुरू की। १७ मई को सीनियर मेडिकल आफ़िसर ने उन्हें नाक द्वारा दूध पिलाने की आज्ञा दी। इसमें उन्हें इतना कष्ट हुआ कि दो घंटे बाद उन्हें हिचकियाँ आने लगीं और वह मृत्यु की गोद में चले गये, लेकिन आश्चर्य यह है कि मि० मणिकृष्णदास ने केवल एक दिन अनशन किया था, दूसरे दिन उन्होंने स्वेच्छा से भोजन कर लिया, पर कई दिन के बाद वह भी मर गये। सरकारी विज्ञप्ति है कि उन्हें निमोनिया हो गया। इसी तरह तीसरे कैदी मोहितमोहन मित्रा को भी उसी दिन निमोनिया हुआ जिस दिन मणिकृष्णदास अस्पताल में दाखिल किये गये थे और उनके मरने के दो दिन बाद मि० मित्रा की भी मृत्यु हो गयी। अब यह तीनों मित्र उस संसार में हैं जहाँ न राजनैतिक दंड है और न नकली भोजन की विधि और न निमोनिया। भारत में इन खबरों ने हलचल पैदा कर दी है और जनता तरह-तरह की शंकाएँ करने लगी है। कई पबलिक जलसे भी हो चुके हैं और सरकार से प्रार्थना की गयी है कि इस मुआमले की कड़ी जाँच होनी चाहिए, और बाकी कैदियों को भारत लौटा देना चाहिए।

१२ जून १९३३

गवर्नमेंट के लिए एक नया अवसर

प्रजा से समझौता करने के लिए सरकार को कई अवसर मिल चुके हैं, पर उसने अपने विजय के ज़ोम में उनकी हरबार उपेक्षा की है। जब महात्मा गांधी ने व्रत के पहले सत्याग्रह को ६ सप्ताह के लिए बन्द किया था और सरकार से राजनैतिक कैदियों को छोड़ देने का प्रस्ताव किया था, उस वक्त सरकार के लिए सत्याग्रह-आन्दोलन को शान्त कर देने का बड़ा अच्छा मौका था, पर सरकार ने यह अवसर भी छोड़ दिया। अब एक नया अवसर फिर आया है। देश के ७२ नेताओं ने जिनमें सभी विचारों, दलों

और संप्रदायों के लोग शामिल हैं, सरकार को एक पत्र लिखकर प्रार्थना की है कि राजनैतिक क़ैदी छोड़ दिये जायँ और काँग्रेस को नये विधान में भाग लेने का अवसर दिया जाय। देखना चाहिए अबकी सरकार क्या जवाब देती है। सरकार का शायद ख्याल है कि उसने काँग्रेस को कुचल दिया है और अब उससे समझौता करने की ज़रूरत नहीं है, पर जैसा सर तेज ने अभी इंग्लैंड में कहा—'काँग्रेस मरी नहीं है, वह अब भी भारत की सबसे सुसंगठित राजनैतिक संस्था है' और काँग्रेस चाहे और कुछ न कर सके पर उसकी इच्छा के विरूद्ध देश में एक विधान चला कर सरकार शांति से बैठ नहीं सकती और न अब वह श्वेतपत्रवाला विधान चल सकता है। विंस्टन चर्चिल साहब इंग्लैण्ड के कंजरवेटिव दल में श्वेतपत्र को अस्वीकृति कराने पर तुले बैठे हैं। आपके विचार में श्वेतपत्र का व्यवहार होते ही भारत में अंग्रेजों का सर्वनाश हो जायगा। तो यह मानी हुई बात है कि बहुमत को प्रसन्न करने के लिए श्वेतपत्र में अभी और काँट-छाँट हो जायगी और उसमें जो कुछ रहा-सहा मसाला है, वह भी साफ़ हो जायगा। जब श्वेतपत्र अपने वर्तमान रूप में ही किसी को पसंद नहीं है, तो अपने विकृत रूप में वह किसे पसंद आयेगा, यह मि० चर्चिल ही जानें। हाँ, वह हमारे अंग्रेज अधिकारियों को अवश्य पसंद आयेगा, और चूँकि इंग्लैण्ड भारत पर राज्य करना चाहता है इसलिए जिनके हाथों में इस नये विधान को चलाने का अधिकार होगा, उनकी ही पसंद सबसे बढ़कर है। राष्ट्र तो अपंग है, दुर्बल है, मूक है, अशक्त है। उसकी पसंद या नापसंद की परवा करना व्यर्थ है। राष्ट्रवादी इस विधान से अलग रहेंगे ही। सरकार के पिट्ठू, खुशामदी, अमन सभाई, कुछ थोड़े से दिवालिये नाम के राजा या नवाब कौंसिलों में आ जायँगे, उन्हीं में से जो ज्यादा अहमक होंगे, वह मिनिस्टर चुन लिये जायँगे और गवर्नमेंट जिस तरह चाहेगी शासन करेगी। पुलिस और फौज के रहते हुए उसे डर किस बात का। यह है वह मनोवृत्ति जिस पर सरकार काम कर रही है। ऐसा शासन हो सकता है और होगा, लेकिन उससे यह आशा न रक्खो कि देश उन्नत और खुशहाल होगा और ब्रिटिश साम्राज्य का एक उपयोगी अंग होगा। नहीं, वह एक मुर्दा देश होगा, जो केवल इसलिए जीता है कि गिद्ध उसे नोच-नोच कर खा जाँय।

१२ जून १६३३

अमेरिकन पादरी का पत्र गवर्नर बंगाल के नाम

अबकी कलकत्ता काँग्रेस के गैरकानूनी जलसे में काँग्रेस प्रतिनिधियों पर जो डंडेबाजी हुई थी उसको सर सैमुएल होर ने गलत बतलाया और पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय को भी झूठा सिद्ध किया। उनका कथन था कि काँग्रेसवालों ने गवर्नमेंट पर झूठा दोषारोपण

किया है जिसमें सरकार बदनाम हो। वास्तव में पुलिस ने बड़ी शान्ति के साथ जलसे को डिसपर्स किया था! सर सैमुएल होर ने जो बात कह दी उस पर संदेह करने का साहस किसे हो सकता है; पर अभी एक अमेरिकन पादरी मि० बैंक्राफ्ट ने गवर्नर बंगाल के नाम आँखों देखी बातों के आधार पर जो पत्र लिखा है उसे पढ़कर आशा है कि सर सैमुएल होर अपने कथन पर फिर विचार करेंगे और देखेंगे कि वास्तविक बात क्या थी। हम उस पत्र का एक भाग यहाँ नकल करते हैं—

"जब में पहुँचा तो कार्रवाई शुरू हो गयी थी। कांग्रेस के स्त्री-पुरुष उस समय शेड के अन्दर ही थे। शेड के चारों तरफ सवार पुलीस और लाठी-पुलीस खड़ी थी। मैं भी उसी समूह में खड़ा हो गया। कई बार हमें निकल जाने का हुक्म दिया गया और हमारे बीच में घोड़े दौड़ाये गये। हम समझते थे कि एक शान्तिमय जलसे को शान्ति के साथ देखने का हमारा हक़ है, इसलिए हम कई बार लौट-लौटकर जलसे को देखते रहे। इसी बीच में एक पुलीस लारी आयी। शेड के नीचे जो लोग थे उनमें से ९/१० लाठियों से मार-मार कर भगा दिये गये। मैंने खुद कई औरतों को बड़ी बेदर्दी से कन्धे, गर्दन और पीठ पर लाठियाँ खाते देखा। इसके बाद कुछ लोग लारी में ढकेल दिये गये और एक आदमी जो उसकी पटरी पर ठोकर खाकर गिर पड़ा, उस पर उठने के पहले बुरी तरह मार पड़ी।"

पुलीस ने जा किया या बेजा, इस विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। गवर्नमेंट का राज्य है वह जो चाहे कर सकती है! कौन बोल सकता है!

१२ जून १९३३

श्वेत पत्र का कंज़र्वेटिव विरोध

हम तो कंज़र्वेटिवों के अनुगृहीत हैं, कि हम जो कुछ चाहते हैं, वह उन्हीं के हाथों पूरा हुआ जाता है। अब तक इंग्लैण्ड की १०९ प्रान्तीय कंज़र्वेटिव सभाओं में ७८ ने श्वेतपत्र के विरुद्ध मत प्रकट किया है। यहाँ मि० चर्चिल का बोलबाला है। अब राष्ट्रीय सरकार के पदाधिकारी जगह-जगह घूम कर श्वेत पत्र के अनुकूल वातावरण पैदा करने का उद्योग कर रहे हैं। अगर पार्लमेण्ट में भी कंज़र्वेटिवों की यही नीति रही, तो श्वेतपत्र की वहीं अन्त्येष्टि हो जायगी। शायद कोई उस पर आँसू भी न बहाये। सहयोगी 'अमृत बाजार पत्रिका' ने एक बड़ी मनोरंजक तालिका प्रकाशित की है, जिसमें उसने श्वेतपत्र के पक्ष और विपक्ष की परिस्थितियों पर अंकगणित की पद्धति से क़यास दौड़ाया है। उसने कंज़र्वेटिव-दल में पक्ष को ३३.३ अंक दिये हैं, और विपक्ष को ६६.६।

और यह अनुमान निशाने पर ठीक बैठा है। तिहाई कंज़र्वेटिव मेम्बर श्वेतपत्र के साथ होंगे और दो तिहाई उसके विरुद्ध।

अंडमान कैदियों का दूसरा जत्था

सब कुछ हुआ। जगह-जगह जलसे हुए, समाचारपत्रों ने शोर मचाया, सर हेनरी हेग के पास डेपुटेशन गया, प्रार्थना की गयी कि आइंदा अंडमान को कैदी न भेजे जाँय, जाँच कमेटी बैठायी जाय; पर नतीजा कुछ न निकला। केवल पंजाब से एक अंग्रेज अधिकारी अंडमान भेज दिया गया, जिसे भूख हड़तालों का अच्छा अनुभव है। वह अंडमान जेलवालों को इस विषय में कुछ सलाह देकर लौट आयेगा। बस! पर यहीं तक मुआमला खतम नहीं हुआ। 'मद्रास मेल' को खबर मिली है कि हाल में ही कैदियों का एक नया जत्था फिर अंडमान भेजा गया है। क्यों न हो। वह सरकार ही क्या, जो किसी की बात मान ले!

१९ जून १९३३

भारत में अंग्रेजी बैंकों के अन्धा-धुन्ध नफ़े

लाहौर के 'डेली हेरल्ड' ने फ्रेंड्स आफ़ इंडिया सोसाइटी के पत्र 'बुलेटिन' के हवाले से एक लेख प्रकाशित किया है, जिसमें दिखाया गया है कि भारत में अंग्रेजी बैंकों और अंग्रेजी कारखानों से कितना लाभ होता है और वही लाभ उठानेवाले यहाँ के मजूरों को कितनी कम मजूरी देते हैं।

नेशनल बैंक आफ इंडिया २० प्रतिशत, शांघाई बैंक ६४ प्रतिशत, चारटर्ड बैंक २०१/४ प्रतिशत।

कोयले की कंपनियों के नफ़े तो लूट कहे जा सकते हैं।

१९१३ में एक कम्पनी ने १५० प्रतिशत नफा किया और १९३१ में एक कंपनी ने ५७१/२, एक ने ८० और तीन ने ३० से ऊपर।

नफे का तो यह हाल और मजूरी इंग्लैण्ड के मजूरों की १।४ भी नहीं।

१९ जून १९३३

भारत की चाँदी अमेरिका को

इंग्लैण्ड के पास सोना नहीं है, इसलिए अमेरिका ने उससे अपने क़र्ज़ में चाँदी ही लेना निश्चय किया। भारत के पास चाँदी थी। इंग्लैण्ड से हुक्म आया, वह चाँदी अमेरिका को दे दो। हुक्म की तामील कर दी गयी। चाँदी कितने की थी, उसका दाम कब मिलेगा, यह सब बातें पूछने से भारत सरकार को क्या प्रयोजन? मुनीम का काम सेठ की आज्ञाओं का पालन करना है। केवल बहीखाता और कुंजी हाथ में रहने से तो वह कोष का मालिक नहीं हो जाता। अब सुना जाता है कि चाँदी तीन करोड़ बीस लाख की थी, और इंग्लैण्ड ने भारत को दो करोड़ बीस लाख दिये। एक करोड़ बीच में उड़ा दिया। ठीक है, उड़ा दिया। आखिर वह भी इंग्लैण्ड का, यह भी इंग्लैण्ड का। खाता है तो किसी का साझा? वह खायेगा और बीच खेत खायगा और डंके की चोट खायेगा। आप खाली हाय-हाय कर सकते हैं, बस हाय-हाय किये जाइए! एक करोड़ क्या, वह दस-बीस करोड़ खा सकता है। भारत आखिर है किसकी बपौती? १७० करोड़ का सोना किसने उड़ा दिया और यहाँ प्रामेसरी नोटों के सिवा क्या रह गया? इंग्लैंड का भारत पर राज्य है, इसे न भूलो। राजा पहले अपना और अपने कर्मचारियों और अपने कुत्ते-बिल्लियों का पेट भरता है। अगर कुछ बच जाय तो प्रजा का अहोभाग्य!

२६ जून १९३३

फिर वही शहादतें

सेलेक्ट पार्लामेन्टरी कमेटी के सामने फिर वही बयानों का नाटक शुरू हो गया जो साइमन कमेटी के सामने खेला गया था। फिर अलग-अलग संस्थाएँ अपने-अपने स्वार्थों का पचड़ा गाने लगीं। ज़मींदारों और ताल्लुक़ेदारों को विशेष मताधिकार चाहिए और प्रांतों में 'ऊँची सभा' भी। फिर लीगवाले आयेंगे, और सिन्ध और बलोचिस्तान का किस्सा शुरू हो जायगा। तब गोल कांफरेंस की जगह चौकोर कांफरेंस शुरू होगा। और इसी तरह यह नाटक चलता रहेगा; और इधर भारत की दशा हीन से हीनतर होती चली जायगी, सरकार का खर्च बढ़ता रहेगा, जनता पर कर बढ़ता रहेगा, सख्तियाँ बढ़ती रहेंगी, बेकारी बढ़ती रहेगी। सरकार जीती हुई है और अपनी जीत के पुरस्कार में वर्सेल्ज़ की संधि का परिणाम कौन नहीं जानता!

२६ जून १९३३

सुदिन अथवा कुदिन

बड़ी आशा लेकर अथवा हृदय में निराशा होते हुए भी, अपनी निराशा को छिपाते हुए अनेक लिबरल भारत के भावी संघ-शासन के निर्माण में, संयुक्त-पार्लमेण्टरी कमेटी के कार्यों में सहयोग देने के लिए लन्दन गये। यहाँ से रवाना होने के पहले ही उन्हें यह बतला दिया गया कि पार्लमेण्टरी कमेटी के सामने उनका पद क्या होगा। वे केवल "असेसर" होंगे—एक बड़ी पंचायत के अधिकारहीन पंच होंगे। न तो वे गवाही दे सकेंगे, न कमेटी की रिपोर्ट में अपना मत प्रकट कर सकेंगे, न कमेटी के कार्यक्रम की बनावट में ही उनका कोई हाथ रहेगा। उनका केवल एक काम होगा—वह होगा कमेटी के सामने उपस्थित होनेवाले गवाहों से जिरह करना और यदि हो सका, तो पार्लमेण्टरी कमेटी के सामने अपना मन्तव्य प्रकटकर, भारत के भावी शासन को अधिक उदार बनाने की चेष्टा करना।

जिस समय ये "प्रतिनिधि" या "खिलौने" लन्दन के लिए, सरकारी या प्रजा के खर्चे से रवाना होनेवाले थे, हमने, भारत के अधिकांश पत्रों ने, स्पष्ट कह दिया था कि इनकी लन्दन यात्रा का एक ही फल होगा और वह यह कि वे भारत की गर्मी से बच जायेंगे और विलायत की सैर मुफ्त में हो जायगी। लाभ कुछ भी न होगा। ज्योतिषी न होते हुए भी हमारी भविष्यवाणी सत्य निकली।

"लीडर" के लन्दन स्थित संवाददाता ने, "हिन्दू" के (जिसके सम्पादक स्वयं एक 'असेसर' हैं) लन्दन-स्थित विशेष संवाददाता ने तथा 'फ्री प्रेस जर्नल' के प्रधान विलायती रिपोर्टर ने लन्दन से चिट्ठियाँ भेजी हैं कि 'सभी असेसर यह अनुभव करने लगे हैं कि पार्लमेन्टरी कमेटी के सामने उनकी हैसियत कुछ भी नहीं है। वे व्यर्थ लन्दन में समय बिता रहे हैं। भारत का भावी शासन-विधान इस दृष्टि से नहीं बनाया जा रहा है कि उससे भारतीय सन्तुष्ट हों, पर इंग्लैंड के उग्र अनुदारों को प्रसन्न करने की चेष्टा की जा रही है। सोचना यह है कि भारत को 'श्वेत-पत्र' से भी बुरा शासन-विधान न मिले।"

जिन्हें माननीय मि० शास्त्री की तरह (पूना में अपने हाल ही में दिये गये व्याख्यान में उन्होंने यही कहा था) 'ब्रिटेन तथा ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की बुद्धिमत्ता तथा न्याय-बुद्धि में' अब भी विश्वास है, वे लन्दन की सैर करते रहें, प्रजा के व्यय से यदि थोड़ा मनोविनोद हो सके, तो उसे लगे हाथों क्यों छोड़ा जाय ! पर हम भारतीयों की समझ में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की बुद्धि का दिवाला निकल गया है और भारत को सदियों तक झूठे आडम्बरमय अधिकार देकर पराधीन रखने का जो स्वाँग रचा जा रहा है, उसी की विस्तृत, पर स्पष्ट योजना में साथ देने के कारण लन्दन-स्थित लिबरल असेसर भारत के साथ देश-द्रोह कर रहे हैं—हमारे हितों की हत्या कर रहे हैं।

विश्व आर्थिक सम्मेलन में भारत की ओर से गैर भारतीय तथा ब्रिटेन के नमक ख्वार प्रतिनिधि भेजकर ब्रिटिश सरकार ने यह साबित कर दिया है, कि गुड़ चींटे को छोड़ दें, पर चींटा गुड़ को नहीं छोड़ सकता । भारत के हित का ब्रिटेन कितना ध्यान रखता है, यह अभी हाल ही में दिये गये लार्ड रादरमियर (टाइम्स आदि विश्व-विख्यात पत्रों के स्वामी) के भाषण के एक अंश से ज्ञात हो जायगा। लार्ड महोदय का कहना है कि—भारत ब्रिटिश साम्राज्य की धुरी की कील है। यदि हम भारत खो देंगे, तो साम्राज्य ही डूब जायगा । पहले उसका आर्थिक अंग डूबेगा, फिर राजनैतिक.... हम बिना भारत के सिंगापुर पर या मलाया राज्य पर अधिकार किये शासन न कर सकते और इन दो स्थानों के बिना हम आस्ट्रेलिया या न्यूज़ीलैंण्ड कभी न पाते— या हम अपने लिए अत्यन्त ही लाभदायक, चीन में होंग-कोंग की 'क्राउन कोलोनी' के आधार पर ब्रिटिश बाज़ार न बना सकते ।

ब्रिटेन को बाज़ार चाहिए और वह भी भारत के द्वारा। वह विश्व नहीं सृष्टि का ही अर्थ-सम्मेलन क्यों न करे, उसे भारतीय हित का विचार नहीं हो सकता। अभी, भारत सरकार की सहायता से बम्बई में चार करोड़ रुपये की चाँदी, ब्रिटेन को अमेरिका का कर्ज़ा पटाने के लिए दी गयी है। जिस देश से ब्रिटेन को इतनी सहायता मिलती हो, उसे वह छोड़ नहीं सकता और सर जार्ज चेसनी की यह चेतावनी इंग्लैंड की दृष्टि से कितनी उचित है कि—'यदि आज अंग्रेजी मस्तिष्क इतना गिर गया है, कि उसे राष्ट्रीय-सम्मान का ध्यान नहीं है तो केवल भौतिक हानि से ही, जिसे हर घर को भुगतना पड़ेगा, हम अपने हाथ से भारत के निकल जाने से अपने नाश अनुभव करेंगे। पहले से ही इन नुकसानों की तालिका नहीं बनायी जा सकती, पर उनका सार्वजनिक प्रभाव निस्सन्देह बहुत अधिक होगा।"

इस नीति या चाल को जानते-बूझते हुए भी, भारतीय 'असेसरों' की तरह सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास की आँखें मुंदी हुई थीं और विश्व-आर्थिक सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि होकर चले गये, पर लन्दन में जाकर, हवा का जो रुख उन्होंने देखा, जब यह देखा कि अर्थ-ज्ञान से शून्य भारत-सचिव सर सैम्यूएल होर ने अपने को भारतीय-प्रतिनिधि-मंडल का मुखिया बना रखा है (यद्यपि भारत की व्यावहारिक संस्थाएँ इस नेतृत्व के विरुद्ध लगातार तार भेज रही हैं) तो सारी स्थिति तथा अपना अपमान-जनक पद इतनी अच्छी तरह समझ में आ गया कि वे तुरन्त इस सम्मेलन के स्वाँग से हट गये और उन्होंने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर भारत के भाग्य-निर्माताओं का भण्डा फोड़ कर दिया। भारत-सरकार को सर पुरुषोतमदास से ऐसी आशा न रही होगी और वह मन ही मन ज़हर का घूँट पीकर रह गयी होगी।

पर, क्या हम आशा करें कि अब 'असेसरों' की आँख खुल गयी है, और वे भी, संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी का भण्डा फोड़ कर तुरंत उसके प्रहसन से अलग हो जावेंगे ?

यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वास्तव में देश के प्रति विश्वासघात कर रहे हैं। हमें पूरा विश्वास है कि चर्चिल-बाल्डविन-युद्ध कृत्रिम है, बनावटी है। उसका केवल एक लक्ष्य है—भारतीयों को मूर्ख बनाकर, मीठे बनकर उन्हें कुछ न देना। स्वयं पार्लमेंट के अनेक मज़दूर सदस्य इस रहस्य का भण्डा फोड़ कर चुके हैं। ऐसी दशा में वह निश्चित है, कि अभागे भारत का भविष्य घोर अन्धकार में है। उसे कुछ न मिलेगा।

जब एक ओर ब्रिटिश पार्लमेंट की भावी जड़ता के काले बादल इस प्रकार उठ रहे हैं, देश का नवयुवक-समुदाय क्षुब्ध तथा विचलित होता जा रहा है, महात्मा गांधी की नर्म, सम्हली हुई, अहिंसात्मक तथा सुघड़ नीति में उसे आलस्य, संकोच तथा भय और अनुचित सतर्कता दीख पड़ती है, अराजक तथा क्रान्तिकारी अपने निन्दनीय कार्यों को बढ़ाते जा रहे हैं, अहिंसात्मक, पर उत्तेजित युवक भी काँग्रेस से बग़ावत करने पर तुले हुए हैं। लन्दन में 'भारतीय राजनैतिक सम्मेलन' के अवसर पर मनोनीत, पर अनुपस्थित सभापति श्रीयुत सुभाषचन्द्र बोस का भाषण कितना उग्र था, यह उसे पूरा पढ़ने से ही ज्ञात हो सकता है। बोस बाबू ने महात्मा जी के नेतृत्व को असामयिक बतलाया, १९३१ की सन्धि को राष्ट्र की सबसे बड़ी भूल कहा और १९३२ में छः सप्ताह के लिए सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित करना 'विगत १३ वर्षों के परिश्रम पर पानी फेर देना' बतलाया और अन्त में नवयुवकों के नवीन संघटन की सलाह दी। मि० बोस के इस उग्र भाषण पर टीका करता हुआ 'फ्री प्रेस जर्नल' जो विचार प्रकट करता है, उससे हम सहमत हैं। पत्र का कथन है—'देश के जिन नवयुवकों की ओर से मि० बोस बोल रहे हैं, वह ऐसे नेतृत्व से सन्तुष्ट नहीं रह सकता, जो बार-बार समझौता करता चलेगा या किसी सरल उपाय की खोज करेगा। छोटे-मोटे घूस (अधिकारी को) स्वीकार करने से यह अच्छा है कि लगातार युद्ध करता ही जावे। छोटे मोटे घूस से अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचना कठिन हो जाता है। राजनैतिक नेतृत्व में पवित्रता ऐसी कोई वस्तु नहीं है। जब तक नेता राष्ट्र के मूलोद्देश्य को नहीं खो देता, उसे प्राप्त करने के लिए, कम से कम समय पाने के लिए, सब प्रयत्न करता रहता है, वह अपने नेतृत्व पर जमा रहता है, मि० बोस के व्याख्यान का यही उपदेश है। यद्यपि उनकी आलोचना अनुचित है, पर चेतावनी सामयिक है।'

हमारी सम्मति में इससे बढ़कर यह चेतावनी ब्रिटिश सरकार के लिए विशेष मूल्य रखती है। यदि 'श्वेत-पत्र' ही भारत का शासन-विधान बना, यदि फ्री प्रेस लन्दन के समाचार अनुसार केवल प्रांतीय स्वाधीनता मिली, यदि भारत का भावी शासन संरक्षणों की मार से मारता रहा—तो भारतीय नवयुवकों की स्वाधीनता की प्यास के साथ काँग्रेस कहाँ तक नर्म तथा सम्हली नीति का सम्मिश्रण करायेगी? यह किस प्रकार संभव होगा! भारत का भविष्य क्या होगा! भारत के राजनैतिक आकाश में बड़ी काली घटाएँ उमड़ रही हैं, हमें एक ओर सरकारी जड़ता के, दूसरी ओर नवयुवकों

के विद्रोह के लक्षण दिखलायी पड़ रहे हैं। इसका फल क्या होगा ? देश का सुदिन आने वाला है या कुदिन !

२६ जून १९३३

बौरे की भैंस

मसल है कि एक गँवार की भैंस ब्याई तो सारा गाँव हाँडी ले-लेकर दूध लेने दौड़ पड़ा। कुछ यही हाल आजकल पार्लमेन्टरी कमेटी का है। सिविल सर्विस संघ और पुलीस संघ, सब के सब अपने-अपने स्वार्थों की रक्षा करने दौड़ रहे हैं। उनके लिए भारत केवल उनकी नौकरी है। इस पर किसी तरह आँच न आने पाये। उनके जो अधिकार इस वक्त हैं, जो भत्ते और रियायतें उन्हें इस वक्त हासिल हैं, उनमें किसी तरह की कमी न आने पाये। अगर भविष्य में सिविल सर्विस की ऊँची जगहें तोड़ दी जायँ, तो उन लोगों को जिन्हें उन जगहों को तोड़ने से हानि पहुँचेगी, हरजाना दिया जाय। मिनिस्टर को उनके विषय में बोलने का कोई अधिकार न हो, वे सीधे-सीधे गवर्नर से पत्र-व्यवहार करते रहें और उनके विषय में सिवाय सेक्रेटरी के और कोई कुछ हुक्म न दे सके। अगर उनके विषय में कोई जाँच कमेटी बैठायी जाय तो उस कमेटी में बैठनेवाले व्यक्ति गवर्नर की स्वीकृति से चुने जायँ। यह तो हुई कुछ सिविल सर्विस की माँगें। पुलीस विभाग की माँगें तो और भी ज़बरदस्त हैं। उसने तो अपने मेमोरेंडम की भूमिका में ही कह दिया है कि यदि उसकी यह माँगें न स्वीकार की जायँ तो इम्पीरियल पुलीस-विभाग को तोड़ दिया जाय। कानून और शान्ति-रक्षा के विभाग को मिनिस्टरों के अधिकार में दे देना उनके लिए सरासर हानिकर है। बेशक हानिकर है। जो लोग अब तक बादशाही करते आये हैं, वह यह कब पसन्द करेंगे कि उनके अधिकारों में रत्ती-भर भी कमी की जाय। श्वेत-पत्र में ढूँढ़ने से भी कहीं कुछ जान नहीं है, लेकिन उस पर भी यह हाय-वावेला मचाया जा रहा है और इसका उद्देश्य इसके सिवा और कुछ नहीं है कि आनेवाली व्यवस्था को ऐसा जकड़बन्द कर दिया जाय कि मिनिस्टरों को जो थोड़ा-बहुत अधिकार मिलने की आशा है, वह भी जाता रहे और नींबू निचुड़ कर बिलकुल छिलका-छिलका रह जाय। हम पूछते हैं, अगर जनता को नौकरशाही के हाथों में इसी तरह पिसते रहना है, और पुलीस और सिविल सर्विस ही के हाथों में फिर भी सारे अधिकार रहेंगे तो व्यवस्था किस मर्ज़ की दवा होगी।

२६ जून १९३३

अण्डमान के कैदी

समाचार है कि २६ जून को अण्डमान के कैदियों का अनशन समाप्त हो गया। क्यों तथा कैसे समाप्त हुआ, यह ठीक कहा नहीं जा सकता। क्या कांग्रेस, जनता तथा समाचारपत्रों के विरोध का फल यह निकला कि सरकार ने कैदियों के संग रियायतें कर दीं ? अथवा क्या कारण है ? जो भी हो, अनशन की समाप्ति में सरकार का भी बहुत बड़ा हाथ रहा होगा ; अतएव हम उसे बधाई देते हैं।

३ जुलाई १९३३

राष्ट्र के नेताओं में वर्तमान समस्या पर विचार

समाचारों से मालूम हुआ है कि वर्तमान राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए १२ जुलाई को पूना में नेताओं की बैठक होगी। हमें आशा है उनका निर्णय परिस्थितियों के अनुकूल होगा। सत्याग्रह आन्दोलन क्रांति थी। यह मान लेने में कोई संकोच न होना चाहिए कि क्रांति असफल हो गयी। राजनीति में सत्याग्रह और दुराग्रह में कोई भेद नहीं रह जाता। जब राष्ट्र कानूनी व्यवस्थाओं को तोड़ता है तो वह संगठित शासन-व्यवस्था को भी कानून तोड़ने और विशेष अधिकार ग्रहण करने की प्रेरणा करता है। इसके विपरीत शासन के भीतर जाकर शक्ति-संचय करने से सफलता की अधिक संभावना है। यह सत्य है कि अब तक भारत को वैध आन्दोलन का बड़ा कड़वा अनुभव है ; पर इसका मुख्य कारण यह था कि जो लोग राष्ट्र के प्रतिनिधि बनकर जाते थे उनके पीछे जनमत की कोई शक्ति न होती थी। राष्ट्र में अब कुछ राजनैतिक चेतना आ गयी है और यह असंभव है कि उसके प्रतिनिधियों की अब पहले की भाँति उपेक्षा की जा सके।

३ जुलाई १९३३

नेता-सम्मेलन

संभवतः यह पूर्णतः निश्चित हो चुका है कि बारह जुलाई से, पूने के तिलक मेमोरियल हाल में लगभग २०० प्रमुख काँग्रेसी नेताओं का सम्मेलन होगा। अधिवेशन दो दिन का होगा और वर्तमान प्रबन्ध के अनुसार राष्ट्रपति अणे सभापति का आसन ग्रहण करेंगे। आशा है कि सम्मेलन के पूर्व ही, निजी परामर्श-द्वारा, काँग्रेस की भावी

योजना के विषय में निश्चित प्रस्ताव पेश कर दिये जायेंगे। उन पर विचार कर, तब संशोधन इत्यादि होगा।

ऐसा प्रतीत होता है, कि सरकार ने भी अपनी जड़ता का रुख बदला है। वह धीरे-धीरे काँग्रेसी नेताओं को रिहा कर रही है। आचार्य नरेन्द्रदेव जी, श्रीठाकुरदास जी, श्री दुर्गाप्रसाद खत्री तथा श्री सम्पूर्णानन्दजी ऐसे काशी के सम्मानित नेताओं का लम्बी अवधि के पहले ही छूट जाना इस बात के प्रमाण हैं। किन्तु, फिर भी, आश्चर्य होता है, कि इस अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिवेशन के पहले श्री जवाहर लाल नेहरू क्यों नहीं छोड़ दिये जाते? पं० जवाहर लाल नेहरू से सत्याग्रह का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बिना उनकी सम्मति के, स्वीकृति के, सत्याग्रह स्थगित नहीं हो सकता। सरकार इस बात को बखूबी जानती है, पर वह जानबूझ कर मन मारे बैठी है। पं० नेहरू अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के मेम्बर हैं। उनकी तीन चौथाई सज़ा पूरी हो चुकी है। उनका पूने में उपस्थित रहना अनिवार्य है, पर सरकार अच्छा भी काम करके उसके साथ कुछ बुराई कर लोकप्रियता खो देती है।

इधर शिमला का समाचार है कि लार्ड विलिंगडन उस समय तक गांधी जी से मिलने की कल्पना भी नहीं कर सकते, जब तक सत्याग्रह न स्थगित कर दिया जाय। लार्ड महोदय संभवतः लार्ड इर्विन की उस भूल का प्रायश्चित्त करना चाहते हैं, जो उन्होंने काँग्रेस ऐसी बाग़ी संस्था के साथ "पैक्ट" कर के की थी, पर इस "स्थिरता" से कोई लाभ न होकर काँग्रेस के उग्र पक्षवालों की उत्तेजना ही बढ़ेगी।

किन्तु, हम आशा करते हैं, कि काँग्रेस अपने भरसक ऐसा कोई कार्य न करेगी, जिससे देश का अकल्याण होगा। ईश्वर हमारे नेताओं को बुद्धि तथा बल प्रदान करे।

१० जुलाई १९३३

पुलीस का काम हवाई जहाजों की बम-वर्षा से

ब्रिटिश सरकार बीसवीं सदी की नयी अप-टुडेट सरकार है। इसका परिचय उसने अभी हाल में दिया है। निशस्त्रीकरण कमेटी में एक प्रस्ताव यह था कि लड़ाइयों में जो निशस्त्र जनता पर हवाई जहाज़ों से बम बरसाने की प्रथा चल पड़ी है, उसे उठा देना चाहिए। दुर्भाग्य की बात है कि इस वक्त अंग्रेजों की हवाई शक्ति न अव्वल है, न दोयम बल्कि पंचम, फिर पिछली लड़ाई में जर्मनी के बम-बाज़ों ने इंग्लैंडवालों को बम वर्षा का थोड़ा मज़ा भी चखा दिया था। ब्रिटिश सरकार जानती है कि कहीं फिर लड़ाई छिड़ी तो इंग्लैंड की खैरियत नहीं। इसलिए उसने असीम उदारता का भाव दिखाते हुए इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, मगर केवल एक छोटा-सा अधिकार

स्वरक्षित रखना चाहा और वह यह कि इंग्लैंड अपने सीमान्त प्रदेशों में पुलीस का काम करने के लिए बम बरसाता रहेगा। कितना सरल ढंग है पुलीस के काम करने का। पुलीस का काम है जनता के जान और माल की रक्षा करना। बमों से ज्यादा कौन यह रक्षा कर सकता है। और फिर कोई झंझट नहीं। न पुलीस को वहाँ जाना पड़ेगा और न कोई जोखिम उठाना पड़ेगा। चुपके से एक हवाई जहाज़ जाकर सारा काम समाप्त कर सकता है। हमारा खयाल है, अगर सरकार पुलीस विभाग तोड़ कर हरेक ज़िले में एक-एक दो-दो हवाई जहाज़ रख दे, जो बम बरसा कर जनता की रक्षा किया करे, तो उसे एक बहुव्ययी पुलीस-विभाग रखने की ज़रूरत न रहेगी! लाल पगड़ीवालों की एक फ़ौज रखकर करोड़ों रुपये साल खर्च करने से क्या फ़ायदा? हवाई जहाज़ बड़ी किफ़ायत से जनता की रक्षा कर सकते हैं। हम दावे से कह सकते हैं, कि फिर जनता कभी चूँ तक न करेगी। कोई ज़बान न हिलावेगा। यह सारा सत्याग्रह का बखेड़ा और जलसे और मुकदमे शान्त हो जायँगे। जहाँ कोई जलसे देखो, चट दो-चार छोटे-छोटे बम गिरा दो। फिर जो एक भी विद्रोही जलसे में रह जाय तो हमारा जिम्मा। सब के सब इस तरह भर्र हो जायँगे जैसे बन्दूक की आवाज़ सुनते ही चिड़ियाँ भर्र हो जाती हैं। यह बीसवीं सदी है। इसे जनतंत्र का युग कहते हैं। भला इस युग में ऐसे कम खर्चवाला नशीन नुस्खे से काम न लिया जायगा, तो कब लिया जायगा? नये आविष्कारों का ऐसा ही प्रयोग करना चाहिए। यह कैसे हो सकता है कि बीसवीं सदी में पुरानी पुलीस से काम लिया जाय। अंग्रेजी गवर्नमेंट अपने दुश्मनों पर बम नहीं बरसाना चाहती। यह तो पशुता है और बर्बरता है, लेकिन अपनी प्रजा पर बम गिराने का उसे पूरा अधिकार है, इसमें कौन बाधक हो सकता है? माँ अपने बच्चे को आखिर पीटती है या नहीं, लेकिन पड़ोसी के बच्चे को पीटे तो हम देखें!

१० जुलाई १९३३

नयी परिस्थिति

महात्मा गांधी के दोनों तारों के वाइसराय ने जो जवाब दिये हैं, उन्हें देखकर हमें दुःखमय आश्चर्य हुआ। भारत की गवर्नमेंट भी ऐसे अवसर कम ही देती है। जब कांग्रेस की ओर से निर्णय का कोई सरकारी बयान नहीं निकला, तो वाइसराय को अखबारों की रिपोर्टों से ही क्यों राय क़ायम कर लेने की जरूरत हुई?

यह छिपी हुई बात नहीं है—सरकार से कोई बात छिपी रह भी सकती है?—कि कांग्रेस के नेताओं में स्वयं आंदोलन को बंद कर देने की मनोवृति उत्पन्न हो गयी है। ऐसा क्यों हुआ है, इसे समझने के लिए बहुत ज्यादा बुद्धि लड़ाने की जरूरत नहीं।

काँग्रेस ग़रीबों का आंदोलन है, थोड़े से लोगों को छोड़कर अधिकांश इसमें ऐसे ही लोग हैं, जिन पर गृहस्थी का भार है। तीन साल जेल में रहते-रहते उनकी आर्थिक दशा चौपट हो गयी है। जो वकील थे, उनके मुअक्किल हवा हो गये, डाक्टरों के मरीज़, व्यापारियों के ग्राहक अब ढूँढ़े भी नहीं मिलते। जिन्होंने नौकरियाँ छोड़ दीं, उनका तो कहना ही क्या। तीन साल तक आंदोलन को खींच ले जाना, क्या कोई छोटी बात थी! देश के प्रति जितना त्याग किया जाना संभव था, उतना उन्होंने किया। इससे अधिक त्याग की किसी से आशा रखना, उसे मनुष्यता के पद से उठा कर, हम तो कहेंगे गिरा कर, देवता बना देना है। फिर सारी जिंदगी भर असहयोग ही करके तो नहीं रहा जा सकता, उसी तरह जैसे दवाओं के भरोसे जीवन की रक्षा नहीं हो सकती। जेल और सत्याग्रह यह तो स्वयं कोई उद्देश्य नहीं, केवल साधन है। और ऐसे आंदोलन से जिस सफलता की आशा हो सकती थी, वह बड़ी हद तक पूरी हो गयी। यह तो कोई बालक भी न आशा करता था कि सत्याग्रह का फल यह होगा कि ब्रिटिश सरकार बोरिया बक्सा संभाल कर भारत से विदा हो जायगी। अधिक से अधिक यही हो सकता था, कि जनता में राजनैतिक जागृति हो जाय और सरकार की नैतिक पराजय हो जाय। यह दोनों बातें हासिल हो गयीं और असहयोग आंदोलन का जो उद्देश्य था वह बहुत कुछ पूरा हो गया। सरकार का दरजनों आर्डिनेंस बनाने के लिए मजबूर हो जाना स्वयं इस बात का प्रमाण है, कि काँग्रेस ने उस पर विजय प्राप्त कर ली, अर्थात नैतिक विजय। सरकार सैनिक शासन करने में सर्वथा समर्थ है, इसमें तो शायद किसी को भी सन्देह न होगा और महात्मा गांधी ने तो स्वयं इसे स्वीकार भी किया है। आजकल हम एक प्रकार के सैनिक-शासन में रह रहे हैं, इसमें भी कौन इंकार कर सकता है। यह सत्य है, कि जो व्यक्ति सरकार को न छेड़े उसे सरकार भी नहीं छेड़ती। जो उसकी शक्ति को ललकारता है, उसी पर उसका फ़ौलादी पंजा पड़ता है, पर सच्चा शासन वही है, जिसमें राजनैतिक विकास की सभी तरह की सुविधाएँ हों। राजनैतिक दमन चाहे किसी व्यवस्था को जीवित रखने में सफल हो जाय, पर वह देश को उन्नति के मार्ग पर नहीं ले जा सकता। इस दृष्टि से सत्याग्रह का काम एक प्रकार से पूरा हो गया और अब काँग्रेस को वह काम हाथ में लेने की जरूरत है, जिसके बग़ैर कोई भी व्यवस्था चाहे वह कितनी भी उदार और प्रगतिशील क्यों न हो, सफल नहीं हो सकती। उसे राष्ट्र का निर्माण भी करना है और व्यवस्था का भी। उसे व्यवस्थापक सभाओं में अधिक से अधिक संख्या में जाकर शासन में उदारता और सुचारुता का संचार करना है। उन्हें अपने चरित्रबल, त्याग और सेवा के ऊँचे आदर्श का ऐसा परिचय देना है, कि सरकार को उनका बहुमत न होने पर भी उनका लोहा मानना पड़े और जनता उन्हें अपना सच्चा हितैषी समझे। काँग्रेस ने बुनियाद खोदी है, तो उसे अपने ही हाथों दीवारों और छतों, द्वारों को भी बनाना पड़ेगा। यह आशा करना व्यर्थ है, कि उसकी खोदी हुई नींव पर,

दूसरे आकर उसकी मन चाही इमारत खड़ी कर देंगे। काँग्रेस के नेताओं में सत्याग्रह को उठा लेने के लिए एक मनोवृत्ति यह भी अवश्य थी। इसलिए जब हमने देखा, कि काँग्रेसी नेताओं का बहुमत आंदोलन को जारी रखने के पक्ष में है, तो हमें ताज्जुब हुआ। जब टाइम्स और बाम्बे क्रांनिकल पत्रों का कहना है, कि सम्मेलन में बहुमत आंदोलन को उठा लेने के पक्ष में था, तो यह ताज्जुब और भी बढ़ जाता है। अगर ऐसा बहुमत था, तो यह प्रस्ताव कैसे स्वीकार हुआ? हो सकता है, कि दस-पाँच उग्र नेताओं को दून की लेते देखकर अन्य सज्जनों ने भी इस भय से कि कहीं हम डरपोक और अकर्मण्य न समझ लिये जायँ, अपने आत्म-निर्णय के विरुद्ध आंदोलन जारी रहने के पक्ष में राय दे दी हो, हालाँकि ज़िम्मेदार नेताओं से यह आशा की जाती है, कि वे आवेश या क्षणिक उद्गार को अपने ऊपर कभी न ग़ालिब आने दें, लेकिन इस बहुमत के होते हुए भी ऐसे नेताओं की संख्या कम न थी, जो विसर्जन के समर्थक थे। फिर भी जब सम्मेलन ने आंदोलन के पक्ष में राय दे दी, तो उसे अपना प्रोग्राम बनाकर उस पर अमल करना चाहिए था। इसमें वाइसराय से सलाह लेने की क्या जरूरत थी? और खासकर जब सरकार इसके पहले कई बार कह चुकी है, कि जब तक सत्याग्रह उठा न लिया जायगा वह समझौते की बात नहीं कर सकती। हमारी समझ में यह एक ऐसी भूल थी, जिसने बहुतों को काँग्रेस से विरक्त कर दिया है।

लेकिन उससे कहीं ज्यादा ताज्जुब हमें वाइसराय के जवाब से हुआ। इसमें संदेह नहीं कि हम इसी जवाब की आशा कर रहे थे। एक बच्चा भी जानता था, कि वाइसराय क्या जवाब देंगे। फिर भी हमें आश्चर्य भी हुआ और दुख भी। भारत का पूज्य राष्ट्रीय नेता संधि और समझौते के लिए वाइसराय से मिलने की प्रार्थना करता है और उसकी प्रार्थना ठुकरा दी जाती है। इसका आशय इसके सिवा और क्या हो सकता है, कि काँग्रेस को दिखा दिया जाय कि सरकार उसे कितना जलील समझती है। और यह व्यवहार उस समय किया गया, जब वाइसराय को और गवर्नमेन्ट को यह मालूम था कि काँग्रेसी नेताओं में इस विषय पर गहरा मतभेद है और परिस्थिति आंदोलन के लिए सर्वथा प्रतिकूल है। इस वक्त राजनैतिक सहानुभूति दिखाकर राष्ट्र का कितना बड़ा उपकार किया जा सकता था। महात्मा गांधी यह जानते हुए वाइसराय के पास जा रहे थे, कि काँग्रेसी नेताओं की बहुत बड़ी संख्या आंदोलन के पक्ष में नहीं है, और न परिस्थिति ही ऐसी है कि आंदोलन सफलता के साथ चलाया जा सके। यह जानते हुए महात्मा जी के लिए कोई ऐसा प्रस्ताव करना असंभव था, जो काँग्रेस को आंदोलन जारी करने पर मजबूर कर दे। ऐसी दशा में भी सरकार ने सज्जनता को दफ़्तरी नीति के पैरों के नीचे कुचल डालना ही उचित समझा। हमारे विचार में वाइस-राय ने यह गवर्नमेंट की कमजोरी का सबूत दिया है, और एक ऐसी अच्छी परिस्थिति को जिसमें महात्मा जी को मिलने का अवसर देकर, कम से कम काँग्रेस के उन नेताओं

पर वह अच्छा असर डाल सकते थे, जो विसर्जन के पक्ष में थे, हाथ से जाने दिया गया।

हमें आशा है कि काँग्रेस दोबारा आवेश में न आवेगी। उसने राष्ट्र-सेवा का बीड़ा उठाया है और समय तथा अवसर का विचार करके उसे अपने आदर्श पर जमा रहना है। आंदोलन को इस समय किसी रूप में चलाने का उद्योग करना बेकार है। व्यक्तिगत-सत्याग्रह केवल दीवार से सिर टकराना है। इससे जो नतीजा या असर होना था, वह पहले ही हो चुका है। काँग्रेस को लड़ाई अब केवल बृटिश सरकार से नहीं रह गयी है। यह लड़ाई अब लिबरल और कंजरवेटिव मनोवृत्तियों की है। और यह दोनों दल हमेशा हारते जीतते रहते हैं। इस वक्त कंजरवेटिव दल ज़रा मजबूत पड़ गया है। उसमें हमारे जमींदार, ताल्लुकेदार, सरकारी नौकर और उनके पिछलगुए सभी शामिल हैं। कोई मुज़ायका नहीं। अभी बहुत दिन नहीं हुए मजूरदल का प्राबल्य था। अब कंजरवेटिव-दल का प्राबल्य है। वही ब्रिटेन की दशा भारत में है। मजूरदल फिर शक्ति पाने के लिए तैयारियाँ कर रहा है, और अवश्य ही एक दिन उसे अधिकार मिलेगा। काँग्रेस को भी शिक्षा, प्रचार और संगठन-द्वारा जनता में जागृत पैदा करना है; क्योंकि स्वराज्य प्राप्ति का इसके सिवा दूसरा साधन नहीं है। इस अवसर पर क्रोध या आवेश में आकर राष्ट्र के हित को भूल जाना उचित नहीं है। बहुत संभव है, यह नीति काँग्रेस को शासन-विधान से अलग रखने के लिए ही अख्तियार की गयी हो। हम अपने नेताओं से और महात्मा जी से अनुरोध करते हैं कि वे आंदोलन को उठाकर काँग्रेस-संस्था को उपयोगिता की ओर ले जायँ और राष्ट्र को इस तरह तैयार करें कि उसमें राजनैतिक उन्नति के लिए त्याग करने की और उद्योग करने की शक्ति उत्पन्न हो। जब तक प्रजा चैतन्य न हो, उसे अच्छी से अच्छी व्यवस्था भी कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती।

२४ जुलाई १९३३

आठ करोड़ का ख़र्च

साइन-कमीशन आया, उसकी रिपोर्ट आयी, तीन-तीन गोलमेज़ हुए, मताधिकार कमीशन आया, फिर सेलेक्ट कमेटी आयी और खुदा जाने अभी क्या क्या आना बाकी है। अब सर माल्कम हेली ने सेलेक्ट कमेटी के रुबरु अपना बयान देते हुए फ़रमाया है, कि इस व्यवस्था से सरकार पर आठ करोड़ का बोझ और पड़ जायगा और मज़े की बात यह है कि नये-नये सूबों के बनाने से ही यह खर्च बढ़ेगा। मसलन् दो ढाई करोड़ तो बर्मा को अलग करने ही में खर्च होंगे। सिंध भी इतना ही लेगा। १९२० में जो सुधार हुए, उसमें करोड़ों रुपये का खर्च बढ़ गया, प्रजा की हालत ज्यों की त्यों है। अब आठ करोड़ का खर्च होगा। होने दो। प्रजा से दस-बीस करोड़ वसूल करना कुछ मुश-

किल नहीं हैं। पाँच सौ आमदनी पर टैक्स लगा दीजिए, रेल के किराये में एक पाई फी मील बढ़ा दीजिए, अव्वल दोयम दर्जे में नहीं....डाकखाने को भी ज़रा और टटोलिये, पोस्टकार्ड एक आने का और लिफ़ाफे दो आने का कर दिया जाय, तो कोई बुराई न होगी। इस तरह आठ करोड़ की जगह शायद १६ करोड़ हाथ आ जाय। जिन्हें खत लिखना है, वे झक मारकर लिखेंगे, जिन्हें तार देना है, वे झक मारकर तार देंगे, जिन्हें रेल पर जाना है, वे झक मारकर जायेंगे, अपने बाल-बच्चों के पालन के लिए धनोपार्जन तो लोग करेंगे ही। टैक्स का क्षेत्र ज़रा और बढ़ा दो, रुपये ही रुपये नज़र आवेंगे। यही तो होगा, लोग कहेंगे बड़ा खराब ज़माना आ गया है, बड़ी गिरानी है, कुछ समझ में नहीं आता कि कैसे जिंदगी पार लगेगी। बकने दीजिए। आपको इन बेकार की बातों से मतलब। आपको अपने काम से काम रखना चाहिए। हाँ आमदनी की एक दूसरी सूरत यह है कि शादियों पर टैक्स लगा दीजिए, हस्बे हैसियत और मौत पर भी—जायदाद के परते से। जहाँ जनमत की परवाह नहीं है, जहाँ का जनमत अपंग है, वहाँ जितने टैक्स चाहे लीजिए, कौन पूछता है।

२४ जुलाई १९३३

आनेवाला विधान और मिनिस्टिर

जो विधान आनेवाला है, कब आयेगा इसमें कोई बहस नहीं, उसकी मुख्य वस्तु मिनिस्टर होंगे। सब कुछ मिनिस्टरों पर ही निर्भर होगा। अगर मिनिस्टर बहुमत रखनेवाले दल का नेता होगा और अन्य मिनिस्टर उसकी राय से चुने जायेंगे तब तो व्यवस्था संतोषजनक होगी। इसके विपरीत अगर मिनिस्टर को गवर्नर अपनी इच्छा से चुनेगा और अपनी इच्छा से उन्हें पदच्युत भी कर देगा, तब व्यवस्था केवल धोखे की टट्टी है। सेलेक्ट कमेटी के सामने बयान देते हुए, सर समुएल होर ने निश्चित रूप से इस विषय में अपना क्या मत प्रकट किया, यह तो अभी ठीक नहीं कहा जा सकता, पर रिपोर्टरों द्वारा जो खबर आयी है, उससे यही विदित होता है कि गवर्नर ही मिनिस्टरों को अपनी इच्छा से चुनेगा और यदि वे उसकी इच्छानुसार काम न करेंगे तो उन्हें वह अलग भी कर देगा। इस रिपोर्ट ने वर्तमान मिनिस्टरों को बहुत आशंकित कर दिया। संयोग से इन्हीं दिनों सभी प्रांतों के मिनिस्टर शिमले में विचार विनिमय के लिए जमा थे। उन लोगों ने वाइसराय के पास जाकर अपनी संका प्रकट की और गवर्नमेंट को एक कम्युनीक निकालकर जनता को आश्वासन देना पड़ा कि सर सैमुएल होर के बयान का यह आशय नहीं था। अगर वास्तव में सर सैमुएल होर का यह आशय नहीं था, तब तो ठीक है,

लेकिन यदि गवर्नर आजकल के मिनिस्टरों की तरह नये विधान में भी मिनिस्टरों पर नियंत्रण रखेगा तो इस नये विधान की कोई ज़रूरत ही नहीं रह जाती। इससे तो कहीं अच्छा है कि गवर्नर स्वयं अपने सेक्रेटरियों की सहायता से सभी कामों का सम्पादन करे। जब आनेवाली मिनिस्टर भी "हिज़ मास्टर्स वाइस" की भाँति गवर्नर के शब्दों को दुहरायेंगे तो व्यर्थ में जनता के सिर पर नये खर्च का बोझ लादने की क्या जरुरत है।

२४ जुलाई १६३३

भावी कार्यक्रम के लिए एकप्रस्ताव

श्री सम्पूर्णानन्द जी भारत के प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं में हैं। आपने अपने लेख में पूना-सम्मेलन के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं और राष्ट्रीय संग्राम के भावी कार्यक्रम में जिस परिवर्तन की जरूरत बतलायी है, वह सर्वथा विचारणीय है। हमारा ख़याल है कि ये वही विचार हैं, जो इस समय प्रत्येक विचारवान् मनुष्य के मन में उठ रहे हैं और आपने उन विचारों को राष्ट्र के सामने रख कर जनमत ही को निर्भीकता से व्यक्त किया है। जैसा आपने कहा है, "ह्वाइट पेपर" के आधार पर तो सरकार से किसी तरह का समझौता हो ही नहीं सकता, हाँ हमें, अपने कार्य-पद्धति को कुछ इस तरह बदलना पड़ेगा कि वह जहाँ जनता की राष्ट्र-भावना को प्रगतिशील रखे, वहाँ गवर्नमेंट को भी जनमत का सम्मान करने के लिए बाध्य कर सकें।

अब तक हमने अपने असंतोष को व्याख्यानों, जलूसों और अवज्ञा द्वारा ही प्रकट किया है। हमारे निजी, घरेलू, आन्तरिक जीवन से कोई सम्बन्ध न था। मानो यह असन्तोष केवल दिखाने की वस्तु है, हमारा आन्तरिक जीवन उससे बिलकुल अक्षुण है। हमारे राजनैतिक और वास्तविक-जीवन में मानों कोई दीवार, खिंची हुई है। हमारे शादी-विवाह, मेले-तमाशे, उत्सव-पर्व पूर्ववत् होते रहते हैं। दीवाली में दीपक जलते हैं और जुआ होता है, होली में गुलाल उड़ती है और पकवान पकते हैं। इसी तरह प्रायः सभी उत्सव उसी हर्ष और उत्साह से मनाये जाते हैं, मानों हमें कोई चिन्ता, कोई क्लेश नहीं है। माघ में उसी श्रद्धा से जनता स्नान करने आती है, शादियों में उसी समारोह से आतिशबाज़ियाँ छूटती हैं और फुलवारियाँ लुटती हैं। जिस राष्ट्र के यथार्थ जीवन में राजनैतिक अक्षमता इतना गौण स्थान रखती हो, उसके विषय में यही कहा जा सकता है, कि अभी राजनीति केवल उसके ओठों तक है, नीचे नहीं उतरने पायी। अगर राष्ट्र विकल है, अगर उसे स्वराज्य की लगन है, अगर उसे गुलामी अखरती है तो उसकी विकलता को, उसकी लगन को, उसकी अखर को, उसके नित्य दैनिक में व्यक्त होना चाहिए। जो पराधीनता के अपमान और अधोगति को

शर्बत की भाँति पीकर मस्त घूमता है, जो अपनी और अपने राष्ट्र की दुर्गति से केवल उतनी ही देर तक व्यथित होता है, जितनी देर वह किसी सभा में बैठा होता है। उसमें आजादी की सच्ची प्यास अभी जागी ही नहीं। राष्ट्र में आज़ादी की यही प्यास जगनी होगी। जब हम आज़ादी को संसार की सबसे प्यारी वस्तु समझने लगेंगे, जब उसके लिए हम निरन्तर साधना करेंगे, जब उसके लिए हमारे मन में प्रचंड संकल्प होगा, जब हम अपने छोटे-छोटे हर्ष और विषाद को भूल जायेंगे, जब वह कामना इतनी बलवती हो जायगी तभी हमें उसके दर्शन होंगे। यहाँ छिपकर कोई काम करके अपनी आत्मा को दुर्बल बनाने की जरूरत नहीं। हमें कोई उत्सव मनाने के लिए मज़बूर नहीं कर सकता। जब यह भाव अन्दर जाग उठेगा, तो मजबूरी का प्रश्न ही न रहेगा। हमें स्वयं अपनी परिस्थिति इतनी चुभने लगेगी कि उत्सव और मेले हमें हलके मालूम होने लगेंगे। जो राष्ट्र पैरों के नीचे पड़ा हो, उसे तो देवताओं के दर्शन करते भी शर्म आनी चाहिए। वह अपनी अयोग्यता का कलंक मुख में लगाये देवताओं के सामने आकर क्या कभी उनका आशीर्वाद पा सकता है? उसकी पूजा भेंट देवताओं को स्वीकार भी होगी?

३१ जुलाई १९३३

हमें ऐसा सुधार नहीं चाहिए

अभी २४ जुलाई को शिमले में पंजाब कौंसिल की बैठक के समय एक गश्ती चिट्ठी का खूब मज़ाक उड़ाया गया जो किसी व्यक्ति ने सारे मेम्बरों और पदाधिकारियों के नाम भेजी थी। पत्र के लेखक ने अपने को "अंग्रेजी राज्य का शुभेच्छु और भारत का सच्चा हितैषी" लिखा है। उसका यह दावा स्वीकार किया जाय या न किया जाय, पर हम तो समझते हैं कि उस पत्र का मज़ाक उड़ाना सच्चे जनमत का मज़ाक उड़ाना है। यही मनोविचार अधिकांश जनता के हैं और उसमें हँसी की उतनी बात नहीं जितनी विचार करने की बात है। पूरा पत्र तो बहुत लम्बा है और हमारे पास इतना स्थान नहीं है, कि हम सबका सब नकल कर सकें, पर हम उसके कुछ अंशों को नकल करके पाठकों के सामने रख देना चाहते हैं—

"शिमले में शीघ्र ही कौंसिल की खर्चीली बैठक होगी, पर उससे देश को क्या लाभ होगा? दायित्वहीन मेम्बरान कुछ प्रस्ताव पास करेंगे और सरकारी नौकरों पर कुछ आक्षेप किये जायेंगे। मैं पूछता हूँ आप लोगों ने अब तक सिवाय मोटे-मोटे वेतन फटकारने के और कौन-सा मैदान मारा है। जिन लोगों को मिनिस्टरी मिल गयी है, ऐसे वेतन पर जो भारत में अभूतपूर्व है, उन्हीं की चाँदी है। इन मिनिस्टरों ने जो

पाँच हजार रुपये महीना पाते हैं और इन कौंसिलों ने अब तक क्या काम किया है ? ये मिनिस्टर और कौंसिल के सभापति रोजाना कितने घंटे काम करते हैं ? कलक्टरों और कमिश्नरों की कोई बात भी नहीं पूछता, हालाँकि उन गरीबों को दस घंटे रोज काम करना पड़ता है और अब नये काउंसिलर बननेवाले हैं। उनके शासन का खर्च बढ़ जाने से देश का और कौन उपकार होगा ?''

इसके बाद लेखक ने जनमत-प्रधान शासन की निंदा की है और अँग्रेज अफसरों का प्रशंसा का गीत गाया है। पत्र का यही भाग ऐसा है जिसने इसके मूल्य को कौड़ी के बराबर भी नहीं रखा। उस अंश को व्यर्थ समझ कर हम छोड़ देते हैं। आगे चल कर वह लिखता है—''हमें मोटे-मोटे वेतनों पर तीन या चार मिनिस्टरों या कौंसिल के सभापति की जरूरत नहीं है जो साल में केवल सौ घंटे के लिए आ बैठते हैं। क्या यह राष्ट्र के धन का अपव्यय नहीं है ? कितने ही चपरकनाती बड़े आदमी बन गये हैं और ब्रिटिश लोग तमाशा देख रहे हैं। वे असली हालत जानते हैं और उस समय का इन्तज़ार कर रहे हैं, जब आप हाथ बाँधे हुए उनके सामने जायेंगे और कहेंगे कि हमें अराजकता से बचाइये। आपके लिए सबसे अच्छा मार्ग यह है कि कौंसिलों को भी म्युनिसिपल और जिला बोर्डों की तरह चौपट न कीजिए।''

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि इस पत्र का लेखक उसी ढंग के जी हजूरों में है, जो निस-बासर श्रीमानों के बँगलों के चक्कर लगाया करते हैं, पर जहाँ तक उसने कौंसिलों की निरर्थकता और खर्चीलेपन का उल्लेख किया है उसने जनमत को प्रकट किया है। नये कौंसिलों से उसके मेम्बरों और पदाधिकारियों को अवश्य लाभ हुआ और उस धन का कुछ अंश जो फ़ौज और सिविलियनों पर खर्च हो जाता, दस-पाँच शिक्षित मनुष्यों के हाथ लग गया है, पर जनता आज भी वहीं है जहाँ पहले थी। सरकार ने ''डिमाक्रेसी'' को जिस रूप में भारत में प्रचलित किया है वह उसका निहायत विकृत रूप है। वास्तव में वह डिमाक्रेसी है ही नहीं।

३१ जुलाई १९३३

भविष्य

महात्मा गांधी को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया। यह पहले ही मालूम था, हमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य होता, अगर इसके विपरीत कोई बात होती। दुःख अवश्य हुआ, पर दुःख सहने के तो हम आदी हैं। प्रभुता सदैव निरंकुश होती है, उससे साधुता की आशा रखना ही भूल है। महात्मा गांधी देवता हैं। सारा भारत

उनकी पूजा करता है। इससे सरकार का कोई प्रयोजन नहीं। उसकी दृष्टि में तो महात्मा गांधी इसी योग्य हैं कि जेल में बन्द रखे जायँ। भारत की असंख्य जनता का उसके इस कार्य से कितना अपमान हुआ है, इसकी उसे कोई परवाह नहीं, लेकिन प्रश्न यह है कि अब काँग्रेस क्या करेगी। यद्यपि श्रीयुत अणे ने काँग्रेस को तोड़ दिया है, पर वह अभी टूटी नहीं है। उसका अस्तित्व तो तभी मिटेगा, जब देश में दरिद्र जनता की हिमायत करनेवाली मनोवृत्ति का अन्त हो जायगा, जो असंभव है। प्रश्न यही है कि काँग्रेस अब क्या करेगी। वैयक्तिक सत्याग्रह का कार्यक्रम राष्ट्र को स्वीकार नहीं है। संभव है, उसे पूर्ण रूप से व्यवहार में लाया जा सके, तो राष्ट्र को उसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो सके, पर यह तो उसी तरह है कि रोगी की देह में रक्त बढ़ जाय, तो वह अवश्य अच्छा हो जायगा। किसी काम की सफलता के लिए असम्भव शर्त लगा देने से हम सिद्धि के निकट नहीं पहुँचते। किसी प्रोग्राम को उसकी व्यावहारिकता के आधार पर ही जाँचना उचित है। जिस दिन देश में ऐसे आदमी बड़ी संख्या में निकल आयेंगे, जो अपना सर्वस्व स्वराज्य के लिए त्यागने को तैयार हो जाँय, उस दिन तो आप ही आप स्वराज्य हो जायगा, लेकिन ऐसा समय कभी आयेगा, इसमें संदेह है। ऐसी दशा में सत्याग्रही नीति से हमें अपने उद्देश्य प्राप्ति की आशा नहीं। सत्याग्रह करके सरकार पर दबाव डालने की सम्भावना अब उतनी भी नहीं रही, जितनी दो साल पहले थी। यह मालूम हो गया कि सरकार को अगर व्यापार और शासन इन दोनों में एक को लेना पड़े, तो वह शासन को ही लेगी। व्यापार तो किसी न किसी रूप में शासन से संबद्ध किया जा सकता है। अब व्यवसायी राष्ट्रों को भी मालूम होने लगा है कि माल की खपत का क्षेत्र दिन-दिन संकुचित होता जा रहा है और अब वह समय दूर नहीं है, जब उसके माल की अन्य देशों में माँग नहीं रहेगी। सभी राष्ट्र अपनी-अपनी जरूरत की चीजें खुद बना लिया करेंगे। फिर जब देश में भिन्न-भिन्न विचारों के लोग मौजूद हैं, जो विदेशी माल का व्यापार किसी तरह नहीं छोड़ना चाहते और उन्हें उसे छोड़ने के लिए मजबूर करने में भीषण उपद्रव का भय है, तो पिकेटिंग से किसी विशेष उपकार की संभावना नहीं रही। कर-बन्दी तो महज़ ख़याली पुलाव है। जो बड़े-बड़े धनवान हैं, वह करों को रोकने का साहस नहीं कर सकते। इसका भार किसानों पर रक्खा जाता है, उसी तरह, जैसे रोष प्रकट करने का भार सोलहों आना दूकानदारों पर रह गया है।

पर क्या काश्तकार को अपने दो-चार बीघे जमीन, अपने झोंपड़े, अपने बूढ़े बैल से कम मोह होता है? कर-बन्दी का सारा भार उसके ऊपर डाल कर उसके साथ अन्याय किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि स्वराज्य के उद्देश्यों में किसानों के उद्धार ही की प्रधानता है, पर स्वर्ग के लिए संसार का त्याग करनेवालों की संख्या कभी बहुत ज्यादा नहीं हो सकती और किसी कानून को केवल इसलिए तोड़ना कि

उससे सरकार की नीति में परिवर्तन किया जा सके, सीधे रास्ते को छोड़कर टेढ़े रास्ते से जाना है।

तो हमारे लिए केवल वैध आन्दोलन ही रह जाता है। कहा जायगा, कि वैध आन्दोलन से हमने पिछले पचास सालों में क्या पा लिया, जो अब उससे कुछ आशा की जा सके? यह ठीक है, कि हमने अभी तक यथार्थ में कुछ नहीं पाया, यद्यपि दिखावे में बहुत कुछ पाया। इसका कारण वैध आन्दोलन की कमजोरी नहीं, बल्कि हमारे राजनैतिक कार्यक्रम की जनता के प्रति उदासीनता थी। जनमत को अपने साथ ले चलने की नीति असहयोग आन्दोलन के पहले कभी बरती ही नहीं गयी। तब तो राजनीति केवल विनोद और व्यक्तियों के विज्ञापन की वस्तु थी। उसका सम्बन्ध केवल नगर के थोड़े से कुशल और महत्वाकांक्षी नागरिकों से था। ऐसे निर्बल आन्दोलन का फल इसके सिवा और क्या हो सकता था, कि नेताओं को राजपद मिल गये, कुछ मेम्बरियाँ मिल गयीं, कुछ अधिकार मिल गये। मानों जनता को लूटने में सरकार ने उन्हें भी अपना साथी बना लिया। वे भी उसी निर्दयता से लम्बी-लम्बी रक़में वेतन या फीस के रूप में जेब में भरने लगे, उसे तो राजनीतिक आन्दोलन कहना ही व्यर्थ है। हमारे प्रभावशाली नेता थोड़े से स्वार्थ को त्याग कर राष्ट्र का बहुत-सा उपकार कर सकते थे और वह आज भी किया जा सकता है। राष्ट्र में बिना अच्छी जाग्रति और दृढ़ संघठन पैदा किये, हम स्थायी राजनीतिक उन्नति नहीं कर सकते। हमें ऐसे देश भक्तों की ज़रूरत है, जो राष्ट्र-निर्माण-कार्य में उसी तन्मयता से, उसी उत्साह और त्याग से लिपट जाँय, जिससे वे सत्याग्रह में लिपटे थे। ऐसे प्रमुख नेताओं की, काँग्रेस की बदौलत, कमी नहीं है, जो राष्ट्र को आनेवाली व्यवस्था से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए तैयार कर सकते हैं। काँग्रेस के पास संघठन है, प्रभाव है, लोक-सेवा की धुन है, त्याग की भावना है। वह अगर सत्याग्रह आन्दोलन को उठाकर इस नये कार्यक्रम पर कटिबद्ध हो जाय, तो हमें विश्वास है कि वह राष्ट्र का बहुत बड़ा उपकार कर सकेगी।

काँग्रेस के पास राष्ट्र-निर्माण का यह प्रोग्राम मौजूद है। अगर सत्याग्रह आन्दोलन न छिड़ गया होता, तो काँग्रेस ने उस प्रोग्राम पर अमल किया होता। अब की बार पूना-सम्मेलन में भी निर्माण-कार्य का महत्व बताया गया है। यह भी कहा गया है, कि यह काम सत्याग्रह से किसी अंश में भी कम महत्व नहीं रखता। सत्याग्रह को युद्ध की उपाधि देकर मन में एक प्रकार की वीरता के गर्व को जो उत्तेजना मिलती है, वह यहाँ नहीं है, पर सत्याग्रह उसी तरह युद्ध नहीं है, जिस तरह अदालत की मुकदमेबाजी युद्ध नहीं है, या बालक का घर से रूठना युद्ध नहीं है। अहिंसा और युद्ध दोनों परस्पर विरोधी चीज़ें हैं और यह अहिंसा भी नहीं है, क्योंकि अहिंसा का केवल कार्य से नहीं, मन और वचन से भी उतना ही सम्बन्ध है। इस दृष्टि से तो महात्मा जी के सिवा शायद कोई काँग्रेसी व्यक्ति भी अहिंसा का पालन नहीं कर सका। अधिक से

अधिक वह एक नीति कही जा सकती है, जिसका हम अपनी अपंगुता के कारण पालन कर रहे हैं। यह अपने को धोखा देने के सिवा और क्या है। हम काँग्रेसी नेताओं से बड़े विनम्र भाव से प्रार्थना करते हैं, कि उन्होंने अपने त्याग और निर्भीकता से जनता में जो विश्वास और श्रद्धा उत्पन्न कर दी है, उसे निर्माण-कार्य से और ऐसा दृढ़ करें, कि अगले चुनाव में उनका बहुमत हो जाय और गवर्नमेंट को उनका सहयोग प्राप्त किये बिना एक पग रखना भी असंभव हो जाय। निस्सन्देह इस व्यवस्था में वास्तविक अधिकार गवर्नर और वाइसराय के हाथों में दे दिये गये हैं, लेकिन कोई वाइसराय या गवर्नर लगातार व्यवस्थापक सभा के बहुमत की उपेक्षा नहीं कर सकता। अँग्रेजी व्यापार और नौकरशाही के अधिकारों पर जब कभी धक्का लगेगा, वाइसराय या गवर्नर बहुमत को ठुकरा देंगे, लेकिन हमारी धारणा है, कि ऐसे अवसरों पर गवर्नमेंट कूटनीति से काम लेगी और यदि हमारे प्रतिनिधि दृढ़ता और निर्भीकता का परिचय देंगे, तो गवर्नमेंट को उनका आदेश स्वीकार करना पड़ेगा। संगठित बहुमत के सामने निरंकुशता साल दो साल टिक जाय, ज्यादा नहीं टिक सकती।

७ अगस्त १९३३

सरहद पर बमबाज़ी

सरहद पर बमबाज़ी शुरू हो गयी। कुछ फौजी तैयारियाँ भी हो रही हैं। बजौरी क़बीले और खार के खाँन पर निशाने चल रहे हैं। खाँन का अपराध यह है कि उन्होंने अफ़गानिस्तान के तीन विद्रोहियों को अपने इलाके में शरण दे रक्खी है। खाँन कहते हैं कि तीनों उनके इलाके से भाग गये, अब कोई भी उनके यहाँ नहीं है, लेकिन उनकी बात पर विश्वास नहीं किया जा रहा है और खाँन को अँग्रेजी हवाई ताकत का सुबूत दिया जा रहा है। जेनेवा में शस्त्र नियंत्रण के विषय में यह प्रस्ताव किया था कि किसी देश की आबादी पर हवा से बम न गिराये जावें। अँग्रेज सरकार ने सरहदी प्रान्त में पुलीस का काम करने के लिए हवाई जहाज़ों की जरूरत बताकर इस प्रस्ताव में संशोधन किया था। जिन राष्ट्रों से यह भय है कि यदि उनके नगरों और शान्त जनता पर बम गिराये गये, तो वे इसका दंदाँशिकन जवाब देने का सामर्थ्य रखते हैं, उनके साथ तो जरूर इस तरह का समझौता कर लेना आवश्यक है, पर जिनसे इस तरह का कोई खटका नहीं, उन पर गोले गिराने में कौन-सा विचार बाधक हो सकता है और केवल इस अपराध के लिए कि खाँन ने अफ़गानिस्तान के विद्रोहियों को अपने यहाँ छिपा रखा है। एक तरफ तो खाँन की शरणागत के प्रति यह शौर्यपूर्ण सज्जनता है, दूसरी ओर ब्रिटिश बर्बरता है, जो इस मानवता के नियम का परम्परागत पालन करने

के लिए बम गिराना आवश्यक समझती है। और "टाइम्स" खुश है कि बजौरियों को ब्रिटिश शस्त्रों के नवीन आविष्कार का मजा मिल जायगा और वे फिर ऐसी शरारत न करेंगे, लेकिन खुदा न खास्ता कोई शत्रु लन्दन पर गोलेबारी करने लगे, तो फिर देखिए, इसका मज़ा कैसा मिलता है। और एक बार थोड़ा-सा मिल भी चुका है।

७ अगस्त १९३३

मैं राजनीति को तिलांजलि देता हूँ

ये हैं वे शब्द, जो श्वेतपत्र के झमेले से आजिज़ आकर सर सप्रू ने इंग्लैंड से चलते समय कहे। आपने आज तीन साल से भावी व्यवस्था के आपत्तिजनक प्रतिबन्धों के हटाने और भारत का जन्मसिद्ध अधिकार दिलाने में अपने सिद्धांतों और आदर्शों के अनुसार जिस त्याग और लगन और एकाग्रता से अनवरत परिश्रम किया है, उसकी तारीफ़ नहीं की जा सकती, लेकिन आपका धैर्य भी आखिर टूट ही गया। आपको भी विश्वास हो गया कि इंग्लैंड इस समय कोई तर्क और न्याय सुनने के लिए तैयार नहीं है। इन तीन गोलमेज़ों और कमीशनों और कमेटियों का अन्त क्या होने जा रहा है, यह सब उनसे भी छिपा न रह सका। जिस समस्या को सर तेजबहादुर-सा दूरदर्शी और हरेक पहलू पर विचार करनेवाला, सरकार के दृष्टिकोण को उदार मन से समझने की चेष्टा करनेवाला, और यथाशक्ति समझौते की कोई सूरत निकालनेवाला मनुष्य न हल कर सका, वह राष्ट्र के लिए कितनी उपयोगी होगी? सर तेजबहादुर ऊँचे से ऊँचे राजपद पर रह चुके हैं, अंग्रेज अफ़सरों के मनोभाव और व्यवहारों का उन्हें पूरा अनुभव है। बहुत-सी बातों में उनके विचार जनता से न मिलकर नौकरशाही से मिलते हैं, यहाँ तक कि जनता राजनीतिक मामले में उनकी वकालत पर विश्वास न करेगी। जो व्यवस्था ऐसे मनुष्य को संतुष्ट न कर सकी, वह किसे संतुष्ट करेगी। हमारे खयाल में सर तेज ने "फेडरेशन" को इतना महत्व न दिया होता, और "फेडरेशन" को नयी व्यवस्था की कुंजी न समझा होता, तो सुधार की स्कीम इतनी खटाई में न पड़ती। अब तो ऐसा ज्ञात हो रहा है कि कुछ भी होनेवाला नहीं है।

७ अगस्त १९३३

मेरठ के मुकदमे का फैसला

साढ़े चार साल पहले जब मेरठ में साज़िश का मुकदमा चलाया गया था, तो

पुलीस ने इतना शोरगुल मचाया, इतनी धूम-धाम से तैयारियाँ हुईं, इतनी शहादतें जमा की गयीं, इतने रुपये खर्च किये गये कि मालूम होता था यह साज़िश दुनिया का तख़्ता उलट देना चाहती थी और पुलीस ने सुराग़ लगाकर ऐसा तीर मारा है कि स्कांटलैंड यार्डवालों को आकर इनकी शागिर्दी करनी चाहिए। झूठ-मूठ शहादतें बढ़ाकर मुकदमे को तूल दिया गया, यहाँ तक कि साढ़े चार साल के समय और सोलह लाख रुपये का सफ़ाया हो गया। सेशन जज ने तो इन सारी तैयारियों के अनुकूल सज़ा देने में ही अपनी नेकनामी समझी। कई मुलज़िमों को कालेपानी तक की सजा दे डाली, जिसका उन्हें नीति के अनुसार कोई अधिकार न था। पर, हाईकोर्ट की अपील से जो फैसला हुआ है, उसने गवर्नमेंट की आँखें खोल दी होंगी, और उसे साबित हो गया होगा कि अभियुक्तों का जो काला-देव बनाकर दिखाने का प्रयत्न किया गया था, वह कितना निस्सार था। कई अभियुक्तों को हाईकोर्ट ने बिलकुल बरी कर दिया, कुछ के लिए साढ़े चार साल की सज़ा जो वह भुगत चुके हैं वही काफ़ी समझी गयी। केवल चार अभियुक्तों को दो-दो साल अभी जेल में रहना पड़ेगा। शेष सभी छूट जायेंगे। जिस अपराध की सज़ा हाई कोर्ट ने तीन साल काफ़ी समझी, उसके लिए काले पानी की सज़ा तजवीज़ कर सेशन जज ने न्याय को कितना भयंकर रूप दे दिया था! इस सिलसिले में हम हाई कोर्ट के फैसले के उस अंश पर विचार करना आवश्यक समझते हैं, जिसमें जजों ने यह दिखलाया है कि मैजिस्ट्रेट के इजलास में पूर्ण शहादतों का दिलाना अनावश्यक ही नहीं, आपत्तिजनक है। मैजिस्ट्रेट को केवल उतनी ही शहादतें लेनी चाहिए, जिससे उसे विश्वास हो जाय कि मुकदमा सेशन जज के इजलास में भेजने योग्य है। पहले डेढ़ साल तक उसने सारी शहादतें लीं, तब मुक़दमा सेशन मे भेजा गया और वहाँ वह सारा नाटक फिर से दुहराया गया। इसमें राष्ट्र का धन जो अपव्यय हुआ वह तो हुआ ही, मुलजिमों को कितना कष्ट उठाना पड़ा और उनकी कितनी ज़िंदगी खराब हुई, इसका कौन अनुमान कर सकता है। फिर यह भी जरूरी नहीं, जैसा हाई कोर्ट ने स्पष्ट लिखा है, कि एक ही बात को सिद्ध करने के लिए सबसे अकाट्य प्रमाण न देकर ख्वाम-ख्वाह व्यर्थ की शहादतें दिलायी जाँय। इन्हीं सब बेकायदगियों के कारण इस मुक़दमे ने इतना तूल खींचा, जिसे अबसे तीन साल पहले ही समाप्त हो जाना चाहिए था। और जब पुलीस शहादतों की भरमार करती है, तो मुलजिम भी अपनी सफाई के लिए अधिक से अधिक शहादतें तलब करता है, जिससे उस पर लगाये हुए अभियोग की हरेक बात काटी जा सके। मगर यहाँ कौन पूछता है, पुलीस को कम से कम सन्तोष हो गया हो कि उसने इतने आदमियों को साढ़े चार साल रगड़ डाला!

१३ अगस्त १९३३

जापान की व्यापारिक सफलता का रहस्य

सर लल्लू भाई सामलदास ने जापान से लौट कर वहाँ के कपड़े के विषय में जो रहस्य बतलाये हैं, उन्होंने भारत के मिल-मालिकों की ग्राँखें खोल दी होंगी ग्रौर उन्होंने शर्म से सिर झुका लिया होगा। ग्रब तक यह भ्रम था कि जापानी सरकार कपड़े के व्यापार की सहायता करती है। ग्रब यह मालूम हुग्रा, कि यह कोरी गप है। इस भ्रम का भी इस बयान से निवारण हो गया कि जापानी-मजूरों के साथ बड़ी सख्ती से काम लिया जाता है ग्रौर उन्हें मज़दूरी बहुत कम दी जाती है। जापानी सफलता का रहस्य उनके मिलों के सुप्रबन्ध ग्रौर उनके मजूरों की दक्षता है। जितना काम जापान की एक सुकुमार युवती कर लेती है, उतना यहाँ तीन चार मजूर मिलकर भी नहीं कर पाते। मिल के कर्मचारियों, डायरेक्टरों ग्रादि के वेतन जापान में भारत से बहुत कम हैं। उसी सुप्रबन्ध की बदौलत जापान ने सारी दुनिया के व्यापारियों का क़ाफ़िया तंग कर रक्खा है। इसका निवारण किया जाता है उसके माल पर महसूल बढ़ाकर, उसके माल का बहिष्कार करने का प्रयत्न करके। चाहिए तो था कि हम ग्रपनी कमजोरियों को सुधारते ग्रौर उस लूट को कम करते, जो कर्मचारियों के राजसी वेतन के रूप में खर्च होती है, ग्रौर मजूरों को ज्यादा शिक्षित ग्रौर पटु बनाने की चेष्टा करते, पर यह करे कौन। सस्ता नुस्ख़ा था, जापान के माल पर पचहत्तर फी सदी कर लगा देना। तब तो लोग झक मार कर यहाँ के मिलों के कपड़े मंहगे दामों खरीदेंगे। यह खरीदार जनता के साथ घोर ग्रन्याय है। यों कहना चाहिए कि उनका गला दबाकर उनकी गाँठ से पैसा छीन लेना है, मिल वालों की जेब भरने के लिए। हालाँकि मिलवाले यह भी समझते हैं, कि सरकार की यह नीति भारत के हित के लिए नहीं, लंकाशायर के हित के लिए रची गयी है।

१३ ग्रगस्त १९३२

मुंगेर में काँग्रेसी उम्मेदवारों की विजय

बिहार के मुंगेर जिला बोर्ड के चुनाव में काँग्रेसी उम्मेदवारों ने जो शानदार विजय प्राप्त की है, वह इस बात की सूचक है कि यदि काँग्रेस ग्रानेवाले चुनाव में भाग ले, तो उसे कितनी सफलता मिल सकती है। वहाँ २८ मेम्बरों में २७ काँग्रेसी उम्मेदवार ही निर्वाचित हुए। माना, मुंगेर प्रधान हिन्दू जिला है ग्रौर बिहार में काँग्रेस का प्रचार भी खूब था। बंगाल ग्रौर पंजाब में जहाँ हिन्दुग्रों का बहुमत नहीं है, शायद ऐसी काम-याबी न हो, पर मुसलमानों, सिक्खों, ज़मींदारों सभी सम्प्रदायों में काँग्रेसी मौजूद हैं। ग्रगर काँग्रेसी उम्मेदवारों को इन सम्प्रदायों में ग्राधी जगहें भी मिल गयीं तो काँग्रेस का

केन्द्रीय सभा में बहुमत हो जायगा। अभी कुछ दिनों रियासती मेम्बरों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे राजाओं के नामज़द किये हुए होंगे, पर राष्ट्रीयता में वह जादू है और समय इतना प्रगतिशील हो रहा है कि आनेवाले चन्द बरसों में वह बातें भी संभव हो सकती हैं, जो आज असंभव समझी जा रही हैं।

१३ अगस्त १६३३

कलकत्ता-कारपोरेशन का प्रस्ताव

कारपोरेशन ने २७ पक्ष तथा १४ के विरोध से इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया है कि यदि भारत सरकार ने स्व० जे० एम० सेन गुप्त को रांची में सपरिवार रहने की आज्ञा देने के पूर्व ही छोड़ दिया होता, तो उनकी मृत्यु इतनी शीघ्र न होती। हम नहीं कह सकते कि यह आरोप कहाँ तक प्रमाण-संगत है। रांची एक स्वास्थ्यकर स्थान है। वहाँ सपरिवार रहने से ही मृत्यु इतनी शीघ्र आ गयी, यह बात तो समझ में नहीं आती, पर यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जेल-जीवन ने हमारे कितने ही नेताओं का स्वास्थ्य नष्ट कर दिया है, और उसी ने स्व० जे० एम० सेनगुप्त का स्वास्थ्य भी नष्ट किया, जिसका यह शोकजनक परिणाम हुआ। एक तो भारत की राजनैतिक परिस्थिति ही ऐसी ही है, जो मनस्वी आत्माओं को पग-पग पर अपमानित करके उनका मानसिक और आत्मिक दमन करती रहती है, उस पर जब उन्हें जेल में बन्द कर दिया जाता है, उनके पुष्टिकर भोजन और व्यायाम का प्रबन्ध नहीं किया जाता, उनको वह भार दुस्सह हो जाता है। राष्ट्रीय संग्राम की एक तैयारी यह भी है कि हमें कष्टमय जीवन का अभ्यास करना चाहिए, जिसमें हम जेल की कठिनाइयों में अपने आरोग्य की रक्षा कर सकें। सरकार से यह आशा रखना कि वह राजबन्दियों के साथ खास रियायत करेगी अपने को धोखा देना है। भविष्य में संभव है, राष्ट्र के नेताओं को इससे भी बड़ी बाधाएँ सहनी पड़ें। पर सरकार शायद अभी तक इस भ्रम में है कि राज-बन्दियों को जेल में अधिक से अधिक समय तक डाल रखने से जनता की स्वराज्य की प्यास शान्त हो जायगी। जिस शासन व्यवस्था में महात्मा गांधी जैसे पूज्य नेता और श्री जे० एम० सेनगुप्त जैसे सच्चे राष्ट्रसेवक के लिए जेल के सिवा दूसरा स्थान नहीं है, वह स्वयं कलंकित है और स्वयं कह रही है कि उसका जितनी जल्दी अन्त हो जाय उतना ही अच्छा। यह नीति प्रजा को आतंकित कर सकती है, सरकार के प्रति प्रजा में भक्ति नहीं पैदा कर सकती। शायद सरकार इस बात को भूल जाना चाहती है कि भारत की जनता को अब आतंक से नहीं शान्त किया जा सकता।

१३ अगस्त १६३३

भारत १९८३ में

"जहाँ तक भारत की वर्तमान मनोवृत्ति का हमें परिचय है, यह कहना युक्ति-संगत है कि वह अपने लिए कोई ऐसी व्यवस्था बनायेगा, जो स्पष्ट रूप से बहुमत की जवाबदेह न होगी। यहाँ तक कि गरमदल के काँग्रेसवाले भी जिम्मेदार शासन की कल्पना नहीं करते, बल्कि उसी प्रणाली का उपयोग करना चाहते हैं, जो पहले से दफ्तरी शासन ने तैयार कर दी है, उसी तरह जैसे लेनिन और उनके अनुयायी अधिकार के उस क्षेत्र में कूद पड़े, जिसे दो सदियों में ज़ारशाही ने समतल कर दिया था।"

यह है वह विचार जो, संयुक्त-प्रान्त के गवर्नर सर मालकम हेली ने हाल के एक जलसे में प्रकट किया। यह जलसा ऑक्सफोर्ड में रायल एम्पायर सोसाइटी की ओर से हुआ था, और कथन का विषय था "भारत १९८३ में।"

सर मालकम हेली प्रगतिशील शासकों में नहीं हैं। उनका सारा राजनैतिक जीवन भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का दमन करते गुजरा है। पिछले राष्ट्रीय आन्दोलन में हम बार-बार उनका लोहे का पंजा देख चुके हैं, पर "भारत १९८३ में" एक ऐसा विषय था, जिस पर वह अपनी जिम्मेदारियों से ऊँचे उठकर, बिना किसी तरह के संकोच या रुकावट के भारत के विषय में भविष्यवाणी कर सकते थे। इसलिए उनके उस कथन में जहाँ अधिकतर ऐसी बातें हैं, जो उनके विचारों में बद्धमूल हो गयी हैं और जिन्हें वह अनुदार आँखों से देखने के सिवा कुछ कर ही नहीं सकते, कुछ ऐसी बातें भी हैं, जिनमें राजनीतिज्ञ की सूझ और भावना है और ऊपर हमने जो वाक्य नकल किये हैं, वह इसी तरह के वाक्यों में हैं। सर मालकम हेली के विचार में भारत की परम्परा, और उसकी संस्कृति प्रतिनिधि शासन के अनुकूल नहीं है। यह कथन हमें चिंता में डाल देता है।

इतिहास में कहीं ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि भारत ने उस रूप में राजनैतिक अधिकार के लिए उद्योग किया हो, जैसा आजकल हम समझते हैं। प्राचीन काल में कभी यह आदर्श यहाँ था, इसमें हमें सन्देह है। बौद्ध काल में दक्खिन में कुछ ऐसे राज्य थे, जहाँ प्रतिनिधि शासन के कुछ चिह्न मिलते हैं, पर वे चिह्न मात्र हैं, जीते-जागते प्रमाण नहीं हैं। यूनान में जिस प्रकार प्रजा ने अधिकार के लिए संग्राम किये, जिस तरह धीरे-धीरे अमीरों के हाथ से शक्ति निकलकर प्रजा पक्ष के हाथ में आयी। रोम में भी इतिहास ने जिस तरह अपने को दुहराया, वैसा कोई प्रमाण भारत में नहीं मिलता। योरोप की वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति उन्हीं पुरानी परम्पराओं पर टिकी हुई है। हाँ, वहाँ जनतन्त्र अनेक आर्थिक और सामाजिक कारणों से जनतन्त्र न रहकर पूंजीतन्त्र हो गया है। कम्युनिज़्म और फैंसिज़्म उसके विद्रोह मात्र हैं। वह जनतन्त्र को वास्तविक रूप से जनतन्त्र बनाये रखने के आयोजन हैं। जनतन्त्र का अर्थ इसके सिवा और क्या है कि

राज्य में किसी एक गुट या दल का विशेषाधिकार न हो, और राज्य का आधार-स्तम्भ समता और न्याय का व्यावहारिक रूप हो। अगर जनता को इस ओर से निश्चिन्तता हो जाय, तो उसे अधिकार की विशेष परवाह नहीं होती। वह अधिकार केवल इसीलिए चाहती है कि समता और न्याय का रूप विकृत न होने पावे। यह समता मनुष्य में आदि से चली आ रही है, जब कोई राजा न था, कोई प्रजा न थी, सभी अपने शक्ति और पुरुषार्थ के बल पर अपने जीवन का निबाह करते थे। हजारों बरस के एकाधिपत्य ने भी उस भावना को निर्जीव नहीं होने दिया है। हमारी सभी धार्मिक व्यवस्थाएँ इसी समता के आदर्श को पालन करने की चेष्टाएँ हैं। योरोप इस विषय में भारत से भिन्न नहीं है, क्योंकि मनुष्य स्वभाव में देश भेद से कोई मौलिक अन्तर नहीं आ जाता। योरोप में ही थोड़े दिन पहले जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस, फ्रान्स सभी देशों में बादशाही थी, और बादशाही भी इंग्लैंड की-सी अपंग बादशाही नहीं, बल्कि ज़ोरदार बादशाही थी।

जहाँ कहीं बादशाहों ने जन पक्ष को विकास पाने का अवसर दिया, वहाँ बादशाही बनी हुई है, जहाँ समता और न्याय के आदर्श को ठुकराया गया और दलबन्दी हुई, वहीं प्रजा ने विद्रोह किया। कम्युनिज़म और फासिज़म का आधिपत्य इसलिए नहीं है कि उनके पीछे सैनिक शक्ति है, बल्कि इसलिए कि वे प्रजाहित को ही अपना आधार बनाये हुए हैं। ज्योंही वे इस आदर्श से गिर जायँगे, जनता फिर चंचल हो जायगी और फिर किसी दूसरी तरह इस समस्या को हल करने की चेष्टा करेगी। लेकिन यह कहना कि भारत की परम्परा और जलवायु ही प्रतिनिधि शासन के अनुकूल नहीं, मानव प्रकृति की समानता को अस्वीकार करना है। कोई भी मनुष्य छोटा या नीच बनकर नहीं रहना चाहता। जिसमें राजनैतिक चेतना ही नहीं, उनकी बात न्यारी है। जहाँ सामाजिक चेतना नहीं, वहाँ राजनैतिक न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। लेकिन जिनमें कुछ भी राजनैतिक चेतना है, वे अपने देश को सुखी और संतुष्ट और गौरवयुक्त देखना चाहते हैं। जो कोई भी बाधा उनके इस आदर्श के सामने खड़ी होती है, उसका विरोध करने की उन्हें इच्छा होती है। क्या भारत में आज बादशाही होती और वह बादशाही प्रजा को लूटकर थोड़े से सम्बन्धियों का घर भरना ही अपना दस्तूर बना लेती, तो भारतवासी उसके विरुद्ध कोई आन्दोलन न करते? रियासतों में क्या इस तरह का आन्दोलन नहीं है? जनमत के विरुद्ध जब शासन व्यवस्था चलती है, चाहे वह बादशाही हो, या कुबेर-शाही, या प्रजाशाही, उसके विरुद्ध आन्दोलन होने लगता है। जो शिक्षित हैं, वही विद्रोह का झंडा उठाते हैं। वही भारत में भी हुआ। यह कहना कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन पश्चिम का ऋणी है, और उसकी क़लम वहीं से लाकर आरोपित की गयी, मानव प्रकृति से अपने अज्ञान का परिचय देना है। "जातीयता" योरोप के कारख़ाने में अवश्य बनी है, पर योरोप में भी तीन सौ साल पहले जातीयता का रूप इतना प्रचंड न था। उसे हम मानवजाति की कोई बड़ी विभूति नहीं समझते, उसने मनुष्य को भिन्न-भिन्न भागों में

बाँटकर एक दूसरे का शत्रु बना दिया है। भारत को इंग्लैंड से कोई दुश्मनी नहीं है। वह तो केवल इतना ही चाहता है कि भारत की ऐसी अवस्था न रहे कि दूसरे तो मूँछों पर ताव देकर गुलछर्रे उड़ायें और जो भारत संतान हैं, जो पसीना बहाकर और अपना रक्त जलाकर धन कमाते हैं, वे दाने और वस्त्र को मुहताज हों और पशुओं की भाँति जियें। इतिहास का महत्व इसके सिवा और क्या है कि अपनी पिछली गलतियों को सुधारा जाय। यह खयाल करना कि किसी कारण से हममें पूर्व में जो गलतियाँ थीं, वही हमारी परम्परा हैं और उनके सुधार की चेष्टा करने में हम अपनी संस्कृति के प्रतिकूल जा रहे हैं, न्यायानुकूल नहीं है। भारत ने जो सबसे बड़ी गलती की थी, वह जनता को राजनैतिक वातावरण से बिलकुल अलग रखना था। इसका फल यह हुआ कि बड़े-बड़े राजनैतिक परिवर्तन हो गये और जनता ने किसी प्रकार का भाग न लिया। भारत फिर वही गलती न करेगा। वह इतने दिनों के अनुभव से समझ गया है कि अच्छे से अच्छा शासन विधान यदि प्रजा की सामूहिक इच्छा पर आधारित नहीं है, यदि प्रजा का उसके बनाने में कोई भाग नहीं है, तो वह प्रजा से कोई सहायता पाने की आशा नहीं रख सकता। वह बेबुनियाद की दीवार है, जो आँधी के पहले ही झोंके में ज़मींदोज़ हो जायगी। प्रजा में राजनैतिक चेतना लाना भारत का पहला कर्त्तव्य है। उसने बड़े कड़वे अनुभव से अपनी यह गलती मालूम की है और इसका सुधार करने की चेष्टा कर रहा है। प्रजा में चेतना आ जाने के बाद वह स्वयं अपने अधिकारों की रक्षा करना सीख जायगी। इसलिए काँग्रेस के सामने प्रतिनिधि शासन का ही आदर्श है। वह निर्वाचनाधिकार को अधिक से अधिक विस्तृत रूप देना चाहती है। वह जायदाद की या शिक्षा की कोई कैद नहीं रखना चाहती। अगर काँग्रेस ने या जनपक्ष ने विजय पायी तो प्रतिनिधि शासन के सिवा वह किसी दूसरी व्यवस्था की कल्पना ही नहीं कर सकती, क्योंकि वह बाधाएँ जो रूस या फ्रांस में थीं यहाँ पहले से उनका अन्त हो चुका है। पूँजीपतियों का यहाँ अभी न इतना जोर है और न आगे होने की संभावना है कि वह इंग्लैंड या अमेरिका की भाँति जनमत पर अधिकार करके उसे साम्राज्यवाद का रूप दे दें।

इंग्लैंड का प्रभुत्व तो स्वयं भारतीय परम्परा के प्रतिकूल है। भारत में ऐसी कोई व्यवस्था कभी नहीं आयी कि किसी जाति ने दूसरे देश से उस पर शासन किया हो, और सदैव स्वदेशवासियों के हक़ छीनकर अपने देशवालों को ही पुरस्कृत किया हो। यह प्रणाली भारतीय परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है। प्रतिनिधि शासन स्वाभाविक वस्तु है। कौन नहीं चाहता कि वह अपने घर का स्वामी रहे। अगर वह भारत में बाहर की चीज़ समझी जाती है, तो यह साम्राज्यवादी शासन सरासर अस्वाभाविक होने पर भी कैसे भारत के अनुकूल हो जाता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। फिर भी हमारे शासक इसी अस्वाभाविक वस्तु को नये-नये बहाने से निकाल कर चिरस्थायी बनाने की

चेष्टा कर रहे हैं और संसार को इस भ्रम में डालकर कि प्रतिनिधि शासन भारत की आत्मा के विरुद्ध है, एक ऐसी व्यवस्था की रचना कर रहे हैं, जिसमें भारत इंग्लैंड का मज़दूर मात्र रह जाता है।

२१ अगस्त १९३३

बेंत मारने की सजा

बम्बई की कौंसिल में अभी हाल में ही दंगा आदि मचाने का अपराध करने वालों को बेंत मारने की सजा देने का जो क़ानून पास हुआ है, उस पर हम बम्बई की सरकार या वहाँ की कौंसिल के सदस्यों को बधाई नहीं दे सकते। जहाँ संसार के अन्य सभ्य देशों में दण्ड की यह निष्ठुर प्रथा धीरे-धीरे उठायी जा रही है, वहाँ इस देश में इसका इस तरह समर्थन किया जा रहा है, इसे हम अपना दुर्भाग्य न कहें तो और क्या कहें ?

यद्यपि वहाँ के प्रान्त सचिव (होम मेम्बर) ने इस बात का आश्वासन दिया है, कि इसका प्रयोग अत्यधिक आवश्यकता पड़ने पर विशेष परिस्थिति में ही किया जायगा, फिर भी यह कौन नहीं जानता कि मौक़ा आने पर इतनी सतर्कता से काम नहीं लिया जाता। हम यह आये दिन देखा करते हैं कि सरकार की सेवा करने के भाव से प्रेरित होकर कुछ जोशीले न्यायकर्ता क़ानूनों का प्रयोग आवश्यकता से अधिक सख़्ती के साथ किया करते हैं। अतः हमारे लिए यह सन्देह करने का कारण है कि वहाँ के दो-एक मजिस्ट्रेट होममेम्बर के शब्दों को भुलाकर अनावश्यक रूप से इसका प्रयोग करने से न हिचकेंगे।

हमारे मन में यह भी शंका हो रही है, कि कुछ समय के बाद सार्वजनिक शान्ति (पब्लिक सिक्यूरिटी) के नाम पर सविनय अवज्ञा करनेवालों के लिए भी कहीं इसका प्रयोग न किया जाने लगे। जैसा कि होम मेम्बर साहब ने स्वयं स्वीकार किया है, पिछले आन्दोलन में वहाँ के पचास स्वयंसेवकों को बेंत की सज़ा दी गयी थी। जहाँ तक हम समझते हैं, कानून में इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, कि किन-किन खास अपराधों के लिए यह दण्ड दिया जायगा। ऐसी अवस्था में हमारा कर्त्तव्य है, कि हम स्पष्ट रूप से इस बर्बरतापूर्ण कानून का विरोध करें और बम्बई कौंसिल के सदस्यों से अनुरोध करें कि वे इसे शीघ्र ही रद्द करा देने का प्रयत्न कर अपनी भूल का परिमार्जन करें।

२१ अगस्त १९३३

भीषण सत्य

भारत के डाक्टरी विभाग के डायरेक्टर जेनरल साहब ने ग्रामीणों के स्वास्थ्य के विषय में अपने मातहत डाक्टरों से जाँच करायी थी। उनकी रिपोर्ट पर आपने जो सम्मति प्रकट की है, वह हमारे लिए तो कोई विशेष महत्व नहीं रखती, शायद सरकार बहादुर को उसमें कुछ काम की बातें मिल सकें। आपको अब पता चला है कि भारत में ३९ फ़ीसदी पेट भर, ३२ फ़ीसदी आधे पेट और २० फ़ीसदी भुक्खड़ हैं। आपका यह भी ख्याल है कि जाँच करनेवाले हिन्दुस्तानी थे, इसलिए उन्होंने जीवन का बहुत ही निम्न आदर्श अपने सामने रक्खा था। यदि यही जाँच योरोपियन डाक्टर करते, तो नतीजा इससे भी निराशाजनक होता। यही नहीं कि गरीबों को भोजन कम मिलता है। जो कुछ मिलता है वह पुष्टिकारक नहीं है। उस पर जन संख्या भी दिन-दिन बढ़ती जाती है। नया काम कोई नहीं निकला। थोड़े से कारखाने ज़रूर खुले हैं, पर आबादी में जो वृद्धि हुई उसका बहुत थोड़ा हिस्सा उन कारखानों में खप सका। ज़मीन पर जो बोझ पहले था, वह और बढ़ गया। इसका नतीजा यह होगा कि आपके शब्दों में—

"साधारण जनता को ही जीवन के कठोर संग्राम का सामना न करना पड़ेगा, बल्कि सम्पन्न श्रेणीवालों को भी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ेंगी, जिनकी गुज़र फसलों की बचत पर होती है। अगर भूमि की सारी उपज किसानों की ही जरूरतों के लिए काफ़ी न होगी, तो लगान कहाँ से आयेगा, जरूरत की दूसरी चीज़ें खरीदने के लिए पैसे कहाँ से आयेंगे, रेल के टिकट कैसे बिकेंगे। भारत का सारा सामाजिक जीवन अगर नष्ट न हो गया, तो उसमें भूकम्प अवश्य आ जायगा।"

कितने भयंकर शब्द हैं!! और यह किसी काँग्रेसी प्रोपागेंडिस्ट की राय नहीं है। भारत के डाक्टरी विभाग के डाइरेक्टर जेनरल की। हमारे नेता और विचारक गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे हैं कि देश की हालत खराब है, शासन का खर्च घटाने की, लगान कम करने की, करेंसी में सुधार करने की प्रार्थना की जाती है, पर वह सब पोलिटिकल चाल समझी जाती है। वास्तव में देश की जो दशा है वह इससे कहीं खराब है। गाँवों में मुशकिल से सौ में पाँच आदमी ऐसे मिलेंगे, जो पेट भर भोजन पाते होंगे, और वह भी या तो महाजन होंगे या अन्य कर्मचारी। ऐसे दरिद्र देश के हुक्काम संसार में सबसे बड़े वेतन भोगी हों, यह अन्धेर नहीं तो क्या है।

२८ अगस्त १९३३

महात्मा जी की रिहाई

भारत सरकार ने महात्मा जी के अनशन के आठवें दिन छोड़कर उचित ही किया। खेद यही है कि उसने ऐसा करने में अनुचित विलम्ब किया तथा कुछ दिनों तक व्यर्थ ही लोकापवाद सहती रही। आशा है श्री देवदास गान्धी के विषय में भी गवर्नमेंट इसी न्याय से काम लेगी। जो यह आश्वासन देने पर भी कि यह देहली में असहयोग का प्रचार करने नहीं आये हैं, उन्हें सज़ा देना ही उचित समझा।

२८ अगस्त १९३३

मालवीय जी की चुनौती

महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने बंगाल की पुलिस पर यह अभियोग लगाया था कि उसने ४७ वीं अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन के समय एकत्रित प्रतिनिधियों तथा हवालात में बन्द प्रतिनिधियों और अधिवेशन के समय उपस्थित दर्शकों पर बड़ी बर्बरता का प्रहार किया था। बंगाल, भारत तथा लन्दन की सरकार ने इन अभियोगों को झूठा बतलाया है। अभी हाल ही में इस विषय में एसेम्बली में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनसे पता चलता है कि सरकार न तो अभियोग स्वीकार करती है और न उसकी स्वतंत्र जाँच कराना चाहती है। यह नीति हमारी समझ में नहीं आती।

२८ अगस्त १९३३

गोरे-गोरे हैं, काले-काले हैं

हमारा सहयोगी "लीडर" भी कभी-कभी बेतुकी बातें कर जाता है। भला इसमें भी कोई तुक है कि हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी सिपाहियों के लिए एक ही फौजी अस्पताल रक्खे जायँ! खर्च की कमी कोई दलील नहीं। अगर सरकार खर्च में कमी करने पर आ जाय, या आज शासन में जनमत की प्रधानता हो जाय, तो खर्च आधे से भी कम हो सकता है। काँग्रेस के ५००रु० अगर कम ही मान लिये जाँय तो बड़े से बड़े कर्मचारी के लिए एक हजार का वेतन किसी तरह कम नहीं कहा जा सकता, पर कमी करने की जब नीयत भी हो। सरकार के फ़ौजी विभाग को इसकी क्या परवाह है कि अंग्रेजी फौजी अस्पतालों में अकसर गिने-गिनाये मरीज़ ही रहते हैं, वहाँ के डाक्टर और सर्जन

मजे से शिकार खेलते हैं और नर्सें ब्रिज खेलकर अपना मन बहलाती हैं। ये गोरे अस्पताल तोड़ दिये जायँ तो ये डाक्टर और नर्सें कहाँ जायँ? पाँच-छः सौ का लम्बा वेतन कहाँ मिले? इतनी तकलीफें हो रही हैं, हमने तो कभी न सुना कि कोई गोरा अफ़सर तख़-फीफ में आया हो। कहीं-कहीं एकाध तख़फ़ीफ में आया भी है तो उसके लिए रियासतों में पहले ही से कोई उससे बड़ी जगह निकाल ली जाती है। फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि गोरे सिपाहियों का कालों से क्या सम्पर्क। वह कालों से चौगुना वेतन पाता है, तो उसी हिसाब से सर्जनों और नर्सों को भी कालों के अस्पतालों से चौगुना वेतन पाना लाज़िम है। उसमें भला कैसे कमी की जा सकती है!

४ सितम्बर १९३३

वाइसराय का भाषण

गत ३० अगस्त को शिमले में दोनों व्यवस्थापक भवनों की संयुक्त बैठक में हिज़ एक्सेलेंसी वाइसराय ने जो भाषण दिया उसमें देश की प्रायः सभी वर्तमान समस्याओं का उल्लेख किया गया, पर देश के सामने बेकारी की जो सबसे भीषण समस्या है उसके विषय में आपने कुछ नहीं कहा। जो कुछ हो रहा है वही होता रहेगा, यों ही बेकारी बढ़ती रहेगी, यों ही सारे टैक्स बने रहेंगे। जनता के लिए आपने कहीं आशा की कोई झलक नहीं दिखायी। कोटकाई पर गोलाबारी की आपने जो सफ़ाई दी, उसमें कोई नयी बात नहीं है। हाँ, यह सन्तोष की बात है कि इन गोलाबारियों से निरपराध प्राणियों की हत्या नहीं हुई। आपने फरमाया—फौजी खर्च में ज्यादा किफायत की अब गुंजाइश नहीं है। और यह भी कोई नयी बात नहीं। गवर्नमेंट हमेशा यही कहती है और यही आपने भी कहा। ऐग्रिकलचरल रिसर्च काउंसिल के विषय में अभी तक हमने केवल उसका नाम सुना है और इस विचार से मन को सन्तुष्ट कर लेते हैं कि एक परोपकारी सरकारी संस्था है जो धनाभाव के कारण अभी कुछ विशेष काम नहीं कर सकी। रियासतों की रक्षा के लिए एक नया कानून बनाया जानेवाला है। यह पहले ही से तय था और इसका यही अर्थ है कि रियासतों को इन टिकौनों से दस-बीस वर्ष और चला ले जाइए, पर उनमें जीवन शक्ति का लोप होता जा रहा है। जापान की व्यापार-संधि के विषय में भी आपने यह आशा नहीं दिखायी कि रुई पैदा करनेवाले काश्तकारों के हित की रक्षा का क्या इन्तजाम सोचा गया है। हमें आशा है, गवर्नमेंट और भारत के प्रतिनिधि इस कंवेंशन में किसानों को भूल न जायँगे, और थोड़े से मिल मालिकों और लंकाशायर के व्यापारियों के हितों को ही प्रधानता न दी जायगी। सुना गया है कि जापान भारतीय रुई को जापानी कपड़े के बदले में लेने का प्रस्ताव करेगा। सुफ़ेद कागज के विषय में

संयुक्त कमेटी के मेम्बरों के आँसू पोंछने के बाद आपने भविष्य में नवीन भारत के निर्माण में श्रोताओं के सहयोग पर जोर दिया, हालाँकि उस सहयोग के लिए बहुत कम गुंजाइश रखी गई है। अन्त में आपने अपील करते हुए ये सुन्दर शब्द कहे—

"मैं सच्चे हृदय से आपसे आग्रह करता हूँ कि आप आनेवाली जिम्मेदारियों को साहस और लगन के साथ स्वीकार करें, जिसमें आपका देश अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माण में बराबर का सहयोग प्रदान करे।"

इसके उत्तर में हम यही कहना चाहते हैं कि यह सहयोग प्राप्त करने में वाइसराय ही पर सारा दारोमदार है।

४ सितम्बर १९३३

हमारी क़ौमी पार्लमिंट की क़ौम-परवरी

हमारी "क़ौमी पार्लमिंट" अर्थात् "लेजिस्लेटिव एसेम्बली" ने इसके पहले भी कितनी ही बार अपनी क़ौम-परवरी का बहुत अच्छा परिचय दिया है, जिसके लिए भारत की जनता अपने हितैषी महानुभावों को मुक्तकंठ से धन्यवाद दे रही है, लेकिन ६ सितंबर को रायबहादुर मथुरा प्रसाद जी मेहरोत्रा के इस प्रस्ताव पर कि राजनैतिक कैदियों और नज़रबन्दों को अब छोड़ दिया जाय, एसेम्बली ने जो निश्चय किया, वह उसे इतिहास में अमर कर देगा। इन महानुभावों को यह खूब मालूम है कि गवर्नमेंट उनकी रत्ती-भर भी परवाह नहीं करती और उनकी सिफ़ारिश या विरोध को समान उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। ऐसी हालत में हम नहीं समझते इस प्रस्ताव पर उन महानुभावों ने अपनी देश-द्रोह पूर्ण मनोवृत्ति का तांडव-नृत्य दिखाकर अपना या देश का कौन-सा उपकार कर दिया। क्या वे चुप न रह सकते थे? कम से कम उनका परदा तो ढका रह जाता। उस प्रस्ताव का इन हज़रात ने ऐसा घोर विरोध किया कि उस पर राय लेने की नौबत भी नहीं आयी। सरकारी मेम्बरों की नीति तो हमारी समझ में आती है। सरकार असहयोग को घातक समझती है और उसके नौकर उसके हुक्म की तामील करने पर मजबूर हैं। लेकिन जो लोग राष्ट्र-द्वारा चुनकर भेजे गये हैं, जिनसे आशा की जाती है कि वे जो कुछ करेंगे राष्ट्र के प्रतिनिधि की हैसियत से करेंगे, जो राष्ट्र के हितों के पहरेदार समझे जाते हैं, जो राष्ट्रीय सम्मान के रक्षक हैं, वे एक ऐसे राष्ट्रीय प्रस्ताव का विरोध करें, यह लज्जास्पद है। क्या सरकार को उन्होंने इतना कमजोर समझ लिया है कि अगर इस वक्त दौड़कर उसे सँभाल न लेते तो वह बालू की भीत की तरह गिर पड़ती। ऐसा भ्रम करने का तो उन्हें कोई कारण न होना चाहिए, क्योंकि सरकार की अजेयता के उन्हें काफ़ी तजरबे हो चुके हैं। उनकी हिमायत के बग़ैर भी यह प्रस्ताव गिर जाता। और अगर न गिरता तो भी ऐसी कौन-

सी बड़ी आफ़त आ जाती थी। सरकार कैदियों को छोड़ने का वादा करके भी उन्हें बरसों जेल में डाले रह सकती है। मगर यह महानुभाव कुछ ऐसे बौखलाये कि सारी सुध-बुध भूल गये और मरी हुई लाश को पीटकर शहीदों में दाखिल हुए बगैर न रह सके। मालूम नहीं, इस मुफ्त के अपयश के वे क्यों इतने बेक़रार हो गये। इसमें कोई न कोई रहस्य है।

इसमें शक नहीं कि वर्तमान एसेम्बली के सदस्य उस वक्त एसेम्बली में आये जब काँग्रेस ने उसका बहिष्कार कर रक्खा था। अगर काँग्रेस ने अपने नुमायंदे खड़े किये होते तो इन महोदयों में से बहुत थोड़े आज एसेम्बलो में रौनक़ अफ़रोज होते। इन्हें राष्ट्र का प्रतिनिधि समझना ही हमारी गलती है। अगर काँग्रेस ने अपने उम्मेदवार खड़े किये तो इन्हें एसेम्बली के फिर दर्शन न होंगे। फिर तो उन्हें सरकार ही की कृपा-दृष्टि का भरोसा रहेगा। एसेम्बली में तो सरकार के नामज़द किये हुए मेम्बर रहेंगे ही। शायद इन भलेमानसों में से किसी की किस्मत लड़ जाय।

और क्या इन लोगों की समझ में अभी तक यह बात नहीं आयी कि कांग्रेस यदि सत्याग्रह को सामूहिक रूप से फिर जारी करना चाहे तो वह कैदियों के जेल में रहते हुए भी कर सकती है। काँग्रेस को सेवकों की कमी नहीं है और उसके दस-पाँच हज़ार भक्तों के जेल में पड़े रहने से उसके काम में कोई बाधा नहीं पहुँच सकती? मि० विजय कुमार बसु और नवाब मलिक मुहम्मद हयात खाँ ने जिन शब्दों में विरोध किया, वह किसी सरकारी मेम्बर के मुँह से ही शोभा देते। बसु महाशय ने फरमाया—मुझे विश्वास नहीं कि बन्दियों के छूटने से आनेवाले सुधारों की सफलता में बाधा न पड़ेगी। मलिक साहब का कथन भी कुछ इसी ढंग का था। सर एन० चोकसी ने फ़रमाया कि काँग्रेस अभी तक बम्बई में पिकेटिंग कर रही है और सरकार को उन्हें न छोड़ना चाहिए। होम सेक्रेटरी ने कहा कि मुल्क की आबादी को देखते हुए कैदियों की संख्या नगण्य है। सर फ़ज़्ल हुसेन ने फ़रमाया कि ऐसे प्रस्तावों से काउंसिल का समय नष्ट करने का उद्देश्य यही है कि प्रस्तावक को वोट मिल सकें। केवल सैयद हुसेन इमाम साहब ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। अन्य सज्जन या तो इस प्रस्ताव पर कुछ बोलने का साहस न रखते थे, या बोलना व्यर्थ समझा।

अब समस्या यह है, कि इस दशा में भी जब कि काउंसिलों में ऐसे कौमफ़रोशों का बहुमत है, काँग्रेस काउंसिलों का बहिष्कार करती रहेगी या उन्हें अपने कब्ज़े में लाकर ऐसे अयोग्य व्यक्तियों के लिए उनके द्वार बन्द कर देगी? यह सच है कि, राष्ट्र इस समय सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं है। व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रोग्राम किसी तरह सफल नहीं कहा जा सकता। देश और नेता थके हों या न हों, पर इस प्रोग्राम पर अब उत्साह नहीं रहा। यों त्याग और बलिदान का जनता पर प्रभाव पड़ता ही है और वह अब भी पड़ेगा, लेकिन उस प्रभाव से काम न लिया जाय, तो नतीजा यही होगा, कि

सरकार को ऐसी काउंसिलें मिलेंगी जिनसे वह मनमाने कानून बनवाती रहेगी। उसकी निरंकुशता का अन्त करने के लिए यह परमावश्यक हो गया है, कि काँग्रेस आनेवाली काउंसिलों को अपने हाथ में करने की भरपूर चेष्टा करे। जनता में सत्याग्रह के लिए चाहे उत्साह न हो, पर उसे काँग्रेस पर पूरा विश्वास है और वह खूब समझती है, कि उसके हितों की रक्षा काँग्रेस ही कर सकती है।

हमारा यह भी खयाल है, कि सत्याग्रह से जिस बात की आशा थी, वह बहुत कुछ पूरी हो चुकी है। सत्याग्रह से सरकार इतनी भयभीत हो जायगी, कि काँग्रेस के हाथों में अधिकार देकर भाग खड़ी होगी, ऐसा भ्रम तो किसी को भी न था। उसका उद्देश्य जनता में राजनैतिक जाग्रति पैदा करना था और वह उद्देश्य पूरा हो गया। आज मामूली औरतें भी स्वराज्य का अर्थ और उसे अपने देश के उद्धार का मूल समझती हैं। स्वराज्य के लिए कुर्बानी करने की भावना भी उनमें प्रबल है। इस भावना को अब कार्य-रूप में लाने की ज़रूरत है। अन्यथा जिस तरह पकी हुई खेती काट न ली जाय, तो दाने ज़मीन पर गिरकर नष्ट हो जायँगे, उसी तरह इस जागृति से काम न लिया गया, तो वह उदासीनता में परिणत हो जायगी। सरकार इस वक्त काँग्रेस को कुचलने की धुन में चाहे कितनी ही अकड़ दिखाये, पर मन में वह खूब समझती है, कि अब निरंकुश शासन के दिन विदा हो गये और भारत अब विदेशी शासन को सहन नहीं कर सकता। इस बात को वह अंग्रेज़ भी समझने लगे हैं जो हमेशा दमन का पक्ष लेते आये हैं। "स्टेट्समैन" उन अखबारों में है, जिन्हें भारत से कभी सहानुभूति नहीं रही, पर मिदनापुर के जिला हाकिम मि० बर्ज की दुष्टता-पूर्ण हत्या पर टिप्पणी करते हुए वह लिखता है—

"जब तक भारत की आर्थिक समस्याओं को भारत के हित के दृष्टि-कोण से नहीं, बल्कि मांटेग्यू नारमन या किसी दूसरे महाजन के विचारों के अनुसार देखा जायगा, जब तक यह विश्वास बना हुआ है कि नौकरी के द्वार भारतीयों के लिए बन्द हैं, और शासकों और शासितों के बीच का पुल केवल तख्ते का पुल है, जो इच्छानुसार खाईं पर से हटाया जा सकता है, जिससे सरकार जनता की वकील होने की जगह अपने को किले में स्वरक्षित रखती है, क्रान्ति यों ही गुप्त-रूप से होती रहेगी।"

हम इसके पहले भी कई बार लिख चुके हैं कि इन हत्याओं से देश का उद्धार नहीं हो सकता और जो लोग ऐसा समझते हैं वे बड़े भारी भ्रम में हैं, पर जैसा "स्टेट्समैन" ने लिखा है कि इन हत्याओं की तह में आर्थिक कठिनाइयाँ काम कर रही हैं और यह आम तौर पर खयाल किया जा रहा है कि जब तक शासन-व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन न किया जायगा, जिसमें जनता के प्रतिनिधि देश की आर्थिक दशा सुधारने में समर्थ हो सकें और शिक्षित-समाज की बढ़ती हुई बेकारी का कुछ इलाज कर सकें, ये कारण दूर न होंगे। यह अवसर ऐसा नहीं है कि काँग्रेस दूर से तमाशा

देखती रहे और इन आर्थिक समस्याओं के हल करने में प्रयत्नशील न हो। यह सच है कि गवर्नमेंट इस वक्त कुछ भी नहीं सुनना चाहती और वह कांग्रेस को कुचलकर दम लेना चाहती है। लेकिन कांग्रेस के कुचलने से क्या आर्थिक कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी? जब तक शिक्षित बेकारी बढ़ती रहेगी, असन्तोष बढ़ता रहेगा। इस वक्त देश और गवर्नमेंट के सामने सबसे बड़ी समस्या यही बेकारी है, और कांग्रेस अधिकार में आकर इस पर बड़ी हद तक विजय पा सकती है।

११ सितम्बर १९३३

एसेम्बली में भूकम्प

एसेम्बली वाले बिलकुल बच्चों की तरह काठ के घोड़े पर सवार होकर जब उचकने लगते हैं, तो समझते हैं वे सचमुच के घोड़े पर सवार हैं। वे इस खयाल से दिल में खुश होते रहते हैं कि एसेम्बली ब्रिटिश पार्लमिंट है और वे इस पार्लमिंट के सुयोग्य मेम्बर हैं, और इसलिए वहाँ पार्लमिंट की हरेक नीति की नक़ल की जानी चाहिए, चाहे उससे कोई तत्व की बात निकले या न निकले। इन महानुभावों की इस सरलता पर हँसी आती है। जब ये लोग भोजवा तेली की भाँति जो राजा भोज के सिंहासन पर बैठकर बहकने लगता था, पार्लमिंट की परम्पराओं की अन्धो नकल करने में अपनी बुद्धि की दुर्बलता दिखाने लगते हैं, बात-बात पर आर्डर-आर्डर! का गुल मचाना, बात-बात पर पार्लमिंट के हवाले देना। अभी उसी दिन एक अजीब तमाशा हुआ। मि० गयाप्रसादसिंह के "खद्दर-रक्षक बिल" पर बहस हो रही है कि यकायक लाला हरिराज स्वरूप हैट लगाये हाउस में आ जाते हैं। बस एसेम्बली में हंगामा मच जाता है। भूकम्प-सा आ जाता है। चारों तरफ़ से आर्डर-आर्डर का होहल्ला मचने लगता है, मानो अन्दर कोई साँड़ घुस आया है। लाला साहब भी यह फटकार पड़ते ही बदहवास होकर भागते हैं और सीधे लॉबी में जाकर दम लेते हैं। बड़ी मुशकिल से बेचारों की जान में जान आती है। किसी तरह प्राण बचे। रसीदावूद लगाये बले बखैर गुज़श्त। पूछिए एसेम्बली में कोई हैट लगाकर चला जाय तो इस कदर चीखने-चिल्लाने की क्या जरूरत थी। माना ब्रिटिश पार्लमिंट में कोई हैट लगाकर नहीं जाता। अंग्रेज छत के नीचे पहुँचते ही अपना हैट उतार लेता है, तो फिर यह क्या जरूरी है कि आप भी अपना हैट उतारें और अगर आप से गलती हो जाय तो क्यों ऐसा हंगामा मचाया जाय। हम घर में घुसते ही अपनी टोपी उतार कर हाथ में नहीं ले लेते। अक्सर टोपी लगाये बैठे रहते हैं। फिर एसेम्बली में क्यों हैट लगाकर जाना जुर्म समझा जाय। यह है दास मनोवृत्ति की इंतहा। हम खुश होते, अगर यह दास-मनोवृत्ति अँग्रेजी रीति-नीति की ज्यादा महत्वपूर्ण बातों की नकल

भी करती। अँग्रेज संसार पर केवल इसलिए राज नहीं कर रहे हैं कि वे छत के नीचे आते ही हैट उतार लेते हैं, या अपनी लेडियों को जरा-सा हैट उठाकर सलाम करते हैं। हम इन जरा-जरा-सी अँग्रेजी बेहूदगियों की नकल तो करते हैं, पर जो अँग्रेजों के जीवन की अच्छी बातें हैं उनकी तरफ़ से आँखें बन्द कर लेते हैं। सभ्यता बाहरी नकल में नहीं है। वह अन्दर के परिष्कार से उत्पन्न होती है। अंग्रेजों को मुँह चिढ़ाने से तो हमारी बेवकूफी ही जाहिर होती है।

११ सितम्बर १९३३

गवर्नर बम्बई की शिकायत

उस दिन गवर्नर बम्बई ने एक जलसे में स्पीच देते हुए फ़रमाया कि शहरवालों को देहातों की तरफ़ ज्यादा ध्यान देना चाहिए, क्योंकि देहातों पर ही उनकी हस्ती क़ायम है। आपने यह भी फ़रमाया कि अब तक देहातों में जो कुछ हुआ है, सरकारी कर्मचारियों द्वारा ही हुआ है। शहर के धनियों ने सरकार का हाथ नहीं बटाया और न नेताओं ही ने सरकार की मदद की। सरकारी कर्मचारियों का हमें जो अनुभव है, वह तो बहुत उत्साहजनक नहीं है। सरकारी कर्मचारी देहात में शिकार खेलने, ग़रीबों से बेगार लेने, उनसे घी, दूध, मछली, गोश्त मुफ्त में लेने जाता है, और बहुधा वह गाँवों को तबाह कर देता है। अफ़सरों के दौरे की खबर पाते ही देहातियों के प्राण सूख जाते हैं। बेचारे अपने पुआल और गाय और बकरियाँ छिपाने लगते हैं। अकसर देहातों में हाकिमों का ख़र्च अदा करने के लिए बड़े-बड़े चन्दे किये जाते हैं। हाकिम जिला हो या तहसीलदार या शिक्षा का इंसपेक्टर या हेल्थ अफ़सर, देहातों में सभी अफ़सर बन जाते हैं और सभी देहातियों पर रोब जमाते हैं। बाजार में घी का भाव सेर भर का हो, मगर दौरे पर अफ़सर दो सेर का घी लेगा। हरेक चीज़ वह आधे दामों पर लेना अपना अधिकार समझता है, क्योंकि वह अफ़सर है। आधा दाम भी वह देते हैं जो बड़े नेकनाम हैं। अधिकतर तो सारी चीज़ें मुफ्त ही में ले लेते हैं। इसके सिवा तो हमने सरकार के द्वारा देहातों का कोई हित होते नहीं देखा। देहातों की सड़कों की, मदरसों की, चौपालों की, जानवरों की कौन ख़बर लेता है? वह फ़सली बीमारियों में मक्खियों की तरह मरते हैं, कौन उन्हें दवा देता है? जो सरकार अपनी कुल आमदनी का आधा फ़ौज पर ख़र्च करती है, उसके पास देहातों के सुधार के लिये धन कहाँ है? जो कुछ होता भी है, वह सरकारी ढंग से होता है और प्रजा उसे खुशी से स्वीकार नहीं करती। सरकार जब अपने को देश का सेवक नहीं, स्वामी समझती है, और उस पर तलवार के जोर से शासन करती है, तो उसके कर्मचारी

भला क्यों न अपने को प्रजा का शासक समझें। रहे, हमारे नेता। हमारा खयाल है, कि सरकार ने नेताओं को कभी किसी तरह का प्रोत्साहन नहीं दिया, उलटे उनके मार्ग में रोड़े अटकाये हैं। देहातों की जागृति का अर्थ है जमींदार और हुक्काम के प्रभाव का कम होना। इसे न सरकार सहन कर सकती है, और न कर्मचारी। जागृति और लतखोरी में परस्पर विरोध है। किसान लगान दिये जायँ, हुक्काम की जबरदस्तियाँ सहे जाय, यही सरकार का इच्छा है। यही हो रहा है। इस पर किसी का शिकायत करना हठ-धर्मी है।

१८ सितम्बर १९३३

राजकुमारों के रहने योग्य

हमें सर हेनरी हेग के ज़बानी यह सुन कर महान् सन्तोष हुआ कि अंडमान सेलुलर जेल भारत के जेलों से कहीं बढ़िया है। उसकी इमारत तो इतनी भव्य है कि सर हेनरी के शब्दों में—"वह बड़े-बड़े मर्चेंट प्रिंसों के रहने योग्य है।" शायद वहाँ कैदियों का स्वास्थ्य इसीलिए नष्ट हो जाता है कि उन गरीबों को उससे कहीं ज्यादा आराम से रक्खा जाता है, जिसके वे आदी हैं। किसी को हलवा मुरब्बे खिलाकर तो निरोग नहीं रखा जा सकता! ऐसी शानदार इमारत तो रहने को मिलती है, फिर भी हम ऐसे कृतघ्न हैं कि सरकार का एहसान नहीं मानते! क्या अच्छा हो, अगर सेलुलर जेल को अधिकारियों के लिए सैनेटोरियम बना दिया जाय और साल में एक-दो महीने के लिए उस सैनेटोरियम में रहकर वे अपना स्वास्थ्य ठीक कर लिया करें। इसी के लिए उन्हें योरोप की यात्रा करनी पड़ती है, यहाँ थोड़े ही खर्च में वही बात हासिल हो जायगी।

१८ सितम्बर १९३३

रुईवालों की भी सुनी जाय

जापान और भारत में व्यापार की बातचीत जल्द ही शुरू होनेवाली है। हमें आशा है कि रुईवालों को भी उसमें अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया जायगा। भारत में मिलों से जितने आदमियों की जीविका चलती है, उससे कहीं ज्यादा रुई की खेती से अपना निर्वाह करते हैं। शक्कर और रुई के सिवा किसानों के पास धनोपार्जन की कोई फसल नहीं रही। गेहूँ, तेलहन, सन, पटसन आदि के लिए कहीं बाज़ार नहीं रहा। उन दो में से रुई का बाज़ार भी निकला जा रहा है। जापान का कपड़ा रोक

दिया गया, तो वह यहाँ की रुई भी ज़रूर रोक देगा। पिछली बार इस विषय पर एक प्रश्न का उत्तर देते हुए सरकार की ओर से कहा गया था कि जब से जापान ने भारतीय रुई बन्द करने की धमकी दी है, उसने बहुत ज्यादा रुई मँगवायी है। लेकिन बाद को यह ज्ञात हुआ कि यह आर्डर पहले के थे, और वास्तव में जापान अपनी धमकी को अमल में ला रहा है। लंकाशायर जापान की जगह नहीं ले सकता, क्योंकि छोटे रेशे की रुई की उसके यहाँ खपत नहीं है। जापान के सिवा उसका कोई खरीदार नहीं है। जब तक हमारे मिल मालिक इस बात का जिम्मा न लें कि वे भारत की सारी रुई खरीदेंगे तब तक उन्हें किसी प्रकार का संरक्षण न मिलना चाहिए।

१८ सितम्बर १९३३

जापान-भारत संवाद

जापान-भारत संवाद के समाचारों से अभी तक यही मालूम हुआ कि जापानी डेपुटेशन खूब अच्छी तरह तैयार होकर आया है, पर भारत अभी बिलकुल तैयार नहीं है। जब जापान भारत से सालाना ३० करोड़ रुपये की रुई खरीदता है, तो प्रश्न यह उठता है कि जापान ने भारत की रुई का बहिष्कार कर दिया तो रुई पैदा करनेवाले किसानों को ३० करोड़ रुपये कौन देगा? यह कहना कि जापान केवल धमकी दे रहा है और उसका भारत की रुई के बग़ैर काम नहीं चल सकता, जनता को धोखा देना है। जब भारत के कपड़े का बाज़ार जापान के लिए बन्द हो जायगा, तो वह इतनी रुई लेकर करेगा क्या! उसे रुई की माँग इसीलिए तो है कि भारत में उसके कपड़े की खपत है। कपड़े की माँग कम होते ही रुई की माँग आप ही आप कम हो जायगी। कुछ वर्ष पहले तो जापान का यहाँ कुल १० करोड़ का कपड़ा बिकता था, हालाँकि रुई वह ३० करोड़ की खरीदता था। पिछले तीन वर्षों में जापानी कपड़े की खपत यहाँ बढ़ गयी है, फिर भी ३० करोड़ का जापानी कपड़ा किसी तरह नहीं बिकता। बाहरी कपड़े की खपत इस वक़्त ४०-४५ करोड़ से अधिक नहीं है। उसमें आधा से ज्यादा अभी तक इंग्लैंड का कपड़ा है। हमें तो यही मालूम होता है कि जापानी कपड़ों को बाहर निकाल कर भारत अपने किसानों और कपड़ों के गाहकों दोनों ही के साथ अन्याय करेगा। अब कोई यह नहीं कह सकता कि जापानी कपड़ा जापानी सरकार की मदद से इतना सस्ता बिकता है। उसके सस्तेपन का रहस्य उसके मज़दूरों की निपुणता और कारखानों के सुप्रबंध पर है। क्यों भारत में अच्छे कारीगर जमा करने की चेष्टा नहीं की जाती और क्यों प्रबंध किफ़ायत से नहीं किया जाता, और उनकी अयोग्यता का तावान जनता से क्यों लिया जाता है?

हम यह नहीं कहते कि जापानी कपड़ा बेरोक-टोक भारत में आवे। कुछ प्रतिबन्ध होना आवश्यक है। इसमें हमें कोई खराबी नहीं मालूम होती कि जापान जितने की रुई खरीदे, अगर ज्यादा नहीं तो उसके आधे रुपये के कपड़े तो यहाँ बेच सके। मिलवालों को भी सोचना चाहिए कि जब किसानों के पास रुपये ही न होंगे तो उनके कपड़े कौन खरीदेगा।

२ अक्टूबर १९३३

ब्रिटेन के लिए असह्य

कई दिन हुए ब्रिटेन की उस पार्टी ने जो भारत को हमेशा अपने अधिकार में रखने की इच्छुक है, कई पेंशनर जनरलों की एक संयुक्त चिट्ठी छापी थी, जिसका आशय था कि ब्रिटेन अपनी सैनिक शक्ति से भारत पर शासन किये जा सकता है। एक दूसरे अंग्रेज जनरल ने जिसका नाम सर डब्लू मियार्न हेनेकर है उन जेनरलों का जवाब देते हुए कहा कि यह सत्य है कि हम भारत पर सैनिक शासन कर सकते हैं, लेकिन इसका बोझ इतना अधिक होगा कि ब्रिटेन उसे सँभाल न सकेगा। आप आगे कहते हैं—

"कोई व्यवस्था भारत में विद्वेष पैदा करने के लिए इससे अच्छी नहीं सोची जा सकती कि भारत को पशुबल से अपने अधीन रखा जाय। भारतीय सेना के क्रमशः भारतीयकरण का समर्थन प्रायः हरेक जी० ओ० सी० ने किया है।" लेकिन इस वक्त मि० चर्चिल के सामने किसकी चल सकती है।

२ अक्टूबर १९३३

पिछली मर्दुमशुमारी

भारत सरकार ने १९३१ में जो मनुष्य-गणना करायी थी, उसकी पूरी सच्चाई यानी उसके एकदम ठीक होने के विषय में बहुतों को तीव्र सन्देह है—और इस सन्देह के कई कारण हैं। काँग्रेस का सत्याग्रह आन्दोलन बहुत जोरों पर था। हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या काँग्रेस-सेवा में संलग्न थी। ऐसे अवसर पर उन्होंने मर्दुमशुमारी का बहिष्कार किया। बहिष्कार उचित था या अनुचित, इसका प्रश्न नहीं है पर यह सत्य है कि गणना करनेवाले अपने मन से ही गिनती लिख कर चल देते थे। बहुतों को पता भी न चला और गिनती हो गयी। मुसलमानों ने बहिष्कार का उलटा किया और अपनी संख्या अच्छी तरह लिखायी। वे जानते थे कि मताधिकार का प्रश्न आ

रहा है। इसलिए गणना अधिक लिखानी ही चाहिए। इसलिए १६३१ की गणना के अनुसार हिन्दू-मुसलमान अनुपात का वास्तविक अनुमान नहीं किया जा सकता।

फिर भी, गणना में सरकार की ओर से काफी परिश्रम किया गया है। जनता के सहयोग के अभाव में धाँधली भी हुई, पर उसका विशेष बुरा फल न हुआ। यह अवश्य हुआ कि शारदा बिल के पंजे में फँसने से बचने के लिए १४ वर्ष के नीचे की विवाहिता कन्याओं को भी कुमारी लिखाया गया, अतएव विवाहितों की ठीक संख्या ज्ञात न हो सकी।

पर, जो रिपोर्ट अभी हाल में प्रकाशित हुई है, उससे बहुत-सी बहुत रोचक बातें मालूम हुई हैं। सबसे रोचक बात तो यह है कि आबादी की दृष्टि से भारत संसार भर में सबसे आगे है। यहाँ के निवासियों की संख्या चीन से भी अधिक हो गयी है। अकाल, बाढ़, महामारी सब का कोप होते हुए भी चीन के भीषण नर-संहार के कारण भारत, चीन के भी आगे बढ़ आया है। क्षेत्रफल में बंगाल भारत का नवाँ प्रान्त है, पर आबादी में सबसे अधिक और समूचे ब्रिटिश भारत की आबादी का १/६ अंश यहीं रहता है।

१६२१ में भारत में शिक्षितों की संख्या २२,६२३,६५१ थी, पर, १६३१ में —ब्रिटिश शासन के दस सुनहले वर्षों में बढ़ कर केवल २८,१३१,३१५ ही हो सकी। यानी आबादी पीछे ७ प्रतिशत का औसत बढ़ कर केवल ८ प्रतिशत ही हो सका।

भारत मे नागरिकों की संख्या ३८,६८५,४२७ यानी कुल जनसंख्या का केवल ११ प्रतिशत ही है। कृषि की जीविका करनेवालों का औसत ७१ प्रतिशत है। विवाह योग्य विधवाओं की संख्या ८,३१३,७७३ है। १६३१ में पागलों की संख्या १३०,३०४, बहरों-गूंगों को २३१,८६५ अन्धों की ६०१,३७० और कोढ़ियों की १४७,६११ थी। संगठित मजदूरों की संख्या ५,०००,००० समझनी चाहिए। व्यापार में लगे हुए लोगों की संख्या घट कर ८२ लाख ही रह गयी। जन-सेना १,०४०,००० से घट कर ८४१,००० रह गयी, साम्राज्य तथा स्टेट सेना ४४०,००० से घट कर ३१७,००० हो गयी है।

अस्तु ये रोचक आँकड़े हमारी दुर्दशा तथा अभ्युदय दोनों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं और आशा है, कि पाठकों को इनसे कुछ नयी बातें मालूम होंगी।

२ अक्टूबर १६३३

ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी में पदाधिकारियों को आश्वासन

अन्य देशों में राजनैतिक व्यवस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य राष्ट्र का कल्याण और

उन्नति होती है। एक मंत्रि मंडल जाता है, दूसरा आता है। एक दल की जगह दूसरा दल अधिकार प्राप्त करता है। यह सब कुछ जनता के हित के लिए। सरकारी कर्मचारी भी जनता ही के एक भाग हैं, उनका हित-अहित भी राष्ट्र के हित-अहित के साथ बंधा होता है, लेकिन भारत में जो व्यवस्था की जाती है उसमें सबसे पहले यह देखा जाता है, इससे कर्मचारियों—खासकर अंग्रेज कर्मचारियों को कोई नुकसान तो न पहुँचेगा, क्योंकि वहाँ कर्मचारी राष्ट्र के लिए नहीं हैं बल्कि राष्ट्र कर्मचारियों के लिए है। इसलिए जबसे साइमन कमीशन भारत आया, तभी से पदाधिकारियों के मन में शंकाएँ उठ रही हैं और वे बार-बार सरकार से इस बात का आश्वासन चाहते हैं कि उनके वेतन, भत्ते, छुट्टियाँ, पेन्शन अख्तियार सब कुछ ज्यों के त्यों बने रहेंगे और इस बात को वे आनेवाली व्यवस्था में शामिल कर देना चाहते हैं और यद्यपि उनके हितों के लिए सरकार ने सुफेद काग़ज में बहुत काफ़ी बन्दिशें कर दी हैं, फिर भी ज्वाइंट सेलेक्ट कमेटी की बैठक में जो अब फिर शुरू हुई है, सर सैमुएल होर से उसी विषय पर जिरहें की गयीं, और जैसे कोई रोगी जबतक डाक्टर के मुँह से अपने अच्छे होने की बात न सुन ले, उसे सन्तोष नहीं होता, उसी तरह सैमुएल होर से अपनी इच्छित सारी बातें स्वीकार कराके पदाधिकारी हितों के रक्षकों ने खुशी की साँस ली होगी। बात तो तय थी ही, लेकिन भारतवालों को एक बार सुना देना जरूरी था और वह अभिनय कर दिखाया गया।

नौकरशाही को आनेवाली व्यवस्था से शंकाएँ हैं, यह तो स्पष्ट ही है, मगर इसका कारण इसके सिवा और क्या हो सकता है कि उन्हें इस वक्त जो रियायतें और अख्तियार और फायदे हैं उन्हें वे खुद भारत की हालत को देखते हुए सीमा से बढ़ा हुआ समझते हैं, और उन्हें भय है, कि ये मौके उनके हाथ से निकल जायँगे। वे अपने को भारत की जनता से अलग समझते हैं और उन्हें भारत के हित की उतनी परवाह नहीं है जितनी अपने फ़ायदे की। वे दिल में खूब समझते हैं कि भारत जैसे दरिद्र देश में जहाँ १०० में ५० आदमी बेकार हैं, अगर जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में कुछ भी अधिकार आया तो ये मजे न रहेंगे। जनता सबसे पहले प्रबन्ध के खर्च में किफायत करेगी इसलिए वे हमेशा के लिए अपना रास्ता साफ कर लेना चाहते हैं और आनेवाली व्यवस्था को ऐसा जकड़ देना चाहते हैं कि वह उनकी ओर तिरछी आँखों देख भी न सके। हम नहीं समझते, जिस व्यवस्था में पदाधिकारियों पर मन्त्रियों और जनता के प्रतिनिधियों का कोई दबाव न रहेगा, वह व्यवस्था किस विचित्र ढंग की होगी। कैसी दशा में उस व्यवस्था को ऐसी मँहगी सर्विस के रहते हुए, निर्माण के कामों के लिए जनता पर नये कर लगाने पड़ेंगे और जनता में कर देने की जो शक्ति है, वह पहले ही खत्म हो चुकी है, इसलिए नयी व्यवस्था को अपना-सा मुँह लेकर रह जाने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं रह जाता। जनता प्रबन्ध में कोई किफ़ायत नहीं कर

सकती, नौकरों को जो अख्तियारात मिल गये हैं उनमें किसी तरह की कमी नहीं की जा सकती। ऐसी व्यवस्था उस आदमी की-सी होगी, जिसके हाथ पाँव बाँध कर कहा जाय कि अब दौड़ो। वह ग़रीब हिल तो सकता ही नहीं, दौड़ेगा कहाँ से। फ़ौज के खर्च में कमी की कल्पना ही नहीं की जा सकती, प्रबंध के खर्च में कमी हो ही नहीं सकती, फिर जनता पर कर-भार कैसे हलका हो सकता है। उसका उपाय एक यही रह जायगा कि जो कुछ जैसे चलता है, वैसे ही चलता रहे और मंत्री और काउंसिलों के मेम्बर काउंसिल भवन में ब्रिज खेलकर अपना मनोविनोद किया करें। ऐसी व्यवस्था के लिए इतना तूमार क्यों बाँधा जा रहा है। जब उससे हमारी दशा में कोई उन्नति होने की आशा नहीं, तो जो इंतज़ाम चल रहा है वही क्या बुरा है। करोड़ों का खर्च और बढ़ाकर बदले में कुछ न पाना, यह तो बड़ा कठोर दंड है।

९ अक्टूबर १९३३

मि० लांसबरी का बाल-बहलावन

मि० लांसबरी ने भारत के नाम एक पैगाम भेजकर कहा है कि लेबरपार्टी बहुत जल्द अधिकार पानेवाली है। उस वक्त वह भारत को तुरन्त पूर्ण स्वराज्य प्रदान कर देगी, कि चाहे वह साम्राज्य का प्रमुख अंग बनकर रहे या बिलकुल स्वतंत्र हो जाय। मि० लांसबरी लेबर पार्टी के प्रमुख नेता हैं और कोई वजह नहीं कि हम उन पर विश्वास न करें। अब तक हमें मजदूर-दल का जो कुछ अनुभव हुआ है वह तो इस वादे पर विश्वास करने में बाधक है, पर हो सकता है कि जिस आदमी ने एक दो बार अपने वादे न पूरे किये हों, वह तीसरी बार पूरा करे। अविश्वास करके हम अपने हमदर्दों की हमदर्दी नहीं खो देना चाहते। सब कुछ मजदूरदल के बहुमत पर है। अगर फिर मज़दूर दल को वैसा ही बहुमत मिला जैसा पिछले अवसरों पर मिल चुका है, तो मि० लांसबरी सदिच्छा रखते हुए भी कंजरवेटिव दल के सामने सिर झुकाने के लिए मजबूर हो जायँगे। हाँ, अगर मज़दूर दल को शुद्ध बहुमत मिला, तो हमें आशा है वह अपने राज-नैतिक न्याय-नीति का परिचय देने में समर्थ हो सकेंगे। कम से कम मजदूरदलवाले मीठे वादों से दिल तो खुश कर देते हैं। कंजरवेटिव तो जबान से भी ज़हर ही उगलते हैं। गरीब को तसल्ली के दो शब्द भी बहुत हैं। मीठी बातें करके आप हमारा गला भी काट सकते हैं, आँखें दिखाकर और घुड़कियाँ जमाकर आप हमारे समीप नहीं आ सकते। यह मानना पड़ेगा कि मेकियावेलियन नीति में लेबर-दलवाले कंजरवेटिव दल को अभी कुछ दिनों पढ़ा सकते हैं। मि० रैमजे मैकडोनल्ड को ही देख लीजिए। मज़दूर-दल का कहाँ शुमार नहीं है, पर आप बर्तानियाँ-साम्राज्य के प्रधान सचिव बने हुए हैं।

मि० बाल्डविन और लायड जार्ज तो क्या, मि० चर्चिल भी इतनी सफ़ाई से चोला न बदल सकते। इस विषय में लेबर पार्टी के सामने कोई दूसरी पार्टी नहीं ठहर सकती।

९ अक्टूबर १९३३

काँग्रेस के बेकार वालंटियर

हमें यह देखकर दुःख होता है कि काँग्रेस के कितने ही नवयुवक आजकल बेकारी में मारे-मारे फिर रहे हैं और कहीं आश्रय नहीं पाते। जिस बात को उन्होंने सत्य समझा उसके लिए सब तरह के कष्ट झेले। अब उनके पास न खाने को पैसे हैं, न पहनने को कपड़े। कितने ही तो पैसे-पैसे को मुहताज हैं। तीन-चार साल से काँग्रेस की सेवा ही उनके जीवन का काम हो गया था। खेद है कि जनता उनकी ओर से बिलकुल उदासीन हो रही है। उनमें कितने ही किसी प्रकार का काम चाहते हैं जिससे वे रोटियाँ कमा सकें, दूसरों के भार न बनें, पर कहाँ काम मिलता। यदि हमारे नेता उद्योग करें तो इन ग़रीबों के लिए कोई काम निकाला जा सकता है, पर आजकल जो शिथिलता छा गयी है, उसने हमें इतना निरुत्साह कर दिया है कि शायद हमें अपने ऊपर भरोसा ही नहीं रहा। जिन लोगों ने तालियाँ बजा-बजाकर और फूलों के हार पहना-पहना कर इन युवकों को जेल भेजा था, आज वे इनके गुज़ारे का कोई प्रबन्ध नहीं कर सकते? जिनके माँ-बाप हैं, या जिनके घरवाले उनका स्वागत करने को तैयार हैं, उनसे तो कोई मतलब नहीं, लेकिन जिन्होंने काँग्रेस के लिए अपना काम-धंधा छोड़ दिया, अकसर घरवालों से बिगड़ बैठे, उनके लिए अब कहाँ आश्रय है।

९ अक्टूबर १९३३

शिमले में तिगड्डम

जापान और लंकाशायर के प्रतिनिधियों को भारत में आये कई दिन हो गये। एक सप्ताह से तो वे शिमले में ही पड़े हुए हैं, पर अभी तक दोनों पैंतरे बदल रहे हैं। और भारत के मिल-मालिक एक दूसरे को आँखें फाड़-फाड़ देख रहे हैं कि यह तमाशे कब तक होते रहेंगे। इतनी-इतनी दूर से आये हो, तो चटपट अखाड़े में उतरो, हाथ मिलाओ और गुथ जाओ, फिर कभी जापान ऊपर आवे और ब्रिटेन के पुराने पट्ठे को घस्से दे और कभी इंग्लैंड ऊपर आकर जापान को जुजुत्स के हाथ दिखाये। घड़ी-आध घड़ी में किसी न किसी की कुश्ती हो ही जायगी। मगर यहाँ तो अभी तक पैंतरेबाजियाँ

हो रही हैं। दोनों एक दूसरे के डंड-बल्ले देख-देखकर सहम रहे हैं और सामने नहीं आते। हमारे मिल ओनर, इनकी रूह निकली जा रही है कि इनमें जो जीता उसी से उनका फाइनल होगा। जापान जीता, तो खैर सौ दो सौ फी सदी कर बढ़ाकर उसके माल को रोक देंगे, लेकिन कहीं बर्तानी पहलवान जीत गया, तो भारत के नौसिखुए रंगरूट की खैरियत नहीं। अभी तो जापानी नीतिज्ञों ने समाचार पत्रों को दावतें खिलायी और उनसे खूब याराना गाँठा। अब ब्रिटेन भी उनको दावतें खिला रहा है और याराना गाँठ रहा है। इंग्लैंड का पक्ष मजबूत है। उसने ऐसे-ऐसे हजारों दंगल देखे हैं, और इसकी कोई हकीकत नहीं समझता। सर क्लेयरी साहब ने समाचार पत्रवालों को दावत के समय बड़े मारके की बात बतलायी। आपने फरमाया, तुम इसकी चिन्ता मत करो कि भारत की रुई कौन खरीदेगा। जापान भारत की रुई इसलिए नहीं लेता कि उसे भारत से कोई प्रेम है, बल्कि केवल इसलिए कि उसे सस्ती रुई और कहीं मिलती नहीं। वह अपने सुभीते को देखकर ही यहाँ की रुई खरीदता है। उसके कपड़े पर कर बढ़ा दिया जायगा, फिर भी वह भारत की रुई लेता रहेगा। और उसका शुभीता न हुआ तो चाहे भारत उसका कितना ही कपड़ा क्यों न ले, वह दूसरी जगह रुई खरीदेगा। रहा इंग्लैंड, वह भारत की ज़्यादा रुई ख़र्च करने का विचार कर रहा है, मगर सर क्लेयरी महोदय यह आशा नहीं दे सके कि आखिर भारतीय रुई का कौन-सा भाग लंकाशायर खरीदेगा। जापान तो भारत की ३० करोड़ की रुई लेता है। लंकाशायर लेता है तीस करोड़ की रुई ? ३० न सही २५ सही ? नहीं। लंकाशायर भारत की कुल रुई का पाँचवाँ भाग खरीदता है। तो भारत के किसानों से अगर पूछा जाय तो वे जापान को नाराज़ न करेंगे। वह बंबई और नागपुरवालों के लाभ के लिए अपने को तबाह नहीं करना चाहते, मगर उन गरीबों की सुनता कौन है। उनकी पहुँच भी वहाँ कहाँ। होगा यही कि महीने भर की बैताबहस और अन्ताक्षरी के बाद जापान पर ७५ फीसदी कर लग जायगा, वह अपनी रोनी सूरत लिये उधर जायगा, इधर इंग्लैंड मूछों पर ताव देता हुआ अपना खोया हुआ व्यापार वापस ले लेगा और हमारे मिल वाले आराम तलब सेठजी अपने भरे हुए गोदामों को देख-देख कर किस्मत ठोकेंगे।

९ अक्टूबर १९३३

काँग्रेस और सोशलिज्म

अंग्रेजी ही नहीं, भाषाओं के पत्रों में भी इस पर बड़ा ज़ोर दिया जा रहा है कि महात्मा गाँधी और पंडित जवाहरलाल नेहरू के राजनैतिक आदर्शों में बड़ा अन्तर है, दोनों ही महानुभावों की नीति अलग है, मनोभाव अलग हैं, आदि। बिलकुल ठीक, लेकिन यह आज से नहीं, उसी वक्त से है, जब से दोनों वीरों ने कर्मक्षेत्र में कदम

रक्खा । महात्मा जी महात्मा हैं, जवाहरलाल महात्मा नहीं, हम और आप जैसे मनुष्य हैं । अहिंसा पं० जवाहरलाल के लिए और महात्मा जी के सिवा सम्पूर्ण भारत के लिए केवल एक नीति है, धर्म नहीं, विश्वास नहीं, हमारा ख्याल है कि यह खुला हुआ भेद है । रहा सोशलिज्म, वह तो महात्मा जी और पं० जवाहरलाल में केवल मात्रा का भेद है । महात्मा जी तो सोशलिज्म से भी आगे बढ़े हुए हैं, कम्यूनिज़्म से भी । वह अपरिग्रहवादी हैं । पंडित जी सोशलिस्ट हैं और उनके साथ काँग्रेस का बहुत बड़ा भाग सोशलिस्ट है । काँग्रेस में ज़मींदार भी हैं, राजे भी हैं, पर मज़दूर पार्टी में क्या लार्ड और सर नहीं हैं ? यह तो केवल मनोवृत्ति की बात है । एक आदमी फ़ाकेमस्त होकर भी पूँजीवादी हो सकता है, दूसरा करोड़पति भी होकर साम्यवादी हो सकता है । इस बीसवीं सदी में लार्ड और अर्ल केलव कंजरवेटिव ब्रिटेन में ही हो सकते हैं । दुनिया के शेष भागों में इन खिताबों और पदवियों को ठुकरा दिया है । कंज़रवेटिज़्म के लिए दुनिया में अब कहीं स्थान नहीं है । बीसवीं सदी सोशलिज़्म की सदी है जो सम्भव है आगे चलकर कम्युनिज़्म का रूप धारण कर ले । भारत जैसे देश में जहाँ आबादी का बड़ा हिस्सा ग़रीबों का है, जिनमें पढ़े-अनपढ़े सब तरह के मजूर हैं, सोशलिज़्म के सिवा उनका आदर्श हो ही क्या सकता है । अगर आज काँग्रेस पार्टी का रेफरेन्डम हो तो हमारा खयाल है, बहुमत सोशलिज़्म का होगा, पर उसके एक ही दो कदम पीछे कम्युनिज़्म भी नज़र आयेगा । ऐसी संस्था महज़ इस शंका से, कि मुट्ठी भर जमींदारों का सहयोग उसके साथ से जाता रहेगा अपने आदर्शों का त्याग नहीं कर सकती । अगर इसके लिए वर्गवाद की विपत्ति आये, और जो लोग भूमि और धन पर कब्जा किये बैठे हैं, वे अनन्तकाल तक उसे भोगने की इच्छा रखें, तो संघर्ष होना लाज़िम ही है । काँग्रेस सम्पत्तिधारियों से ख्वामख्वाह झगड़ा करने की इच्छुक नहीं । उसका बहुत बड़ा बहुमत अभी तक महात्मा गाँधी के साथ हृदय-परिवर्तन का समर्थक है, रक्तमय क्रान्ति का नहीं । काँग्रेस ने इस नीति को कभी गुप्त नहीं रखा । उसकी अपनी रचित व्यवस्था में बड़े से बड़े पदाधिकारी के लिए केवल ५०० रुपया वेतन रखना ही बतला रहा है कि उसकी आर्थिक और सामाजिक नीति क्या है । पं० जवाहरलाल सोशलिस्ट हैं, जैसे प्राय: सभी काँग्रेसमैन हैं, व्यवहार से हों या न हों, पर विचार से अवश्य हैं और सोशलिस्ट जायदादवालों का दोस्त नहीं होता, चाहे दुश्मन न हो ।

९ अक्टूबर १९३३

काँग्रेस का नया प्रोग्राम

यह तो जाहिर ही है कि काँग्रेस-कैम्प में इस वक्त दो बड़े-बड़े दल हैं, एक वह

जो वर्तमान नीति से निराश होकर कौंसिलों में जाना चाहता है और गवर्नमेंट को उस किले में भी शान्ति से नहीं बैठने देना चाहता, दूसरा वह है जो कहता है कि जिस वक्त हमने सत्याग्रह शुरू किया उस वक्त परिस्थिति इससे कहीं अच्छी थी, न इतने सख्त कानून थे, न इतना कठोर बन्धन, उस समय जब हमने सरकार का विरोध करना आवश्यक समझा, तो आज जब परिस्थिति उससे कहीं खराब हो गयी है, हमारे लिए कांग्रेस में जाने का सवाल ही नहीं पैदा होता।

लेकिन सवाल यह है कि कांग्रेस कांउन्सिल में न जाकर किस तरह अपना संग्राम जारी रख सकेगी, किस तरह गवर्नमेंट पर दबाव डाल सकेगी।

अगर महात्मा गाँधी की भाँति सभी कांग्रेसमैन या कम से कम उसके नेता ही सच्चे सत्याग्रही होते और मन में बिना हिंसा या प्रतिकार का भाव आये, शत्रु से प्रेम करते हुए उसकी नीति का विरोध कर सकते, तो उसकी अवश्य विजय होती, क्योंकि गवर्नमेंट के अधिकारियों पर उनकी तपस्या का असर पड़ता और आत्माहीन गवर्नमेंट में भी कहीं न कहीं से चेतना उत्पन्न हो जाती, पर कांग्रेसमैन मनुष्य हैं, तपस्वी नहीं और उनकी अहिंसा अपनी असमर्थता के ज्ञान से पैदा हुई है। इसलिए उसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है।

अब तो फैसला सम्पूर्णतः भौतिक क्षेत्र में होगा। अगर हम कोई ऐसी व्यवस्था निकाल सकें जिससे नौकरशाही को ठेस लगे, तो हमारी विजय है अन्यथा रस्सा खींचने वालों की भाँति जहाँ हारनेवाला लक्ष्य से दूर होता जाता है, हम भी लक्ष्य से दूर होते जायँगे।

कपड़ों के पिकेटिंग का अब कोई असर नहीं हो सकता, क्योंकि विलायती कपड़े बेचनेवालों ने अपना एक अलग बाजार बना लिया है, जिस पर कांग्रेस के आदेशों का कोई असर नहीं हो सकता। इसका नतीजा इसके सिवा कुछ नहीं है कि हम अपने छोटे-छोटे बजाजों को तबाह कर दें। तबाह तो वह पहले ही हो चुके हैं। जो कुछ कसर है वह भी पूरी कर दें। और कांग्रेस यह अस्त्र उठाये ही किस लिए? केवल इस देश के मिल मालिकों के भोग विलास के लिए, जो दूसरे मुल्कों के सस्ते कपड़े को रोककर अपना कपड़ा मँहगे दामों बेचकर प्रजा को लूटते हैं और मज़े उड़ाते हैं? उन्हें इस बात की बिलकुल परवाह नहीं है कि यहाँ सस्ता कपड़ा कैसे बने? कैसे होशियार कारीगर बनाये जाँय? कैसे कारीगरों को इतना प्रसन्न रखा जाय कि वे दिल तोड़कर काम करें? कैसे दलालों और एजेंटों पर खर्च में कमी की जाय? उनकी बला इतना सिर-मगजन करे। सरकार उन्हें संरक्षण देने पर तैयार है, उन्हें कष्ट उठाने की कोई जरूरत नहीं। ऐसे पूंजीपतियों के हित के लिए अपने असंख्य वालंटियरों को जेल भेजना शायद अब कांग्रेस भी पसन्द न करे। यह उसके डिमाक्रेटिक सिद्धान्तों के

खिलाफ होगा। हम पूँजीपतियों का स्वराज्य नहीं चाहते। गरीबों का, काश्तकारों का, मज़दूरों का स्वराज्य चाहते हैं। पिकेटिंग से वह बात सिद्ध नहीं होती। सरकारी नौकरियाँ हम छोड़ना नहीं चाहते। हमारे काँग्रेसी नेताओं के ही भाई-बन्द, चचा-ताऊ, बेटे, भतीजे सरकारी नौकर हैं और बहुधा उनके बाल-बच्चों का पालन कर रहे हैं। नहीं, सरकारी नौकरी हमें प्राणों से प्यारी है, उसके छोड़ने का सवाल नहीं उठ सकता। इस १३ साल के सत्याग्रह-आन्दोलन में मुश्किल से दस-बीस आदमियों ने नौकरियाँ छोड़ी होंगी। तो अब क्या बाकी रहा? लगानबन्दी, करबन्दी, बेशक, लेकिन इस मामले में सरकार काँग्रेसवालों को उसी तरह कोई अवसर नहीं देना, चाहती, जैसे पृथकतावादी मुसलमानों को काँग्रेस के ३० प्रतिशत के मुकाबले में सरकार ने ३३ प्रतिशत एसेम्बली की जगहें देकर काँग्रेस को निरुत्तर कर दिया। काँग्रेस किसानों का लगान आधा कर देना चाहती है। सरकार ने दो आने से लेकर आठ आने तक की छूट दे दी है, और सम्भव है काँग्रेस की सबसे बड़ी तोप का मुँह बन्द कर देने के लिए आठ आने तक की छूट दे दे और आमदनी की कसर रेल और डाक और आमदनी और अदालत और आयात निर्यात आदि करों से पूरा करे। और पढ़े-लिखों को दफ्तरों से निकाल कर बेकारी और भी बढ़ा दे। नमक का ड्रामा खेला जा चुका और उसे सरकार की बेवकूफी से जो सफलता मिल गयी, उसकी अब आशा नहीं की जा सकती। तो हम नहीं समझते काँग्रेस के पास सरकार को झुकाने का और क्या साधन है।

आदर्शवादी और राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा करनेवाला दल यह तर्क सुनकर अपनी अपंगुता तो स्वीकार कर लेता है, लेकिन उसका एक ही प्रश्न इन सारे तर्कों को भीगे हुए बारूद की तरह बेकार कर देता है। भाई साहब, आप यह सब सत्य कहते हैं और वास्तव में दशा कुछ वैसी ही है जैसी आपने दर्सायी, लेकिन क्या आप ख्याल करते हैं, हमें काउंसिल में घुसने दिया जायगा। आज हम देहातों में अपना प्रोपगेंडा करने के लिए जाय, तो क्या हमारे काम में बाधा न डाली जायगी? क्या पुलीस और मैजिस्ट्रेटों द्वारा हमारी जबान बन्द न कर दी जायगी? क्या आपको याद नहीं कि दो एक काँग्रेस मैनों के इस नये मत परिवर्तन पर इंग्लैंड के एक पत्र ने अपनी घबड़ाहट प्रकट करते हुए लिखा था, कि अब जमींदारों और लिबरलों को सचेत हो जाना चाहिए, क्योंकि काँग्रेसमैन काउंसिल में आने के मनसूबे बाँध रहे हैं। क्या आप समझते हैं, सरकार चाहती है, काँग्रेस नये कौंसिलों में आये? किसी तरह नहीं। वह बराबर यही कोशिश कर रही है कि काँग्रेस को हर मुमकिन सूरत से काउंसिलों में न घुसने दिया जाय। तो जब यह मालूम है कि काँग्रेसवालों के काउंसिलों में आने की कोई सम्भावना नहीं, तो व्यर्थ में क्यों खड़े होकर अपनो आबरू गँवाएँ। बाहर रहने में कम से कम आत्म-प्रतिष्ठा तो है, अपनी आन पर मर मिटने का गौरव तो है, राजपूतों के ऐतिहासिक जुहार की

नामवरी तो है ! काउंसिल के लिए खड़े होकर उसके अन्दर घुसने न पाना तो लज्जास्पद है ।

सरकार के मन की बात तो सरकार जाने, लेकिन काँग्रेसमैनों को यह शंका अवश्य है और हमारा खयाल है कि किसी हद तक ठीक भी है । ऐसी दशा में असहयोग क्या कहता है—कौंसिलों में जाने के लिए ज़ोर लगाना जो सरकार नहीं चाहती, या कौंसिलों से अलग रहना, जो सरकार चाहती है, उसका फैसला हमारे नेताओं पर है ।

अगर कौंसिलों के बाहर रहकर काँग्रेस कोई काम कर सके तो क्या कहना, लेकिन काँग्रेस में समाज में काम करनेवाली भावना मौजूद नहीं, क्योंकि वहाँ उन पुरस्कारों में एक भी नहीं है जो राजनैतिक क्षेत्रवालों को मिलते हैं, चाहे वह क्षणिक ही क्यों न हों । सिपाहियों और सरदारों की जरूरत नहीं, मिशनरियों की जरूरत है और मिशनरी भी वैसी नहीं जैसी हमारे साधु-संन्यासी हैं, बल्कि वह मिशनरी जो मुट्ठी भर चने पर दिन काट सकती है ।

आज प्रान्त के काँग्रेस-नेता प्रयाग में बैठे हुए इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं । हमें आशा है कि वे राष्ट्र के सामने कोई व्यवस्था रखने में सफल हो सकेंगे ।

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय ने भी अपने वक्तव्य में आल इंडिया काँग्रेस-कमेटी के बुलाये जाने का प्रस्ताव किया है और उनके लिए एक व्यवस्था भी तैयार कर ली है । हमें आशा है, राष्ट्र के सामने काँग्रेस की भावी नीति जल्द से जल्द रखने की चेष्टा की जायगी । मगर यह दुर्भाग्य की बात होगी, अगर काँग्रेस में दो दल हो गये । बहुमत के आगे हरेक को सिर झुकाना पड़ेगा जिसमें काँग्रेस संयुक्त स्वर से अपनी आवाज उठा सके । मुल्क में यों ही दलों को क्या कमी है कि एक नया दल और कायम हो जायगा ।

१६ अक्टूबर १९३३

पंडित जवाहरलाल नेहरू की आर्थिक व्यवस्था

नेहरू जी की जिस व्यवस्था के विषय में लोग तरह-तरह के अनुमान कर रहे थे, उनके सन्तोष के लिए उन्होंने लीडर में एक लेख माला लिखनी शुरू कर दी है । अब उनकी आर्थिक नीति के विषय में किसी को भ्रम न रहेगा । आपकी नीति वही है जिससे भारत के गरीब से गरीब आदमी को भी दैहिक और मानसिक भोजन और समान अवसर मिले । आप पूंजीपतियों के फायदे के लिए चाहे देश के हों चाहे विदेश के, गरीबों और मजदूरों का पीसा जाना नहीं देख सकते और यही आपकी नीति है । इसके सिवा अगर कोई अर्थ-नीति है, तो वह धनवानों की, स्वार्थियों की, मोटी तोंद-

वालों की नीति है। जो नीति धनवालों को गरीबों के खून पर मोटा करती है, उसका जितनी जल्द अन्त हो जाय उतना ही अच्छा। अमीर गरीबों को चूसकर ही अमीर बनता है। समाज की व्यवस्था ही ऐसी रक्खी गयी है कि हरेक व्यक्ति संसार को अपने स्वार्थ का क्षेत्र समझता है। वह लोग जो जवाहरलाल जी की इस नीति से चौंक उठे हैं, नित्य गरीबों को कुचले जाते देखते हैं, पर उन्हे कभी यह बात नहीं खटकती। कांग्रेस इस पूंजीपतियों की नीति का समर्थन करके राष्ट्रीय संस्था नहीं बन सकती।

१६ अक्टूबर १९३३

मि० चर्चिल के मौलिक प्रस्ताव

सर सेमुएल होर का अभिनय समाप्त हो गया। अब मि० चर्चिल की बारी है। सर सेमुएल ने श्वेत पत्र के रहस्यों का उद्घाटन किया। मि० चर्चिल उस ड्रामा का रूप ही बदल देना चाहते हैं। दोनों महानुभाव इस प्रश्न पर तो एक हैं कि भारत को कैसे अनन्तकाल तक अपने वश में रखा जाय। डीटेल में अन्तर है। इन चार वर्षों में ब्रिटेन के ऊँचे-ऊँचे साम्राज्यवादियों ने जो व्यवस्था बनायी और जो उनके विचार में भारत को अधीन रखने के लिए उपयुक्त थी, उसे भी मि० चर्चिल घातक और नाशक बतला रहे हैं। आप कहते हैं कि भारत की जनता कोई परिवर्तन नहीं चाहती। यह स्वराज्य और सुधार थोड़े से आदमियों का खब्त है। उनकी जबान बन्द कर दो और फिर भारत पर अखंड राज्य करो। और अगर तुम्हें कुछ दिखावा करना ही है, तो इस तरह करो कि असली चीज़ का एक अणु भी हाथ से न जाने पावे। यही आपके बयान का तत्व है। मगर मि० चर्चिल शायद भूल जाते हैं कि यह २०वीं सदी है और संसार जिस तरफ जा रहा है, उधर ही भारत का जाना अवश्यंभावी है। चाहे आज या आज के दस साल बाद।

३० अक्टूबर १९३३

हलवाई की दूकान

प्रतिहिंसा बहुत बुरी चीज़ है, हज़रत ईसा मरते-मरते यही सिखाते रहे और उनकी शिक्षा को जैसा सर सैमुएल होर ने अपनाया, उसकी कहाँ तक बड़ाई की जाय। आप अहिंसा के अवतार हैं और भारत को आप बिलकुल गऊ बना देना चाहते हैं।

भारत इसका बहुत दिनों तक ऋणी रहेगा। भारत के मज़दूर और व्यापारी अंग्रेज़ी साम्राज्य के सभी भागों में अछूत-समझे जाँय, लात खायँ, बहुत अच्छी बात है। प्रतिकार की भावना उसमें न आनी चाहिए। साम्राज्यवाले यहाँ राजपद पर आवें या व्यापार करने आवें, भारत को उनका स्वागत करना चाहिए, उसे अपना द्वार साम्राज्य के लिए खुला रखना चाहिए। इसमें अपमान की कोई बात नहीं। लात खाना सज्जनों का काम है। यहाँ वही "हलवाई की दूकान और दादे का फ़ातिहा" वाली मसल याद आती है।

१३ नवम्बर १९३३

श्री जवाहरलाल नेहरू का व्याख्यान

श्री जवाहरलाल नेहरू पिछले सप्ताह काशी आये थे। आपके आने से काशी के राजनीतिक-क्षेत्र में बड़ा उत्साह उत्पन्न हो गया था। आप इस बार जेल से लौटने पर पहली बार ही काशी आये थे, इस कारण काशीवासियों को आपके आगमन से विशेष आनन्द हुआ और आपका सर्वत्र ही बड़े समारोह के साथ स्वागत किया गया। जब श्री जवाहरलाल नेहरू अपनी पत्नी श्रीमती कमला नेहरू के साथ सारनाथ मूलगंधकुटी बिहार के विशाल-भवन में प्रविष्ट हुए, तो वहाँ एकत्र-जन आपके प्रति सम्मान का भाव प्रकट करने के लिए खड़े हो गये तथा उस समय राष्ट्र ध्वनि हुई। श्री नेहरू के तीन व्याख्यान नगर में हुए और एक व्याख्यान हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ। इन व्याख्यानों में संसार के विभिन्न देशों के इतिहास का थोड़े में दिग्दर्शन कराया गया और विभिन्न देशों की शासन-पद्धतियों की चर्चा की गयी। श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि संसार में खाने पहनने का काफ़ी सामान है, तो भी बहुत-से मनुष्यों को नहीं मिलता और अगणित मनुष्यों को अपर्याप्त अन्न-वस्त्र मिलता है। यह दुःख जनक स्थिति दूर करने का एकमात्र उपाय साम्यवाद के सिद्धांतों के अनुसार समाज का संगठन करना है। अन्य पद्धतियों के द्वारा यह समस्या अब तक हल नहीं हुई और उनसे हल होने की संभावना भी नहीं है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने व्याख्यानों में वैज्ञानिक साम्यवाद (साइन्टिफ़िक सोशलिज्म) शब्द का प्रयोग किया। आपका अभिप्राय यह था कि वर्तमान समाज में मनुष्य-मनुष्य में जो भीषण असमानता है, वह दूर हो। यह ठीक नहीं है कि एक मनुष्य के पास अथाह धन भरा पड़ा हो और दूसरा मनुष्य भूखा मरता हो। समाज का इस प्रकार संघठन होना चाहिए, जिससे कोई मनुष्य भूखा न रहने पावे, सबको पर्याप्त अन्न और वस्त्र मिले और सबको उन्नति करने का समान अवसर हो। साम्यवाद का मतलब सब मनुष्यों को तौल नाप कर बराबर करना नहीं

है, सब मनुष्यों की बुद्धि और शक्ति में तो अन्तर रहेगा ही।

श्री जवाहरलाल का चौथा व्याख्यान हिन्दू विश्वविद्यालय में हुआ। वहाँ आपने हिन्दू महासभा की हिन्दू राज स्थापित करने, सरकार, राजाओं, महाराजाओं और जमींदारों से सहयोग करने, स्वतन्त्रता की भावनाओं के विरुद्ध काम करने की नीति की कड़ी निन्दा की।

स्थानीय रत्नाकर रसिक मंडल ने श्री जवाहरलाल नेहरू को मानपत्र दिया। उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने हिन्दी-साहित्य की उन्नति करने पर ज़ोर दिया।

२० नवम्बर १९३३

हिन्दू सोशल लीग का फ़तवा

मि० नेहरू के समाजवाद का विरोध करने का प्रस्ताव

अमृतसर में कोई सोशल लीग या उसकी शाखा है। इधर पं० जवाहरलाल के भाषण के विषय में हिन्दू-सभा में जो हलचल मच गयी थी, उस पर उसने हिन्दू-सभाओं के नेताओं से अपील की है कि वे इस वाद-विवाद को बन्द कर दें, क्योंकि इससे मनोमालिन्य बढ़ता है। लेकिन लीग के विचार में मि० नेहरू के समाजवाद का बड़े जोरों से विरोध किया जाना चाहिए, जिससे देश को बहुत बड़ी हानि पहुँचने की शंका है। आगे चलकर वह कहता है—

"समाजवाद देश के दुखों को दूर करने का कोई उपाय नहीं बताता क्योंकि वह अपने कार्यक्रम और दृष्टिकोण दोनों ही में विध्वंसात्मक है। रूस के समाजवाद ने थोड़े-से पूँजीपतियों द्वारा जनता की लूट को हटाकर उनकी जगह राज्य को बिठा दिया है।"

यह कथन पढ़ लेने के बाद अब इसमें किसे संदेह हो सकता है, कि हिन्दू सोशल लीग भी हिन्दू-सभा की भाँति पूँजीपतियों की संस्था है, और वह समाजवाद का विरोध देश के हित को सामने रखकर नहीं, हिन्दू जनता के हित के लिए नहीं, बल्कि थोड़े-से हिन्दू पूँजीपतियों के स्वार्थ को सामने रखकर कर रही है। पूँजीपति क्या हिन्दू क्या मुसलमान एक ही हैं। उनकी विचार शैली एक, उनकी स्वार्थ-लिप्सा एक। उनका उद्देश्य जनता को लूटकर अपनी जेब भरना है। जनता की आर्थिक जागृति, उन्हें अपने स्वार्थों के प्रतिकूल नज़र आती है। वे चाहते हैं कि जनता सदैव इसी दशा में पड़ी रहे और वे सदैव उसका खून चूसते रहें। उनका राष्ट्र प्रेम केवल धोखे की टट्टी है।

सोशल लीग कहता है कि समाजवाद अपने कार्यक्रम और दृष्टिकोण दोनों ही में विध्वंसात्मक है। पश्चिम में समाजवाद की प्रगति देखकर ही उसने यह नतीजा निकाला

है, लेकिन क्या यह जरूरी है कि योरोप के समाजवाद ने जिस नीति को अपनाया, उसे भारत भी अपनाये। योरोप में जैसी परिस्थिति थी वैसी भारत में नहीं है। यहाँ तो वेदान्त के एकात्मवाद ने पहले ही से समाजवाद के लिए मैदान साफ़ कर दिया है। हमें उस एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है। जब सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा का निवास है, तो छोटे-बड़े, अमीर-गरीब का भेद क्यों ! क्यों कुछ लोगों को नौकरों की फौज और बड़े-बड़े महल और बैंक में लाखों की पूँजी आवश्यक है ? हमारा तो यह खयाल है कि जो समाजवाद का समर्थक नहीं, वह हिन्दू नहीं है। समाजवाद यही तो चाहता है कि मनुष्य-मात्र को समान भाव से शिक्षित होने और काम करने का अवसर दिया जाय, सभी काम बराबर समझे जायँ, सभी समान रूप से प्रेम और शान्ति के साथ रहकर जीवन व्यतीत करें। इससे ऊँचा और पवित्र मानव-संस्कृति का उद्देश्य और क्या हो सकता है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध चलने का ही यह फल है कि आज हम जिस तरफ़ आँखें उठाते हैं, संघर्ष ही नज़र आता है। इसी का परिणाम है कि समाज भक्ष्य और भक्षक दो श्रेणियों में बँट गया है। इसी सामाजिक विधान को कायम रखने के लिए अदालतें, पुलीस, फौजें और चकले बने हुए हैं। हजारों भिक्षुक और फकीर जो गली-गली मारे-मारे फिरते हैं, इसी विधान के शिकार होकर आज पृथ्वी का भार बने हुए हैं। इस विधान के हाथों कितने प्राणियों का जीवन नारकीय हो रहा है, संसार को उससे कितनी बड़ी क्षति पहुँची है, इसका अनुमान ब्रह्मा भी नहीं कर सकते।

समाजवाद में ऐसे संघर्ष के लिए कोई स्थान ही नहीं। जहाँ सभी समान धनी या समान दरिद्र होंगे, वहाँ चोरियाँ क्यों होने लगीं ? जहाँ वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रश्न ही न होगा, वहाँ पर अदालतें क्यों रहने लगीं ? जहाँ नोच-खसोट, लूट-मार की वारदातें न होंगी, वहाँ पुलीस की इतनी बड़ी संख्या ही क्यों रहने लगी ? जहाँ सभी को समान रूप से शिक्षा मिलेगी और समान रूप से उन्नति करने और अपने जीवन को सार्थक करने के अवसर मिलेंगे, वहाँ भिक्षुकों की यह अगणित सेना क्यों रहने लगी ? और चकलों का तो निशान भी न रहेगा, क्योंकि चकला केवल मुफ्तखोरों या थोड़ी-सी मेहनत करके बहुत-सा धन कमाने वालों का क्रीड़ा-क्षेत्र-मात्र है। समाज के जिस विधान से संसार में इतना अनर्थ फैला हुआ है उसका समर्थन करके हिन्दू-लीग अपने कृत्य पर गर्व नहीं कर सकती। एक आदमी दूसरे आदमी को अपने से नीचा समझे और उसके पसीने की कमाई से खुद मोटा होना चाहे, यह मनुष्यता का अपमान है। और यह उसी समय तक चल सकता है, जब तक जनता में जागृति नहीं है। जागृत समाज किसी तरह इस विधान के नीचे अपना सिर रखना पसन्द नहीं कर सकता। आज संसार में पूँजीवाद की जड़ें खोखली हो रही हैं और उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए समाजवाद से समझौता करना पड़ रहा है। फासिज़्म और नाज़िज़्म इस समझौते के रूप हैं। पर लक्षण बतला रहे हैं कि निकट भविष्य में आजकल का पूँजीवाद जमीन पर पड़ा

होगा और उसकी लाश पर समाजवाद की धारा बह रही होगी। हिन्दू-सभा और हिन्दू-सोशल लीग दोनों समय और धर्म के प्रतिकूल चल रहे हैं। वास्तव में विध्वंसात्मक वह पूँजीवाद है, जिसके दामन से वह चिमटे हुए हैं, न कि समाजवाद जो भूमण्डल के लिए शांति, उद्धार और स्वाधीनता का संदेश सुना रहा है।

११ दिसम्बर १९३३

बेकार बैठने से काउंसिल में जाना अच्छा है

ये हैं वह शब्द जो महात्मा गांधी ने राष्ट्र की वर्तमान स्थिति पर विचार करके दिल्ली में श्रीमुख से कहे थे। महात्मा जी का आदर्शवाद व्यवहारिक आदर्शवाद है। वह यह समझते हैं कि सभी वाद मनुष्य के सेवक हैं, स्वामी नहीं। किसी वाद को मूर्ति बना कर पूजना और परिस्थिति की ओर से आँखें बन्द कर लेना प्रगतिशील समाज का धर्म नहीं। लेकिन, मुश्किल यह है कि सम्प्रदायों की भाँति ही हरेक नीति या कार्यक्रम परम्पराओं के बंधन में कुछ ऐसा जकड़ जाता है कि उससे निकलना उसके लिए असाध्य हो जाता है। उन परम्पराओं का पालन करके, जिन्होंने त्याग किया है, कष्ट झेले हैं, अपना सर्वस्व खो बैठे हैं वे सम्प्रदायों के महन्तों ही को भाँति अपने नेतृत्व से मोह करने लगते हैं। यहाँ महन्तों का-सा भोग विलास नहीं, पर कुछ यश और मान तो है ही और शायद महन्तों के पद से कहीं बढ़कर। महन्तों को वह पद अपने गुरु की कृपा से मिलता है, यह यश सम्मान अपने जीवन को बलिदान करके प्राप्त होता है, उससे मोह होना स्वाभाविक है। उसके साथ ही उस नीति के सिवा किसी दूसरी नीति की सफलता में हमें विश्वास भी नहीं होता। जो व्यक्ति धोती और कुर्ता पहनने का आदी हो, उसे कोट-पतलून पहनते बड़ा संकोच होता है। एक रस पर रहना मानसिक स्थिरता का लक्षण समझा जाता है। उस नीति या कार्य-क्रम का परित्याग करना उसकी विफलता को स्वीकार करना समझा जाता है, और हम अपनी ग़लती को मानने में बिरले ही उदारता का परिचय देते हैं। काँग्रेस में इस समय कुछ यही हालत हो रही है। परम्परा-प्रेमियों की उसमें इतनी प्रधानता है कि महात्मा जी के ये महत्वपूर्ण शब्द भी हवा में उड़ते दिखाई देते हैं।

हरेक संस्था को सिद्धांत-वादियों को आवश्यकता होती है, वरना उसमें जीवन और दृढ़ता न आये। परम्पराओं का भी संस्थाओं के जीवन में एक स्थान है। उन परम्पराओं को छोड़ दीजिए और आपका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। यह भी आवश्यक है कि हमारे कार्यकर्ताओं में सहयोग हो, हम संदेह होने पर भी अपने नायक की आज्ञा मानते रहें। जब हमें नेताओं में संदेह होने लगता है, तभी संस्था निस्तेज हो जाती है।

यह सब मानते हुए भी हम समझते हैं इस समय काँग्रेस को अपना कार्यक्रम बदलना पड़ेगा और चारों और बाधाओं को देखते हुए काउंसिल-प्रवेश के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं रह गया है। हम यह मानने को तैयार हैं कि अब तक काउंसिलों से विशेष उपकार नहीं हुआ, लेकिन उपकार चाहे न हुआ हो उनसे जितना अपकार हो सकता था वह कुछ न कुछ अवश्य कम हुआ। अगर हम काउंसिलों से कुछ तत्व न निकाल सके, तो इसमें बहुत- कुछ हमारा ही दोष है। अभी दस साल पहले तक काँग्रेस शिक्षित समुदाय की संस्था थी। जिसमें पूँजीपतियों की प्रधानता थी, जिसका उद्देश्य अधिकार और पद था। काँग्रेस के दृष्टिकोण में जो कुछ परिवर्तन हुआ है, उसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए। यह ठीक है कि यदि सरकार की ओर से बाधाएँ न खड़ी की जातीं, तो इस थोड़े ही समय में राष्ट्र साम्यवाद की ओर आ गया होता। लेकिन यह इस बात की दलील नहीं कि नवीन आदर्श पर हम काउंसिलों का बहुमत प्राप्त करने की चेष्टा न करें। उस बहुमत से काँग्रेस को अपने आदर्श के अनुसार बड़ी सहायता मिलेगी। अभी काँग्रेस एक गैर कानूनी दल है और हरेक कांसटेबुल भी समझता है कि काँग्रेस कार्यकर्ताओं को किसी जुर्म में फँसाकर वह सुर्खरु हो जायगा। जब काँग्रेस काउंसिल और एसेम्बली में प्रधान दल होगी, तब उसके कार्यकर्ताओं के साथ यह धाँधली न की जायगी। प्रयाग में मि० फिरोज गाँधी और श्री शिवमूरतलाल के साथ अधिकारियों ने जो कुछ किया है वह काँग्रेस के व्यवस्थापक सभाओं में होते हुए अगर असम्भव न था, तो कठिन अवश्य था और यह तो अभी आरम्भ हुआ है।

यह कहा जा सकता है, काँग्रेस का बहुमत पाना कोई निश्चित बात नहीं है। ठीक है, लेकिन काँग्रेस-पार्टी अल्पमत में भी रही, तो यह मान्य अल्पमत होगा, और कोई सहज उसकी उपेक्षा न कर सकेगा।

लेकिन महात्मा जी के ये शब्द केवल उन लोगों के लिए हैं, जो व्यक्तिगत रूप से निर्वाचन के लिए खड़े होना चाहते हैं। व्यतिगत रूप से तो अब भी जिसकी इच्छा हो खड़ा हो सकता है, लेकिन फिर उस काँग्रेसी उम्मेदवार में और अन्य उम्मेदवारों में कोई अन्तर न रहेगा, बल्कि बहुधा उसे ऐसे लोगों से मुक़ाबला करना पड़ता है, जिनकी पीठ पर छोटी-छोटी संस्थाएँ या दल होते हैं। वह भी अपने को काँग्रेस से निकाला हुआ समझने लगता है। उसके पास उतना धन भी कहाँ है, जिसके बल पर वह एलेक्शन की लड़ाई लड़ सके। जरूरत इस बात की है कि काँग्रेस संगठित और प्रत्यक्ष रूप से मैदान में आवे और अपनी पूरी शक्ति लगा दे। अगर उसने साहस से काम न लिया, तो वह ऐसे लोगों के लिए रास्ता साफ़ कर देगी, जो उसे व्यवस्थापक सभाओं में पहुँचकर उसका अहित करना ही अपना धर्म समझेंगे और जन पक्ष कुछ समय के लिए निर्बल हो जायगा।

१ जनवरी १९३४

युवकों में राष्ट्र प्रेम

साम्प्रदायिकता की इस मंडलाकार घनघटा में कभी-कभी रजत रेखा भी दिखाई दे जाती है, जिससे राष्ट्रवादियों की मुरझाई आशाएँ फिर हरी हो जाती हैं। शायद दो साल हुए अलीगढ़ में विश्वविद्यालय के एक छात्र सम्मेलन में साम्प्रदायिकता के विरुद्ध एक प्रस्ताव पास हुआ था। गत सप्ताह में लखनऊ में युक्त प्रांत के छात्र सम्मेलन में फिर यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ है कि "प्रांतीय युनिवर्सिटी फेड्रेशन से अनुरोध किया जाय कि वह साम्प्रदायिकता को कुचलने का आयोजन करे।" इस प्रस्ताव की उपयोगिता और कुछ हो या न हो, इससे इतना तो अनुमान किया ही जा सकता है कि हवा का रुख किधर है। इस सम्मेलन के सभापति सर मुहम्मद याकूब थे, जो कई बार अपनी अराष्ट्रियता का परिचय दे चुके हैं; उनके सभापतित्व में ऐसे प्रस्ताव का पास हो जाना इसी बात का प्रमाण नहीं है कि हमारे युवकों ने अनेक अवसरों पर सिद्ध कर दिया है कि उन्हें साम्प्रदायिकता से कोई सरोकार नहीं है, नहीं उन्होंने इसकी खुले शब्दों में निन्दा की है। और उन देवियों में हिन्दू देवियाँ भी हैं, मुसलिम देवियाँ भी। युवकों ने भी अपने राष्ट्र-प्रेम का परिचय एक से अधिक अवसरों पर दे दिया। अब केवल पुराने दकियानूस रह गये। मगर वह प्रभात के दीपक हैं। भारत का भविष्य उज्ज्वल मालूम हो रहा है।

१५ जनवरी १९३४

रियासतों की रक्षा का बिल

सरकार ने अपनी लाडली रियासतों की रक्षा के लिए एक नया कानून बनाने की ठान ली। इसके अनुसार किसी रियासत की आलोचना करना जुर्म समझा जायगा और सरकार ऐसे आलोचकों को जब चाहेगी गिरफ्तार करके मुकदमा चलायेगी। अभी ऐसी रियासतों की दुखी प्रजा कभी-कभी ब्रिटिश भारत के समाचार पत्रों में अपने कष्ट का रोना रोकर अपना मन शान्त कर लिया करती थी, इससे जनता को रियासतों का कुछ रहस्य मालूम हो जाता था, और राजे भी लोकमत के भय से कुछ सचेत हो जाते थे, मगर इस कानून से ऐसे लेखों का प्रकाशित होना कठिन हो जायगा। फिर तो हमारे राजे और महाराजे जी खोलकर प्रजा पर अत्याचार करेंगे, कोई चूँ न कर सकेगा। किसी अखबार ने इस पर कुछ लिखा और बड़े घर पहुँचा दिया जायगा। यह बिल सम्मति के लिए प्रांतीय सरकारों और हाई कोर्ट के जजों के पास भेजा गया था। प्रांतीय सरकारों ने तो दिल खोलकर उसका स्वागत किया, जैसा उनका धर्म था। हाई कोर्टों

के जजों में बहुतों ने तो उस पर कुछ राय देना उचित न समझा, कुछ ने उसमें बाल की खाल निकाली। केवल इलाहाबाद हाई कोर्ट के दो जजों ने—मि० जस्टिस नियामतुल्लाह चौधरी और मि० जस्टिस रघुपालसिंह ने ही उसका विरोध किया है। चौधरी साहब का कथन है कि पीड़ितों को अपनी शिकायतों को वाइसराय के कानों तक पहुँचाने का अधिकार और रियासतों के हाई कोर्टों के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील करने की इजाज़त मिलनी चाहिए। जस्टिस रघुपाल सिंह का एतराज़ यह है कि आखिर रियासती प्रजा को अपने कष्ट निवारण का और कौन-सा साधन रह जाता है। इसका नाम है निर्भीक न्याय-प्रियता!

२२ जनवरी १९३४

भारत व्यापी भूकम्प

१५ जनवरी को सवा दो बजे प्रकृति ने भारत को अपनी अंधी पैशाचिक शक्ति का जो परिचय दिया, उसने कितने ही आस्तिकों को नास्तिक बना दिया होगा। शायद उसने सोचा, मनुष्य अपने खिलौने वायुयानों और बेतारों को लेकर बहुत बहक रहा है, ज़रा उसे एक बार फिर अपनी शक्ति का मज़ा चखा दो। बस भूकम्प ने यह मज़ा चखाने का बड़ा उठा लिया और नेपाल की तराई से उठकर बिहार का विध्वंस करता, संयुक्त प्रांत की जड़ें हिलाता, दक्षिण को ठोकर मारता, मद्रास के पेट में सिहरन डालता, बंगाल की खाड़ी में विलीन हो गया। कहते हैं १८९० में भी भीषण भूकम्प आया था। आया होगा, मगर हमारा खयाल तो यह है कि वह इसका छोटा भाई रहा होगा। बिहार प्रांत में तिरहुत, दरभंगा, गया, मुज़फ्फरपुर, भागलपुर, पटना, आरा आदि नगरों में जान और माल की कितनी क्षति हुई, इसकी अभी तक कोई गणना नहीं हो सकी और न शायद कभी हो सकेगी। एक हवाई जहाज ने तिरहुत का मुआइना किया है और उसके संचालक का कहना है कि मुजफ्फरपुर वीरान हो गया और सड़कें लाशों से पटी पड़ी हैं। तीन सौ जानें तो केवल दरभंगा में गयीं। ऐसा शायद ही कोई मकान बचा हो, जिसको कुछ न कुछ धक्का न पहुँचा हो। हज़ारों मकान गिर पड़े, रेलों के पुल टूट गये, रेल की पटरियाँ हुमस गयीं, तार के खम्भे टूट गये। कितने ही स्थानों में लोग सड़कों और मैदानों मे समय काट रहे हैं। शक्कर के कितने ही मिल तवाह हो गये। जमालपुर में रेल-विभाग के सैकड़ों मकान मिसमार हो गये और रेल के कारखाने मिट गये। कितने ही मजदूरों की जान गयी। तिरहुत में भूमि में बड़ी-बड़ी दरारें हो गयीं और उसमें से गंधक मिला हुआ पानी निकल पड़ा और जमीन पर पाँच फुट पानी की बाढ़ आ गयी, जिससे सारे कुओं का पानी ज़हरीला हो गया। सरकारी इमारतें तो

शायद ही कोई बची हों। इस प्रांत में इतना भीषण आघात तो न था, पर ऐसा जरूर था, कि लोग उसे इस जीवन में न भूल सकेंगे। बड़े-बड़े महल इस तरह हिल रहे थे कि जैसे हवा से पत्ते हिलते हैं। शहरों में बिरला ही कोई ऐसा मकान होगा, जिसकी मुडेर या छत या दीवारें न फट गयी हों। काशी ही में २५ आदमी जख्मी हो गये और दो मर गये। सभी शहरों की यही दशा हुई है। अगर सात ग्रहों के संयोग का यह फल था, तब तो इस खयाल से सन्तोष होता है कि ये अभागे ग्रह फिर सौ दो सौ वर्ष में एकत्र होंगे। लेकिन जैसी एक विज्ञानाचार्य की राय है, अगर यह आक्रमण इसलिए हुआ है, कि हिमालय के शिलाखंड जल के आघात से टूटते जाते हैं और पृथ्वी पर उसका दबाव कम हो गया है और इससे अंतस्तल की उष्णता मुक्त होकर दौड़ रही है, तब तो भारत का भविष्य बड़ा संकटमय जान पड़ता है, क्योंकि शिलाखंड तो टूटते ही रहेंगे और हिमालय का दबाव उत्तरोत्तर कम ही होता जायगा। हाँ, कोई बड़ा भारी ज्वालामुखी उबल पड़े और एक बार फिर भीतर से एक दूसरा हिमालय उडेल कर निकाल दे, तो शायद दबाव बराबर हो जाय। जो कुछ भी हो, इस वक्त तो सबसे बड़ी और कठिन समस्या यह है, कि इन गिरे हुए और फटे हुए मकानों की मरम्मत कैसे होगी। अधिकांश आदमियों में तो यह सामर्थ्य ही नहीं, कि मकानों की मरम्मत करा सकें। विवश होकर जीर्ण घरों में पड़े रहेंगे और वर्षा काल में उनकी क्या दशा होगी, इसकी कल्पना ही से रोमांच हो जाता है। कम से कम म्युनिसिपैलिटियों को इतना तो करना ही चाहिए, कि जिन इमारतों को खतरनाक देखें, उन्हें खाली करवा के उनकी मरम्मत करावें। हमारे समाज सेवकों को रिलीफ के काम में अग्रसर होना चाहिए।

२२ जनवरी १९३४

वह प्रलयंकर दिवस

ता० १५ जनवरी का भारत का वह प्रलयंकर दिवस संसार में अमर हो गया। किसे मालूम था कि उस दिन यह ताण्डव काण्ड हो जायगा। दोपहर का समय था, सब लोग खा-पीकर अपने-अपने कामों में लगे थे कि अचानक हर्राटा हुआ, लोग चौंके, मकानों से निकले और आसमान की ओर देखने लगे कि कहीं हवाई जहाज तो नहीं मड़रा रहा है, पर क्षणमात्र में ही मालूम हुआ कि पृथ्वी काँप रही है! मकानों के हिलने, फटने और गिरने ने प्रलयकाल का भय भर दिया। बड़ी मुश्किल से शाम हुई और रात बीती। दूसरे दिन से समाचार आने लगे और भय बढ़ने लगा। मुजफ्फरपुर के समाचारों ने लोगों को व्याकुल कर दिया कि मुंगेर के समाचार आये। तीसरे दिन दरभंगा आदि के भी समाचार पढ़े गये। इस अनभ्र वज्रपात ने संसार में खलबली मचा

दी। नैपाल के समाचार तो अभी तक ठीक नहीं मालूम हो रहे हैं, किन्तु अभी-अभी नेपाल महाराज का जो तार मि० मालवीय जी के पास आया है, उससे पता चलता है कि जन-हानि से धन-हानि ही हुई है। फिर भी ३००० के लगभग मृतक संख्या प्रकाशित हो चुकी है। श्री पं० जवाहर लाल नेहरू तथा अन्य देखनेवालों का कहना है कि जब तक मुजफ्फरपुर वगैरह नगरों का मलबा नहीं हटा दिया जाता, तब तक पूरी मृत संख्या नहीं मालूम हो सकती, पर अभी तक जो लाशें पायी गयीं और निकली हैं, उनकी संख्या जानकर दिल दहल जाता है, आँखें पथरा जाती हैं और बदन को काठ मार जाता है। मुजफ्फरपुर, मुंगेर, दरभंगा और सीतामढ़ी आदि बड़े नगरों में ही लगभग ५०००० मनुष्यों के जीवन नष्ट या नष्टप्राय हो गये हैं। निकटस्थ ग्रामों में यद्यपि अधिक प्राण हानि नहीं हुई, पर धरा और धान्य तो अवश्य ही नष्ट हो गये हैं। मुजफ्फरपुर में लगभग १०००० मनुष्यों के प्राण गये और पता नहीं अभी कितने दबे पड़े हैं। मुंगेर में तो इससे भी अधिक मृत संख्या बतायी जाती है। मुंगेर में उस रोज़ दुर्भाग्यवश अमावस्या का मेला था, बाहर के हज़ारों यात्री पर्व मनाने आये थे। ठीक दोपहर के वक्त जब लोग स्नान-ध्यान से फ़ारिग होकर खा-पीकर, सौदा-सूत खरीद रहे थे, तभी भूकम्प हुआ और बेचारे अभागे यात्रियों और नगर-निवासियों को जरा भी इधर-उधर होने का अवसर न मिला। सब जहाँ के तहाँ रह गये।

हमारे आफिस में मुंगेर के एक भुक्त भोगी विद्यार्थी आये थे, उन्होंने बयान किया कि जिस समय भूकम्प आया, हम लोग दुमंजिले पर थे। मकान बड़े वेग से हिलने लगे और हम लोग दौड़ कर सीढ़ी से नीचे उतरना चाहते थे कि अचानक सीढ़ी टूट गयी और मकान का कुछ हिस्सा भी घर के लोगों पर गिर गया। हम लोग जहाँ के तहाँ रह गये। बड़ी कठिनाई से बाज़ार की तरफ के बरन्डे में गये कि वहाँ से बाज़ार में कूद जायेंगे, पर जब वहाँ से सामने के मकानों को भी गिरते देखा, तो रूह कब्ज़ हो गयी, अचानक हमारे बरन्डे पर सामने के मकान का कुछ अंश ढह पड़ा और हम भी बरन्डे सहित नीचे आ रहे। ईश्वर की कृपा कहिए कि नीचे आ जाने पर हाथ और कमर में चोट तो आयी, पर बरन्डे का टीन हमारे ऊपर हो गया और उसने छाते की तरह हमें ढाँक रखा! मकान गिर रहे थे, और हम साँस बन्द किये दबे-दुबके खड़े थे। चार-छ मिनट में ही यह प्रलय काण्ड हो गया। किसी प्रकार हमारे घर के दो-एक प्राणी बचे और सब दब गये थे। एक छः वर्ष की बहन को तो उसके बाल देख कर बमुश्किल मलबे के नीचे से निकाला गया। चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था। थोड़ी देर के लिए यह मालूम हुआ कि नगर पर असंख्य बम-वर्षा की गयी है। चारों ओर अंधकार सा छा गया था, सूर्यदेव भी वह दुर्दशा देख कर ज़रा देर को अस्त से हो गये थे! सारा शहर चौपट हो गया और लाशों की दुर्गन्ध के मारे अब वहाँ खड़ा रहना भी कठिन हो गया है। बड़ा वीभत्स दृश्य है!

दरभंगा और लहरियासराय भी चौपट हो गये हैं। इन नगरों में भी दो-तीन हज़ार मनुष्यों के मरने का अन्दाज लगाया जाता है।

दो सौ वर्षों के बाद इधर की भूकम्प-सम्बन्धी जो जानकारी प्राप्त होती हैं, उससे मालूम होता है, कि भारत में यह भूकम्प सबसे भीषण और विशेष क्षतिकर हुआ है।

इसके पहले भी भूकम्प हुए थे, उनका वर्णन भी पत्रों में छपा है—सन् १९०५ के अप्रैल मास की ४ ता० को कांगड़ा प्रदेश में एक भूकम्प हुआ था और उसे भारत-वासी अभी भूले नहीं हैं। उस समय भी समस्त उत्तर भारत ने इस भूकम्प का अनुभव किया था। पश्चिम प्रदेश के अफ़गानिस्तान और सिन्ध से लेकर, पूर्व प्रदेश में पुरी पर्यन्त इसकी ध्वन्स लीला से बच पाये थे, किन्तु कांगड़ा और मंसूरी के प्रदेश ही उस महाध्वंस के चरम क्षेत्र में परिणति हुए थे। उस समय मृत संख्या २०,००० तक पहुँची थी। इस भूकम्प का कारण हिमालय का स्तर स्खलन बतलाया गया था।

इसके भी आठ वर्षों पूर्व सन् १८९७ ई० में जून मास की १२ तारीख को आसाम में जो भूकम्प हुआ था, वह भी एक चिरस्मरणीय घटना थी। उस समय मूलकम्पन के साथ अनेक व्यापी साधारण कम्पन होता रहा था। इस भूकम्प की ध्वंस-लीला के कारण शीलांग की ओर तो कुछ बाक़ी ही न रह गया था। घर, गिरजा, रेल और सड़कों के पुल, सब कुछ एकदम विनष्ट हो गये थे। विशाल पहाड़ के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे और उसमें आसाम की भूमि को कुछ का कुछ कर दिया था। नदी ने अपना नया प्रवाह मार्ग बना लिया था।

इसके भी पूर्व इस देश में भूकम्प हो गये हैं, उनमें दो सौ पूर्व सन् १७२० ई० में दिल्ली में, सन् १७३७ में कलकत्ता में, और १७६२ ई० में पूर्व बंग और अराकान में होनेवाले भूकम्प ही विशेष उल्लेख्य हैं। वैसे १८१९ में कच्छ और ब्रह्म देश में भी भूकम्प हुए थे।

भूकम्प का प्रकोप, भारतवर्ष की अपेक्षा जापान में ज्यादा भयानक होता है। एक सितम्बर सन् १९२३ को जापान की राजधानी टोकियो और याकोहमा में इसी के कारण भीषण और भयानक कांड उपस्थित हुआ था। केवल ५ मिनटों में २,००००० मनुष्यों का मरण हो गया था। आँधी और अग्नि कान्ड ने तो और भी ग़जब ढा दिया था। याकोहामा में एक लाख मनुष्य मरे थे। पचास हज़ार मनुष्य तो न जाने कहाँ लापता हो गये थे। एक लाख आदमी आहत भी हुए थे। और, धन-सम्पत्ति की हानि १२ हज़ार करोड़ से भी अधिक की हुई थी।

यों तो संसार के अनेक स्थानों में भूकम्प की विध्वंस लीला हो चुकी है, पर दो सौ वर्षों से अधिक का हाल नहीं मिलता। किन्तु इसी बीच १७५५ ई० में पुर्तगाल

की राजधानी लिसबन में भूकम्प हुआ था, कहा जाता है कि उसमें ६० हज़ार आदमी मरे थे।

दक्षिण इटली तो भूकम्प के लिए नित्य लीला क्षेत्र ही हो गया है। सन् १९०८ में इटली के मेसिना नामक स्थान में भूकम्प हुआ था, उसमें केवल ४० सेकेन्ड में ही एक लाख मनुष्य मर गये थे।

भूकम्प एक ऐसी विपत्ति है कि उससे बचना मनुष्य के लिए अभी असम्भव है। वैज्ञानिकों की दृष्टि इस ओर अवश्य गयी, और जापान के वैज्ञानिकों ने इसके लिए एक समिति भी स्थापित की थी, जिसने ५० वर्षों में बहुत कुछ खोज की है। इस विषय का साहित्य भी उसने प्रकाशित किया है।

१९वीं सदी के अन्त में प्रो० मिलने नामक वैज्ञानिक ने भी बहुत कुछ प्रयत्न किया था। इसके पूर्व दो-एक अन्य वैज्ञानिकों ने भी प्रयत्न किया, पर १८वीं सदी में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री प्रिस्टले ने बिजली से भूकम्प का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

सन् १८०७ ई० में प्रो० यंग ने यह सिद्धान्त निश्चय किया था कि जिस प्रकार शब्द हवा में तरगों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं, उसी प्रकार भूकम्प भी एक स्थान से आरम्भ होकर तरंग उत्पन्न करता और उसी के सहारे बहुत दूर तक पहुँच जाता है। इस तथ्य की पुष्टि आयरिश एकाडमी ने भी की थी।

सन् १८६७ के नेपल्टन के भूकम्प के बाद वहाँ लगभग दो मास तक ध्वंसावशेषों के ढेरों का पर्यवेक्षण करने के बाद एक विवरण प्रकाशित हुआ था, उससे प्रकट होता है कि भूगर्भस्थ एक स्थान से एक कम्पन की उत्पत्ति होती है, उसी स्थान के ऊपर स्थित ज़मीन, ऊपर और नीचे से कंपित हो जाती है। केन्द्र स्थल से दूर तरंगों की गति वक्र भाव से होती है। किसी फटे हुए मकान की दरार को देखकर जाना जा सकता है इस जगह ज़मीन किस ओर कम्पित हुई थी। इस प्रकार कम्पन का कोण निश्चय कर लेने पर कम्पन का केन्द्र स्थिर किया जा सकता है।

मध्ययुग के विद्वानों का खयाल था कि ज्वालामुखी के द्वारा अग्न्योत्पात ही भूकम्प का कारण है। इसका कारण यह बताया जाता है कि जापान, इटली वगैरह में, जहाँ ज्वालामुखी हैं, वहाँ भूकम्प अधिक होते हैं। ज्वालामुखी से जब अग्न्योत्पात होता है, तो बड़े वेग से गन्धक और वाष्प आदि गरम पदार्थ बाहर निकलते हैं, और वेग की प्रबलता के कारण पृथ्वी काँप उठती है। परन्तु जहाँ ज्वालामुखी नहीं हैं, वहाँ भी तो भूकम्प होते रहते हैं—यह प्रश्न विचारणीय है।

पृथ्वी का जिस प्रकार ठोस और कठोर होना ख़याल किया जाता है, असल में वह उस प्रकार नहीं है। भूगर्भ में विशाल गह्वर या खाइयाँ हैं और एक विशाल पर्वत खण्ड के साथ दूसरे पर्वतखण्ड मिलकर परस्पर एक दूसरे का भार सँभाले रहते हैं।

वाष्प और गंधक के बाहर निकलते समय खाइयों की मिट्टी वगैरह नीचे धँस जाती है और भूकम्प का आरम्भ होता है।

सिस्मोग्राफ़ और सिस्मोमीटर के द्वारा भूकम्प-सम्बन्धी गवेषणा का कार्य सरल हो गया है। यह यन्त्र एक महीन सुई के द्वारा काग़ज़ पर भूकम्प का कम्पन अंकित कर देते हैं और वैज्ञानिक लोग उसके द्वारा कम्पन की स्थिति, परिमाण और कम्पन होने वाली दिशा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उन्नीसवीं सदी में जापानवालों ने इन यन्त्रों को वास्तविक उन्नत रूप दिया और लगभग ५० वर्षों के प्रयत्न से ही आज हमें भूकम्प-सम्बन्धी सब ज्ञान प्राप्त होने लगा है।

इसके पूर्व भी अनेक विद्वान और दार्शनिकों ने भूकम्प सम्बंधी अनेक अनुमान किये थे। भारतीय-धर्मशास्त्रों और पुराणों में भी भूकम्प के सम्बन्ध में बहुत कुछ गपोड़े लिखे मिलते हैं, जिनमें से एक यह भी प्रचलित है कि शेषनाग अपने सहस्त्र फनों पर पृथ्वी को धारण किये हुए हैं, और जब वे फनों को बदलते हैं, तभी भूकम्प होता है! जापानी लोग भी किसी समय विश्वास करते थे कि उनका देश एक वृहत् मछली की पीठ पर अवस्थित है, और यह मछली किसी कारण अपनी देह को हिलाती है, तभी भूकम्प होता है, किन्तु इन सारी निर्मूल धारणाओं को वर्तमान युगीन विज्ञान ने नष्ट कर दिया और भगवान शेषनाग का भी अन्त ला दिया है। फिर भी हमारे देश में अभी आस्तिक लोगों की अपनी-अपनी धारणायें उपस्थित हैं। अभी उस दिन महात्मा जी ने ही कहा कि हमारे पापों के कारण ही यह भूकम्प हुआ है और उनकी धारणा में अछूत कहलाने वाले मनुष्यों के साथ दुर्व्यवहार ही महापाप है। इसी प्रकार वर्णाश्रम स्वराज संघवाले महात्मा जी को कोसते और कहते हैं कि अछूतों को मन्दिर में प्रवेश कराने के पाप का ही परिणाम यह भूकम्प है!

यदि आस्तिकता, भूकम्प का कारण पाप बतलाती है, तो यह प्रश्न हो सकता है कि क्या सचमुच परमात्मा ने बिहार में वास्तविक पापियों को ही दण्ड दिया है? जितने प्राणी भूकम्प में मरे, क्या वे सभी महान पापी थे? और यहाँ, इस देश में जो बड़े-बड़े पापाचारी और गरीबों का रक्त चूस जानेवाले बड़ी-बड़ी तोंदवाले, बड़े-बड़े तिलकधारी ढोंगी पड़े हुए हैं; क्या परमात्मा उन्हें नहीं देख पाता? अस्तु, यह सब व्यर्थ की बातें हैं। भली भाँति विचार करने पर मालूम हो जाता है कि भूकम्प किसी पाप पुण्य के कारण नहीं हुआ; यह प्रकृति की एक लीला है और भूगर्भ की वैज्ञानिक प्रक्रिया का एक परिणाम है।

इधर जो समाचार प्राप्त हुए हैं, वे तो और भी भयानक और हृदय को विचलित कर देनेवाले हैं। भयानक वर्षा ने उनके बचे खुचे हरे खेतों को जल मग्न कर दिया और उनकी ज़िन्दगी को आफ़त में डाल दिया है। आज हज़ारों आदमी वहाँ वस्त्रों के बिना ठिठुर रहे और अन्न-जल के बिना भूखों प्यासों मर रहे हैं। उनका सर्वस्व तो धँसे ही

नष्ट हो गया, तिस पर वर्षा के कारण प्राणहारी जाड़े का सामना करना पड़ रहा है। ईश्वर ही रक्षक है ।

अब हमारा कर्त्तव्य यही रह जाता है कि इस भीषण विपत्ति के समय लोगों को धैर्य बँधायें और जी-जान से उनकी सेवा-सहायता करें ।

जनवरी १९३४

प्रकृति का तांडव

ज्यों-ज्यों इस देशव्यापी भूकम्प के समाचार आते-जाते हैं, यह निश्चय दृढ़ होता जाता है कि यह भी उन्हीं प्रलयंकारी घटनाओं में है, जिन्होंने दूर अतीत में समुद्रों को पर्वत और पर्वतों को समुद्र, महाद्वीप को महासागर और महासागर को महाद्वीप बना दिया। इतिहास इतने भयंकर भूकम्प से अनभिज्ञ है। पहले तीन-चार हजार हतों का अनुमान था। अब यह संख्या दस गुनी बढ़ गयी है और कुछ लोगों का अनुमान है कि पचास हज़ार से कम आदमियों की हानि नहीं हुई ; धन की कितनी हानि हुई, इसका अन्दाज़ा ही नहीं किया जा सकता। मोतिहारी, मुजफ्फरपुर, मुंगेर तो मिट गये, दरभंगा, पटना, गया, जमालपुर आदि स्थानों पर भी विपत्ति कुछ कम नहीं आयी। उनका वर्णन सुन-सुन कर कलेजा दहल जाता है, खून सर्द हो जाता है। सोचिए, उस आदमी की क्या दशा होगी, जो अपने प्यारों को हँसते-खेलते छोड़कर दफ्तर या दूकान गया हो और प्रकृति के इस उच्छ्वास के बाद दौड़ा हुआ घर आये, तो देखे कि उसका सर्वनाश हो चुका है। कितना हृदय-विदारक दृश्य है !

अब हमारा क्या कर्तव्य है ? क्या यही कि जब दो-चार मित्र मिल बैठें, तो भूकम्प का जिक्र छिड़ जाय। अमुक परिवार या अमुक नगर या अमुक गाँव में कितने आदमी मरे, कितने जख्मी हुए। कैसे जमीन फट गयी, कैसे उसके अन्दर से पानी उबल पड़ा, कैसे बड़े-बड़े महल जमीन में धँस गये ! यह तो मनुष्य का केवल कुतूहल-प्रेम है। क्या केवल अपने मुहल्ले या घर में होम-यज्ञ कराके ही हम अपने कर्तव्य को पूरा कर सकते हैं ? यह तो केवल स्वार्थ-कामना है।

नहीं, हमारी मानवता और बन्धु-भावना की यह अग्नि परीक्षा है। हम अपने मंगल के निमित्त, बड़ी-बड़ी तीर्थयात्राएँ करते हैं, दान-पुण्य करते हैं। हम अपने आत्म-प्रदर्शन के लिए पैसे को ठीकरा समझते हैं और भोग-विलास के लिए धन को पानी की तरह बहाते हैं। क्या आज जब हमारे लाखों भाई अकथनीय कष्ट भोग रहे हैं, हम अपनी मंगल-कामना के लिए तीर्थ-यात्रा करते रहेंगे, क्या शादी-ब्याहों में रुपये लुटाना इस समय उचित है, जब हमारे लाखों भाई आहत और नंगे पड़े कराह रहे हैं ? क्या

हम अब भी तमाशे देखते रहेंगे जब प्रकृति अपना ताण्डव नृत्य दिखा रही है ? पीड़ितों के लिए बड़ी तत्परता से सहायता का काम शुरू हो गया है। सरकारी और गैर सरकारी शक्तियाँ सहयोग से इस पुण्य कार्य में हाथ बटा रही हैं। प्रायः सभी प्रांतों में सहायक समितियाँ पीड़ितों के लिए धन और वस्त्र एकत्र कर रही हैं। वाइसराय ने जो फंड खोला है, उसमें चारों तरफ से रुपये आ रहे हैं। हमारा भी धर्म है कि अपने सामर्थ्य भर अपने भाइयों की मदद करें—धन से, वस्त्र से, अन्न से। यह न समझिए कि हमारे दो-चार आने कौन-सा बड़ा उपकार कर देंगे। आपके चार आने संभव है किसी भाई के लिए समय पर मिल जाने से एक कोष का काम करें। हम गरीब हैं, सामर्थ्यहीन हैं, लेकिन इसीलिए हमारे ऊपर और बड़ी जिम्मेदारी है, गरीब की मदद गरीब न करेंगे तो कौन करेगा ?

यह भूकम्प क्यों आया, इस पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न मत हैं। भूगर्भ के जानकार कहते हैं कि हिमालय पर्वत उस कम्पन रेखा पर पड़ता है, जो आल्प्स से ऐंडीज़ पहाड़ तक चला गया है और चूंकि उसका ऊपरी भाग वर्षा, बर्फ के पिघलने और अन्य प्राकृतिक कारणों से क्षीण हो रहा है, वह भीतर से ऊपर उठ रहा है, जैसे पानी में तैरता हुआ बर्फ का टुकड़ा ज्यों-ज्यों ऊपर से गलता है, पानी से बाहर निकलता जाता है। कम्पन जब बहुत दिनों के बाद आता है तो उसका जोर बहुत ज्यादा होता है। इसलिए यही अच्छा कि कभी-कभी हलका-हलका कम्पन होता रहे। ऐसा भीषण कम्पन २५ वर्षों के बाद आया है। आखिरी भूकम्प काँगड़ा में सन् १६०७ में आया था, जिसमें २० हज़ार आदमी मर गये थे। उत्तर भारत हिमालय के समीप है, इसलिए यहाँ भूकम्पों की संभावना अधिक है।

दूसरा दल उन लोगों का है, जो इसे दैवी कोप कहते हैं। क्या दीन, दुखी, दरिद्र, दलित भारत पर ही दैवी कोप को आना था ? या इसे गरीब देखकर दैव भी उसे ठोकर मारता है, जैसे कोई शरीर लड़का पड़े हुए कुत्ते को ठुकरा देता है। और मान लिया दैवी कोप ही है, तो यह क्यों ? इसीलिए, तो कि यहाँ के लोग दैव की समझ में संसार भर से ज्यादा पापी, स्वार्थी और भ्रष्ट हैं। स्पष्ट ही है कि जब तक हम सत्यवादी, परोपकारी और पवित्र न हो जायेंगे, यह कोप हमारे ऊपर से न उतरेगा। लेकिन हम चौरस्तों पर होम तो कर रहे हैं, दुर्गा पाठ तो बैठा रहे हैं, देवी को बकरे चढ़ा रहे हैं, मगर क्या हम असत्य और स्वार्थ और दुष्टाचरण का त्याग कर रहे हैं ? क्या इन आठ नौ दिनों में हमने अपने जीवन को पवित्र बनाया है ? तब दैवी कोप कैसे टलेगा ? होम से और बकरे से भूकम्पवाला देवता प्रसन्न नहीं होता। इन रिश्वतों से तो हमारी छोटी-छोटी देवी-भवानी और देवतागण ही प्रसन्न होते हैं, जो अधिक से अधिक हमें बीमार डाल देते हैं, या हमें घुला-घुलाकर मार डालते हैं। साधु कहता है लोग साधु-सेवा भूल रहे थे, इसलिए दैवी कोप आया। वर्णाश्रम संघ शायद यह कहता

हो कि मन्दिरों को हरिजनों के लिए खुलवाने से कोप आया। पंडे भी फरमाते हों, देवताओं में लोगों को श्रद्धा कम हो गयी, इसलिए देवता कुपित हो गये। इसी तरह दफ्तरों के अमले कहते होंगे, लोग अब दिल खोल कर उनकी पूजा नहीं करते, देते भी हैं तो बहुत रोकर, इसलिए कोप आया। यह सब स्वार्थियों की युक्तियाँ हैं। न दैवी कोप है, न शेषनाग की करवट। यह एक प्राकृतिक विस्फोट है, जो वैज्ञानिक कारणों से आया करता है। इसका मनुष्य के पास कोई इलाज नहीं। अगर कोई इलाज है, तो यही कि शहर की तंग गलियों और ऊँचे-ऊँचे महलों से विदा ली जाय और खुली जगहों में, एकतल्ले, हलके, गहरी नींववाले मकान बनाये जायँ और स्त्रियों के परदे को एकदम तोड़ दिया जाय। अगर परदेवाली स्त्रियाँ, भयभीत होकर लज्जावश घरों में न छट-पटाकर—दौड़ती हुई खुली जगहों तक आ जातीं, तो बहुत संभव है कि इतनी जानें न जातीं।

लेकिन हमारे लिए यह बिल्कुल नयी परिस्थिति है और अपने को उनके अनुकूल बनाने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

२६ जनवरी १६३४

बिहार की विपत्ति और काशी

हमें यह जानकर खेद हुआ कि बिहार की सहायता के प्रश्न पर यहाँ की दो प्रमुख सेवा-संस्थाओं में मतभेद हो जाने के कारण अभी तक संगठित रूप से कुछ नहीं किया जा सका। दोनों ही अलग-अलग अपनी खिचड़ी पका रही हैं और ऐसे नाजुक वक्त में भी सहयोग नहीं कर सकतीं। हम काशी सेवा समिति और काशी-नागरिक-मंडल दोनों ही के कार्यकर्ताओं से विनय के साथ अनुरोध करते हैं कि परस्पर के वैमनस्य पर पानी डालकर एक दिल से बिहार की सहायता करके काशी का गौरव बढ़ायें।

२६ जनवरी १६३४

भूडोल और काशी के अधिकारी

अगर हमारे एक योग्य मित्र की यह शिकायत ठीक है कि काशी के अधिकारियों ने भूकम्प के अवसर पर जनता की कोई मदद नहीं की, किसको क्या नुकसान पहुँचा है, इसकी कोई जाँच नहीं की गयी, जर्जर मकानों को खाली कराके घरवालों को स्वर-क्षित स्थानों में ठहराने का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया, जनता की घबराहट को दूर

करने के लिए एक विज्ञप्ति तक न निकाली गयी, तो हमें इसका खेद है। हमें आशा है कि काशी के अधिकारी-वर्ग अपनी ज़िम्मेदारी को समझेंगे और जनता को निराशा या बेकसी का कड़ुवा मज़ा न चखायेंगे। विशेषकर जब हाकिम ज़िला और हाकिम शहर दोनों ही हिन्दुस्तानी हैं, तब तो हम उनसे सहायता और सहानुभूति की और भी आशा रखते हैं। अगर हमारे भाई हमारे अफ़सर होकर हमारी ओर से मुँह फेर लें, तो ग़ैरों से क्या आशा की जाय।

२६ जनवरी १९३४

विपत्ति-विपत्ति !

१९३४ अवश्य अपने साथ विपत्तियों का समुद्र लेकर आया है। भारत, चीन, और मेक्सिको की अरबों की हानि भूडोल से हो गयी। हमारे देश में बिहार तथा युक्त-प्रांत के काशी, इलाहाबाद आदि की गहरी हानि का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। नेपाल बरबाद हो गया। पड़ोसी चीन की हानि की कहानी बड़ी दर्दनाक है। दर्दनाक ज्यादा इसलिए है, कि वहाँ रेल, तार-डाक आदि का प्रवन्ध न हो सकने के कारण सहायता नहीं पहुँच सकती, या बहुत देर में पहुँचेगी। इधर कई हवाई जहाज़ों के टूटने, गिरने, नष्ट होने के समाचार एक ही महीने में प्राप्त हो चुके। २८ जनवरी का समाचार है कि अण्टार्कटिक खोज का बेड़ा, अर्थात् कप्तान बर्ड का दल भंग हो गया और ४३ आदमी बर्फ पर "तैर" रहे हैं। एक स्थान में हजारों आदमी बर्फ की आँधी में बरबाद पड़े हैं। बर्फ ने उनकी जान ले ली। मोटर तथा साइकिल दुर्घटना का औसत दुगुना हो गया है। चोरी-डकैती के समाचारों से अखबार भरे पड़े हैं। ज्योतिषियो ने १९३४ को "उत्पातों" का वर्ष बतलाया है। लक्षण भी ऐसे ही प्रतीत हो रहे हैं। भारत में—बिहार आदि भागों में—जो गन्दगी फैल गयी है, चीन में जो उत्पात हो गये, उनसे गहरी बीमारी तथा संक्रामक रोगों के विस्तार का भय है। ऐसे विपत्ति के युग में ईश्वर ही रक्षा करे।

आश्चर्य है कि मनुष्य को महत्वाकांक्षाओं, उसके साधनों, रचनाओं की इतनी कृत्रिमता तथा उसकी परवशता की, इतनी लाचारी की दुर्दशाओं की, ऐसी अवस्था देखते हुए भी, उसकी आँख नहीं खुल रही है तथा वह लालसा, लोभ, लालच, द्वेष, मत्सर के गढ़े में गिरता ही जा रहा है। ईश्वर हमें अब भी बुद्धि दे !

५ फरवरी १९३४

मुंगेर मुजफ्फरपुर की दशा

श्रीयुत् जवाहरलाल नेहरू ने यह स्पष्ट कहा था कि यदि बिहार-सरकार तत्परता से काम लेती, तो मुज़फ्फरपुर में इतनी तबाही न आती तथा भूकम्प के तीन दिन बाद तक उसका कुछ न करना, इस नगर के लिए—अभागी निस्सहाय जनता के लिए—बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ। ३१ जनवरी को काशी टाउनहाल के मैदान में काशी के सर्वमान्य नेता श्री संपूर्णानन्द जी का जो रोचक व्याख्यान हुआ था, उससे भी यही प्रतीत होता है कि मुंगेर में सरकार से जो आशा की जानी चाहिए थी, तथा समाचार-पत्रों में सरकारी विज्ञप्तियों से जो विश्वास हो गया था, वह वास्तविकता से दूर है तथा इस मुसीबत के समय भी सरकार का सरकारीपन दूर नहीं हुआ तथा "नौकरशाही" नौकरशाही ही बनी रही। मि० जायसवाल ने दस दिन पहले ही कहा था कि मुंगेर के विषय में सरकारी कार्य देखकर यह कहना पड़ता है कि बीसवीं सदी की सभ्य कहलानेवाली सरकार "ऐसा" कर सकती है। हमें यह देखकर बड़ा दुःख होता है। बड़ी लज्जा आती है तथा यदि सरकार के ऊपर आक्षेप सत्य है, तो इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ेगा। श्री संपूर्णानन्द जी का कहना है कि ताता कम्पनी की जिस सहायता का बड़ा डंका पीटा गया है, वह भी ठिकाने से नहीं बाटी गयी है। मुंगेर में आर्तों के लिए केवल एक हज़ार टन "टिन" ही मिले हैं, जो बहुत कम हैं। दाल में नमक के बराबर है। उनके कथन से तो यह भी प्रतीत होता है कि सहायता कार्य में शीघ्र ही सरकारी तथा गैरसरकारी लोगों में पूरा मतभेद हो जानेवाला है।

"आज" में श्री संपूर्णानन्द जी का मुंगेर से भेजा हुआ पत्र छपा था। इससे पता चलता है कि यद्यपि राजेन्द्रबाबू ने बाहरी "आदमियों" की सहायता नहीं माँगी थी, पर यदि बाहरी लोग पहुँच गये होते और मलबा साफ कर देते, तो हज़ारों जानें, जो केवल "भूख-प्यास" से तड़प कर मरी हैं, बच जातीं। यह सन्तोष का विषय है कि कुछ बाहरी लोग स्वयं चले गये थे! हमें यह रिपोर्ट पढ़कर बड़ा खेद होता है। जो भूख-प्यास से मर गये, उनकी पीड़ा की कल्पना भी असंभव है। खैर, जो होना था, वह तो हो गया। जो बाहरी दल स्वयं पहुँच गया था, वह बिहार की कृतज्ञता का पात्र है, यद्यपि यह कृतज्ञता नहीं, पर सेवा की सार्थकता ही उसे अभीष्ट है।

५ फरवरी १९३४

सेवा समिति का सराहनीय कार्य

विगत चन्द्रग्रहण के अवसर पर भीड़ कम होने पर भी यात्रियों का काफी जमाव था और ईश्वर ने वर्षा और शीत के कारण उन्हें काफी कष्ट दिया था, पर काशी सेवा

समिति ने यात्रियों की सुविधा तथा सेवा के लिए जो प्रबन्ध किया था, वह सराहनीय था और इसके लिए उसके मंत्री श्री बेनी प्रसाद जी तथा सहायक मंत्री श्री त्रिवेणीदत्त जी धन्यवाद के पात्र हैं। सेवा समिति ने भूकम्प पीड़ितों की सहायतार्थ बड़ा परिश्रम किया है और अब उसने नगर के भूकम्प पीड़ितों की सहायता के लिए एक कमेटी भी बना दी है। आशा है, यह कमेटी अपने परिश्रम में सफल होगी। हमारा विश्वास है कि भूकम्प से इस नगर की भी बड़ी हानि हुई है और चूँकि सरकारी तौर पर अभी इसका कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है, सेवा समिति का यह कार्य उसके नाम तथा यश के अनुकूल होगा।

काशी सेवा समिति नगर की प्राचीन तथा महत्वपूर्ण संस्था है और यहाँ की हरेक नागरिक संस्था को उसके अन्तर्गत, सहयोग तथा सेवा द्वारा, उसकी सहायता करनी चाहिए।

५ फरवरी १९३४

बिहार और देशी रियासतें

बिहार की परिस्थिति के विषय में बाबू राजेन्द्र प्रसाद का जो बयान प्रकाशित हुआ है, उसे पढ़कर बिहार के पुनरुद्धार का प्रश्न अपने भीषण रूप में हमारे सामने आ जाता है। एक तरह से उत्तरी बिहार को फिर से आबाद करना पड़ेगा। इस अवसर पर समस्त राष्ट्र ने जिस बन्धुत्व का परिचय दिया है और दे रहा है, वह बहुत ही आशाजनक है। बड़े-बड़े शहरों में ही नहीं, छोटे-छोटे क़सबों और मदरसों और दफ्तरों में भी बड़ी तत्परता से चन्दे जमा किये जा रहे हैं और लगभग पन्द्रह लाख रुपये नकद और लाखों रुपये के कपड़े और कम्बल और अनाज भेजे जा चुके हैं। चारों ओर से राष्ट्र के सेवक पहुँच गये हैं और अपने विपत्ति के मारे भाइयों की सेवा कर रहे हैं। मगर अभी तक डुमराव और गोंडाल के राजाओं के सिवा हमें किसी ऐसे राजा का नाम न मिला जिसने उद्धारकार्य के लिए कोई बड़ी रकम दान की हो। जो लोग लाखों रुपये साल मोटरों और सैर-तमाशों पर ख़र्च कर देते हैं, वह ऐसे मौके पर दो-दो, चार-चार हज़ार देकर अपने कर्तव्य से मुक्त नहीं हो सकते। अगर डुमरांव के राजा ५० हजार दान दे सकते हैं, तो ऐसे कितने ही महाराजे हैं, जो दो-दो, चार-चार लाख दे सकते हैं। शायद इतना वे वाइसराय की एक-एक दावत में खर्च कर देते होंगे। कितने खेद की बात है कि जिस देश में पचासों तिलकधारी हों, वहाँ इन तीन सप्ताहों में ५० लाख भी जमा न हो जायें। इतना लिख चुकने के बाद हमें यह जानकर बड़ा संतोष हुआ कि महाराज दरभंगा ने बिहार पीड़ितों की सहायता के लिए छब्बीस लाख का दान दिया है।

१२ फरवरी १९३४

क्या होनेवाला है ?

१५ जनवरी को भूकम्प का जो सिलसिला शुरू हुआ था, वह आज एक महीना हो जाने पर भी बदस्तूर जारी है। आये दिन कम्पन होते रहते हैं। यहाँ तक कि १२ फरवरी को भी ज़ोर का धक्का हुआ। जो कुछ बचा-खुचा था, वह भी स्वाहा होता जा रहा है। दैत्यराज तो अपना ज़ोर दिखा चुके, अब उनके सामन्तों की बारी है। हम सैकड़ों मील के फासले पर बैठे हुए वहाँ के समाचार सुन-सुनकर काँप उठते हैं, तो जो लोग उन मुसीबतों को झेल रहे हैं, उनके मन में क्या दशा होगी। इतना अवकाश भी तो मिले कि लोग भविष्य के विषय में कुछ सोच सकें। जब नंगी तलवार सिर पर लटक रही हो—यह खटका लगा हो कि न जाने कब भूकम्प का धक्का हवा के झोंके की तरह आ जाय—तो मन पर एक अन्धकारमय निराशा का आ जाना स्वाभाविक है। घर के आदमी गये, घर गया, जायदाद गयी, उस पर अपनी जान का भरोसा भी नहीं। फिर कहाँ से अब वह उत्साह आये, जो रेत में बेल उपजाने का साहस करता है। यही प्रश्न विकराल रूप धारण किये सामने खड़ा रहता होगा—क्या होनेवाला है ? माया का प्रबल बंधन भी ऐसी दशा में शिथिल हो जाय, तो क्या आश्चर्य है। माया को अपना स्वप्न साम्राज्य रचने के लिए भी तो कोई आधार चाहिए, चाहे वह कितना ही असार क्यों न हो। भूकम्प ने तो माया को भी परास्त कर दिया।

और तरह-तरह की अफ़वाहें इस आतंक को और भी बढ़ाती रहती हैं। एक वैज्ञानिक का अनुमान है कि बिहार में किसी ज्वालामुखी के फटने की आशंका है। एक दूसरा दल कहता है कि उत्तरी बिहार भूकम्प के मार्ग में आ गया, और इस तरह की दुर्घटनाएँ वहाँ उसी तरह आती रहेंगी जैसे जापान में आती रहती हैं।

मगर मानव-जीवन का इतिहास प्रकृति पर विजय पाने की एक लम्बी कथा के सिवा और क्या है। संसार में कैसी-कैसी प्रलयंकरी बाधाएँ नहीं आयीं। लेकिन, मनुष्य जाति आज भी प्रकृति के सामने उसका सामना करने को तैयार है। कहते हैं १७३७ में बिहार में इससे भी भयंकर भूकम्प आया था, जिसमें तीन लाख से ज्यादा जानें गयी थीं। जापान में १९२७ में जो भूकम्प आया था, उसमें कई लाख आदमी मर गये थे। लेकिन जापान आज संसार का शक्तिशाली राष्ट्र है, उस भूकम्प का वहाँ कोई चिह्न भी नहीं रहा। हाँ, ज़रूरत इस बात की है कि राष्ट्र एक दिल होकर पीड़ितों की सहायता करने पर तुल जाय। बिहार हमारा समर क्षेत्र है। मुजफ्फरपुर और मोतिहारी और मुंगेर और सीतामढ़ी वह मोर्चे हैं, जहाँ प्रकृति की शक्तियाँ गोली बरसा रही हैं। क्या हम अपने वीर सैनिकों को शत्रु के गोलों के शिकार होते देखकर भी शान्त बैठे रहेंगे। युद्ध में लड़नेवाले थोड़े होते हैं, लेकिन उनकी पुश्त पर सारा राष्ट्र होता है। योरोपीय महायुद्ध में पचास लाख आदमी मरे थे, और अरबों की हानि हुई थी। मुंगेर

और मोतिहारी से कहीं विशाल नगर भूमिस्थ हो गये थे, पर राष्ट्रों की संयुक्त शक्ति ने उन खंडहरों को फिर गुलजार कर दिया। वहाँ आदमी का आदमी से मुक़ाबिला था। यहाँ आदमी का प्रकृति से मुक़ाबिला है, और आदमी ने सदैव प्रकृति पर विजय पायी है। अब की भी उसकी विजय होगी। शर्त यही है कि राष्ट्र अपने सैनिकों की मदद के लिए हर तरह का त्याग करने को तैयार हो जाय, और जब हम राष्ट्र शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा आशय केवल जनता नहीं होता, बल्कि उसमें हम सरकार को भी शामिल करते हैं, जो राष्ट्र का सबसे समर्थ अंग है। इस पच्चीस लाख चन्दे से उकड़ा हुआ बिहार आबाद नहीं हो सकता। सरकार ने एक-एक लड़ाई के लिए करोड़ों कर्ज़ लिये हैं, क्या इस अवसर पर वह दस-बीस करोड़ रुपये कर्ज नहीं ले सकती? जर्मनों से लड़ने के लिए भारत ने एक अरब इकट्ठा कर दिया था। क्या वही भारत एक संपूर्ण प्रान्त की रक्षा के लिए उसकी चौथाई रक़म भी जमा नहीं कर सकता? योरोपीय युद्ध में भारत से दस लाख सिपाही तोपों के ईंधन बनने के लिए भरती किये गये थे। क्या बिहार की आबादी के लिए इससे दुगने आदमी नहीं भरती किये जा सकते? बिहार के एक प्रोफेसर साहब का प्रस्ताव है कि पीड़ित क्षेत्रों में काम करने के लिए मजदूरों से सरकारी तौर पर बेगार ली जानी चाहिए। देश में बेकारी बढ़ रही है। अगर सरकार अन्य प्रान्तों में मजदूरों की भरती जारी कर दे, तो हमें विश्वास है कि आदमियों का तोड़ा न रहेगा। बिहार के एक मिनिस्टर साहब ने यह प्रस्ताव किया है कि सरकारी नौकरों को अपनी आमदनी की दो फ़ी सदी कई महीनों के लिए खुशी से देना चाहिए। सरकारी नौकरों से ज़्यादा खुशहाल इस समय समाज का और कोई अंग नहीं है। एक सौ रु० से ऊपर के वेतन भोगी अहलकार अगर अपनी आमदनी का दस फी सदी भी एक साल तक देते रहें, तो उन्हें कोई कष्ट न होगा, और कष्ट हो भी तो उसे सहना उनका कर्तव्य है। जब एक पूरा प्रान्त विपत्ति-ग्रस्त हो रहा है तो क्या वे उसके उद्धार के लिए थोड़ी-सी तकलीफ़ न उठा सकते।

इस वक्त तक कुल मिला कर उद्धार कार्य के लिए लगभग पच्चीस लाख का चन्दा जमा हुआ है, लेकिन जैसा श्री श्रीप्रकाश ने सहयोगी "आज" में लिखा है, बिहार को तत्काल पाँच करोड़ धन की जरूरत है। अभी तक केवल इसका आठवाँ भाग वसूल हुआ है। और अभी तक सरकार ने इस आघात की भीषणता नहीं पहचानी है। इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी मशीनरी को चलते देर नहीं लगती है, मगर एक महीना निकल जाने पर भी इसका निश्चय नहीं किया जा सका कि क्या करना है। इस मौके पर तो सरकारी और गैर सरकारी का भेद मिट जाना चाहिए और क्या ही अच्छा हो कि दोनों ही फंड मिला दिये जाँय और अन्य संस्थाएँ जो रिलीफ के काम में लगी हुई हैं ममत्व और वाहवाही के ध्यान को छोड़कर सहयोग कर सकें। मालगुजारी और लगान तो बिलकुल मुआफ हो जाना चाहिए। बिहार की सरकार मकानों की तामीर के लिए कर्ज देना एक कानून

बना रही है। इस दफ्तरी और जाब्ते की कार्रवाइयों में व्यर्थ समय नष्ट होगा। लेकिन जैसी परिस्थिति है, उसमें तत्काल किसी बड़े परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। हाँ, अगर सरकारी रिलीफ में कुछ इस तरह का समझौता हो जाय कि भोजन और वस्त्र तो दोनों फंडों से दिया जाय, और कुओं की खुदाई, खेतों से बालू की सफाई, और मकानों की मरम्मत और बनवायी और दूकानदारों और काश्तकारों को अपना धन्धा फिर से चलाने के लिए धन की व्यवस्था सरकारी तौर पर की जाय। भोजन, वस्त्र और आहतों के सेवा शुश्रूषा तो पुण्यार्थ ही होगा। दूसरे काम तो सरकारी कर्ज की मदद से ही होंगे। हमें यह जानकर हर्ष हुआ कि महात्मा गान्धी स्वयं बिहार आ रहे हैं, और आशा है, कि उनकी उपस्थिति से बहुत-सी समस्याएँ आसानी से सुलझ जायेंगी।

१९ फरवरी १९३४

देव मंदिर और भूकम्प

हमें नेपाल के प्रधान व्यक्ति से यह सुनकर अत्यंत संतोष और गर्व हुआ कि जहाँ काठमाण्डू मट्टन और अन्य स्थानों में बहुत से मकान गिर गये, वहाँ देव मंदिर एक भी नहीं गिरा और इस पर उन महोदय ने श्रद्धा-विहीन लोगों को दिखाया है कि देवताओं में कितनी बड़ी शक्ति है। क्यों न होगी? यह भूकम्प असल में उनके लिए तो आया ही न था। देवता और ईश्वर तो एक प्रकार से नातेदार हैं। कोई ईश्वर का भाई है, कोई साला, कोई बहनोई। नातेदार की रक्षा तो सभी करते हैं। इसमें नयी बात क्या हुई। भूकम्प तो आया था उन लोगों को दंड देने के लिए, जो महात्मा गांधी के मत से अछूतों पर अन्याय करते हैं, पोगा पंथियों के मत से अछूतों के लिए मंदिर खुलवाते हैं, अहलकारों के मत से जो रिश्वत नहीं देते, मुल्लाओं के मत से जो दाढ़ी नहीं रखते। मगर ऐसा मालूम होता है कि देवताओं में भी दो दल हो गये हैं, क्योंकि जहाँ नेपाल के देव मंदिरों में एक को भी आँच नहीं आयी, वहाँ बिहार में कितने ही देवालय लोप हो गये और मसजिदों का निशान मिट गया। ऐसा मालूम होता है कि स्वाधीन नेपाल के देवताओं में कुछ अधिक शक्ति होगी। पराधीन भारत के देवता भी आखिर दुर्बल ही होंगे।

हमें तो यह देखकर दुःख होता है, कि अच्छे खासे समझदार लोग इस तरह की बातें करते हैं। संसार में आदिकाल से भय का राज्य रहा है, समाज में भी, धर्म में भी चोरी मत करो, नहीं राजा दंड देगा। पाप मत करो, नहीं ईश्वर दंड देगा। इस प्रकार ईश्वर की कल्पना भी एक बहुत बड़े तेजस्वी और भयंकर राजा की थी। यह कभी नहीं कहा गया कि चोरी मत करो, इससे तुम्हारे भाई को कष्ट होगा, या पाप मत

करो, इससे तुम्हारे समाज को कष्ट होगा। हमारे नीतिकारों ने इस मानवी भावना का आधार न लेकर, भय का आधार लिया और ऐसा स्वाभाविक भी था। जंगली दशा में मनुष्य को प्रकृति का रौद्ररूप ही अधिक दिखायी देता था और लोग अपने पास की बहुमूल्य चीज़ें उसे भेंट देकर, उसका क्रोध शान्त करते थे। क्रोध शान्त होता था या नहीं, लेकिन कम से कम उन जंगलियों को यह सन्तोष हो जाता था कि हमसे जो कुछ हो सकता था, वह हमने कष्ट निवारण के लिए कर दिया। और वह भय भावना आज तक हमारे दिलों पर हावी है। यह उसी भावना का प्रताप है कि हमें नरक का भय दिखा कर आज करोड़ों पाखंड हमें उल्लू बना रहे हैं। शासन मनुष्य कृत वस्तु है। मनुष्य भय पर अपना अस्तित्व जमाये, तो हम उसे क्षम्य समझते हैं, लेकिन सर्वशक्तिमान् ईश्वर को भी भय का ही सहारा लेना पड़े, जब वह अपने प्रेम का अखंड विस्तार दिखा सकता है, यह उस ईश्वर के लिए गौरव की बात नहीं हो सकती। कहते हैं, ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। तो फिर उसकी इच्छा के बिना आज हज़ारों बरस से हिन्दू-समाज ने हरिजनों पर अत्याचार क्यों किया? ईश्वर यह सब अन्धेर देखकर भी क्यों चुप बैठा रहा? क्यों नहीं उसने अपने प्रेम की ज्योति से सबको वशीभूत कर लिया? मज़ा यह है कि कोप आना चाहिए था, केवल अन्यायियों पर, मगर उसमें पिस गये हरिजन भी। कई दार्शनिकों का मत है कि ब्रह्मांड केवल "चित्त" है। हो सकता है। बालू का कण भी परमाणु है, लेकिन बालू का कण चाहे कि हिमालय को हिला दे, तो उस कण की घोर मूर्खता है। फिर जब हमारी बुद्धि इतनी परिमित है, तो यह क्यों नहीं कहते कि दादा ईश्वर की लीला ईश्वर जानें। हम इस विषय को कुछ नहीं जानते।

२६ फरवरी १९३४

आकस्मिक प्रकोप बिल

बिहार में आकस्मिक बिल पास हो गया। इसके अनुसार बिहार सरकार भूकम्प पीड़ितों को बराय नाम सूद पर कर्ज़ देगी और १०, १५ वर्ष में किस्तवार वसूल करेगी। ऐसे कानून की इस वक्त बड़ी ज़रूरत थी और यदि यहाँ भी वही लबड़ धौं-धौं हुआ जो सरकारी कामों में हमेशा हुआ करता है, तो इससे प्रजा का बड़ा उपकार होगा। यह एक काम बिहार सरकार ने ऐसा किया है, जिसकी जितनी तारीफ़ की जाय कम है। विलम्ब के लिए हम सरकार को दोषी नहीं ठहराते। सरकारी कामों में कुछ न कुछ विलंब हो ही जाता है। खटकती है, यह बात कि यह कर्ज़ उन्हीं लोगों को दिया जायगा, जो जायदादवाले हैं। यहाँ भी आ गयी, वही जायदादवाली पख। हम पूछते हैं,

जिनकी सारी लेई पूंजी लेकर जमीन में धँस गयी या जिस-जिस मकानदार के सारे मकान जमीदोज़ हो गये या जिस किसान के खेतों में पानी भर गया वे गरीब किस जायदाद के बल पर कर्ज लेंगे। और जिनके पास जायदाद है, उन्हें कर्ज देनेवाली एक सरकार ही थोड़े ही है। उन्हें तो बैंकों और महाजनों के द्वार खुले हैं, और संभव है, इस परिस्थिति में उन्हें पाँच, छः फी सदी पर कर्ज मिल जाय। रोना तो उन्हीं बेचारों का है, जो जायदादवाले थे, मगर अब फाकेमस्त हैं। उनके लिए सरकार क्या कर रही है ? हम तो समझते हैं, सरकार को बिहार चेम्बर आफ़ कामर्स की इस सलाह पर विचार करना चाहिए, कि सहकारी समितियों और प्राइवेट बैंकों से सरकार अपनी ज़िम्मेदारी पर कर्ज़ दिलवाये। आप खाने के लिए तो कर्ज दे नहीं रहे हैं, कि कोई खाकर रफूचक्कर हो जायगा। आप तो दे रहे हैं, मकान बनाने के लिए। क्या असामी मकान सिर पर लेकर भाग जायगा। वह भाग भी जाय, तो मकान तो रहेगा। उसे बेचकर रुपये वसूल किये जा सकते हैं। जो कुछ भी हो, अगर सरकार ने केवल जायदादवालों तक इस कानून को सीमित रखा, तो इससे वास्तविक लाभ बहुत कम होगा।

२६ फरवरी १९३४

बिहार की परिस्थिति

समाचार-पत्रों में यह पढ़कर हमें खेद हुआ था कि बिहार में अब तक देहातों की तरफ़ ध्यान नहीं दिया गया और सभी सहायक और सेवा समितियाँ नगरों ही तक सीमित हैं। लेकिन बिहार सेन्ट्रल रिलीफ कमेटी की ताज़ी रिपोर्ट देखने से मालूम होता है कि पहले चाहे ऐसी अवस्था रही हो, पर अब देहातों में भी मदद पहुँचायी जा रही है। तत्कालिक अवस्थाएँ तो पूरी होती जाती हैं, लेकिन नयी-नयी समस्याएँ खड़ी होती जाती हैं। उनमें सबसे विषम समस्या है बालू से पटी हुई जमीन को साफ़ करना, जानवरों के लिए चारे का प्रबन्ध करना और खड़ी ऊख पेलने का कोई उपाय निकालना। एक बीघा जमीन की सफ़ाई में औसतन तीस रु० खर्च होते हैं। अनुमान किया गया है कि औसतन बीस लाख एकड़ जमीन खराब हो गयी है। उसकी सफाई के लिए कितना धन दरकार होगा, इसका तखमीना किया जा सकता है। कई गाँवों में चारे की कमी से जानवर मरे जा रहे हैं, और अब किसानों ने निश्चय किया है कि उन्हें ऊख काटकर खिलायी जाय। शक्कर की मीलों के विध्वंस हो जाने से ऊख का अब कोई ग्राहक नहीं रह गया और जो दो चार मिलें बाक़ी हैं, वह कौड़ियों के मोल ऊख लेना चाहती हैं। सरकार किसानों को बेलन मुहय्या करने का प्रबन्ध कर रही है, लेकिन भय है कि जब तक बेलन आये ऊख सूख न जाय। उधर बीमारियों के फैलने का भय भी हो रहा है।

मालूम नहीं बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने आत्मनिर्भरता के लिए जो अपील की थी, उसका क्या असर हुआ, पर हमारा ख्याल है, जब तक सरकार पीड़ितों को सस्ता कर्ज़ दिलाने का प्रबन्ध न करेगी, बिहार का उद्धार होना मुश्किल है। दो-चार महीने अन्न वस्त्र देने का प्रश्न होता तो वह चन्दों से पूरा हो जाता, लेकिन वहाँ तो चार पाँच जिलों के पुनर्निमाण का प्रश्न है, दस-बीस लाख से हल नहीं हो सकता।

१२ मार्च १६३४

भाई जी का आछेप

भाई परमानन्द जी अपने उर्दू पत्र "हिन्दू" के एक सम्पादकीय नोट में लिखते हैं—

"लोग यह पढ़कर हैरान होंगे कि अगरचे मुल्क के सारे अखबारात में सेंट्रल रिलीफ़ कमेटी का और बाबू राजेन्द्रप्रसाद का नाम और उसका ही चर्चा हो रहा है, ताहम बिहार के मुसीबतज़दा हिस्से में अभी तक उन्होंने कोई काम किया है, न उनके काम या नाम का कहीं जिक्र ही है।.... काँग्रेस और उसके काम की धाक ऐसी जमी बैठी है कि खुद बिहार से भी कोई आदमी उसके रिलीफ़ के काम पर रोशनी डालने की जुर्रत नहीं करता।

रिलीफ़ कमेटी पर आलोचना का हरेक प्राणी को अधिकार है और आलोचना से आलोचक को कुछ फ़ायदा ही होता है, लेकिन ऐसी आलोचना किस काम की, जिसमें केवल पक्षपात हो। हिन्दू सभा ही ने क्यों रिलीफ़ को हाथ में नहीं लिया ? भाई परमानन्द ही क्यों बाबू राजेन्द्र प्रसाद की जगह नहीं हुए ? इसका कारण यही है कि काँग्रेस और उसके नेताओं ने देश के लिए जो बलिदान किये हैं, उनका देश आदर करता है और उन्हीं नेताओं पर विश्वास करता है। यहाँ तो केवल सेवा और त्याग का प्रश्न है। जो दल समाज के लिए बलिदान करेगा, वही समाज का विश्वास पात्र होगा।

२६ मार्च १६३४

सेंट्रल रिलीफ और वाइसराय फंड

हमें अपने एक बिहारी मित्र से मालूम हुआ कि सेन्ट्रल रिलीफ़ और वाइसराय-रिलीफ़ फंडों का संमिश्रण जनता की दृष्टि में कुछ जँचा नहीं। अगर यह मालूम होता

कि सेन्ट्रल फंड भी वाइसराय फंड ही में मिला दिया जायगा, तो सभी वाइसराय फंड ही में देते। कितनी ही जगह तो सेन्ट्रल रिलीफ़ के कार्यकर्ताओं और सहायकों को सरकार के कर्मचारियों से बैर मोल लेना पड़ा। वाइसराय रिलीफ फंड में गर्वमेंट की सारी शक्ति काम कर रही थी और उसके दाता धनी लोग थे। सेन्ट्रल रिलीफ़ फंड में अधिकतर ग़रीबों ने भाग लिया और उसके अधिकांश कार्यकर्ता काँग्रेसी थे। जनता को भय था कि वाइसराय फंड से गरीबों का उतना उपकार न होगा, जितना सेन्ट्रल फंड से। वह इसका प्रबन्ध अपने हाथ में रखकर कुछ इस तरह उसको खर्च करना चाहती थी कि जनता का उससे अधिक उपकार होता। वाइसराय फंड से सहायता मिलने में जो विलम्ब और जाब्ते की पाबंदियाँ अनिवार्य हैं, उन्हें वह सेन्ट्रल रिलीफ़ में यथाशक्ति कम कर देना चाहती थी, और कम से कम खर्च में अधिक से अधिक कामकर दिखाना चाहती थी। दोनों फंडों के मिल जाने से जनता में सेन्ट्रल फंड के प्रति अब वह जोश नहीं रहा। मालूम नहीं कि हमारे मित्र का यह अनुमान कहाँ तक सत्य है। जनता के विश्वासपात्र नेताओं ने जो कुछ किया है जनता के लाभ को ही सामने रख कर किया, लेकिन जनता को इस एकीकरण के लिए पहले से तैयार नहीं किया गया। अगर जनता को विश्वास दिला दिया जाता कि मौजूदा हालतों में इससे अच्छा प्रबंध नहीं किया जा सकता था तो उन्हें यह विश्वास न होता।

३० अप्रैल १९३४

बिहार के लिए मि० ऐंडूज़ की अपील

इंग्लैण्ड में, कहा जाता है, बिहार की सच्ची स्थिति अभी तक बहुत कम आदमियों को मालूम है, और मि० ऐंड्रूज़ ब्रिटिश जनता को बिहार की दशा समझा रहे हैं और उसके लिए अपील कर रहे हैं। एक भाषण में उन्होंने कहा—जिस समय ब्रिटेन संकट में था, भारत ने एक अरब रुपये से उसकी मदद की थी। आज भारत का एक पूरा प्रान्त वीरान हो गया है। उसके लिए इंग्लैण्ड और उसकी सरकार क्या कर रही है? मि० ऐंड्रूज़ शायद भूल जाते हैं कि भारत, भारत है और ब्रिटेन, ब्रिटेन, और दोनों कभी एक नहीं हो सकते। भारत ने हमेशा अपना घर फूंककर तमाशा देखा है। यहाँ के लोग ऋषियों की सन्तान हैं, जिनका सारा जीवन ही यज्ञ होता था। भारत आज इस गिरी हुई दशा में भी पचास लाख साधुओं और पाँच करोड़ पंडों-पुजारियों को तर माल खिला रहा है। उसके लिए एक दो अरब कोई बात नहीं; मगर ब्रिटेन तो सारे काम तिजारत के नियमों से ही करता है, वह भला ऐसी भावुकता के झमेले में क्यों पड़ने लगा। भारत उसके माल की मण्डी है, और उसकी फ़ालतू आबादी के लिए धन

कमाने का क्षेत्र । बस भारत को वह इसी दृष्टि से देखता है । बिहार में नये-नये मकान बनवाने के लिए अगर अच्छे वेतन के इंजिनियरों की ज़रूरत हो, तो इंग्लैण्ड यह सेवा करने के लिए हाजिर है । अगर बिहार को अच्छे वेतन पर कुछ प्रबंधकों की, डाक्टरों की, विशेषज्ञों की ज़रूरत हो, तो इंग्लैण्ड हर्ष से यह सेवा स्वीकार करेगा । मगर गिरे हुए प्राणियों की मदद करना तो तिजारत का कोई सिद्धान्त नहीं है । फिर वह ऐसी बेकायदा बात क्यों करने लगा ? रही यह बात कि इंग्लैण्ड को बिहार की हालत का पता ही नहीं, यह हम नहीं मानते । यह कहिए कि वह जानना नहीं चाहता या जानकर अनजान बनता है । वह क्यों ऐसी बात जाने कि गाँठ से कुछ गँवाना पड़े । कुछ वसूली की बात हो तो देखिये वह कितना मुस्तैद हो जाता है । खानेवाला खिलाना क्या जाने ? और काले आदमियों की ज़िन्दगी की क़दर ही क्या ? पच्चीस-तीस हज़ार आदमी ही तो मरे । चलो इतना कूड़ा कम हुआ । ब्रिटेन जो कुछ करेगा, अपनी दूकानदारी ! इसके सिवा उसके पास कोई दूसरी नीति नहीं है ।

७ मई १९३४

पं० जवाहरलाल की गिरफ्तारी

इस अवसर पर जब कि पण्डित जवाहरलाल जी बिहार के उद्धार कार्य में अपना लहू पसीना एक कर रहे थे, सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करके उदारता का परिचय नहीं दिया । हम इसके लिए तैयार तो थे ही, सरकार ने कोई असाधारण बात नहीं की, लेकिन यह समझते थे कि यह सरकार भी उस काम की कुछ कद्र करेगी, जो पंडित जी इस समय कर रहे थे, लेकिन, मालूम हुआ कि सरकार किसी तरह का सहयोग हमसे नहीं करना चाहती—

सैयाद की मर्ज़ी है कि अब गुल की हवस में,
नाले न करे मुर्ग गिरफ्तार कफ़स में,

१९ फरवरी १९३४

बजट—१९३४

नयी राजनीति में बजट का वही स्थान है, जो जीवन में विवाह का और मरण में श्राद्ध का । इसी धुरी पर सारी मशीनरी चलती है । विवाह में आतशबाजियाँ भी होंगी, जेवर भी बनेंगे, दावतें भी होंगी, नाच भी होगा, घर में रुपये हों या न हों । और

कोई सहारा न हो तो महाजन तो है ही। श्राद्ध में भी बरतन, कपड़े, चारपाई, हाथी, घोड़े और शालदुशाले सभी कुछ चाहिए। दुखी जजमान के पास है या नहीं, इससे प्रयोजन नहीं। महापात्र स्वर्ग द्वार का रक्षक है। जब तक उसे खूब सन्तुष्ट न किया जायगा, मृतात्मा प्रेत योनि में ही चक्कर खाती रहेगी। बजट में भी खर्च पहले रख लिया जाता है और तब उसे पूरा करने के लिए आमदनी का प्रबन्ध किया जाता है। आमदनी देखकर खर्च करना साधारण गृहस्थों का काम है। राजनीति में खर्च का तख्मीना करके आमदनी का जुगाड़ किया जाता है। अगर आमदनी काफी नहीं है, तो कोई बात नहीं। प्रजा पर नये कर लगाये जा सकते हैं। प्रजा झक मारेगी और देगी। और कर भी होते हैं परोक्ष। चीनी पर कर बढ़ गया। चीनी अभी से मँहगी हो गयी। आप खुद चीनी खाना छोड़ सकते हैं लेकिन आपके घर में बच्चे हैं। वे शक्कर के बगैर एक दिन भी तो नहीं रह सकते। सबेरे उन्हें दूध के लिए शक्कर चाहिए, हलवे के लिए शक्कर चाहिए। आप मँहगी चीनी लेने के लिए मजबूर हैं। अगर आपको चीनिया बेगम का सदव्यसन है, तो बिना चीनी के आपको रात भर नींद न आवेगी। और ब्रह्मभोज के लिए भी तो दही चीनी आवश्यक है, नहीं तो पितरों की मुक्ति कैसे होगी? दियासलाई पर भी कर बढ़ गया। बस दूकानदारों ने उसकी कीमत दूनी कर दी। धेले की चीज पैसे की हो गयी। कर लगा बीस फी सदी, दाम बढ़ गया एक सौ फी सदी। अमीरों के लिए कोई बात नहीं। जहाँ दो आने की सलाइयाँ जला डालते थे, वहाँ चार आने की सही। गरीबों की मरन है। खर्च में किसी तरह कमी नहीं हो सकती। फौज पर पचास करोड़ खर्च होता है। उसमें एक पाई भी कमी नहीं हो सकती। फौज की सैनिक शक्ति कम हो जायगी। पुलिस के खर्च में तो किफायत हो ही नहीं सकती। जनता की आमदनी आधी हो गयी। सरकार का खर्च ज्यों का त्यों है। इसका अर्थ इसके सिवा और क्या है कि पहले से कंगाल जनता अब और भी कष्ट झेले, और भी दाने को तरसे। उसके जीवन का उद्देश्य ही इसके सिवा और क्या है कि अपने हाकिमों की जेबें भरे। हाकिम तो हाकिम ठहरा। वह तो आराम से रहेगा, सरकार भी नीति और व्यवस्था की रक्षा करेगी। प्रजा को कष्ट होता है, तो हो! उसको सुनता ही कौन है। ज़मींदार उसका दुश्मन, साहूकार उसका दुश्मन, अहलकार उसका दुश्मन, फिर ऐसे अभागों पर सरकार ही क्यों दया करने लगी। चीनी पर कर बढ़ा, लेकिन किसान को क्या फायदा हुआ। मिल मालिक अपनी चीनी मँहगी बेचकर कमी पूरी कर लेगा। किसान कहीं का न रहा। सरकार अगर मिलों का नफ़ा घटाना चाहती थी, तो उसे चीनी का निर्ख भी तय कर देना था और ऊख का दाम भी। मिल वाले तो मूछों पर ताव दे रहे हैं, पिट गये बेचारे ग़रीब गृहस्थ। सरकार का बस चलता, तो उसने अपने नमकख्वारों के वेतन की पाँच फी सदी कटौती भी पूरी कर दी होती। बहती गंगा में हाथ धोना था, न जाने क्यों चूक गयी। दस-पाँच लाख रुपये क्या जनता

से और न वसूल हो जाते। नमकख्वारों की दुआएँ मिल जातीं। क्या इन्सानियत और शराफ़त है कि प्रजा की आमदनी तो आधी रह गयी, पर सरकार के कर्मचारी पाँच फी सदी सैकड़े की कमी नहीं सह सकते।

और कहा जाता है, बजट बनाना बड़े दिमाग़ का काम है, और बजट को बराबर कर देना अर्थनीति का एक चमत्कार है। हमें तो इससे आसान कोई बात ही नहीं नज़र आती। आमदनी खर्च के तख्मीने से जहाँ कम हुई, चट से एक नया कर लगा दिया। इसमें रखा ही क्या है? अर्थनीति की सफलता बजट के बराबर करने में नहीं है, प्रजा की दशा के सुधार में है। उसके कष्टों की कमी करने के लिए क्या किया जा रहा है? क्या यही नीति है कि छः सेर गेहूँ या चार सेर गुड़ के निर्ख पर जो लगान लिया जाता था, वही सोलह सेर गेहूँ और बारह गुड़ के निर्ख पर भी लिया जाय? सरकार क्यों नहीं सोचती कि उस वक्त का एक रुपया आज के ३ रुपये के बराबर है, मगर वह क्यों इस झंझट में पड़े। मन भर का गेहूँ बिके तब भी किसान खेत जोतेगा और सरकार को तब भी लगान देगा। बला से वह भूखों मरेगा, नंगा रहेगा, उसके बच्चे दाने-दाने को तरसेंगे। उसमें कष्ट सहने की अपार शक्ति है। और केवल ज़बान से नहीं, अन्तःकरण से। उसका भाग्यवाद सरकार का सबसे बड़ा टैक्स कलेक्टर है। वह अपने मरते हुए बालक के लिए एक पैसे की दवा भी नहीं खरीद सकता। जाड़े में ठिठुरता रहे, एक कम्बल नहीं ले सकता, लेकिन लगान के रुपये सौ जतन से छिपाये रहता है, ताकि जमींदार की गाली और डंडे न खाने पड़ें। आराजी से बेदखल न होना पड़े। जहाँ ऐसी जनता हो, वहाँ बजट को बराबर करना क्या मुश्किल है, मगर एसेम्बली में भी और कौंसिलों में अर्थ विभाग के अध्यक्ष को उनकी कल्पनातीत सफलता पर खूब-खूब बधाइयाँ दी गयीं और खूब-खूब क़सीदे पढ़े गये। और यह उस वक्त तक होता रहेगा, जब तक इन सभाओं में काँग्रेस का बहुमत न होगा।

१२ मार्च १९३४

सर मानिक जी दादाभाई की कदरदानी

हिज़ एक्सलेंसी वायसराय को काउंसिल आफ स्टेट के प्रेसीडेंट सर मानिक जी दादाभाई ने उस दिन एक पार्टी में जो खुशनूदी की सनद प्रदान की, उसकी शायद वायसराय को बिलकुल जरूरत न थी और न उससे वायसराय को कोई खास आनन्द मिला होगा, चाहे सर दादाभाई फूले न समाये हों। स्वामी अपने नौकर के मुँह से अपनी तारीफ सुनकर बहुत प्रसन्न नहीं होता और अगर वह प्रसन्न भी हो, क्योंकि आदमी को अपने कुत्ते का दुम हिलाना भी अच्छा लगता है, पर स्वामी के मुख पर

उसकी भटई करना सेवक को शोभा नहीं देता । हम आप से पूछते हैं भारत में ऐसी कौन-सी बग़ावत फैली थी, जिसे वायसराय ने आकर शान्त कर दिया । भारत की दुखी आत्मा एक ऐसी व्यवस्था के लिए फरियाद कर रही थी, जिसमें उसकी कुछ भी आवाज़ हो, वह ऐसे प्रतिनिधि शासन के लिए सवाब का हाथ फैला रही थी, जिसमें उसकी दशा इतनी नगण्य न हो, वह राष्ट्रों की सभा में वही स्थान प्राप्त करना चाहती थी, जो अन्य राष्ट्रों को प्राप्त हैं, वह अपने लिये आत्मोन्नति की वही सुविधाएँ चाहती थी जो अन्य सभी राष्ट्रों को मिली हुई हैं, वह केवल अपने शासकों से यह सिद्धांत मनवाना चाहती थी कि हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए है । केवल देश की आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था को इस तरह सुधारना चाहती थी कि धन का यह प्रभुत्व दूर हो जाय और भारत और ब्रिटेन में शासक और शासित सम्बन्ध न रहकर मैत्री का सम्बन्ध स्थापित हो जाय । किसी वायसराय की तारीफ इसमें थी कि वह भारत को उसके लक्ष्य के समीप पहुँचा देता । दमन से उसका मुँह बन्द कर देना, तो कोई बड़ी तारीफ की बात न थी और एक दरिद्र, निरस्त्र, निरीह प्रजा को कुचल डालने में क्या गौरव है, हम यह नहीं समझ पाते । नमक हलाली बहुत अच्छी चीज है, बेशक, लेकिन औचित्य को क्यों भूलो !

१२ मार्च १९३४

जेल के नियमों में सुधार

बाबू शिवप्रसाद गुप्त देश के उन सर्वमान्य-पुरुषों में हैं, जिन्होंने लक्ष्मी पुत्र होकर भी राष्ट्र के लिए बड़े से बड़े त्याग किये हैं । आप ने हाल में ''जेल के नियमों में सुधार'' नाम का एक पैम्फ्लेट प्रकाशित कराकर जनता का ध्यान उन बुराइयों की ओर खींचा है, जो हमारे जेलों के लिए कलंक हैं,।और कुछ ऐसी योजनाएँ पेश की हैं जिनसे जेलों की दशा बहुत कुछ सुधर सकती है । संसार के प्रायः सभी देशों में यह सिद्धांत मान लिया गया है कि जेल मनुष्य की दुर्बलताओं के सुधारने का एक साधन मात्र है, जिसमें एक नियतकाल तक रहने के बाद आदमी समाज का उपयोगी अंग ब सके, इसी सिद्धांत के अनुसार जेलों के प्रबन्ध में भी इसलाह कर दी गयी है । भारत में अभी तक जेल मनुष्य को कष्ट देने का स्थान समझा जाता है, और इसी दृष्टि से कैदियों के साथ पशुवत व्यवहार किया जाता है । बात-बात पर गाली और मार, ज़रा-ज़रा से कसूर पर लम्बी बेड़ी और काल कोठरी, खराब से खराब खाना, ज़लील से ज़लील कपड़ा यह हमारे जेलों की विशेषताएँ हैं । गुप्त जी का प्रस्ताव है कि जेलों को कारखाना समझा जाय और कैदियों को कुछ हुनर सिखाये जाँय और उनके काम में

मज़दूरी दी जाया करे। खाने का खर्च निकाल कर जो बचे वह कैदी को अपनी इच्छानुसार खर्च करने का अधिकार रहे। आपने खाने, कपड़े, बरतन, शिक्षा, मनोरंजन, व्यायाम आदि के विषय में ऐसे प्रस्ताव किये हैं, जो थोड़े से ज्यादा खर्च से जेलों की कायापलट कर सकते हैं। गुप्त जी को कई बार जेल यात्रा का गौरव प्राप्त हो चुका है, और उन्होंने जो योजनाएँ पेश की हैं, वे उनके प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित हैं और यदि गवर्नमेंट का दृष्टिकोण बदल जाय, तो और सारी बातें बड़ी आसानी से पैदा हो जायेंगी।

१२ मार्च १९३४

बेकारी कैसे दूर हो

देश के सामने इस समय सबसे भीषण समस्या बेकारी है, विशेष करके शिक्षित वर्ग के। वायसराय साहब ने हाल में युनिवर्सिटी सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए इस विषय में जो विचार प्रकट किया, उससे आशा होती है कि शायद सरकार कोई क्रियात्मक आयोजन करे। आपने कहा, कितने ही होनहार छात्र तरह-तरह के कष्ट झेलकर ऊँची से ऊँची परिक्षाएँ पास करते हैं, पर अपनी योग्यता का कोई उपयोग न पाकर निराश हो जाते हैं, और अक्सर बहक जाते हैं। युक्तप्रान्त की सरकार ने कुछ दिन हुए बेकारी के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक कमेटी बनायी थी, उसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित हो गयी है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इस समस्या की ओर से हमारे हुक्काम गाफिल हैं, लेकिन यह हो रहा है कि रोज़ कर्मचारियों को छाँट कर अलग किया जा रहा है। हज़ारों आदमी इस तरह बेकार हो गये। उधर नयी-नयी कलें निकलती आ रही हैं, जिनसे आदमियों का काम बड़ी किफायत से मशीनों द्वारा हो जाता है। अगर कहा जाय कि ऐसी मशीनें देश में आने ही न पायें तो दूसरे मुल्कवाले अपनी चीज़ें यहाँ भर देंगे और हम उनसे मुक़ाबला न कर सकेंगे। फिर सरकारी नौकरों के वेतन इतने ऊँचे रखे गये हैं कि युवकों को कम आमदनी की जगह जँचती ही नहीं। सभी नौकरिओं पर टूटते हैं। फिर बेकारी कैसे दूर हो। उद्योग-धन्धे खोलिये, लेकिन यहाँ भी बाहर की चीज़ों से मुकाबला है। फिर वही संरक्षण का प्रश्न आता है। माल की खपत नहीं होती और पूँजी भी गायब हो जाती है। इस बेकारी का एक ही इलाज है और वह स्वराज्य है। तभी नये-नये उद्योग-धन्धे खोले जा सकते हैं, वैज्ञानिक उपायों से पैदावार बढ़ायी जा सकती है, जहाजी कम्पनियाँ खोली जा सकती हैं। वर्तमान परिस्थिति में तो बेकारी का कोई इलाज नहीं नज़र आता।

१२ मार्च १९३४

चर्चिल पार्टी का नयी चाल

चर्चिल पार्टी ने अपने दो प्रतिनिधियों को इसलिए भारत भेजा है कि वे यहाँ आने वाले विधानों के विषय में जनमत की ठीक-ठीक पता लगाकर उस पार्टी के अंग्रेजी समाचार पत्रों को नया मसाला दें। कई महीने पहले इंडियन डेलीगेशन आया था। शायद यह उसका जवाब है। डेलीगेशन ने भारतवासियों में मिलकर भारत के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की थी। यह दोनों सज्जन जिनमें एक साहब बंबई के गवर्नर रह चुके हैं, शायद तस्वीर का दूसरा रुख दिखाने की चेष्टा करेंगे। भारत में आज भी ऐसे जीव पड़े हुए हैं, जो राजा और ईश्वर को एक समझते हैं, और प्रजा को राजा के काम में दखल देने का कोई हक़ ही नहीं देना चाहते। फिर ऐसे गोरे हुक्काम की भी कमी नहीं है, जिन्हें श्वेत पत्र के नाम से ही लर्ज़ा चढ़ आता है। हालाँकि जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है उसने श्वेत पत्र मर्सिया पढ़ दिया और उसका आना न आना बराबर समझता है। बल्कि बहुमत तो उन्हीं राजनीतिज्ञों का है, जिनकी धारणा है कि तब भारत और भी पराधीन हो जायगा, मगर ये दोनों महानुभाव उस मुर्दे को मारने के लिए राजाओं, खुशामदियों और अफ़सरों की रायें संग्रह करके अंग्रेजी अखबारों में छपवायेंगे। यह है राजनीति !

१९ मार्च १९३४

होम मेम्बर साहब की शीरीं बयानी

यू० पी० सरकार के होम मेम्बर कुँअर जगदीश प्रसाद साहब ने तो पुलिस को अल्लामियाँ की गाय ही बना कर खड़ा कर दिया, मानो पुलिस विभाग का सारा दृष्टिकोण बदल गया है और अब वह अपने को प्रजा का सेवक समझती है। सेठ जी और मुनीम जी में बड़ा फर्क होता है। सेठ जो तो साक्षात् कर्ण के अवतार हैं, लेकिन मुनीम जी के खजाने में कुछ है ही नहीं तो बेचारे सेठ जी क्या करें। बड़े लोगों का यही धर्म है। वे दिल में समझते हैं कि जबानी जमा खर्च है, तो जितने उदार चाहो बन जावो, न्याय और सेवा की जितनी दुहाई दे सको दो, सत्य तो जो है, वह है ही। हमारा तो ख़्याल है अगर यहाँ की पुलिस सुधर जाय तो जनता को तीन चौथाई स्वराज्य मिल जाय। पुलिस ने हमेशा जनता पर आतंक जमाया है और आज भी जमा रही है। रिश्वत फौजदारी और अदालत में भी है, और काफ़ी है, लेकिन यहाँ तो खुदा की पनाह कोई बारदात भर होनी चाहिए, बस फिर क्या पूछना, पाँचों घी में हैं। मोहल्ले या हलके में कोई खून हो जाय, कोई डाका पड़ जाय, बस, थैलियाँ चढ़ने लगती हैं। रिपोर्ट की लिखायी

तो मानों सरकारी टैक्स है, देना ही पड़ेगा'। पुलिस के चक्कर में पड़कर शायद ही कोई बच सके। होम मेम्बर साहब अगर पुलिस को उसी आदर्श पर ला सकें जिसका आपने अपने भाषण में जिक्र किया और पुलिस कर्मचारियों के दिमाग में यह बात जमा दें कि तुम प्रजा के स्वामी नहीं सेवक हो, तुम्हारा काम प्रजा पर शासन करना और उसे लूटना नहीं, बल्कि उसकी रक्षा करना है तो वे अपना नाम अमर कर जाँय।

१९ मार्च १९३४

बर्मा विच्छेद के लिए नये बहाने

बर्मा को भारत से अलग करने के लिए गवर्नमेंट की ओर से रोज नये-नये बहाने गढ़े जा रहे हैं। भारत,बर्मा का सारा धन खींचे लिये आता है। यहाँ के मजदूर बर्मा के मजदूरों का काम छीने लेते हैं, यहाँ के व्यापारी वहाँ के व्यापारियों का व्यापार छीन लेते हैं। इसलिए बर्मा का भारत के चंगुल से छुड़ाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे भारत से अलग कर दिया जाय। फिर देखिए ब्रिटेन किस तरह उसकी रक्षा करता है। भारत का एक मजूर या व्यापारी तो वहाँ रहने न पायेगा। यह तो निश्चित है कि विच्छेद होते ही भारत की चिड़िया भी वहाँ पर न मार सकेगी, लेकिन इसमें बर्मा वालों का कोई उपकार होगा, इसमें संदेह है। देखना है, बिल्ली कहाँ तक दूध की रखवाली करती है। अगर भारत को यह विश्वास हो जाय कि बर्मा का विच्छेद होते ही उसके सारे व्यवसायिक साधनों पर, सारे ओहदों पर, बर्मावालों ही का अधिकार होगा, और अंग्रेज व्यवसायी और विशेषज्ञ वहाँ न घुसने पायेंगे तो शायद भारत को विच्छेद स्वीकार करने में आपत्ति न होगी, मगर यही तरावट तो विच्छेद की जड़ है।

२६ मार्च १९३४

कमांडर इनचीफ़ साहब का व्यंग

एसेम्बली में फ़ौजी बजट पर जो बहस हुई उसमें हर साल की तरह अबकी भी फ़ौजी खर्च कम कर देने का प्रस्ताव था। यह कहा गया कि भारत में ज़रूरत से ज्यादा फौज है और उस पर ज़रूरत से ज्यादा खर्च हो रहा है। जंगी लाट साहब ने बड़ी स्पष्टवादिता से काम लिया और मेम्बरों को करारी डाँट बतायी—तुम लोग जगहों के लिए, नौकरियों के लिए तो आपस में लड़ मरते हो, उस पर कहते हो फौजी खर्च कम करो, तुम एक राष्ट्र हो जाओ, फिर देखो हम कितनी जल्द खर्च घटा देते हैं। इस पर

अवश्य ही मेम्बरों की ज़बान बंद हो गयी होगी। किसका साहस था कि बोलता? सरकार की नज़र में हम हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं, सिख हैं, अछूत हैं, भारतीय तो कहीं नज़र नहीं आता। सरकार ने अपनी आँखों पर जो साम्प्रदायिक परदा डाल लिया है, उसमें उसे विस्तृत भारत कैसे नज़र आ सकता है।

२६ मार्च १९३४

काँग्रेस का सरकार से सहयोग

बिहार में महात्मा गांधी ने रिलीफ़ कमेटी के जलसे में सरकार से सहयोग का जो प्रस्ताव रखा और उसके समर्थन में जो भाषण दिया और सभी नेताओं ने जिस उदारता से उस प्रस्ताव को स्वीकार किया, उसने एक बार फिर सिद्ध कर दिया कि काँग्रेस केवल असहयोग नहीं करना चाहती, और जिन कामों में वह सरकार से सहयोग करने में देश का कल्याण समझती है, उनमें हाथ बढ़ाने के लिए सदैव तैयार रहती है। काँग्रेस ने देश हित को प्रधान रखा है। हरेक नीति को इसी कसौटी पर कसकर वह अपनी राय कायम करती है। इस वक्त पीड़ित बिहार का प्रश्न है। इस वक्त भी अगर हम अपने राजनैतिक या साम्प्रदायिक भेदों को न भूल सकें, तो यह देश के लिए दुर्भाग्य की बात होगी।

२६ मार्च १९३४

देहली में काँग्रेस नेताओं का सम्मेलन

काँग्रेस के कुछ नेताओं ने कलेजा मजबूत कर दिल्ली में एक सम्मेलन कर काउंसिलों में जाने के प्रश्न पर विचार कर डाला, मगर कुछ इस तरह डरते-डरते मानो कोई अपराध करने जा रहे हों। सबसे बड़ा अपराध तो पराधीन होना है, और उससे कुछ घटकर कमजोर और असंगठित होना। जब ये दोनों महान अपराध हम कर रहे हैं, तो फिर काउंसिल में आने के छोटे से अपराध के लिए इतना सोच विचार क्यों। इस पराधीनता की दशा में हम असहयोग कर भी सकते हैं? उतना साहस भी हम में है? टैक्स हमसे जबरदस्ती लिये जाते हैं, हम देना चाहें या न देना चाहें। फिर क्यों मन को यह नहीं समझा लिया जाता कि हमें काउंसिल में आने के लिए भी मजबूर किया जा रहा है। हम अपनी खुशी से नहीं, जबरदस्ती लाये जा रहे हैं। जब हम सरकारी

अदालतों में जाकर वकालत करते हैं, जब हम सरकार के खोले हुए विद्यालयों में पढ़ना बुरा नहीं समझ सकते, जब हम रेल, तार, डाक, सड़कों, जहाजों से काम लिये बगैर नहीं रह सकते, जब दिन के चौबीस घंटों में हम बराबर सरकार से सहयोग करते रहते हैं और सरकार का खजाना भरते रहते हैं, यहाँ तक कि घर में कोई वारदात हो जाने पर हम सरकारी पुलिस के पास दौड़ते हैं, तो काउंसिल में जाना किस नीति से बुरा है, यह हमारी समझ में नहीं आता। काउंसिलों के बाहर रहकर भी बहुत कुछ काम किया जा सकता है, पर वहाँ भी हमें सरकार से सहयोग करना पड़ेगा। बिहार में हम किसी दशा में भी सरकारी सहयोग से अपने को नहीं बचा सके। हम तो समझते हैं सारा भारत बिहार हो रहा है और ऐसी दशा में अगर हम काउंसिलों में जाकर कोई फायदे का काम कर सकते हैं, तो हमें करना चाहिए। कहा जाता है काउंसिलों में जाकर हमने इतने दिनों में क्या कर लिया ? लेकिन काउंसिलों में न जाकर ही हमने क्या कर लिया ? हाँ, अगर कुछ किया, तो यह किया कि बीसों ही ऐसे कानून पास करा दिये, जो शायद काँग्रेसवालों के काउंसिलों में रहते हुए इतनी आसानी से पास न हो सकते। गुड़ खाने और गुलगुलों से परहेज़ करनेवाली नीति बहुत कुछ अच्छी नीति नहीं है।

९ अप्रैल १९३४

सच्ची बात कहने का दंड

आगरा के सब-जज पं० रघुनाथ प्रसाद त्रिवेदी ने एक मुकदमे के फैसले में यह लिखा है कि ऐंग्लोइंडियन शासक जाति का अंग है, इसलिए वह हिन्दुस्तानी से ज्यादा इज्ज़तदार है। इस पर समाचार-पत्रों में त्रिवेदी साहब पर खूब बौछारें पड़ रही हैं। हम नहीं समझते, त्रिवेदी जी ने एक सच्ची बात कह दी तो क्या अपराध कर दिया। कोई ज्यादा दुनियादार जज कभी ऐसी बात न लिखता, यह ठीक है, लेकिन करता वही जो त्रिवेदी साहब ने किया। और यह बात कौन नहीं जानता। क़दम-क़दम पर यह सत्य हमें ठोकर जमाता रहता है। हमें त्रिवेदी साहब को धन्यवाद देना चाहिए कि उन्होंने अपने दिल की बात खोल कर कह दी। सहयोगी "आज" ने बहुत ठीक अनुमान किया है कि आप कोई सनातनी महोदय हैं, जो शासकों को देवता समझते हैं और उनके कुत्तों के सामने दुम हिलाते हैं, क्योंकि ऐसी मार्के की बात किसी सनातनी खोपड़ी ही से निकल सकती है, और ऐसे लोग हमारे यहाँ सब-जज बना दिये जाते हैं। लेकिन, सम्पादक लोग जितना चाहें नाक-भौं चढ़ा लें, त्रिवेदी जी की रायबहादुरी रखी है, अगर अब तक नहीं मिल चुकी है, और शायद ग्रेड भी जल्द ही मिले। अगर कोई हिन्दुस्तानी किसी ऐंग्लों-इंडियन के हाथों क़त्ल कर दिया गया होता, तो त्रिवेदी जी इसी दलील से

अवश्य ही मुजरिम को बरी कर देते, क्योंकि शासक जाति को यह अधिकार है कि जिस हिन्दुस्तानी को चाहे जान से मार डाले। शासित की जान का मूल्य ही क्या? धन्य है भारत, जहाँ ऐसे-ऐसे सपूत पैदा होते हैं।

९ अप्रैल १९३४

सर्वशक्तिमान पुलीस

यह तो हम अपने अनुभव से जानते हैं कि जब कोई अखबार निकलता है, तो पुलीस द्वारा उसके संचालकों की जाँच होती है, जब तक पुलीस की सर्टीफिकेट न हो,, कि यह आदमी खतरनाक नहीं है, और हमारे काले रजिस्टर में इसका नाम नहीं है तब तक गाड़ी रुकी रहती है, लेकिन अब मालूम हुआ कि मुंसिफों को भी पुलीस के सर्टीफिकेट के वगैर नौकरी नहीं मिल सकती। किसी को अगर मुंसिफी लेनी है, तो उसे पुलीस के अधिकारियों की खुशामद करनी चाहिए। ऐसा आदमी अदालत की कुर्सी पर बैठकर प्रबन्ध-विभाग के विरुद्ध फैसला देने के पहले खूब सोचेगा। वह जानता है कि जिन कर्मचारियों की सनद पाकर उसे यह आश्रय मिला है, उनका रोब और दबाव मानते रहने में ही उसकी खैरियत है। न्याय का एक खास सिद्धांत यह है कि जब तक किसी के विरुद्ध प्रमाण न हो, उसे निर्दोष समझो। हमारी सरकार का सिद्धांत कुछ और है। वह यह कि जब तक किसी की जाँच न कर ली जाय, वह विश्वास के योग्य नहीं।

९ अप्रैल १९३४

ठेलम ठाला

क़ायदा है, हम से कोई बात बिगड़ जाती है, तो हम एक दूसरे को इलज़ाम देकर अपने मन को समझा लिया करते हैं। एक कहता है, तुम्हारी गलती थी। दूसरा कहता है जी नहीं, यह आपकी हिमाक़त थी। अगर अच्छी दुलहिन घर में आ गयी है, तो दूल्हा भी खुश, ससुर भी खुश, टोला पड़ोस के लोग भी खुश, दहेज कुछ कम भी मिला तो क्या ग़म, बरातियों का सत्कार जैसा चाहिए, वैसा नहीं हुआ, वैसा क्या, उसका आधा भी नहीं हुआ, तो कोई ग़म नहीं, बहू अच्छी है, सुघड़ है, सुशीला है, लेकिन खुदा न खासता बहू काली हुई, या कानी हुई, या लंगड़ी हुई (क्योंकि ब्याह तकदीर का खेल है और तकदीर में तदबीर का क्या बस) तो कुछ न पूछिये, बस समझ

लीजिए कि ग़ज़ब हो गया। सास अपने पति को इलज़ाम देती है, पति पंडित जी के सिर इस जिम्मेदारी को ठेलते हैं, पंडित जी लाला जी के सिर जो बीच में पड़े। चारों तरफ से ठेलम ठेल शुरू हो जाती है। इलज़ाम का बोझ खुदा जाने कितना भारी होता है कि कोई उसे अपने ऊपर एक क्षण भी नहीं रखना चाहता। टेनिस के गेंद की तरह उसे सामने आते ही दूसरे की तरफ ठेल देना ही हमारा धर्म है। यह बात नहीं कि इस इलज़ाम को कहीं आश्रय नहीं मिलता। मिलता है, लेकिन वहीं, जहाँ उसे ठेलने की शक्ति नहीं होती। किसी गरीब के सिर सारी जिम्मेदारी डालकर हम अपना दिल हलका कर लेते हैं। बहू में कोई फर्क नहीं हुआ। उसका रंग जरा भी नहीं खुला, न वह मृग-नयनी बनी, न हंस-गामिनी। बेचारा दूल्हा एकान्त में बैठा अपनी नसीब ठोंक रहा है, घर से भाग जाने का मंसूबा बाँध रहा है, लेकिन घर के लोगों ने नाई पर इलज़ाम रख कर शांति प्राप्त कर ली।

काँग्रेस में भी आजकल कुछ वैसी ही ठेलम ठाल हो रही है। महात्मा गांधी सत्याग्रह के असफल होने की सारी जिम्मेदारी कार्यकर्ताओं पर रखते हैं, कार्यकर्ता इसे उनकी ज्यादती बता कर अपनी जिम्मेदारी को उन पर ठेलते हैं। अगर स्वराज्य की सुघड़ सुशीला बहू घर में आ जाती, तो आज सब के सब बग़लें बजाते, महात्मा जी घर-घर राम और कृष्ण की तरह पूजे जाते, कार्यकर्ताओं को बधाइयाँ मिलतीं। मगर बहू आयी अवगुणों का सागर, कलह की खान, तमाखू का पिंडा। फिर क्यों न ठेलम ठाल मचे। हार में हमें अपनी कमजोरियाँ सूझती हैं, जीत में अपनी खूबियाँ।

काउंसिल में जाने की नीति को आशीर्वाद देकर महात्मा जी ने वही किया, जो एक कुशल सेनापति का धर्म है। नयी हालतों के साथ सेनाओं की चाल में अदल-बदल होना ही चाहिए। काँग्रेस में जो एक निर्जीविता आ गयी थी, उसे दूर करने की इसके सिवा दूसरी तदबीर न थी। काँग्रेस के तामीरी काम हैं लेकिन उनकी ओर काँग्रेस में कोई उत्साह नहीं है। कुछ तो सरकारी बाधाएँ हैं, कुछ अपनी असुविधाएँ। काँग्रेस में आत्म-विश्वास की कमी आ गयी थी, जो हरेक दशा में घातक होती है। इसलिए जो काउंसिल में जाकर देश का कुछ हित कर सकते हैं, उन्हें इसकी आज़ादी होनी चाहिए थी, लेकिन महात्मा जी ने काँग्रेस के नेताओं पर सत्याग्रह सिद्धांत को ग़लत रूप में जनता तक पहुँचाने का इलजाम लगाकर व्यर्थ ही उनकी दिल-शिकनी की। राजनीति को अध्यात्म के तल पर उठा ले जाना और अध्यात्म के सिद्धांतों से उसे चलाना दुनिया के लिए एक बिलकुल नया तजरबा था। उसे सफल होने की आशा कम, असफल होने का भय ही अधिक था। महात्मा जी को खुद आज से तेरह साल पहले सोच लेना चाहिए था, कि जिन लोगों के हाथ में हम यह अमोघ अस्त्र दे रहे हैं, वे इसे चला भी सकते हैं या नहीं। अगर उस वक्त उन्होंने कार्यकर्ताओं को समझने में ग़लती की, तो

इसकी जिम्मेदारी कार्यकर्ताओं पर सोलहो आना क्यों रखी जाय। कार्यकर्ताओं ने अपनी बुद्धि और पहुँच के अनुसार उस अस्त्र को चलाने की कोशिश की। क्या महात्मा जी ने उस वक्त यह समझा था कि ये सभी देवता हैं ? अगर वह मानव स्वभाव से इतने बेखबर हैं, तो यह उनका कसूर है जो एक राष्ट्र के नेता में बहुत बड़ा कसूर है। वह आज भी कह रहे हैं कि मैं सत्याग्रह के प्रयोग में निपुणता प्राप्त कर रहा हूँ, उनमें भी यह क्रिया अभी जारी है, फिर साधारण बुद्धि के कार्यकर्ताओं में आज से चौदह साल पहले वह निपुणता कैसे आ जाती। और जब इतने संयम और व्रत के बाद भी आज उस पद को वह नहीं प्राप्त कर सके, तो जाहिर है कि किसी युग में भी इस सिद्धांत के विशेषज्ञ बड़ी संख्या में नहीं हो सकते। शिक्षित समाज ने इस वक्त महात्मा जी को समझने में गलती की, तो वे क्षम्य हैं। महात्मा जी गोरी जाति से सत्याग्रह की लड़ाई में विजयी होकर लौटे थे। उनके त्याग, विचार और देवत्व का हाल पत्रों में पढ़-पढ़ कर सारे देश को उनसे श्रद्धा हो गयी थी। जब उन्होंने राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली, तो राष्ट्र ने अपने को धन्य समझा, और अपनी आत्मा को उनके हाथ में देकर खुद उनके पीछे चलने में ही राष्ट्र का हित समझा। विचार एक दुर्लभ वस्तु है और विरलों ही के हिस्से में आती है। महात्मा जी जैसा दिमाग़ पाकर, फिर कौन सोचता और क्या सोचता ? क्या यह संभव नहीं कि उस विजय ने महात्मा जी में भी आत्म विश्वास की मात्रा कुछ बढ़ा दी हो और चूँकि साधारण बुद्धि के कार्यकर्ताओं से उन्होंने विजय पायी थी, उसी कोटि के मनुष्यों पर उन्होंने विश्वास कर लिया हो। यह हम कभी नहीं मान सकते कि दक्षिण अफ्रिका के कार्यकर्ता सब के सब ऊंचे दर्जे के अध्यात्म के सिद्धांत को समझनेवाले आदमी थे। यह स्वीकार करने की इच्छा नहीं होती कि हमारा शिक्षित वर्ग सत्याग्रह को उतना भी नहीं समझता, जितना अफ्रिका वालों ने समझा था। महात्मा जी ने अपने आन्दोलन की कमजोरी को स्वीकार करके अपना नैतिक साहस अवश्य दिखलाया है, लेकिन उसके असफल होने का इलज़ाम कार्यकर्ताओं के सिर मढ़ने की कोई खास जरूरत न थी। जिन लोगों ने तेरह साल तक हर तरह की कठिनाइयाँ झेल कर, अपने को तबाह करके, अपने स्वार्थ को मिटाकर इस आन्दोलन को चलाया, उनसे अब यह कहना कि तुम इस काम के योग्य नहीं, और तुम्हारी कमजोरी से यह आन्दोलन फेल हो गया, उनका दिल दुखाना है। यह क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता कि जिस स्वराज्य के लिए लड़े उसकी इच्छा अभी देश में इतनी बलवती नहीं हुई है कि बाधाओं का सफलता के साथ सामना कर सके। अब यह मान लेना पड़ेगा कि जिस चीज को महात्मा जी भीतर की आवाज़ कहते हैं, जिसका मतलब यह होता है कि उसके गलत होने की संभावना नहीं, वह बहुत भरोसे की चीज नहीं है, क्योंकि उसने एक से ज्यादा अवसरों पर गलती की है। भविष्य में हमें राजनीति को राष्ट्रहित की दृष्टि से देखना होगा। हमें ऐसे आदमियों को काउंसिल में

भेजना होगा, जिनके त्याग, साहस, ईमानदारी और सेवाओं का हमें परिचय मिल चुका है, और इसी से हम अपनी मंजिल पर पहुँचेंगे।

१६ अप्रैल १९३४

लारकाना में हथियारों की ज़रूरत

हथियारों के लाइसेंस देने में सरकार की नीति दिन-दिन कठोर होती जाती है। कितने ही लाइसेंस ज़ब्त हो गये। जब तक सरकार का कोई खैरख्वाह न हो और जिस पर सरकार को पूरा विश्वास न हो, किसी को लाइसेंस नहीं मिलता। देहातों में तो मीलों तक शायद कोई राइफ़ल नज़र ही नहीं आती। लुटेरों और डाकुओं ने जगह-जगह जनता के इस निहत्थेपन का फ़ायदा उठाना शुरू कर दिया है और पत्रों में अक्सर दिन दहाड़े सशस्त्र डाकों की खबरें आती रहती हैं, खास कर देहातों से, जहाँ पुलिस कांसटेबल महीने में एकबार केवल गाँव में चक्कर लगा आता है, या जब कोई वारदात हो जाती है और प्रजा को शिकंजे में कसने का कोई अवसर आता है तो दरोगा जी अपने दलबल के साथ मेहमानी खाने और नज़राना वसूल करने के लिए जा पहुँचते हैं। और कभी पुलीस की सूरत वहाँ नज़र नहीं आती। लारकाना सिंध का एक ज़िला है और इधर उस इलाके में कई सशस्त्र डाके पड़े। आखिर जिला मजिस्ट्रेट को यह एलान करना पड़ा है कि वह लाइसेंस के मुआमले में अब ज्यादा रियायत से काम लेंगे। यह तो लारकाना की बात हुई, मगर कमोबेश सारे देश में यही दशा है। सरकार ही अगर प्रजा को अपनी रक्षा करने के साधनों से वंचित करती है, तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह स्वयं उसकी रक्षा का जिम्मा ले, प्रजा को हथियार से काम लेना सिखाये और उनमें ऐसा संगठन पैदा करे कि वे अवसर पड़ने पर अपनी रक्षा कर सकें। किसी आदमी को कैद करने पर उसके भोजन की ज़िम्मेदारी क़ैद करनेवाले पर आ जाती है। और हमारी सरकार हमारे हथियार तो छीन लेती है, पर हमारी रक्षा का ज़िम्मा नहीं लेती। जब डाका पड़ जाता है, दो-चार गरीबों की जान चली जाती है, तो पुलीस तहक़ीकात करने जा पहुँची है। गाँव के निहत्थे किसान सशस्त्र डाकुओं के सामने बेबस हो जाते हैं और लाठियों से बन्दूकों का मुकाबला करके अपनी जानें गँवाते हैं। हमें भय है कि अगर सरकार की लाइसेंस-नीति यही रही और प्रजा पर उसका यही अविश्वास रहा, तो ये उपद्रव और बढ़ेंगे और देहात में किसी खुशहाल आदमी का रहना कठिन हो जायगा।

२३ अप्रैल १९३४

आनेवाला चुनाव और काँग्रेस

यह तो अब करीब-करीब तय हो गया है कि यह एसेम्बली अब कुछ दिनों की मेहमान है। नयी व्यवस्था के आने में अभी कम से कम दो साल की देर है। इतने दिनों इस बेजान एसेम्बली को जिलाये रखना शायद सरकार भी न पसंद करे। स्वराज्य पार्टी के खौफ़ से अभी से खुशामदी और हवा का रुख देखकर चलनेवाले मेम्बरों में तहलका पड़ गया है और शायद आनेवाले चुनाव में वे लोग बदल-बदल कर फिर पबलिक के सामने आयें और लम्बे-चौड़े वादे करें, लेकिन, शायद पब्लिक अब इतनी नादान नहीं है कि वह ऐसे क़ौम फरोश मेम्बरों पर विश्वास करे, जिन्होंने सरकार के विश्वास और कृपा पात्र बने रहने की धुन में ऐसे-ऐसे कानून बना डाले, जो लज्जास्पद कहे जा सकते हैं। हमें अब कौंसिलों और एसेम्बली में ऐसे स्वार्थी, कमजोर, अकर्मण्य मेम्बरों को भेजने की जरूरत नहीं। हमें अब मेम्बरों को चुन कर भेजना होगा, जिन्होंने अपनी सेवा, निडरता और निस्वार्थता का सबूत दे दिया है, जो प्रजा हित के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने में भी नहीं हिचके। वही लोग आजादी की लड़ाई में हमारे सिपहसालार बन सकते हैं। जो लोग एक ओहदे, एक चाय की प्याली या एक खिताब के लिए कौम का गला घोट सकते हैं, वह हरगिज इस लायक नहीं हैं कि जनता उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजे। स्वराज्य पार्टी के ऊपर भी इस वक्त जो जिम्मेदारी, आशा है, वे उसे समझ रहे होंगे। उन्हीं के त्याग और साहस पर कौम को भरोसा है। सभी खद्दर पहननेवाले और जेल जानेवाले देवता नहीं हैं। उनमें भी अक्सर बड़े-बड़े हथकंडे बाज़ लोग शामिल हैं, जो जेल भी किसी न किसी स्वार्थ से ही गये थे। यह स्वराज्य-पार्टी की इज्जत का सवाल है और उसे मुरौव्वत या तरफ़दारी के भंवर से बचाकर अपनी नाव खेनी पड़ेगी।

२३ अप्रैल १९३४

पोर्चुगज़ पूर्वी अफ्रिका

पूर्वी अफ्रिका में पुर्तगालवालों के अधीन भी एक प्रान्त है। किसी जमाने में पुर्तगाल का संसार में वही स्थान था, जो आज ब्रिटेन का है। दक्खिन अमेरिका और अफ्रिका में उसके बड़े-बड़े राज्य थे पर अब वह सब राज्य उसके हाथ से निकल गये हैं, केवल पूर्वीय अफ्रिका में कुछ इलाका रह गया है। अफ्रिका के अन्य प्रान्तों की तरह वहाँ भी हिन्दुस्तानियों की थोड़ी-सी आबादी है। २५०० से अधिक नहीं, लेकिन

वहाँ उनके साथ किसी तरह का भेद भाव नहीं रखा जाता, गोरे काले में कोई अन्तर नहीं है। स्कूल में, व्यापार में, सरकारी ओहदों में, वोट के अधिकार में, न्यायालयों में, उनका दरजा शासक जाति के बिलकुल समान है। इसका नतीजा यह है कि वहाँ जो हिन्दुस्तानी आबाद हैं वह बहुत खुशहाल हैं और दिन-दिन उन्नति कर रहे हैं।

वहाँ का व्यापार प्राय: हिन्दुस्तानियों के ही हाथ में है। और हिन्दुस्तानियों का पर्तगाल से कोई सम्बन्ध नहीं। एक तरफ़ तो यह समता है, दूसरी ओर जहाँ अंग्रेजों की नौआबादियाँ हैं, वहाँ हिन्दुस्तानियों को कुत्तों से भी ज़लील समझा जाता है और उन्हें वहाँ से निकाल बाहर किया जा रहा है। गत दस साल में कोई १४००० हिन्दुस्तानी वहाँ से निकाले जा चुके हैं, केवल इसलिए कि वे काले रंग के हैं और गोरे लोग कालों से कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहते। हालांकि इन्हीं भारतीयों ने उस मुल्क को रहने के लायक बनाया, मगर वहीं योरोप के अन्य देशों के लोग हर साल हज़ारों की संख्या में जाते और आबाद होते हैं। उनसे वहाँ के गोरे अंग्रेज बराबरी का सलूक करते हैं। अगर उनके साथ दूसरा व्यवहार किया जाय, तो अन्तर्राष्ट्रीय उलझनें पैदा हो जायँ। गोरी जातियों में जब लड़ाइयाँ होती हैं तो काली सेनाओं की मदद से अपने शत्रुओं पर विजय पाना शर्म की बात नहीं है? लेकिन सुलह हो जाने पर गोरे-गोरे एक हो जाते हैं और कालों के साथ फिर वही पुराना सलूक किया जाने लगता है। अमेरिका जैसा सभ्य और उन्नत राष्ट्र जब आज तक हब्शियों के इंसानियत का बर्ताव नहीं कर सकता, आज भी हब्शियों के साथ पशुओं का-सा सलूक किया जाता है, हालांकि हब्शी जाति रहन-सहन, भाषा और वेश भूषा हरेक बात में गोरों ही के समान हैं, तो हिन्दुस्तानियों को उनसे क्या आशा हो सकती है, जो रंग, भाषा और रहन सहन में उनसे अलग हैं।

२३ अप्रैल १९३४

काँग्रेस की विधायक योजना

काँग्रेस को अभी तक विधायक योजनाओं की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला। काँग्रेस जैसी राजनैतिक संस्था के लिए विधायक प्रोग्राम हाथ में लेना आसान नहीं है। किसी वक्त भी उससे सम्बन्ध रखनेवाली योजनाएँ सरकारी हुक्म से बन्द की जा सकती हैं। पिछली बार इसके दस-पाँच आश्रम जो थे सब बन्द हो गये, यहाँ तक कि महिला आश्रम भी न बच सके। मगर इनमें से अधिकतर आश्रमों या शालाओं का प्रधान काम सत्याग्रह में भाग लेना या उसके लिए सिपाहियों को तैयार करना था।

वधायक प्रोग्राम तो उनका ऊपरी दिखावा था। अगर ईसाई मिशन या आर्य-समाज शिक्षा का इतना काम कर सकते हैं, तो काँग्रेस जैसी संस्था अगर दिल से चाहे तो इससे कहीं ज्यादा काम कर सकती है! आर्यसमाज का काम खास कर शिक्षा से सम्बन्ध रखता है। उसके अनाथालय और विधवाश्रम भी हैं और शफाखाने भी देश की एक खास जरूरत पूरी कर रहे हैं, लेकिन किसानों में शिक्षा का प्रचार, सहयोग, पंचायत, तन्दुरुस्ती और सफ़ाई, गो-पालन आदि सैकड़ों ऐसे काम हैं जिनसे राष्ट्र का बहुत कुछ उपकार हो सकता है और कोई सभ्यता का दावा करनेवाली सरकार ऐसे विधायक काम में सहयोग देने के सिवा कुछ नहीं कर सकती। प्रश्न यही है, ऐसे आदमी काँग्रेस के पास हैं, जो मिशनरियों के जोश के साथ काम में लगें? हमारे ख्याल में काँग्रेस के पास ऐसे-ऐसे नररत्न हैं, कि जो सेवा कार्य के लिए अपना जीवन तक अर्पण कर सकते हैं और कर चुके हैं। बस काँग्रेस के सरपंचों की ओर से इशारा मिलने की देर है। महात्मा गांधी ने विधायक प्रोग्राम की ओर ध्यान दिखाया बेशक, पर काँग्रेस ने सत्याग्रह को ही महत्व का काम समझा, विधायक काम को उसकी नज़र में कभी सम्मान नहीं मिला, यहाँ तक कि पंडित जवाहरलाल नेहरू ने तो उन कामों को बुड्ढी औरत के लायक ही समझा। हमारा ख्याल है कि सत्याग्रह करके जेल जाने या गोलियाँ खाने में जो महानता है उससे कम किसी विधायक काम को अपने जीवन का व्रत बनाकर उसके लिए मर मिटने में नहीं है। और प्रजा का हित जितना विधायक कामों से हो सकता है, इससे हम उनका जीवन जितना सुखी और इसलिए शक्ति-सम्पन्न बना सकते हैं, उतना राजनैतिक सुधारों से नहीं कर सकते। राजनीति का मनुष्य के जीवन में रुपये में एक आने से ज्यादा दखल नहीं होता, उन लोगों को छोड़ कर जिन्होंने इसे जीवन का काम बना लिया है। किसान के लिए लगान का आधा हो जाना उतना उपकार नहीं है, जितना अन्ध-विश्वास और मिथ्या रस्मरिवाजों से मुक्त होना या नशे से परहेज करना। आपस में जो कलह बढ़ता जा रहा है और लोगों में मुकदमेबाजी का जो चस्का पड़ता जाता है इसे रोकना, किसानों को कारिन्दों, पटवारियों और दूसरे अमलों के जुल्म से बचाना उनकी इससे कहीं बड़ी सेवा है कि उनका लगान कुछ कम हो जाय। स्वराज्य हम चाहते ही किसलिए हैं? इसीलिए तो कि हम राष्ट्र को ज्यादा सुखी और खुशहाल बना सकें, इसीलिए तो कि हम विधायक कामों में ज्यादा धन खर्च करने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकें? वरना राष्ट्र को स्वराज्य से और क्या फायदा? जेम्स की जगह मि० नायडू के आ जाने से जनता का क्या उपकार होगा।

३० अप्रैल १९३४

काँग्रेस की आर्थिक योजना

किसी नये धर्म या संघ की दीक्षा लेने के पहले, हम यह निश्चय कर लेते हैं कि उस धर्म या संघ की नीति क्या है, और दूसरे धर्मों से उसका क्या भेद है। जब तक यह निश्चय न हो जाय हम उस सम्प्रदाय में शामिल न होंगे। काँग्रेस के विषय में यह तो मालूम है कि वह अहिंसात्मक सिद्धांतों से स्वराज्य लेना चाहती है, लेकिन भारत के और सभी राजनैतिक दलों की भी यही गरज है। उनसे काँग्रेस किन बातों में भिन्न है? सत्याग्रह सिद्धांत में। दूसरे दलों के पास दलील, खुशामद, प्रार्थना और "सत्य की विजय होती है," इस अमर सिद्धांत के सिवा कोई कार्यक्रम नहीं है। काँग्रेस अवसर पड़ने पर सत्याग्रह भी करती है, कानून भी तोड़ती है। दूसरा अन्तर यह है कि दूसरे दल डोमीनियन स्टेटस तक ही जाकर रह जाते हैं, काँग्रेस पूर्ण स्वराज्य को अपना लक्ष्य मानती है। अभी तक तो इन राजनैतिक लक्षणों ने काँग्रेस की विशेषता निबाही, लेकिन जब कि काँग्रेस ने सत्याग्रह बन्द कर दिया है, और डोमिनियन स्टेटस या पूर्ण स्वराज्य केवल शब्दों का जंजाल है, तो अब काँग्रेस और दूसरे दलों में क्या फर्क रहेगा? मि० सत्यमूर्ति फरमाते हैं कि काँग्रेस के पास 'साहस' है जो और किसी दल के पास नहीं, लेकिन 'साहस' के बहुत से भिन्न-भिन्न रूप हैं। अगर अपने सिद्धांतों के लिए जेल जाने में साहस है, तो अपने सिद्धांता के लिए जनता में जलील और बदनाम होना उससे कम साहस नहीं है। 'साहस' के बल पर 'साहस' वाली बात तो चलती नहीं और अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना कि 'साहस' के एक हमीं ठेकेदार हैं, और सभी साहसहीन हैं, कुछ शोभा नहीं देता।

कहा जा सकता है कि काँग्रेस ने हमेशा गरीबों की हिमायत की हैं, हमेशा किसानों और मज़दूरों और साधारण श्रेणी की ही वकालत की है। एक से ज्यादा अवसरों पर उसने अपनी साम्यवादी प्रकृति प्रकट कर दी है, और आज जो काँग्रेस में शरीक हैं वह इसी नीति को समझ कर। इस दलील में सच्चाई है, लेकिन काँग्रेस ने अभी तक अपनी कोई योजना नहीं बनायी है और जब तक वह खुले तौर पर अपनी योजना पेश न कर दे जनता को उसके विषय में भ्रम हो सकता है। संभव है, काँग्रेस के अपनी नीति निश्चय करते ही बहुत से ऐसे सज्जन उससे सम्बन्ध तोड़ लें, जो अभी तक उसके सत्याग्रह और असहयोग के कारण उसमें शरीक हैं। काँग्रेस में अभी सभी विचारों के लोग मिले हुए हैं, जिनमें स्वराज्य की इच्छा के सिवा सामाजिक, आर्थिक आदि सिद्धांतों में भेद है। काँग्रेस में बड़े-बड़े ताल्लुकेदार और जमींदार, बड़े-बड़े व्यापारी और पूँजीपति शरीक हैं। सभी स्वराज्य को अपने-अपने स्वार्थों की आँख से देख रहे हैं, लेकिन इसके साथ-साथ सब के दिलों में शक भी मौजूद है। जिनके पास कुछ नहीं, वे तो साम्यवादी बने बनाये हैं, लेकिन जिनके पास सम्पत्ति और जायदाद है, वे तो साम्य-

वाद के भक्त नहीं हो सकते। वे कांग्रेस में अपने हित-साधन के लिए आये थे। व्यापारी समझता था उसके टैक्सों और चुंगियों का बोझ कम हो जायगा, जमींदार समझता था तब उसे मुक़दमेबाजियों और अफ़सरों की खुशामदों और सलामियों से नजात हो जायगी, चाहे उसकी आमदनी कुछ कम ही हो जाय। रहे किसान, उनका लगान तो आधा हो ही जायगा और मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ जायगी। कुछ ऐसे लोग भी इस आन्दोलन में शरीक हुए—जो अपने ज्यादा मालदार या इज्ज़तदार पड़ोसी को प्रजा की दृष्टि में गिराना चाहते थे। अब तक कांग्रेस का राजनैतिक पहलू ही हमारे सामने था। उसके सामाजिक और आर्थिक पहलू पर विचार करने की उस समय हमें फ़ुर्सत ही न थी, पर आज कोई योजना केवल राजनैतिक आधार पर नहीं बन सकती। उसे आर्थिक समस्याओं का भी फ़ैसला करना पड़ेगा, तभी उसके ऐब और हुनर मालूम होंगे। और लोग उसके विषय में अपनी राय कायम कर सकेंगे। वह आर्थिक योजना कैसी हो इस विषय में बाबू भगवानदास ने लिखा है—

"तर्क की कसौटी पर आर्थिक योजना इस ढंग से बनायी जाय कि उचित सीमा तक यह सभी के स्वार्थों की पूर्ति कर सके। यह योजना ऐसी बने कि वर्तमान पूँजीपति, साम्राज्यवादी शासक, संसार तथा राष्ट्रसंघ से यह कहने में लज्जा का अनुभव करें कि यह योजना बिल्कुल अव्यवहार्य है। कांग्रेस को नये ढंग और नयी शक्ति से काम करने के लिए इस प्रकार की योजना अवश्य बना लेनी चाहिए।"

३० अप्रैल १९३४

सरकार को मुबारकबाद

लेजिसलेटिव एसेम्बली में इस ६१ बैठकों के लंबे सेशन में एक बार भी सरकार की हार नहीं हुई। जब देखो जीत। इसे कहते हैं इक़बाल! इससे हमें कोई बहस नहीं कि प्रश्न क्या है, उससे भारत की प्रजा का हित होगा या अहित, सरकार ने या तो उस प्रश्न का समर्थन किया या विरोध, इसलिए सरकार के खैरख्वाह और जांनिसार मेम्बरों का फर्ज है कि सरकार का साथ दें। सरकार की खुशी कुछ कीमत, कुछ महत्व रखती है, उससे जीवन की कुछ कठिनाइयाँ हल हो सकती हैं, कुछ चिर-संचित अभिलाषाएँ पूरी हो सकती हैं। जन पक्ष में यश के सिवा और क्या है। तो ऐसे सूखे-प्याखे यश को लेकर कोई ओढ़े या बिछाये। अपने नाम के साथ दो-चार मूल्यवान् अक्षरों का जुड़ जाना या अपने दामाद या साले को किसी ओहदे पर पहुँचे देखना, जयघोष और पुष्पमालाओं से कहीं मूल्यवान है। फिर अपना सिद्धांत, धर्म और विश्वास भी तो है। सरकार ईश्वर का अवतार है। पहले राजा अवतार हुआ करता

था। अब सरकार होती है। जो सच्चे भारतीय संस्कृति के उपासक हैं, वे ईश्वर के अवतार का विरोध कैसे कर सकते हैं ? क्या बेचारे अपना लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लें। फिर ऐसे महानुभाव भी तो हैं, जो विचार, रहन-सहन और दृष्टिकोण में पक्के साम्राज्यवादी हैं। वे प्रजा का साथ देकर क्यों अपने को ज़लील करें। अभी तो वे अपने को सरकार का एक अंग समझ कर प्रसन्न होते हैं। इसमें कितना गौरव है, ज़रा सोचिए, कैसे-कैसे महान पुरुषों से भाईचारा हो जाता है। कहीं कमांडर-इनचीफ के साथ चाय की मेज़ पर बैठे हुए हैं, कहीं होम मेम्बरों के साथ उनके अन्तरंग में सम्मिलित हैं। नहीं साधारण मेम्बरों को कौन पूछता है। और अब की यह कोई अनोखी बात नहीं हुई। एसेम्बली के सम्पूर्ण इतिहास में शायद दो-चार बार ही सरकार की किसी डिवीज़न में हार हुई हो। क्या इससे यह साफ सिद्ध नहीं हो जाता कि पूरा भारत गवर्मेन्ट के साथ है !

३० अप्रैल १९३४

रादरमियर की हाय-हाय

लार्ड रादरमियर इंग्लैण्ड के प्रमुख साम्राज्यवादियों में हैं। जब से सुफेद कागज निकला है, आप को दाना-पानी हराम हो रहा है। सोते-सोते चौंक उठते हैं, कि भारत हाथ से गया। फिर यह मैनचेस्टर और लंकाशायर का माल किसके सिर पर लादा जायगा। और यह लाखों अंग्रजी परिवार किसके माथे फुलौड़ियाँ खायेंगे ? यह एक लाख साल के मोटे वेतन कहाँ मिलेंगे। जिन्हें इंग्लैंड में कोई टके को न पूछे, उनके लिए यहाँ स्वर्ग के सारे भोग-विलास मौजूद ! ऐसी सोने की चिड़िया हाथ से निकली तो इंग्लैंड का क्या हाल होगा ? फिर उसकी यह शान शौकत कहाँ जायगी ? बिलकूल दूकानदारों की-सी बात, ठोस, वास्तविक, कल्पना-शून्य ! मगर अब तक तो हम सुनते आते थे, कि ब्रिटेन भारत को आदमियत सिखाने के लिए अपने ऊपर यह भार लादे हुए है, खालिस परोपकार के लिए। हम लार्ड रादरमियर से निवेदन करना चाहते हैं कि यह सोने की चिड़िया अभी बहुत दिनों आपके पिंजरे में रह सकती है। हाँ, उसे चारा और पानी देते जाइए, अगर इसमें कमी हुई, तो चिड़िया फड़फड़ा कर मर जायगी। भारत केवल इसलिए राजनैतिक अधिकार चाहता है कि वह अपने भूख से व्याकुल बालकों का उदर भर सके, इसलिए नहीं कि वह इंग्लैंड से द्वन्द युद्ध करे।

७ मई १९३४

एसेम्बली का विसर्जन

गवर्नमेंट ने एलान कर दिया कि यह एसेम्बली १४ जुलाई को तोड़ दी जायगी। ख्याल किया जा रहा था कि स्वराज्य-पार्टी की तैयारियों से शायद सरकार को कुछ चिन्ता हो और वह एसेम्बली की अवधि और बढ़ा दे, मगर यह ख्याल ग़लत निकला और गवर्नमेंट ने स्वराज्य-पार्टी की चुनौती स्वीकार कर ली। उसने दिखा दिया कि वह किसी पार्टी से भयभीत नहीं है। अब देखना है सुफ़ेद काग़ज़ साहब पर क्या गुजरती है। बेचारे पर चौमुखी बौछारें पड़ रही हैं, किस-किस तरफ़ बचाये। कंज़रवेटिव कहते हैं, यह तो साम्राज्य का ही सर्वनाश किये डालता है, भारतवाले कहते हैं, आप को बुलाया किसने? मुश्किल यही है कि भारत में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो जी खोलकर उसकी निन्दा करते हुए भी उस वक्त उसके वफादार दोस्त बन जायेंगे, जब उसका दस्तरख़ान बिछेगा और तश्तरियों में स्वादिष्ट पदार्थ परोसे जायेंगे। देखना यही है कि स्वराज्य-पार्टी तो स्वादिष्ट पदार्थों की सुगन्ध से आकर्षित नहीं हो जाती। संभव है एसेम्बली तोड़ते समय यह आशा सरकार की निगाह में रही हो।

७ मई १९३४

स्वराज्य पार्टी

राँची में स्वराज्य-पार्टी की बैठक हो गयी, उसकी व्यवस्था बन गयी, उसका कार्यक्रम निश्चित हो गया, उसके नेता चुन लिये गये और वह लोग भी चुन लिये गये जो एसेम्बली के लिए खड़े होंगे, मगर जैसा बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन ने अपने एक बयान में कहा है, अभी आल-इंडिया काँग्रेस कमेटी की बैठक नहीं हुई और यदि उस बैठक में काँग्रेस का बहुमत कांउसिल-प्रवेश के लिए हुआ और काँग्रेस स्वयं निर्वाचन में भाग लेने को तैयार हो गयी, तो स्वराज्य-पार्टी कहाँ रहेगी? क्या उस दशा में भी स्वराज्य पार्टी बनी रहेगी? शायद ऐसा निश्चय-सा है कि काँग्रेस कमेटी का बहुमत काउंसिल-प्रवेश के खिलाफ़ होगा, क्योंकि काँग्रेस के स्तंभ काउंसिल-प्रवेश के खिलाफ हैं और स्वराज्य पार्टी काँग्रेस के अधीन और उसकी निगरानी में अपना काम करेगी। स्वराज्य-पार्टी को जब अटानोमी मिल गयी, तो फिर उस पर इस कार्यकारिणी की निगरानी की पख क्यों लगा दी गयी, यह समझ में नहीं आता। क्या ख़ुदा न ख्वास्ता स्वराज्य-पार्टी की ओर से यह शंका भी है कि वह काँग्रेस के सिद्धांतों और आदर्शों का सम्मान न करेगी? स्वराज्य-पार्टी की स्थिति ऐसी

क्यों नहीं रक्खी गयी कि वह काँग्रेस से अलग कोई संस्था नहीं है, बल्कि उन काँग्रेसियों का दल है, जो व्यवस्थापक सभाओं में काँग्रेस का काम करेंगे। अटानोमी या स्वाधीनता वाली बात हमारी समझ में नहीं आती। इससे तो यह ख्याल होता है कि यह कुछ ऐसे लोगों का दल है, जिन्हें काँग्रेस ने अयोग्य समझ कर कह दिया है कि अच्छा, तुम लोग और कुछ नहीं कर सकते, तो जाओ काउंसिल में ही बैठो, मगर खबरदार कोई शरारत न करना। निर्वाचन में पूरी सफलता पाने के लिए काँग्रेस की पूरी शक्ति और पूरे प्रभाव की जरूरत है। ऐसे सौतेले लड़के के-से व्यवहार से शायद स्वराज्य पार्टी की वह आशाएँ न पूरी हों, जो उसने बाँध रक्खी हैं और संभव है, वह एसेम्बली में अन्य दलों की तरह एक अल्प-संख्यक दल होकर रह जाय। पिछली स्वराज्य पार्टी में ऐसे-ऐसे सितारे थे, जो अपना प्रकाश रखते थे, उनके अपने-अपने अनुयायी थे। वैसा प्रभावशाली कोई आदमी इस स्वराज्य-पार्टी में नजर नहीं आता। वह काँग्रेस के प्रकाश से चमकनेवालों की जमाअत है, और कौन नहीं जानता कि ऐसे सितारे केवल चमक लेते हैं, उनके प्रकाश से किसी का उपकार नहीं होता। हम तो फिर भी यही कामना रखते हैं कि काँग्रेस कमेटी खुद निर्वाचन का प्रश्न हाथ में ले, खुद अपने उमेद-वार खड़े करे, चाहे वे वही हों, जो आज स्वराज्य-पार्टी में हैं, और इस कार्यक्रम को सफल बनाने में अपना पूरा जोर लगावें, लेकिन, अगर काँग्रेस ऐसा न करे, तो हम जनता से यही अनुरोध करेंगे कि वह स्वराज्य-पार्टी ही को प्रतिनिधि बनाकर भेजे। इस पार्टी से उन्हें जितने उपकार की आशा हो सकती है, अन्य किसी दल से भी नहीं हो सकती।

७ मई १९३४

काँग्रेस कमेटी क्या करेगी

काँग्रेस कमेटी की आनेवाली बैठक बड़ी महत्वपूर्ण होगी और इस समय सारे देश की आँखें उसकी ओर लगी हुई हैं। यह प्रश्न उठ रहा है कि अगर काँग्रेस को काउंसिलों से लाभ की फिर आशा हो गयी है, तो वह पार्लमेंटरी बाजू क्यों बनाती है, क्यों खुद चुनाव में शरीक नहीं होती? अगर यह गुनाह बेलज्ज़त नहीं है, तो कोई एक पार्टी क्यों इसका मज़ाक उठाये? शिकारियों के पीछे ढोल बजाने में शिकारी का गौरव है न आनन्द। इससे तो कहीं अच्छा है कि काँग्रेस भी शिकार में शरीक हो जाय। महात्मा गान्धी की नीति पर भी कड़ी आलोचनाएँ की जा रही हैं और यह ख्याल पैदा हो रहा है कि जब सत्याग्रह केवल महात्मा गांधी ही कर सकते हैं, तो काँग्रेस क्यों न उसे बिलकुल ही उठा दे। बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन के भाषण को अगर हम युक्तप्रान्तीय काँग्रेस की आवाज़ समझें, तो वह एक बाग़ी की आवाज

है, जो अब आँख बन्द करके नेता के पीछे नहीं चलना चाहता और मुल्क के लिए किसी नये कार्यक्रम की जरूरत समझता है। वह नया कार्यक्रम क्या होगा ? इसका फैसला कांग्रेस कमेटी करेगी। इधर साम्यवादी दल भी अपना जलसा करने जा रहा है और सोच रहा है, क्यों न वह अपना कार्यक्रम लेकर चुनाव के मैदान में उतर पड़े। अगर यह दल भी काउंसिल प्रवेश के पक्ष में है, तो फिर कांग्रेस में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम रह जायगी, जो कांग्रेस का क़ौमी काम करने की लगन रखते हों। ग़रज़ कांग्रेस ने स्वराज्य-पार्टी को यह अधिकार देकर अन्य सभी दलों में असंतोष पैदाकर दिया है, और जब मुल्क के सामने कोई दूसरा प्रोग्राम नहीं है, तो कोई दल भी अपने को काउंसिल से बाहर नहीं रखना चाहता। हमारे ख्याल में इस शिथिलता और जड़ता को जगाने का इसके सिवा दूसरा उपाय नहीं है कि कांग्रेस खुद काउंसिल के लिए अपने उम्मेदवार खड़े करे, और अपने सारे प्रभाव और शक्ति को काम में लाकर अपना बहुमत स्थापित करे। अगर स्वराज्य-पर्टी को ही यह अधिकार दे दिया गया, तो आपस में ही खींचतान शुरू हो जायगी और कांग्रेस कई दलों में बँटकर अपनी पूरी शक्ति से किसी दल को मदद न कर सकेगी। रहा कांग्रेस का अधिवेशन, वह वर्तमान दशाओं में कठिन है। न कांग्रेस कमेटियाँ हैं, न मेम्बर। फिर प्रतिनिधि कहाँ से आवेंगे और उनका चुनाव कैसे होगा। कांग्रेस अधिवेशन जब तक होगा तब तक चुनाव खतम हो जायगा। इस तरह परि-स्थितियों को नियमों के हाथ में छोड़ देने से काम बिगड़ता है। होता वही है, जो नेता करते हैं, चाहे भरे पंडाल में हो, या छोटे से कमरे में। कांग्रेस कमेटी के फैसले ही को कांग्रेस का फैसला मान कर देश को चलना मुनासिब है।

यह भी निश्चित-सा मालूम होता है, कि उम्मेदवार वही सज्जन बनाये जायेंगे, जो जेल हो आये हैं, और बराबर लड़ाई में शरीक रहे हैं। अगर ऐसा किया गया, तो यह कांग्रेस की पहली स्वार्थपरता होगी। जो सिपाही मैदान में लड़ सकता है, वह काउंसिल में बैठकर विचार भी कर सकता है, इसमें हमें संदेह है। अगर सब बातें बराबर हों तो जेल जानेवाले को जरूर प्रधानता मिलनी चाहिए, लेकिन महज़ जेल जाना अन्य सभी तरह की लियाक़त की कमी नहीं पूरी कर सकता। कितने ही तो महज़ इसलिए जेल नहीं गये कि उन्होंने उस समय जेल से बाहर रहना ही सबसे बड़ा त्याग समझा। जिस समय जेल जाना राष्ट्र की सेवा ही नहीं, स्वार्थ की भी उतनी ही बड़ी सेवा थी, उस समय जो लोग चढ़ा-ऊपरी न करके अलग रहे उनको सेवा का अवसर न देना उनके साथ अन्याय होगा। और अगर जेल यातना ही काउंसिल में जाने की सबसे बड़ी शर्त हो, तो मं० मोहन लाल नेहरू के शब्दों में 'सी' क्लास भुगतनेवालों को ही काउंसिल में भेजना चाहिए। कांग्रेस के वह नेता, जो ए या बी क्लास में रहे, किस नीति से उन वालंटियरों को समझायेंगे जिन्होंने सी क्लास और खड़ी बेड़ी और काल कोठरी कोई भी तपस्या बाकी नहीं छोड़ी ?

१४ मई १९३४

चुनाव चुथौअल

काँग्रेस के चुनावों में मानवता की जो छीछालेदर हुई है, वह परम खेदजनक है। महाकोशल से परम राष्ट्र सेवक सेठ गोविन्ददास तथा पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र ने और इधर प्रयाग से श्री सुन्दरलाल तथा श्रीमती उमा नेहरू ने कई आकस्मित और दुःखद घटनाओं के कारण—जिन्हें हम यहाँ दुहराना नहीं चाहते—चुनाव में न खड़े होने की घोषणा करके अपने प्रतिद्वन्दियों के लिए मार्ग साफ कर दिया है। यह उनकी उदारता है और यह तो प्रत्यक्ष है कि गृहयुद्ध और फूट की सम्भावना ने ही उक्त सज्जनों को यह निश्चय करने के लिए वाध्य किया है। यह बड़े खेद और लज्जा की बात है कि चुनाव के लिए इस प्रकार बखेड़ा उठाया जाता है। योग्य व्यक्तियों के होते हुए भी उनके मार्ग में काँटे बिछाकर जो लोग स्वयं खड़े होना चाहते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि वे यह अनुचित कार्य करके राष्ट्र का हित नहीं, अहित कर रहे हैं। उनकी देश भक्ति तो इसी में है कि वे अपने से अधिक त्यागी और देश सेवक को राष्ट्र सेवा का अवसर प्रदान करते, उसे सहयोग देते। यह न करके अपने सामने किसी को त्यागी, राष्ट्र-हितैषी न मानकर, योग्य व्यक्तियों के विरुद्ध प्रदर्शन करता, उनके प्रतिद्वन्द्वी होकर खड़े होना, नोटिसबाज़ियों के द्वारा गाली-गलौज़ करना, अक्षम्य देश द्रोह है। वोटरों को भी ऐसे व्यक्तियों से सावधान होने की आवश्यकता है।

चुनाव में खड़े होने का अर्थ है, देश का प्रतिनिधित्व करने की तैयारी, उसके हित के लिए कुछ करने का व्रत लेना, राष्ट्रीय हित के विरोधियों पर विजय प्राप्त करने की प्रतिज्ञा करना, देश को स्वतन्त्रता की ओर ले जाना तथा उसका कल्याण करना। जो इस जिम्मेदारी को जानता है, देशहित का जिसे गंभीर अनुभव है—राष्ट्र का प्रतिनिधि बनने का अधिकार उसी को है। और जो, अपने से अधिक योग्य व्यक्ति के होते हुए भी उसकी उपेक्षा करके उसका प्रतिद्वन्द्वी बनकर खड़ा होना चाहता है, वह अनधिकारी है। राष्ट्रीय प्रतिनिधि बनने का उसे कोई हक़ नहीं है। उसे तो वोट ही न मिलने चाहिए। चुनाव का उम्मीदवार वही हो सकता है, जिसने राष्ट्र के लिए त्याग किया हो, जो राष्ट्रहित को गंभीरता से जानता हो, जनता जिसे अपना प्रतिनिधित्व करने के योग्य समझती हो, जिसका व्यक्तित्व सन्देहहीन और पवित्र हो, देश की दरिद्रता और दुःखों को देखकर जिसकी आँखों से आँसू आते हों और उनका प्रतिकार करने के लिए जो तन, मन, धन से प्रयत्नशील हो। और जो केवल यश की इच्छा से, या सम्मान की भूख से त्याग दिखलाता हो, केवल कौंसिलों अथवा एसेम्बली का मेम्बर बन जाने की धुन रखता हो, उसे राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व करने का कोई अधिकार नहीं है और न वह राष्ट्र का हित ही कर सकता है। ऐसे लोगों को वोट देना, राष्ट्रीय अहित में सहयोग देना है।

अगस्त १९३४

आतंकवाद का उन्मूलन

आतंकवाद को नष्ट करने के सम्बन्ध में विचार करने के लिए कलकत्ते के कुछ चुने हुए व्यक्तियों की एक सभा हुई थी। उसमें सर्वसम्मति से एक प्रार्थनापत्र तैयार किया गया है, जो सरकार के पास भेजा जायगा। सभा करनेवालों का अभिमत है कि जनता की राय को संगठित किये बिना आतंकवाद नष्ट नहीं किया जा सकता। साथ ही एक बात और भी महत्वपूर्ण कही गयी है ; वह यह है कि आतंकवाद का मूल कारण बेकारी है। निस्सन्देह सभा की राय सोलहों आना सच है। 'मरता क्या न करता'। जब बंगाल का युवक अपना घर फूँककर उच्च शिक्षा के नाम पर बी० ए०, एम० ए० पास करता है और उसे उसके इस कठोर परिश्रम और सर्वस्व-स्वाहा का फल बेकारी और अपनी साधारण से साधारण आवश्यकताओं को पूर्ण करने की असमर्थता में मिलता है, तो उसे अपने जीवन से निराशा हो जाती हैं, वह पागल हो जाता है, उसके हृदय में विद्रोह अग्नि-क्रीड़ा करने लगता है। वह सोचता है—क्या करूँ? जीवन कैसे बिताऊँ? क्या मुझे मेरे परिश्रम का यही फल मिलना चाहिए था? मेरे सहस्रों रुपयों के बलिदान का पुरस्कार यही बेकारी है? वह आतंकवादी बन जाता है। इसके सिवा उसके लिए जीवन को बिताने का कोई मार्ग नहीं है। इस तरह बेकारी ही आतंकवाद का मूल कारण है। जब तक बंगाल सरकार बेकार युवकों को काम नहीं देती, उन्हें अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन नहीं बतलाती, तब तक वह चाहे कितने ही कठोर से कठोर और घातक कानून बना दे, कितनी ही दमननीति से काम ले, आतंकवाद के शमन में सफल नहीं हो सकती। आज भारतवर्ष के द्वारा समस्त योरोप अपने खजाने भर रहा है, जापान अपनी जेबें गरम कर रहा है। सभी मालामाल हो रहे हैं और भारतीय बच्चे भूखे तड़प रहे हैं। वे अपने ही देश में सुखी नहीं रह सकते, उनको परिश्रम करके जीवन बिताने का ठिकाना भी नहीं है। फिर वे क्यों न आतंकवादी बन जायँ, क्यों न वे विद्रोही हो जायँ? सरकार स्वयं उन्हें विद्रोही बनने का अवकाश दे रही है। अगर वह सच्चे हृदय से चाहती है कि आतंकवाद नष्ट हो जाय, तो जितनी भी जल्द हो सके उसे उनकी बेकारी का इलाज करना चाहिए। आतंकवाद को दूर करने का यही सच्चा मार्ग है।

सितंबर १९३४

स्वराज्य के फायदे

स्वराज्य क्या है ?

अपने देश का पूरा-पूरा इन्तजाम जब प्रजा के हाथों में हो तो उसे स्वराज्य कहते

हैं। जिन देशों में स्वराज्य है वहाँ की प्रजा अपने ही चुने हुए पंचों द्वारा अपने ऊपर राज करती है। वहाँ यह नहीं हो सकता कि प्रजा लगान और करों के बीच में दबी रहे और अधिकारी लोग दिनों-दिन सेना बढ़ाते जायँ, कर्मचारियों का वेतन बढ़ाते जायँ। प्रजा भूखों मर रही हो, चारों ओर अकाल पड़ा हो और देश का अन्न दूसरे देशों को ढोया चला जाता हो, मरी, हैज़ा आदि रोग फैल रहे हों और अधिकारी लोग उसके रोकने का उचित प्रयत्न न करके सैर सपाटे किया करते हों, गरीब मुसाफिरों को रेल-गाड़ियों में बैठने की जगह न मिलती हो और अधिकारियों के वास्ते एक पूरी गाड़ी अलग खड़ी रहती हो, सारांश यह कि अधिकारी लोग प्रजा पर उसके हित के लिए नहीं बल्कि अपने प्रभुत्व जमाने और भोग विलास करने के लिए राज करते हों। जिन देशों में यह दशा होती है और प्रजा के हाथों में उसके सुधारने का कोई साधन नहीं होता, वही देश पराधीन कहलाता है और हमारा भारत इसी प्रकार के देशों में है जहाँ कर्मचारी लोग प्रजा का नमक खा कर अपने को प्रजा का सेवक नहीं, उसका स्वामी समझते हैं। भारत को छोड़ कर समस्त संसार में अब एक देश भी ऐसा नहीं है जहाँ की दशा इतनी खराब हो और आजकल हमारे नेता लोग इसी चिन्ता में पड़े हुए हैं कि इस दशा से भारत का उद्धार कैसे हो। क्या सारे संसार में हमीं सबसे नीच, सबसे मूर्ख, सबसे निर्बल हैं कि हाथ पर हाथ धरे इस दशा में पड़े रहें? हमारे पुरुषाओं में श्री रामचन्द्र जैसे पराक्रमी, महात्मा श्रीकृष्ण जैसे ज्ञानी, महात्मा बुद्ध जैसे त्यागी, महाराज विक्रम जैसे प्रतापी, महाराणा प्रताप और शिवाजी जैसे रणधीर, बादशाह अकबर जैसे प्रजाभक्त, गुरु वशिष्ठ जैसे आत्मदर्शी हो गये हैं, हम लोग उन्हीं की संतान हैं। क्या हम लोगों में बल, बुद्धि,विद्या सवर्था लोप हो गयी है? नहीं, यह बात नहीं है; भीष्म और अर्जुन के नाम पर जान देनेवाले कभी इतने बलहीन, इतने कर्महीन नहीं हो सकते। यह दिनों का फेर है जिसने हमें इस अधोगति को पहुँचा दिया है। लेकिन अब हम सचेत हो रहे हैं, हमारी निद्रा टूट रही है और हमें पूर्ण विश्वास है कि हम अपने सदुपयोग और पूर्वजों के आर्शीवाद से फिर भारत को उसी उन्नत दशा में पहुँचा देंगे जहाँ वह था, हम फिर समस्त भूमण्डल में उनका नाम उजागिर कर देंगे। इसका एकमात्र साधन 'स्वराज्य' है और भारत में प्रत्येक प्राणी का धर्म है कि वह यथायोग्य इस सद्कार्य में अपने नेताओं की मदद करे।

स्वराज्य के भेद

स्वराज्य के तीन भेद हैं। एक वह है जहाँ का राजा उसी देश का निवासी होता है लेकिन राज का सब काम अपनी ही इच्छानुसार करता है, प्रजा उसके इन्तज़ाम में ज़रा भी दखल नहीं दे सकती, जैसे काबुल, नेपाल। दूसरा वह है जहाँ का राजा अपनी प्रजा के प्रतिनिधियों की सलाह के बिना कुछ न कर सकता हो, जैसे इंग्लिस्तान, जापान। तीसरा

वह है जहाँ राजा नहीं होता, उसकी जगह पर पंच लोग किसी योग्य और सर्वमान्य पुरुष को चुन कर कुछ नियत समय के लिए अपना प्रधान बना लेते हैं और वह प्रजा के चुने हुए मेम्बरों की सम्मति से राज्य का सारा प्रबन्ध करता है, जैसे फ्रान्स, अमेरिका, चीन आदि। भारत की दशा विचित्र है, वह इन तीनों भेदों में से एक में भी नहीं आता, उसकी दशा सबसे गयी बीती है, न उसका राजा ही भारत का निवासी है और न वह प्रजा के चुने हुए पंचों द्वारा देश पर राज्य ही करता है। वास्तव में भारत का राजा कोई एक आदमी नहीं है, बल्कि समस्त इंग्लैण्ड—नहीं बल्कि अंग्रेज जाति उस पर राज्य करती है, चाहे वह आस्ट्रेलिया में रहती हो, चाहे कनाडा में। सोचने की बात है कि जब एक लोभी राजा समस्त देश की प्रजा को नाना प्रकार की विपत्तियों में डाल सकता है तो एक पूरी जाति लोभ के बश में देश में कितना हाहाकार फैला सकती है। अकेला राजा तो प्रजा को लूट कर अपना पेट भर सकता है लेकिन किसी पराधीन देश के लिए अपने ऊपर राज करनेवाली समस्त जाति का पेट भरना असम्भव है। यही कारण है कि भारत की दशा इतनी हीन हो रही है। अंग्रेज जाति के व्यवसायी उसका व्यवसाय अपने हाथों में करना चाहते हैं, नौकरी पेशे करनेवाले ऊँचे-ऊँचे ओहदे दबाये बैठे हैं, वहाँ के उद्योगी लोग यहाँ के उद्योग धन्धों पर आसन जमाये हुए हैं, यहाँ तक कि वहाँ के विद्वान लोग यहाँ की विद्या के भी अधिकारी बन गये हैं। हम इन तीनों भेदों में कौन चाहते हैं यह अभी साफ-साफ नहीं कहा जा सकता पर इसमें अब ज़रा भी सन्देह नहीं है कि हम वह स्वराज्य चाहते हैं जहाँ प्रजा के चुने हुए पंचों की सलाह से सब राजकाज किया जाता है और पंचों की सम्मति के बिना शासक लोग कुछ भी नहीं कर सकते। भारत में ऐसी सभाएँ हैं जहाँ प्रजा के प्रतिनिधि सरकार को सलाह देने जाते हैं। छोटे लाट साहब और बड़े लाट साहब दोनों ही को सलाह देने के लिए ऐसी सभाएँ बनायी गयी हैं। लेकिन एक तो इन सभाओं में जो पंच प्रजा की ओर से भेजे जाते हैं उन्हें वही लोग चुनते हैं जो या तो महाजन हैं या बड़े ज़मींदार या बड़े काश्तकार हैं, साधारण जनता को उनके चुनने का अधिकार नहीं है, दूसरे इन सभाओं को केवल राय देने का अधिकार है, अधिकारियों की इच्छा है चाहे उस राय को मानें या न मानें, वह इन सलाहों के मानने पर मजबूर नहीं हैं। विदित ही है कि वास्तव में यह सभाएँ केवल हाथी के दाँत हैं, उनकी जात से जनता की कोई भलाई नहीं हो सकती। उन्हें न तो आमदनी और खर्च के विषय में मुँह खोलने का अधिकार है, न सेना के विषय में, न पुलीस के विषय में। हाँ, शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा और म्यूनिस्पैलिटी के मामलों में उन्हें कुछ सत्ता प्राप्त है, लेकिन वह भी केवल नाम के लिए, क्योंकि जब आमदनी और खर्च उनके अख्त्यार के बाहर है तो वह शिक्षा या स्वास्थ्य रक्षा का उचित प्रबन्ध कैसे कर सकते हैं, जब खज़ाने की कुंजी शासकों के हाथों में है तो वह उनके आधीन है कि वह शिक्षा के लिए धन दें या न दें। स्वराज्यवादियों का लक्ष्य यही है और महात्मा गाँधी ने साफ़

कह दिया है कि हमको आमदनी और खर्च और सेना सम्बन्धी मामलों पर पूर अख्तयार हो, यही हमारा उद्देश्य है।

स्वराज्य के साधन

स्वराज्य का मुख्य साधन 'स्वावलम्बन' है, अर्थात् अपने देश की सब जरूरतों को आप पूरा कर लेना है। जो प्राणी अपने खेत का अनज खाता है, अपने काते हुए सूत का कपड़ा पहनता है और अपने झगड़े बखेड़े अपनी पंचायत में चुका लेता है उसे हम स्वाधीन कह सकते हैं। हम अपनी जरूरतों के लिए दूसरे देशवालों के मुहताज हैं, अनेक छोटे-छोटे घरेलू झगड़े चुकाने के लिए भी अदालतों का मुँह ताकते हैं, यहाँ तक कि अन्न वस्त्र के लिए भी दूसरों के आधीन हैं। यही हमारी पराधीनता है, इस अवस्था को दूर कर देने पर फिर हम सच्चे स्वराज्य का आनन्द उठाने लगेंगे। हमारे देश में काफी कपड़ा नहीं बनता। वह कपड़ा खरीदने के लिए हमें अपने देश का अनाज, तेलहन आदि अन्य देशों के हाथ बेचना पड़ता है। अनाज के निकल जाने से देश में बारहों मास अकाल की दशा बनी रहती है। मँहगी से प्रजा को काफी भोजन नहीं मिलता, वह अपना उदर भरने के लिए नाना प्रकार के कुकर्म करती है, इस प्रकार पुलीस और अदालतों का जोर बढ़ता है। केवल एक कपड़े की कमी से देश के सिर कैसी-कैसी बाधाएँ आ पड़ती हैं। यदि हम लोग अपने तन ढाँकने के लिए काफी कपड़े बना लें, तो हमारे ७० करोड़ रुपये देश में रह जायँ, धन धान्य की वृद्धि हो जाय। भोग विलास की चीजों के पीछे भी हम अपने देश के करोड़ों रुपये अन्य देशों की भेंट करते हैं। इस मामले में सारा अपराध पढ़े लिखे अँग्रेजी शिक्षा के भक्तों के सिर है। वह वकालत करके या नौकरी करके या अन्य रीतियों से प्रजा का धन खींच लेते हैं और उसे सिगरेट, साबुन, मोटर, शीशे के सामान, भाँति-भाँति की विलासयुक्त सामग्रियों की वेदी पर चढ़ा देते हैं। जब तक हम लोग अपने देश की कमायी अन्य देशों के हाथों इस प्रकार बेचते रहेंगे हम सच्चे स्वराज्य का आनन्द नहीं उठा सकते। इसलिए निहायत जरूरी है कि हम अपने पैरों पर खड़े होना सीखें, किसी के आधीन न रहें। अगर हमारे देश में साठ लाख चर्खे भी चलने लगें, तो हम अपने वस्त्रों के लिए किसी अन्य देश के मोहताज न रहें, सारा देश धन और अन्न से परिपूरित हो जाय। इसी प्रकार यदि हमारे सुशिक्षित भाई लोग भोग विलास के पदार्थों को त्याग दें तो उन्हें प्रजा को ठगकर, धूर्तता से, छल से धन कमाने की जरूरत न रहे। हमारा राष्ट्रीय जीवन कितना सुखद और शान्तिमय हो जाय। कितनी मनोहर कल्पना है। कुछ लोगों के कथनानुसार, यह सुदशा काल्पनिक ही सही, मनोरम स्वप्न ही सही, आदर्श सही, पर कोई कारण नहीं कि हम उस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास न करें। इस अवस्था में देश का सबसे उपकार जो हम कर सकते हैं वह चर्खे चलाना है। यह केवल व्यावसायिक प्रश्न नहीं है, धार्मिक प्रश्न है। यह केवल दैहिक मुक्ति का नहीं, आत्मिक मुक्ति का साधन है। यह विचार

मत करो कि चर्खे चलाने से तो मजूरी नहीं पड़ती। मजूरी समझ कर नहीं, इस काम को अपना कर्तव्य समझ कर करो। हमारा विशेष अनुरोध उन परदेवाली साध्वी स्त्रियों से है जिनके समय का अधिकांश गपशप या परनिन्दा में कटता है। उन्हें इस समय ईश्वर ने देशोद्धार का बड़ा अच्छा अवसर प्रदान किया है। इस पवित्र काम में उन्हें सहर्ष अपने पुरुषों को सहायता करनी चाहिए। उन्हें केवल वस्त्र दान का पुन्न ही न होगा बल्कि वह अपने देश के उन लाखों जुलाहों को काम में लगा देंगी, उनके परिवार को दरिद्रता के चंगुल से निकाल लेंगी, जो इस समय ताशे ढोल बजा कर, या नेचे आदि बना कर अथवा पुतली घर में मजूरी करके अपना पेट पाल रहे हैं। इससे भी बड़ा उपकार यह होगा कि हमारे देश से कुली प्रथा उठ जायेगी जिसके कारण आज लाखों परिवार अपने गाँव घर छोड़ कर शहरों की तंग और गन्दी कोठरियों में अपने जीवन के दिन काट रहे हैं और नाना प्रकार की कुवासनाओं में पड़ कर अपने जीवन का सर्वनाश कर रहे हैं।

स्वराज्य प्राप्ति का दूसरा साधन उन व्यवस्थाओं का त्याग करना है जो हमारी आत्मा को दबाती हैं और उसे पराधीन, परावलम्बी बनाती हैं। अदालतें, सरकारी नौकरियाँ, सरकारी शिक्षा आदि हमारी आत्मा को कुचलनेवाली, हमारे मन के पवित्र भावों को दमन करनेवाली, हमें कौड़ी का गुलाम बनानेवाली, हमारी वासनाओं को भड़कानेवाली संस्थाएँ हैं। हमारे बालकवृन्द बालकपन से ही सरकारी नौकरियों की आशा करने लगते हैं, उसी समय से उनकी आत्मा पराधीन होने लगती है। उन्हें परकटे पक्षी की भाँति दरबे के सिवा और कुछ नहीं सूझता। चापलूसी करने की, कांइयापन करने की आदत पड़ जाती है, वह अपनी इन्द्रियों के दास बन जाते हैं, सरकारी नौकरी ही उनका सर्वाधार बन जाती है। ऐसी शिक्षा पानेवाले युवकों के हृदय में देश प्रेम के उच्च भावों का उदय होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। जिनकी आत्मा ही दब गयी वह स्वराज्य और स्वाधीनता की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह तो हुआ शिक्षा का हाल। अदालतों का प्रभाव इससे कम प्राण घातक नहीं। वहाँ मुकदमेबाजी करने वाली जनता और उनका धन लूटनेवाले वकील मुखतार दोनों ही अपनी आत्मा को हताहत करते हैं। अगर कोई आदमी, झूठ, छल, कपट, धूर्तता, बेईमानी का भीषण नाटक देखना चाहे तो उसे एक बार अदालत में जाना चाहिए। वहाँ ऐसे-ऐसे घृणोत्पादक दृश्य देखने में आयेंगे कि उसकी आँखें खुल जायेंगी और मानवी दुर्बलता, दुष्टता तथा नीचता का विकट अनुभव हो जायेगा। कहीं गवाह तैयार किये जा रहे हैं, कहीं मुवक्किलों को उनका बयान तोते की भाँति रटाया जा रहा है, कहीं कांइयाँ मुहर्रिर मुवक्किलों से खर्च के लिए तकरार कर रहा है, कहीं कर्मचारी लोग रिश्वत के सौदे चुका रहे हैं, कहीं वकील साहब अपने मेहनताने का सौदा पटाने में मग्न हैं, कहीं मुखतार देहातियों के एक दल को साथ लिये इजलासों में दौड़ते फिरते हैं। और यह सब

धूर्त लीला खुल्लम खुल्ला बिना किसी संकोच के होती रहती है। आत्मनाश का इससे करुणाजनक दृश्य कल्पना में नहीं आ सकता। वकालत को आज़ाद पेशा कह कर लोग इस पर गर्व करते हैं, यहाँ तक कि शिक्षा का यही सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य समझा जाता है। हमारे विद्यालयों से उच्च उपाधियाँ प्राप्त करके लोग यही कामना लिये हुए निकलते हैं पर वास्तव में इससे नीच और परतन्त्र बनानेवाला कोई दूसरा पेशा नहीं है। शिक्षक की, चिकित्सक की, सौदागर की, कारीगर की जरूरत हमेशा रहेगी चाहे देश की राजनैतिक स्थित कुछ भी हो। लेकिन वकीलों की उपयोगिता अदालतों पर ही निर्भर है। आज अदालतें बन्द हो जायँ या पंचायतों का सर्वसाधारण में प्रचार हो जाय तो वकीलों को कोई कौड़ी को भी नहीं पूछे। टके-टके मारे फिरें। अंग्रेजी राज के पहिले यहाँ वकालत का नाम भी न था। अंग्रेजी राज के साथ यह पेशा भी आया और उसी राज की भाँति दिनों दिन उन्नति करने लगा, यहाँ तक कि आज इसने शिक्षित समाज पर एकाधिपत्य-सा कर लिया है। सोचिए कि जिस समाज का प्रतिभाशाली भाग अपनी जीविका के लिए किसी विशेष संस्था के आधीन हो वह स्वराज्य और आज़ादी के भावों का आनन्द कैसे उठा सकता है। वस्तुतः हमारे वकील भाई अदालतों के गुलाम हैं, उन्हें कोई स्वाधीन पेशा नहीं आता, उनमें स्वावलम्बन का भाव लुप्त हो गया है और उनसे समाज के उपकार की कोई आशा नहीं की जा सकती। अब रहे मुकदमेबाज लोग, उनमें प्रायः वही लोग हैं जो अपने धन या धूर्तता के बल से अन्याय को न्याय बनाना चाहते हैं। ऐसे आदमियों की आत्मा दुर्बल हो जाती है और वह अपना मतलब निकालने के लिए किसी ग़रीब की ज़ायदाद हज़म करने के लिए अथवा शत्रुओं से अपना वैर चुकाने के लिए तरह-तरह के पाखण्ड रचते हैं। जो आत्मा अनीति की शरण लेती है वह कभी स्वराज्य के योग्य नहीं हो सकती। वह सदैव कुचेष्टाओं के नीचे दबी रहती है, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए सदैव दूसरों की खुशामद किया करती है। उसमें सम्मान का भाव नष्ट हो जाता है, वह पतित हो जाती है। ऐसी गिरी हुई आत्माएँ स्वराज्य की कल्पना भी नहीं कर सकतीं। उनके संकीर्ण हृदय में स्वार्थ के सिवा ऊँचे और पवित्र भाव उठते ही नहीं। वह नित्य इसी चिन्ता में रहती है कि किसका धन उड़ा लें, किसकी ज़ायदाद हड़प कर जायँ। स्वराज्य प्राप्त करने के लिए आत्मशुद्धि, निर्भयता और सद्व्यवहार ही की उपासना करनी पड़ेगी और मुकदमेबाज़ी को छोड़ने में हमें इस उपासना में बड़ी मदद मिलेगी।

ऊपर जिन साधनों का ज़िक्र किया गया है वह सभी एक शब्द असहयोग के के अन्तर्गत आ जाते हैं। और शासन प्रजा के सहयोग या सहायता के बिना नहीं चल सकता। प्रजा का धर्म है कि वह अपनी सरकार की यथायोग्य सहायता करे, धन से, बल से, बुद्धि से उनकी सेवा करे, किन्तु जब शासन अनीति पर उतारू हो जाय, प्रजा को कष्ट देने लगे, उसके अधिकारों को कुचलने लगे, अपना रौब जमाने के लिए उस पर

अत्याचार करने लगे, तो फिर उसका प्रजा से सहायता पाने का मुँह नहीं रहता, और प्रजा भी उसकी सहायता न करने में दोषी नहीं ठहरायी जा सकती। भारत में इस समय ऐसा ही अवसर आ पड़ा है। अधिकारी वर्ग नाना प्रकार के विधानों से प्रजा को दमन करने पर तुले हुए हैं। कहीं सभाएँ बन्द की जा रही हैं, कहीं नेताओं का मुँह बन्द किया जा रहा है, कहीं निहत्थी प्रजा पर गोलियाँ चल रहीं हैं, कहीं कार्यकर्ता जेल भेजे जा रहे हैं और वहाँ उनसे कड़ी मेहनत ली जा रही है, कहीं पंचायतों को तोड़ा और पन्चों को दण्ड दिया जा रहा है, यहाँ तक कि किसी को शराब पीने से रोकने को भी जुर्म समझा जाता है। महात्मा गान्धी की जय-जयकार करने के लिए, खादी पहिनने के लिए, चरखों का प्रचार करने के लिए सज्जनों पर तरह तरह के दोषारोपण किये जा रहे हैं। ऐसी दशा में प्रजा का कर्तव्य है कि वह सरकार को किसी प्रकार की सहायता न दे, क्योंकि अत्याचारी शासन को मदद करना अत्याचार करने से कम पाप नहीं है। सरकार की नौकरी करना अनुचित है इसलिए कि प्रजा पर अत्याचार करने का काम नौकरों द्वारा ही होता है। सरकारी अदालतों में जाना अनुचित है इसलिए कि इससे सरकार का रौब बढ़ता है और प्रजा की आत्मा दुर्बल होती है, वकालत करना अनुचित है, इसलिए कि इससे सरकारी न्यायालयों की पुष्टि होती है, सरकारी विद्यालयों में पढ़ना अनुचित है, इसलिए कि इससे हमारे हृदय में गुलामी के भाव पुष्ट होते हैं। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि हम असहयोग इस हेतु ग्रहण नहीं करते कि इससे सरकार को हानि पहुँचे। नहीं, हम केवल इसलिए असहयोग करते हैं कि हमारा यही वर्तमान धर्म है। सरकार की नीति का हमको जो अनुभव हुआ और हो रहा है उससे भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि स्वराज्य के बिना हमारे देश का कल्याण नहीं हो सकता। उसकी प्राप्ति का साधन शान्तिमय असहयोग है, और आत्मशुद्धि, निर्भयता और सद्व्यवहार असहयोग के तीन अंग हैं। केवल असहयोग हमको स्वराज्य पद पर नहीं पहुँचा सकता। असहयोग तो केवल वाह्य साधन है, आन्तरिक साधन आत्मा की पवित्रता है। अपनी आत्मा को खो देने से हम पराधीन हुए, स्वार्थ परायणता ने ही हमारे गले में दासत्व की जंजीर डाली। आत्मा को पाकर ही हम स्वाधीन हो सकते हैं।

स्वराज्य के फायदे

स्वराज्य के फ़ायदे का शुमार करना ईश्वर के गुणों के गिनने के बराबर है। उसकी महिमा अपरम्पार है। स्वराज्य मिलने पर देश में सुख और शान्ति का स्वराज्य हो जायेगा उसी तरह जैसे कोई क़ैदी जेल से छूट कर सुखी होता है। उसके हाथों में हथकड़ियाँ नहीं हैं, पैरों में बेड़ियाँ नहीं, सिर पर सिपाहियों की संगीनें नहीं हैं, वह अन्न के लिए, वस्त्र के लिए किसी का मुहताज नहीं है, जब चाहे सोये, जब चाहे जागे, जब चाहे काम करे, जब चाहे आराम करे, जहाँ चाहे जाय, कोई उसका बाधक नहीं है। इस छुटकारे का आनन्द उसी क़ैदी से पूछिए। वही उसका मज़ा जानता है। स्वराज्य

से देश को सबसे बड़ा फायदा जो होगा वह भारतीय जीवन का पुनरुद्धार है। प्रत्येक जाति के जीवन में कोई प्रधान गुण होता है। अँग्रेज जाति का प्रधान गुण पराक्रम है, फ्रांसियों का प्रधान गुण स्वतन्त्र प्रेम है, उसी भाँति भारत का प्रधान गुण धर्मपरायणता है। हमारे जीवन का मुख्य आधार धर्म था। हमारा जीवन धर्म के सूत्र में बँधा हुआ था। लेकिन पश्चिमी विचारों के असर से हमारे धर्म का सर्वनाश हुआ जाता है, हमारा वर्तमान धर्म मिटता जाता है, हम अपनी विद्या को भूलते जाते हैं, अपने रहन सहन, रीति रिवाज़ से विमुख होते जाते हैं, हमारा अद्वितीय सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न हुआ जाता है ; पच्छिम की देखा देखी हम धनोपार्जन ही को जीवन का लक्ष्य मानने लगे हैं, सम्पत्ति ही को सर्वोपरि समझने लगे हैं, यही हमारा धर्म हो गया है। ज्ञान का, सन्तोष का, कर्तव्यपालन का, त्याग का महत्व हमारी निगाहों से उठता जाता है। हम विद्या को धर्म समझ कर सीखते और सिखाते थे, चाहे वह गान विद्या हो, धनुर्विद्या हो या कोई अन्य विद्या हो। अब हम उसे धनोपार्जन के लिए सीखते और सिखाते हैं। हममें परस्पर प्रेम नहीं रहा, सहानुभूति नहीं रही। हमारी मैत्री, हमारा प्रेम, हमारी सदिच्छाएँ, हमारे हृदय का उच्च वृत्तियाँ, सभी धन इच्छा के नीचे दबती जाती हैं। सारांश यह है कि हम अपनी आत्मा को भूलते जाते हैं। स्वराज्य पाकर हम अपनी आत्मा को पा जायेंगे, हमारे धर्म का उत्थान हो जायेगा, अधर्म का अन्धकार मिट जायेगा और ज्ञान भास्कर का उदय होगा। वर्ण व्यवस्था और आश्रम धर्म का फिर राज होगा। हम फिर अपने भाग्य के विधाता हो जायेंगे, बैलों की भाँति हाँके न जाकर पुरुषों की भाँति अपना मार्ग स्थिर करेंगे। हमको संसार में अपने विचारों के प्रचार करने का, अपने आदर्शों को दिखाने का अवसर मिल जायेगा। हम किसी जाति के पिछलग्गू न बन कर संसार सभा में अपने उचित स्थान पर बैठेंगे, हमारी गणना दीन-हीन परवश जातियों में न होकर उन जातियों में होने लगेगी जिनके हाथों में संसार की बागडोर है। पराधीनता ने हमारी बुद्धि को मन्द कर दिया है। हमारा मानसिक बल लुप्त हो गया है। हमने पिछली कई शताब्दियों से संसार के ज्ञानकोष में कुछ योग नहीं किया, कोई नयी कल्पना नहीं की, विचार सागर में कोई लहर पैदा नहीं की। पच्छिम की जगमगाते हुए बिल्लौर के सामने हमारे जवाहिरात की चमक मन्द पड़ गयी थी। स्वराज्य हमारी बुद्धि को, हमारी विचार शक्ति को मुक्त कर देगा और संसार में फिर उनकी आवाज़ सुनायी देगी। हमारा महत्व बढ़ेगा, हमारी प्रतिभा बढ़ेगी और हम उन्नत और बलवान जातियों के सम्मुख बैठने के अधिकारी हो जायेंगे। हम संसार में एक नयी सभ्यता, एक नये जीवन का प्रचार कर देंगे, संसार के वर्तमान धर्म प्रेम को अपने सन्तोषमय जीवन से लज्जित कर देंगे, स्पर्द्धा और प्रतिद्वन्दिता को मिटा कर सहकारिता और प्रेम का सिक्का जमा देंगे। तब—संसार का द्वार हमारे लिए बन्द न होगा हम अछूत, नीच, असभ्य, गंवार न समझे जायेंगे, तब कनाडा और आस्ट्रेलिया,

अफ्रीका और न्यूजीलैंड के लोग हमारी सूरत से घृणा न कर सकेंगे, तब फिजी और डमरा के मदान्ध सौदागर हमें कोड़े मार कर गुलाम न बना सकेंगे, तब हमको कुचलने के लिए, हमको गुलाम बनाये रखने के लिए, तरह-तरह के कठोर पाशविक कानून न बनाये जा सकेंगे, क्योंकि तब हमारे हाथों में भी इन अत्याचारों का जवाब देने की शक्ति होगी, तब किसी को हमें नीच समझने का अधिकार न रहेगा, तब हमको जो जाति अपने देश में जाने से रोकेगी उसे हम भारत में पैर न रखने देंगे, उसके साथ व्यवसाय न करेंगे, उससे कोई सम्पर्क न रक्खेंगे। तब हमारे देश में आप ही धन धान्य की इतनी बहुलता हो जायगी कि हमारे भाइयों को कुलियों में भरती होने की जरूरत ही न रहेगी। अंग्रेजी उपनिवेशों में इस समय हमारे भाइयों की जो दुर्गति हो रही है उसे देखकर किन आँखों से आँसू न निकल पड़ेंगे। जिन भारतीय मजूरों ने अपना पसीना और रक्त बहा कर पूर्वीय अफ्रीका, नेटाल, ट्रान्सवाल, फिज़ी को चमन बनाया, जंगलों को काट कर बसाया उन्हीं को अब वहाँ से निकाल देने के लिए मदान्ध, स्वार्थान्ध अँग्रेज, नाना प्रकार के क्रूर व्यवहार कर रहे हैं। स्वराज्य पाने के बाद फिर किसका मुंह है जो हमसे ऐसा बुरा, ऐसा पैशाचिक व्यवहार कर सके।

इस धार्मिक और मानसिक उन्नति के अतिरिक्त स्वराज्य से दूसरा बड़ा उपकार जो होगा वह हमारी आर्थिक सुदशा है। प्रचीनकाल में भारत अत्यन्त समृद्धिशाली देशों में था। यहाँ तक कि अन्य देशों के लोग यहाँ के धन की उपमा देते थे। हमारे कवियों ने भी अपने काव्य ग्रन्थों में नगरों के जो वर्णन किये हैं उनसे भी उसी बात की पुष्टि होती है। अब वह कंचन, वह रत्न कहाँ हैं? आज तो हमारा देश संसार के सबसे कंगाल देशों में है जहाँ के निवासियों को साल में नौ महीने आधे पेट भोजन करके निर्वाह करना पड़ता है। इसका कारण कुछ तो यह है कि भूमि इतनी उर्वरा नहीं रही लेकिन मुख्य कारण हमारी पराधीनता है। हमको लगभग सत्तर करोड़ रुपये प्रतिवर्ष कपड़े के लिए अन्य देशों को देने पड़ते हैं, लगभग चालीस करोड़ रुपये अंग्रेज कर्मचारियों के पेन्शन आदि के निमित्त देने पड़ते हैं। सत्तर करोड़ रुपये केवल सेना विभाग के भेंट हो जाते हैं। रेलों की कम्पनियों को कितने ही करोड़ रुपये नफा के देने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेज लोग जितना धन चाय, नील, ऊख आदि की खेती करके, अन्न, लोहे, कपड़े आदि के कारखाने क़ायम करके ढो ले जाते हैं उसका कोई हिसाब नहीं। राजकर्मचारियों को वेतन जो यहाँ दिया जाता है वह अन्य देशों के कर्मचारियों से कहीं अधिक है। यह सब धन कहाँ से आता है? हमारी भूमि से। यही कारण है कि ज़मीन पर दिनों दिन लगान बढ़ता जाता है, दिनों दिन भाँति-भाँति के कर लगते जाते हैं कि किसी तरह यह शासन का बढ़ा हुआ खर्च पूरा पड़े। शिक्षा के लिए रुपयों का सदैव रोना रहता है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए धन का सदैव तोड़ा रहता है लेकिन पुलीस और सेना के लिए कभी धन की कमी नहीं रहती। स्वराज्य होने से इस दशा में बहुत कुछ सुधार होने की सम्भावना है।

अभी विश्वस्त रूप से यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस शासन का खर्च घटाने में सफल होंगे लेकिन इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि कुछ न कुछ किफायद जरूर होगी। हम पुलीस की इतनी बड़ी संख्या न रक्खेंगे और पुलीस के उच्च अधिकारियों की संख्या घटाने का प्रयत्न किया जावेगा। खर्च की सबसे बड़ी मद सेना है। हम इतनी बड़ी और इतनी मंहगी सेना न रक्खेंगे। गोरे सिपाहियों पर बहुत ज्यादा खर्च पड़ता है। गोरे अफसरों को भी लम्बी-लम्बी तनख्वाह देनी पड़ती हैं। इसकी जगह देशवासी ही अफसर होंगे और सिपाहियों की भी संख्या घटा दी जायगी। देश रक्षा के लिए स्वयंसेवकों की सेना बनायी जायेगी, स्थायी सेना के कम हो जाने से खर्च में बहुत बचत हो जायेगी। राज्यकर्मचारियों में अधिकांश इसी देश के लोग होंगे और उन्हें इतना वेतन न देना पड़ेगा। इसी मद से भी बहुत खासी बचत हो जायेगी। यह भ्रम है कि स्थायी सेना को घटा देने से अन्य जातियाँ हमारे ऊपर आक्रमण करेंगी। इस समय सब देश अपनी आन्तरिक उन्नति के उद्योगों में लगे हुए हैं और बोलशेविज़ंम के भावों के कारण उन्हें अपना ही घर सँभालना मुश्किल पड़ रहा है। और जिस तरह इस मत का प्रचार बढ़ रहा है उससे बहुत कम राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करने की फुरसत या हविश रह जायेगी। बोलशेविजंम का सुधरा हुआ जो रूप आगे बच रहेगा सम्भव है उसमें एक दूसरे पर आक्रमण करके उसका धन धान्य हरण करने का रिवाज ही उठ जाय। हम यदि किसी को न सतावेंगे तो दूसरे हमको क्यों सताने लगे। संसार से सैनिकता के उठ जाने के शुभ लक्षण जान पड़ रहे हैं। इसलिए हमें सेना और शासन विभागों में जो बचत होगी वह स्वास्थ्य रक्षा और शिक्षोन्नति में खर्च होगी। इतना करने पर बहुत सम्भव है कि हमारा भूमिकर इससे हल्का हो जाय और अन्य कर तोड़ दिये जायँ। हमारे नेता लोग भूमिकर को हल्का करने के लिए सरकार से सदा अनुरोध करते आये हैं। जब प्रबन्ध उनके हाथों में आ जायेगा तो वह अवश्य अपने सिद्धान्त का पालन करेंगे और हमारे किसानों के सिर से लगान का भारी बोझा उतर जायेगा। हमारी अदालतों पर भी इस समय भारी व्यय होता है। न्याय इतना मँहगा हो गया है कि बेचारे गरीबों के लिए वह दुर्लभ हो गया है। तब अदालतों का बहुत-सा काम पंचायतों को सौंप दिया जायेगा और जनता को बिना घरबार रेहन किये न्याय मिल जाया करेगा। अवैतनिक कर्मचारियों की संख्या बढ़ा देने से भी अदालतों के खर्च में कमी की जा सकेगी।

जब जनता के पास धन एकत्र हो जाय तो वह उससे किसी न किसी काम में लगाना चाहेगी। इस प्रकार देश की व्यवसायिक और व्यापारिक उन्नति होगी। अभी सरकार ने मालगाड़ियों के ऐसे नियम बना रक्खे हैं, विलायत के सौदागरों के माल भेजने के ऐसे सुभीते कर रक्खे हैं कि वह यहाँ सस्ता माल भेज सकें। यह देश अभी कौशल और कलों से काम करने में निपुण नहीं है। इसका फल यह [illegible] रहा है कि बाहर से सस्ती चीजों

के पट जाने के कारण हम अपने शिल्पादि को सँभाल नहीं सकते। तब रेलगाड़ियाँ हमारे इन्तज़ाम में होंगी। हम अपनी सुविधानुसार आने जानेवाले माल का महसूल बढ़ा घटा सकेंगे। बाहर से आनेवाली सस्ती चीजों पर कड़ा कर लगाकर विदेशी माल को रोक सकेंगे और स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन देकर उनका प्रचार बढ़ा सकेंगे। इन थोड़े दिनों में हमारा देश किसी अन्य देश का मुहताज़ न रहेगा। हमारे यहाँ वह सभी जिन्सें पैदा होती हैं या पैदा की जा सकती हैं जो मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं। फिर हमें किसी दूसरे देश का मुहताज़ क्यों रहना पड़े? यह भी याद रखना चाहिए कि हमारा देश कृषि प्रधान है। शिल्प और उद्योग यहाँ सदैव कृषि के नीचे ही रहेगा। अतएव हम अपने यहाँ बहुत बड़े-बड़े कारखाने क़ायम नहीं कर सकते क्योंकि इससे मजूर लोग शहर में बसने लगते हैं और नाना प्रकार की आदतों में पड़ कर अपने शरीर और आत्मा दोनों का ही सर्वनाश करते हैं। कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थानों में मजूरों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही है। हमें यही उद्योग करना चाहिए कि हमारा ग्राम्य जीवन जो स्वास्थ्य रक्षा और आचरण की पवित्रता का पोषक है नष्ट न होने पावे। इसलिए हमें प्रायः उन्हीं उद्योगधन्धों का प्रचार करना होगा जो कृषिक लोग घर बैठ कर अवकाश के समय कर सकें। छोटे-छोटे कारखाने अलबत्ता कस्बों में खोले जा सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस व्यावसायिक नीति से हम विदेशी वस्तुओं का मुकाबला न कर सकेंगे। लेकिन जब हम कर लगा कर विदेशी वस्तुओं को रोक देंगे तो उनसे मुकाबला करने का प्रश्न ही न रह जायेगा। इसके सिवा हम तो केवल अपनी ज़रूरत को पूरा करने के लिए शिल्प और कला की उन्नति चाहते हैं। हमारा उद्देश्य कदापि नहीं है कि सस्ता माल बना कर निर्बल देशों पर पटकें और व्यवसाय के बहाने उन पर आधिपत्य जमायें। हम सुख और शान्ति से रहना चाहते हैं, किसी को सताना या दबाना नहीं चाहते। हम उतना ही कपड़ा बनाना चाहते हैं जिससे हमारी प्रजा का तन ढँक जाय। मैनचैस्टर, लंकाशायर आदि की भाँति दूसरे देश के गले अपना सस्ता माल नहीं मढ़ना चाहिए। इसी व्यावसायिक चढ़ा ऊपरी के कारण योरोप की जातियों में नित्य वैमनस्य बना रहता है, एक दूसरे को शत्रु समझती हैं। उसका भयंकर परिणाम वह महा समर था जिसका अभी तक निबटारा नहीं हुआ। हम इस संग्राम से दूर रहना चाहते हैं। खिलाफत का प्रश्न, जिसने संसार के समस्त मुसलमानों को बेचैन कर रक्खा है, बहुत कुछ इसी व्यावसायिक चढ़ा ऊपरी से सम्बन्ध रखता है। फ्रांस शामदेश को नहीं छोड़ता इसलिए कि वह शाम के बन्दरगाहों से अपना माल अरब देश में ला सके। अंग्रेज लोग बसरा और बगदाद नहीं छोड़ना चाहते क्योंकि वहाँ मिट्टी के तेल की खाने हैं। इस व्यावसायिक स्वार्थपरता को छिपाने के लिए तरह-तरह के नैतिक ढकोसले गढ़ते जाते हैं और हम उस देश को छोड़ दें तो वहाँ अराजकता फैल जायेगी, वहाँ के लोग एक दूसरे से लड़ मरेंगे इत्यादि।

कुछ सज्जनों का कहना है कि इस व्यावसायिक काम में हम संसार से अलग-अलग नहीं रह सकते। हमारा देश कोई कुटी नहीं है कि उसका द्वार बन्द करके हम शान्ति से बैठें। यह सर्वथा सत्य है। हम भी ऐसा करना नहीं चाहते। हम अन्य देशों से ज्ञान विज्ञान सीखना चाहते हैं। उनके आचार विचार से परिचित रहना चाहते हैं, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि हम अन्य देशों की व्यावसायिक पराधीनता स्वीकार करें। जर्मनी, फ्रांस आदि उन्नत देश भी अपने देश के व्यापार की रक्षा के लिए रक्षण-कारी कर लगाते हैं। केलव इंग्लिस्तान अबाद्य वाणिज्य का पक्षपाती है, लेकिन वहाँ भी नीतिज्ञ इस नीति के विरोधी हैं और देश की वस्तुओं की रक्षा करने के लिए अन्य वस्तुओं पर कर लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। आजकल सारे अंग्रेजी साम्राज्य के नेता लोग इन्हीं प्रश्नों पर विचार करने के लिए लंदन में जमा हुए हैं। भारत से भी माननीय श्री निवास शास्त्री जी इस कान्फ्रेन्स में सम्मिलित होने के लिए गये हैं। जब ऐसे समुन्नत देशों का यह हाल है तो भारत यदि अपने व्यापार की रक्षा करे तो कोई अनुचित बात नहीं है।

रेल विभाग का प्रबन्ध अभी तक अंग्रेजी कम्पनियों के हाथों में है। यद्यपि कई रेल की शाखाएँ अब सरकार की सम्पत्ति हो गयी हैं पर सरकार ने उनका प्रबन्ध अपने हाथ में न लेकर कम्पनियों पर ही छोड़ दिया है। इस काम के लिए वह कम्पनियों को चार रु० पाँच रु० सैकड़ा नफा देती है। हमारे नेता सरकार से बार-बार कह चुके हैं कि वह रेलों का इन्तज़ाम स्वयं करे किन्तु सरकार इस ओर ध्यान नहीं देती। इसी बात को जाँच करने के लिए अभी हाल में एक कमेटी बैठी थी। मालूम नहीं उसने क्या निश्चय किया। कम्पनी के इन्तज़ाम से प्रजा को जो कष्ट होता है। कम्पनी प्रजा के सुख और सुभीते पर ध्यान नहीं देती केवल अपने लाभ पर ध्यान रखती है। रेल के विभागों में ऊँचे पदों पर कोई हिन्दुस्तानी नियुक्त नहीं होने पाता। रेलगाड़ियों में जनता को जो कष्ट होता है वह हम अपनी आँखों से देखते हैं। आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा जनता की जेब से आता है लेकिन अव्वल और दूसरे दरज़े के मुसाफिरों के लिए जहाँ सजी हुई गाड़ियाँ होती हैं, सजी हुई भोजन की गाड़ियाँ और ठहरने के स्थान होते हैं वहाँ सर्वसाधारण को तीसरे दरज़े की गाड़ियों में भूसे की भाँति भरा जाता है और वह पशुओं की तरह मुसाफिर खानों में पड़े रहते हैं, उन्हें स्टेशनों पर पानी तक नहीं मिलता। स्वराज्य रेलों का सारा प्रबन्ध हमारे हाथ में रख देगा और तब हम—

तीसरे दरजे के मुसाफिरों के सुख के लिए यथोचित विधान करेंगे। मालगाड़ियों के इन्तज़ाम में भी हम अंग्रेज व्यापारियों के फायदे के लिए अपने देश के व्यापारियों का नुकसान न करेंगे। तब हमारे व्यापारी मालगाड़ियों के लिए स्टेशन मास्टरों की खुशामद न करेंगे और न बड़ी-बड़ी रिश्वत देंगे। उन्हें ज़रूरत के अनुसार सुगमता से गाड़ी

मिल जाया करेगी और माल के रुके रहने से उन्हें जो हानि होती है वह कदापि न होने पायेगी।

मादक वस्तुओं का त्याग करना स्वराज्य प्राप्ति का उपाय है। सरकार को मादक पदार्थों की बिक्री और अफीम के बनाने से करोड़ों रुपयों की आमदनी होती है। यह अधर्म का धन है और अधर्म के धन को भोग करके कोई देश सुखी नहीं रह सकता। मादक वस्तुओं से मनुष्य की जो शारीरिक और आत्मिक हानि होती है उसके उल्लेख करने की ज़रूरत नहीं है। हम सभी जानते हैं कि इसका नतीज़ा खराब होता है। ग़रीबों की पसीने की कमायी नष्ट हो जाती है और वह दरिद्र होकर भाँति-भाँति के दुःख झेलते हैं। हर्ष की बात है कि जिन जातियों को नीच कहा जाता है वह इस बुरी प्रथा को छोड़ रहे हैं लेकिन उच्च जातियों के लोग जो शराब की जगह भाँग और अफीम का सेवन करते हैं इनके त्यागने का नाम भी नहीं लेते। उनके विचार में भाँग या अफीम त्याज्य नहीं। यह उनकी भूल है। मादक वस्तुएँ सभी हानिकर हैं और हमारा कर्तव्य है कि उन्हें स्वयं छोड़ें और यथाशक्ति दूसरों से छुड़वाएं।

उपसंहार

स्वराज्य क्या है, उसके पाने के क्या उपाय हैं और हमारे क्या लाभ होंगे इनका संक्षिप्त वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। हमारे देश में काँग्रेस ही वह संस्था है जो स्वराज्य सम्बन्धी बातों का प्रचार करती है। महात्मा गांधी उस सभा के मुखिया हैं। उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि स्वराज्य के सुख भोगना चाहते हो तो चर्खे चलाओ, स्वदेशी वस्तुओं को ग्रहण करो, अदालतों को छोड़ो, पंचायतों द्वारा अपने कलहों का फैसला कराओ। नशे की चीज़ों को त्यागो, वकालत के निकृष्ट पेशे को छोड़ो और राष्ट्रीय शिक्षा का उचित प्रबन्ध करो। महात्मा गांधी देश के भक्त हैं। उन्होंने देश के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया है। हमारी भलाई के लिए वह रात दिन हिन्दुस्तान भर में दौड़ रहे हैं। यदि ऐसे बुद्धिमान और दूरदर्शी नेताओं की आधीनता में हम स्वराज्य न ले सकेंगे तो फिर हम को बहुत काल तक पछताना पड़ेगा क्योंकि ऐसे महान पुरुष संसार में बिरले ही जन्म लिया करते हैं। यह समझना चाहिए कि परमात्मा ने उन्हें भारत का उद्धार करने के लिए अवतरित किया है और यदि हम उनकी आज्ञा न मानें तो हमारा परम दुर्भाग्य है। हम सबको, चाहे विद्यार्थी हों या सौदागर, ब्राह्मण हों या शूद्र, चाहिए कि इस पवित्र उद्योग में अपने नेताओं का हाथ बटायें। ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थपरता को कुछ दिनों के लिए भुला दें और एक दिल हो कर स्वराज्य प्राप्ति के लिए उद्योग करें, खुद चरखे चलायें और अपनी घरवालियों से चलवायें।

क्योंकि इस समय यह आपत्ति धर्म है, इससे मुँह न मोड़ना चाहिए। अगर घर पीछे एक छटाँक सूत भी रोज निकलने लगे तो देश का बड़ा कल्याण हो और एक छटाँक सूत कातने में घण्टे से ज्यादा समय नहीं लग सकता।

हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें सद्बुद्धि दें और इस उच्च और पवित्र काम में हमारी सहायता करें।



अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच : युद्ध और शांति



रूस और जर्मनी की संधि

इधर देश-देशान्तरों के मन्त्रिवर्ग योरोप में शान्ति की व्यवस्था करने के लिए जेनेवा में एकत्र थे, उधर रूस और जर्मनी में संधि हो गयी। इस संधि ने मित्रराष्ट्रों के सारे मंसूबों को खाक में मिला दिया। यारों ने सोचा था कि रूस से मनमानी व्यापारिक सुविधाएँ करा लेंगे और ज़ार को जो रुपये क़र्ज़ दिये थे वह भी चक्रवृद्धि सहित वसूल कर लेंगे, धीरे-धीरे सोवियत गवर्नमेण्ट को हज़म कर जायेंगे, फिर हमारी वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था (या कुव्यवस्था) का विरोध करनेवाला कोई न रहेगा। उधर जर्मनी से जुर्माने की रकम वसूल करने पर जोर दिया जायेगा। वास्तव में यह सम्मेलन इसीलिए हुआ था कि रूस को नीचा दिखाया जाय, पर रूस की नीति-चातुरी ने मित्रों को वह झाँसा दिया कि आप लोग दाँत कटकटाकर और कुन्द तौलकर रह जाते हैं। रूस का तो बाल बाँका कर नहीं सकते, जर्मनी पर अपना गुस्सा उतार रहे हैं। कहते हैं, हम इस संधि को स्वीकार नहीं करते, यह जर्मनी की धोखाबाज़ी है, शरारत है, नीचता है। फ्राँस तो बिलकुल जामे से बाहर हो गया है। मगर अब पछताये होत का जब चिड़ियाँ चुग गयी खेत। जर्मनी युद्ध में हारा जरूर, मगर इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने सदैव के लिए अपने को मित्रराष्ट्रों के हाथ बेच दिया, अपने स्वच्छन्द जीवन का अन्त कर दिया। आप लोग तो जिससे चाहे संधि करें, जितनी शक्ति चाहें बढ़ायें और अपने बल को खूब संगठित करें, और जर्मनी हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे! उसे जब मित्रों ने बिरादरी से निकाल दिया, प्रत्येक अवसर पर धुतकार और फटकार और तिरस्कार से उसका स्वागत करने लगे, बात-बात पर उसे दबाने, उसका मस्तक नीचा करने की चेष्टा करने लगे तो जर्मनी को विवश होकर रूस का आश्रय लेना पड़ा। उसे अपने माल की खपत के लिए, कच्चा माल प्राप्त करने के लिए कोई देश चाहिए न? या जर्मनी में मित्रों की कोष पूर्ति के लिए आकाश से रुपये बरसेंगे? अब मित्रों ने पोलैंड को भड़काया है, कदाचित् रूमानिया को भी सोवियत

सरकार से लड़ा देने की चालें चले, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि मित्र दलों की पालिसी ने यहाँ खूब ठोकर खायी और अब जर्मनी या रूस को अकेला समझकर दबाना उतना सहज न होगा। मित्रगण अब भी चेत जायँ, इसी में उनको भलायी है, नहीं तो जर्मनी ने भी तंग आकर अगर अपने यहाँ सोवियत राज्य स्थापित कर दिया तो फिर सिवाय कफ़ अफ़सोस मलने के और कुछ न हाथ आयेगा। अभी अकेले और दुर्बल रूस ने संसार को हिला रक्खा है, संगठित और कार्य चतुर जर्मनी भी मिल गया तो फिर पूंजी-पतियों के आधिपत्य का अन्त ही हो जायेगा।

मर्यादा : वैशाख १६७६

ओटावा सम्मेलन का आशीर्वाद

यह व्यवसाय का युग है। यहाँ व्यापारी और चीज़ों को बनानेवालों के स्वार्थ का राज है। खरीदार के हित की कोई परवा नहीं करता। ख़रीददार तो केवल इसलिए है कि व्यापारियों कि चीज़ खरीदे। उनके अस्तित्व की यही मंशा है। अगर वह ख़रीद-दार ग़रीब हो गया और अब चीज़ों के खरीदने को उसमें शक्ति नहीं रही, तो बजाय इसके कि बाजार को स्वाभाविक गति से चलने दिया जाय, इस बात के लिए व्यापारियों का सम्मेलन होता है कि चीजें कैसे मँहगी हो सकें। कैसे खरीददारों की जेब से ज्यादा से ज्यादा धन खींचा जा सके। व्यापारी को कैसे हानि हो सकती है? खरीददार का गला कटे, कोई परवाह नहीं। यही इस युग का धर्म है। व्यापारी अपना नफ़ा कम नहीं कर सकता। प्रबंध में किफ़ायत नहीं कर सकता। उसके हलवे-माँडे में ज़रा भी कमी नहीं हो सकती। उसे पूर्ववत् भोग विलास करते रहना चाहिए। खरीददार को क़ानून से ऐसा दबाना चाहिए कि झख मारकर मंहगे दामों चीज़ें खरीदे। अगर इसके विरुद्ध कुछ कहिए, तो आपके ऊपर देशद्रोह का आक्षेप लगा दिया जाय। जापान हिन्दुस्तान में सस्ती चीज़ें भेजता है, इसलिए कर लगाकर उसके माल को बन्द कर देना चाहिए। यही ओटावा में हुआ। अहमदाबाद और लंकाशायर के मिल मालिक सस्तेपन में जापान का मुक़ाबला नहीं कर सकते। उनकी इस अयोग्यता का तावान राष्ट्र को देना चाहिए। कहा जाता है कि ओटावा के निश्चय से हमारे किसानों का विशेष उपकार होगा, क्योंकि इंग्लैंड रुई आदि पर दस फीसदी जो कर लगानेवाला है, वह अब भारत के माल पर न लगेगा, पर मुशकिल यह है कि यहाँ के माल की खपत इंग्लैंड में इतनी नहीं होती, जितनी अंग्रेजी साम्राज्य से बाहर के देशों में। अगर उन देशों ने इसके जवाब में भारत के माल पर कर लगा दिया, तो भारत की कितनी बड़ी हानि होगी! मगर भारत के हानि-लाभ से किसे प्रयोजन है। इंग्लैंड की हानि न हो।

१२ सितम्बर १६३२

इंग्लैंड के लिबरल मेम्बरों का पदत्याग

इंग्लैंड में लिबरल सरकार की कलई दिन-दिन खुलती जाती है। कहने को तो वह राष्ट्रीय सरकार है, अर्थात्—उसके मंत्रि मंडल में सभी राजनैतिक दलों के प्रमुख नेता शामिल हैं, लेकिन वास्तव में वह साम्राज्यवादियों की सरकार है, क्योंकि लिबरल और मज़दूरदलवालों की संख्या उसके मंत्रिमंडल में बहुत कम है। जो थोड़ी-बहुत थी भी वह ओटावा सम्मेलन पर मतभेद होने के कारण अलग हो गयी। कई प्रधान लिबरल नेताओं ने हाल में त्यागपत्र दे दिये। साम्राज्यवादियों, लिबरलों और मजूरों की नीति में इतना अन्तर है, कि उन्हें किसी एक नीति पर संगठित करना असंभव-सा है। एक दल संरक्षण के पक्ष में है, दूसरा उसके विपक्ष में। कैसे संभव है, कि दोनों दलवाले संरक्षण में एक मत हो जायँ। ओटावा सम्मेलन में उपनिवेशों के माल को जो संरक्षण दिया गया है, लिबरल दलवाले स्वीकार नहीं करना चाहते। अपने सिद्धांतों की रक्षा करते हुए जहाँ तक साम्राज्यवादी सरकार का साथ दे सकते थे, वहाँ तक दिया, लेकिन जब उन्होंने देखा कि यहाँ किसी तरह सिद्धांतों की रक्षा नहीं हो सकती, तो उन्हें विवश होकर इस्तीफ़ा देना पड़ा। जो दस पाँच बच रहे हैं, वे भी दो चार दिन में निकलने पर मजबूर होंगे, फिर गवर्नमेंट में केवल कंजरवेटिव दल रह जायगा और वह जो कुछ चाहेगा करेगा। उसका बहुमत इतना ज्यादा है कि कोई दूसरा दल उस पर असर नहीं डाल सकता। भारत के लिए सभी दलों में केवल नाग और साँप का अन्तर है, मगर जहाँ चर्चिल का प्रभुत्व है, वहाँ नाग और काला नाग का अन्तर हो जाता है। हाँ, एक बात है। कंजरवेटिव मुँह से जो कुछ कहते हैं, वही करते भी हैं। लिबरल और मजूरदलवाले मुँह से तो मीठी-मीठी बातें कहेंगे, पर करेंगे वही जो कंजरवेटिव करते हैं। इसलिए हमें कंजरवेटिवों से इतनी शंका न होनी चाहिए, जितनी लिबरलों या मजूरों से।

५ अक्टूबर १९३२

मि० चर्चिल जनतंत्र के विरोध में

हमारे स्वराज्य की कुंजी है केन्द्रीय उत्तरदायित्व और हमारे विधाता वही हमें नहीं देना चाहते। मि० चर्चिल तो उसके विरोध में इतने गर्म हो गये कि जनसत्ता ही को कोसने लगे। आपने फरमाया—"जनसत्ता" संसार में असफल सिद्ध हो चुकी है, संसार एकाधिकार की ओर तेजी से दौड़ा जा रहा है, फिर भारत में जनसत्तात्मक

शासन की क्या जरूरत ? संसार के कई राष्ट्रों में एकाधिपत्य ने अवश्य आसन जमाया है, लेकिन ऐसा क्यों हुआ ? इसीलिए कि देश में साम्राज्यवाद का जोर हुआ और थोड़े से पूँजीपतियों की हानि-लाभ के निमित्त बड़े-बड़े महाभारत होने लगे। प्रजा के प्रतिनिधि प्रजाहित की तरफ से आँखें बंद करके पूँजीपतियों का पक्ष समर्थन करने लगे। बहुधा पूंजीपति ही प्रजा के प्रतिनिधि बन बैठे, क्योंकि धनी होने के कारण वे अपने चुनाव में बेदरेग़ रुपये खर्च करके मेम्बर बन बैठते थे। वहाँ एकाधिपत्य जनसत्ता की रक्षा के लिए आया है। भारत को तो अभी जनसत्ता की परीक्षा का अवसर ही नहीं मिला। अगर यहाँ भी जनसत्ता असफल हुई तो उसकी प्रतिक्रिया कोई न कोई रूप अवश्य धारण करेगी। अभी से उस विषय में परेशान होने की क्या जरूरत है। फिर जनसत्तात्मक शासन इतना अनिष्टकर है तो मि० चर्चिल पहले इंग्लैंड में ही उसका अन्त करने की चेष्टा क्यों नहीं करते। तभी हम समझेंगे कि उनकी नीयत साफ है। अगर एक चीज़ बुरी है, तो पहले खुद उसका परित्याग करो। यह नहीं कि खुद तो उसका भोग किये जाओ और दूसरों से कहो—खबरदार इसमें हाथ न लगाना।

२६ अक्टूबर १९३२

आस्ट्रेलिया से गेहूँ की आमदनी

सन् १९३० में बाहर से आनेवाले गेहूँ पर दो रुपये फ़ी हंडर आयात कर लगा दिया गया था। जिससे बाहर की जिंस यहाँ आकर मन्दी को और भी मन्दा न कर दे। इसका नतीजा यह हुआ कि बाहरी गेहूँ की आमदनी कम हो गयी। लेकिन आजकल गेहूँ का भाव भारत में तेज़ हो गया है। बाहर के व्यापारी इसी ताक में थे। उन्होंने हिसाब लगा लिया कि भाड़ा-खर्चा और आयात देकर भी कुछ नफ़ा हो जायगा। बस आस्ट्रेलिया का गेहूँ कलकत्ता में पहुँच गया। इसका नतीजा यह होगा कि गेहूँ फिर मंदा हो जायगा और यद्यपि इस वक्त किसानों के पास गेहूँ नहीं है, सब का सब साहूकारों की खत्ती में पहुँच गया है और कई प्रान्तों में किसानों को गल्ला मोल लेना पड़ रहा है, लेकिन बाहरी गेहूँ के आने से आनेवाली रबी की फ़सल में भी मंदी बनी रहेगी और फिर हमारे किसान तबाह होंगे।

२६ अक्टूबर १९३२

जापान का आर्थिक संकट

जापान की संघर्ष प्रवृत्ति देखकर हमने अनुमान किया था, कि वहाँ जनता खुशहाल होगी, लेकिन समाचार-पत्रों से ज्ञात होता है कि वहाँ की आर्थिक दशा बहुत ही नाजुक हो रही है। वह भी किसानों का देश है और वहाँ के किसान केवल भूखों ही नहीं मर रहे हैं, बल्कि लड़कियाँ तक बेच रहे हैं। वे घास की जड़ें खा-खाकर दिन काट रहे हैं और वहाँ भी लगान बंदी शुरू हो गयी है। प्रजा का तो यह हाल है और अधिकारी वर्ग पड़ोसियों से लड़ाई ठान बैठे हैं। यह उन देशों का हाल है, जहाँ स्वराज्य है।

३१ अक्टूबर १६३२

मि० लायड जार्ज जर्मनी के पक्ष में

जर्मनी का कहना है कि वरसेल्ज़ की संधि में इस समझौते पर उसको निःशस्त्र किया गया है कि विजयी राष्ट्र भी अपनी-अपनी सैनिक और नाविक शक्ति घटा देंगे। लेकिन फ्रान्स, इटली, इंग्लैंड किसी राष्ट्र ने भी उस समझौते को पूरा नहीं किया। परास्त जर्मनी तो तब से निःशस्त्र है, और विजयी राष्ट्र शस्त्र घटाने की बातें तो करते हैं, पर उसे पूरा करने का साहस नहीं रखते। ऐसी दशा में जर्मनी भी अपने को सशस्त्र करने का दावा करता है। मगर फ्रांस उसे किसी तरह सशस्त्र होते नहीं देख सकता। जर्मनी का दावा न्यायसंगत है, इससे कोई निष्पक्ष आदमी इंकार नहीं कर सकता और अब मि० लायड जार्ज ने भी इसे स्वीकार किया है। इसका फ्रांस क्या जवाब देता है, यह देखना है।

३१ अक्टूबर १६३२

अमेरिका की धमकी

कहा जाता है कि अमेरिका की आर्थिक दशा बहुत चिन्ताजनक हो रही है। हज़ारों बैंक टूट गये, करोड़ों आदमी बेकार हैं। फिर भी राष्ट्र संघ में निःशस्त्रीकरण की स्कीम के गिर जाने के कारण अमेरिका के प्रेसिडेन्ट मि० हूवर ने जंगी जहाज़ों के बनवाने की धमकी दी है। उनका कहना है कि जब कोई राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति कम करने पर तैयार नहीं, तो अमेरिका ही क्यों चुप रहे। अमेरिका का व्यापार दुनिया

भर से बढ़ा हुआ है। इसलिए उसके पास जंगी जहाज भी इतने चाहिए कि वह दुनिया भर का अकेला मुक़ाबला कर सके। यह धमकी सुनकर इंग्लैंड और फ्रांस और इटली का खून भी गर्म हो जायगा और उन्मादपूर्ण वेग से अस्त्र-शस्त्र एकत्र किये जाने लगेंगे। उधर बेकार प्रजा भूखों मर रही है। यह है उन देशों का हाल जहाँ स्वराज्य है।

७ नवम्बर १९३२

अमेरिका के कर्जदार

बहुत दिनों से ब्रिटेन तथा फ्रांस और इटली इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि विगत महासमर के समय उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से जो कर्ज़ा लिया है, वह फ़िलहाल कुछ समय तक के लिए वसूल करना मुल्तवी कर दिया जावे तथा आगे चलकर उसकी बहुत बड़ी रकम माफ़ कर दी जावे। संयुक्तराष्ट्र के राष्ट्रपति के निर्वाचन के बाद यह बात यकायक बहुत ज़ोर शोर से सामने आ गयी है। अमेरिका को इसी १५ दिसम्बर को ब्रिटेन से नौ सौ पचपन लाख तथा फ्रांस से एक सौ नबे लाख सिक्के पावने हैं। दोनों ही महादेश समझौते की तान छोड़कर इस मौके को टलवा देना चाहते हैं। इस विषय में दोनों देशों की ओर से सरकारी तौर पर प्रार्थना-पत्र वाशींगटन भेजा जा चुका है और वर्तमान अमेरिकन राष्ट्रपति हूवर तथा नव अर्ध-निर्वाचित् राष्ट्रपति रुज़वेल्ट में शीघ्र ही इस विषय में परामर्श होनेवाला है।

अमेरिका अब उतना धनी नहीं है, जितना हम उसको समझा करते थे। कम से कम, सरकारी बजट में चार सौ अस्सी लाख रुपये की कमी पड़ती जा रही है। और बेकारों की तादाद दो करोड़ तक पहुँचा चाहती है। असफल बैंकों की संख्या लगभग एक सौ पचास तक, इधर दो वर्ष के भीतर पहुँच चुकी है। इसलिए अमेरिकन जनता योरोप से अपना पूरा लेना-पावना वसूल कर अपना घर सँभाला चाहती है और अमेरिकन काँग्रेस, अमेरिकन राष्ट्रपति तथा मंत्रणा परिषद् ने एक स्वर से यह घोषणा कर दी है कि हम अपना कर्ज़ा नहीं छोड़ सकते। उसे चुका ही देना चाहिए।

फिर भी अमेरिकन सरकार इतना टका-सा जवाब नहीं देना चाहती थी। उसने एक ऐसा गोल-मटोल जवाब दिया है कि ब्रिटेन तथा फ्रेंच राजनीतिज्ञ भी चक्कर में हैं। हूवर का कथन है कि यदि ये राष्ट्र अपना पूर्णतः निरस्त्रीकरण कर देवें तो अमेरिका को भी जो समनुपातिक शस्त्रीकरण करना पड़ता है, उसका ख़र्चा घट जावेगा। इस प्रकार जो अपरोक्ष लाभ होगा, उसका विचार कर अमेरिका इस प्रस्ताव पर किंचित् विचार कर सकता है।

हमारी सम्मति में, ब्रिटेन तथा फ्रांस जब तक इस बात को स्वीकार नहीं करते,

उन्हें कोई मुँह नहीं है कि वे अमेरिका से किसी प्रकार की उदारता की आशा करें। इसके अतिरिक्त स्वयं उन्होंने अपने कर्जदार जर्मनी के साथ जब तक उनका वश चला क्या कभी रिआयत दिखलायी है? जर्मनी ने तो कर्ज़ा भी न लिया था, केवल उससे दण्ड के रूप में जबर्दस्ती रुपया वसूल किया जा रहा था और ज़मानत के रूप में जर्मनी की उर्वर घाटी रूर को अपने कब्ज़े में रखकर फ्रेन्च जाति ने बड़ा अन्याय किया था। जर्मनी की आत्मा तथा उसकी समृद्धि को कुचलने का ही अभिशाप फ्रेंच सरकार के सिर पर नहीं है, उसने एक और गुरुतर पाप किया है, जिससे समूचा विश्व त्रस्त है। फ्रांस से जहाँ तक हो सका, उसने दुनिया का आधा सोना बटोर कर अपने ख़जाने में भर लिया। अब, हम देखते हैं कि दुनिया भर के रुपये के बाज़ार की आँख आ गयी है, वस्तुओं की क़ीमत गिर गयी है तथा विनिमय की गड़बड़ी से बड़ा हाहाकार मचा हुआ है। फ्रान्स इस समय कहीं अच्छी हालत में है और क़र्ज़ न चुकाने के बहाने वह केवल अपनी सेना बढ़ाना चाहता है।

ब्रिटेन ने अपने कर्ज़दारों के साथ कैसा बर्ताव किया, यह जाने दीजिए। उसने अपने मातहत कर्जदारों के साथ क्या किया। गरीब भारत ने महासमर तथा नयी दिल्ली के निर्माण में ही विशेषतः ब्रिटेन से ही कर्ज लिया था। नयी दिल्ली का वैभव गरीब भारत के लिए व्यर्थ की चीज़ है तथा उससे ब्रिटिश वैभव की ही प्रतिष्ठा प्रस्थापित होती है। महासमर की विजय से गरीब भारत को क्या मिला? इसलिए यदि ब्रिटेन अपना संकट समझता है, तो वह दूसरों के संकट का भी ध्यान रखे। उसे चाहिए कि ग़रीब भारत की दुर्दशा का विचार करते हुए उससे जो कर्ज की अदायगी करानी है, माफ़ कर देवे। उदारता एक दैवी वस्तु है तथा उसका फल सुदूरवर्ती होता है। यदि ब्रिटेन भारत के प्रति उदार होगा, तो अमेरिका को भी ईश्वर सुबुद्धि देगा कि वह ब्रिटेन के प्रति उदार हो जावे, किन्तु इसके विपरीत हो यह रहा है कि ब्रिटेन ने भारतीय विनिमय को असंयमित तथा बंधन-मुक्त कर यहाँ के सोने को अपने यहाँ खींचना शुरू कर दिया है। यदि ब्रिटेन भारतीय कष्ट को न समझेगा, तो अमेरिका ब्रिटिश कष्ट को क्यों समझे?

२१ नवम्बर १९३२

सोवियत रूस की उन्नति

सोवियट रूस के पंचसाला कार्यक्रम का फल आशातीत हो रहा है। एक अंग्रेज पत्रकार ने वहाँ की वर्तमान दशा का पाँच साल पहले की हालत से तुलना करते हुए

लिखा है कि रूस में नये-नये नगरों और क़स्बों की बाढ़-सी आ गयी है। कितने ही ऐसे गाँव, जहाँ सौ दो सौ आदमी रहते थे वहाँ अब जनसंख्या पचास गुनी से ज्यादा बढ़ गयी है। झोपड़ों के ज़रा-ज़रा से पुरवे विशाल नगर बन गये हैं। व्यावसायिक उन्नति की यह रफ्तार संसार के इतिहास में विस्मयजनक है। जहाँ जनता पर जनता के हित के लिए शासन किया जाता है, वहाँ ऐसी ही सफलता प्राप्त होती है। साम्राज्यवादी योरोप अभी तक यही नहीं तय कर पाया कि फौजी सामान घटाया जाय या नहीं। उधर रूस एकाग्र भाव से उन्नति के मार्ग पर बढ़ता चला जा रहा है। न वहाँ बेकारी है, न मन्दी।

२८ नवम्बर १९३२

बेईमानी भी राजनीति है

इंग्लैंड ने पिछली लड़ाई में अमेरिका से जो कर्ज लिया था उसे अदा करते हुए उसे बड़ा क्लेश हो रहा है। उसने खुद कई राष्ट्रों को उसी अवसर पर बड़ी-बड़ी रकमें उधार दी थीं। मन्दी के कारण उसकी वसूली नहीं हो रही है। इसलिए इंग्लैंड अब इस दलील से अपना गला छुड़ाना चाहता है कि हमारे देनदार जब हमारा कर्ज नहीं चुकाते तब हम अमेरिका को कहाँ से दें। मगर अमेरिका कोई बहाना सुनने पर तैयार नहीं है। पिछले साल प्रेसीडेंट ने एक साल की मुहलत दी थी। अब वह मोहलत नहीं देना चाहता। अगर एक व्यक्ति किसी से ऋण लेकर अदा करने से इन्कार कर दे तो वह बेईमान समझा जाता है। लेकिन राजनीति में इसे बेईमानी नहीं कहते।

५ दिसम्बर १९३२

ईरान का तेल

इस कहावत में सत्यता का बहुत कुछ अंश है कि तेल ही इस समय दुनिया में हुकूमत कर रहा है। तेल न हो तो कल-कारखाने, जहाज़, हवाई जहाज़, मोटर, ट्रेन, तोप, टैंक सबका काम रुक जावे। लाख बिजली की ईजाद हो, जल प्रपात और सूर्य की रश्मियों से काम लिया जावे पर तेल का राज्य नहीं उठ सकता। यदि आज महासमर हो जावे तो जो राष्ट्र तेल के सोतों पर अधिकार रख सकेगा वही विजयी होगा। इसी

वास्ते फ्रांस और जर्मनी की समस्या नहीं सुलझ पाती। फ्रांस चाहता है कि जर्मनी के तेल के सोतों पर मेरी हुकूमत रहे। ब्रिटेन चाहता है कि बर्मा और ईरान का तेल उसी के हाथ में रहे। अमेरिका अपने स्टैंडर्ड आयल कम्पनी के लिए दक्षिण अमेरिका के प्रत्येक स्वतन्त्र कहे जानेवाले गणतन्त्र का गला घोंटने के लिए तैयार रहता है। निकारागुआ का सत्यानाश इसी कारण हुआ। बाक के तेल के सोतों के पीछे लाखों की जानें जा चुकी हैं।

इसलिए तेल का इतना महत्वपूर्ण स्थान होने पर भी यदि कोई स्वतन्त्र राज्य, कम से कम उस तेल पर जो उसके देश में निकल रहा है, अधिकार रखना चाहता है तो इसमें क्या बुराई है? भारत यदि बर्मा के तेल पर अपना अधिकार व्यक्त करता है और ईरान अपने तेल पर, तो दोनों दशाओं में ब्रिटेन को न्याय की बात मानकर, अपना हक वापस ले लेना चाहिए। ईरान के ब्रिटिश भक्त शाह ने १९०१ में एक ब्रिटिश कम्पनी को १९६१ तक देश भर के तेल के सोतों से तेल निकालने की आज्ञा दे दी थी। यह आज्ञा उन्होंने दी थी या स्वयं ब्रिटिश आज्ञा का पालन किया था, यह सन्देह की बात है। इस विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि रूस यह कह सकता है कि जार ने रूस की प्रजा की इच्छा के विरुद्ध इस के लिए विदेशी राज्य से कर्जा लिया था और उसे चुकाने के लिए रूस तैयार नहीं है, तथा यही बात तुर्किस्तान की ओर से भी विगत लासेन-कांफ्रेंस में उठायी जा सकती थी, तो ईरान भी इसी बुनियाद पर यदि प्रजाहित के विरुद्ध प्रजा की इच्छा के विरुद्ध किये गये एक अत्यन्त दूषित कार्य के सुधार का निश्चय कर ले तो ब्रिटेन को उसे धमकाना नहीं चाहिए। ईरान ने साफ कह दिया है कि ईरानी स्वयं अपना तेल निकालेंगे और हमारी समझ में उन्हें यह कहने का हक़ है।

१९ दिसम्बर १९३२

विदेशी राजनीति

विदेशी राजनीति में इस समय तीन अति महत्वपूर्ण घटनाएँ हो गयी हैं। एक है डी वेलरा की विजय, दूसरी है जर्मन की वॉन स्लेसर सरकार का पतन, तीसरी है फ्रांस में दलादियर का प्रधान मन्त्री हो जाना तथा हेरियट-मंत्रिमण्डल का असामयिक अवसान।

डी वेलरा को नये निर्वाचन में एक सौ छियासठ मेम्बरों में से अस्सी स्थान अपने लिये मिलने की संभावना थी। पर, उनका अनुमान ग़लत निकला—एक प्रकार से सही भी था—केवल सतहत्तर स्थान मिले। जब डी० वेलरा ने अस्सी की आशा खुले शब्दों

में प्रकट की थी तो नबे की आशा उन्हें ज़रूर ही रही होगी। इसी प्रकार कासग्रेव दल की 'अद्भुत सफलता' की मुनादी भी की जा रही थी। और ऐसी मुनादी में भाग ले रहा था रायटर। रायटर ने इस चुनाव के विषय में जो तार भेजे हैं, जो डरानेवाली अफ़वाहें उड़ायी हैं, इसी से यह साबित हो जाता है कि साम्राज्यवादी डेल तथा साम्राज्यवादी जगत डी वेलरा के पराजय का कितना उत्सुक था। अस्तु, छिहत्तर सदस्य अन्य दलों के हैं जिनमें अड़तालीस कासग्रेव दल के हैं। यह संख्या, विरोध करने के लिए प्रभाव-शून्य नहीं है और डी वेलरा को आशा के बराबर समर्थन न मिलना इस बात का प्रमाण है कि अभी तक आयर्लैंड की जनता इस द्विविधा में पड़ी हुई है कि किसकी नीति को अधिक उचित समझे। डी वेलरा की नीति से व्यापार को धक्का पहुँचा है। बेकारी बढ़ी है। किसानों की लगान कम नहीं हुई है। पर, दूसरी ओर स्वाधीनता, समानता तथा ऐंठ की भी वृद्धि हुई है। एक ओर पेट, दूसरी ओर देश की प्रतिष्ठा। फलतः यही असमन्जस इस चुनाव में प्रधान प्रश्न था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आयर्लैंड का हित इसी में है कि ब्रिटेन के साथ उसका व्यापारिक सम्बन्ध रहे। इस सम्बन्ध के लिए आयर्लैंड लालायित भी है, पर किसी भी अवस्था में वह इस बात के लिए तैयार नहीं है कि अपनी जमीन की लगान 'लैंड एनज्यूमिटी' के रूप में ब्रिटेन को चुकावे। डी वेलरा ने यद्यपि लगान ब्रिटेन को नहीं चुकाया है, पर उन्होंने किसानों से उसे वसूलकर सरकारी खजाने में रख लिया है। इसलिए किसाने जहाँ के तहाँ हैं और इसी बात का आज यह फल है कि मजदूर-दल के उम्मीदवार भी अच्छी खासी संख्या में चुने जा सके हैं। डी वेलरा के अध्यक्ष हो जाने पर, उनके दल के छिहत्तर सदस्य हो जावेंगे। यदि 'पार्लमेंट' डेल हरेन में इन्हीं के दल का सभापति चुना गया तो एक 'कास्टिंग वोट' ज़रूर इस दल को मिल सकता है। ऐसी दशा में भी बिना मज़दूर-दल को साथ लिये डी वेलरा दल का काम नहीं चल सकता। पर, मजदूर दल के साथ का अर्थ है मज़दूरों की, किसानों की समस्या को हल करना। यह समस्या ब्रिटिश व्यापारिक-सम्बन्ध पर बहुत कुछ निर्भर करती है। अतएव डी वेलरा अपनी समस्या को निपटा सकेंगे अथवा वे फिर से नया निर्वाचन करा-कर अधिक बहुमत की आशा करेंगे, यह अभी तक ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता, पर डी वेलरा की चिन्ता तथा उनकी नीति के लिए दृढ़ एकता की आशा नहीं है और इसी आशा में ब्रिटेन को भरोसा हो सकता है।

जर्मन राइखस्टैग की रचना इस समय ऐसी है कि यह बात स्पष्ट है कि कोई भी दल विशेष समय तक शासन नहीं कर सकता। ऐसी दशा में हर हिटलर का चांस-लर हो जाना और अपनी 'स्टील हेलमेट' नामक नाजायज़ सेना पर जर्मनी का शासन कर सकना विशेष संभव नहीं दीखता। मजदूर दल—साम्यवादी—पापेल का दल—स्लेस्तर दल सभी उनका विरोध करेंगे और हिटलर यद्यपि कुछ समय तक 'ग़ैर-कानूनी' पार्टी के सहारे शान्ति स्थापित करने की चेष्टा भी करें, पर उसका पतन अवश्य ही

शीघ्र होगा और एक बार पतन होने पर, असफल होने पर, हिटलर के नाम का जादू हवा हो जावेगा और राईख स्टेग का जो नवीन निर्वाचन होगा उसमें हिटलर की संख्या और भी घटेगी, यह अवश्यम्भावी है। हमारी समझ में जर्मनी को शान्ति तभी मिलेगी जब पुनः एक का ही, बिना अनेक के समर्थन के शासन संभव हो सकेगा।

फ्रांस में हेरियट ऐसे राजनीतिज्ञ तथा विख्यात कूटनीतिज्ञ के स्थान पर, दलादियर ऐसे द्वितीय श्रेणी के प्रधान मंत्री का अधिक समय तक प्रजा का विश्वास भाजन बने रहना संभव नहीं प्रतीत होता। हम शीघ्र ही फ्रेंच राजनीति में भी नवीन-निर्वाचन तथा नये प्रधान मंत्री का आगमन-संवाद सुनेंगे और इसी में अमेरिका पर होनेवाली ऋण-परिषद् की सफलता निर्भर करेगी।

६ फरवरी १९३३

अशान्ति

विश्व में इस समय चारों ओर घोर अशान्ति का वातावरण फैला हुआ है। जिधर देखिये, जिसे देखिये, वह उद्विग्न है, पीड़ित है, दुःखी है। वैभव और सुख के मद में डूबता इतराता, धनी भी जब अपने सुख से अघा जाता है तो एक अजीब चीज़ उसके जी को कचोटने लगती है, एक अजीब हवा उसके भीतर पैठकर उसे जला डालती है और वह कराहता है—न जाने उसे क्या चाहिए? दरिद्र के पास कुछ नहीं है, केवल उसकी चिन्ता ही उसे डंसा करती है, फिर भी उसके हृदय में न जाने क्यों एक ओर सुख का श्रोत बहता है, दुःख की गम्भीर धारा तो प्रशान्त महासागर की तरह निश्चल —पर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है।

घरेलू जीवन में भी कोई सुखी नहीं है। किसी को सन्तान चाहिए, किसी को रूप, किसी को घर, किसी को वर। जिसको जितना ही मिलता जाता है, उसे उतना ही अधिक आवश्यकता का अनुभव होता है। सभी को सभी कुछ चाहिए!

पर, ऐसा हो नहीं सकता, पर जो नहीं हो सकता, वह दुनिया में दिखलायी भी नहीं पड़ सकता। इसका वास्तविक अर्थ जो है वह केवल यह कि प्रत्येक प्राणी उस विश्वात्मा का एक अंश है। विश्वात्मा की सत्ता के इतर इस लोक में और कुछ भी नहीं है, अतएव जो कुछ है वह विश्वात्मा ही का है। उसी विश्वात्मा का अंश प्राणी है, जीव है। जीव निरन्तर भगवान की ओर बढ़ना चाहता है, अपने लुप्त ऐश्वर्य को अपनाना चाहता है। वह स्वयं सृष्टि का स्वामी है, यह ज्ञान उसकी अन्तरतम आत्मा में छिपा हुआ है, उसे इसी ज्ञान का सहारा है—और इसीलिए वह अपनी सत्ता में अपना ही सब कुछ देख सकता है, देखना चाहता है।

वह सोचता है कि सुख उसी की वस्तु है, उसे मिलनी चाहिए। दुःख उसी की प्रसादि है, उसमें दुःख लय हो जाना चाहिए। राज्य उसका, धन उसका, दुनिया उसकी। इसीलिए सब कोई सब कुछ चाहता है। परमात्मा का अंश परमात्मा का प्रभुत्व—अपना प्रभुत्व चाहता है—और यही वस्तु जगत की समूची चेष्टा, समूची शक्ति, समूची क्रिया के भीतर छिपी बैठी है।

यदि यहीं तक बात रहे तो सचमुच बड़ा सुन्दर हो। दुःख-सुख को अपने में लय कर जीव सुखी हो जाय, या दुःखी न रह जावे। पर जगत मिथ्या है। माया की अनोखी शान है। उसकी "सब कुछ अपनाने" की इच्छा "अहंकार" और "अभिमान" का रूप धारण कर लेती है। उसमें "मेरा" और "मैं" का गर्व पैदा हो जाता है। उसकी शक्तियाँ उच्छृङ्खल हो जाती हैं। वह यह भूल जाता है कि यदि दुनिया का सब कुछ उसी का है तो हरेक जीव भी उसी के हैं—पृथ्वी में वह है, जीव हैं—दोनों एक ही सत्ता के अंश हैं। एक ही शरीर के अंग हैं। एक ही पिंड के अणु हैं। इसीलिए किसी दूसरे का अपहरण अपना अपहरण है। किसी दूसरे का अनादर अपना अपमान है। किसी दूसरे की पीड़ा अपनी पीड़ा है। जो सनातनी यवनों से द्वेष करते हैं, पर यह भी कहते हैं कि वेद में संसार के सभी धर्म वर्तमान हैं, उसके सिद्धांत पाये जाते हैं, वे यह भूल जाते हैं, कि यह कहते ही उन्हें कोई अधिकार नहीं रह जाता कि मुसलमानी या ईसाई धर्म को बुरा-भला कहें। हमारा ही अंग बुरा नहीं हो सकता। हमारा ही धर्म कोई खोटा नहीं कह सकता। बस, हमारे अहंकार ने ही हमें चौपट कर रखा है, हमारे अज्ञान ने हमें चूस लिया है।

विश्व की अशान्ति की केवल एक दवा है। आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले की बात है। चीन में भयंकर मारकाट, रक्तपात, नर-संहार मचा हुआ था। हरेक जागीरदार डाकू था, हरेक राजा डकैत था। हरेक बच्चा बचपन से केवल लड़ना या मारा जाना सीखता था। उस समय चीन के कोने में एक ज्योति टिमटिमा रही थी। उसने चीन की दुर्दशा देखकर उसका निदान सोचा, उपाय सोचा, ढंग सोचा। हिंसा से कोई लाभ नहीं। ज़ोर ज़बरदस्ती से लोग नहीं मानेंगे। हिंसा का उत्तर हिंसा से दिया जाता था। ज़ोर का जवाब ज़ोर से। क्रोध बुरी वस्तु है। क्रोधी को क्रोध पहले खाता है। आवेश और असन्तोष भी बुरा है। अपनी दुर्दशा पर रोना नहीं चाहिए। ईश्वर जो करता है भले के लिए करता है। इसलिए चीन को दुर्दशा का सुधार केवल एक बात से हो सकता था। "प्रेम" पूर्ण भाई-चारे से, आत्म संयम से, दूसरे के दुःख दर्द में शरीक होने से। कनफ्यूसियश के यही महोपदेश थे। वह बड़ा विनम्र महात्मा था। प्रत्येक महान आत्मा का आदर करनाःचाहिए। इसमें मानापमान का विचार नहीं करना चाहिए। कनफ्यूसियस सुदूर लाओ-त्सी नामक महात्मा से सादर मिलने भी गया।

उसके उपदेश के प्रचार से चीन के गर्म दिमाग़वाले ठंडे हो गये। जिनको अपना गर्व था, वे शान्त हो गये। जो जीवन को लूट-खसोट की एक योजना मानते थे, वे धीरे-धीरे प्रेम का महत्व सीखने लगे। और कनफ्यूसियस के मरतें-मरतें चीन में शान्ति आ गयी।

आज समूचा विश्व चीन हो रहा है। मनुष्यों के स्थान पर राजा हैं। जागीरदारों के स्थान पर राज्यों के राजनैतिक नेता हैं और लूटेरों के स्थान पर शासकों का उच्छृङ्खल दल है। छोटा-सा राज्य मान्टीकार्लो भी चाहता होगा कि लन्दन की गद्दी उसे मिले और ब्रिटेन समूचे विश्व को अपना उपनिवेष, समूची बाजार अपना दास और समूचे राज्यों को अपना चेला बनाना चाहता है। फ्राँस वाले एक दूसरे के रक्त के प्यासे हैं। स्पेन में एक प्रजातंत्र है, हिटलर-तंत्र है, हिडनवर्ग-तंत्र है—और कुछ नहीं, केवल एक भीषण मारकाट की लम्बी तैयारी है। जापान मन्चूरिया ही नहीं, चीन को ही हड़प लेना चाहता है। चीन ज़रूर सोचता होगा कि मौका मिलने पर टोकियो में चीन का प्रधान अड्डा जमाया जावे।

जो अपनी उन्नति चाहता है, वह दूसरे के संहार के बल पर। जो बढ़ना चाहता है, वह दूसरे को गिराकर। एक साथ चलना दूषण समझा जाता है। एक साथ काम करना अपनी "नीति" को पराजित करना समझा जाता है, एक साथ मिलकर रहना राष्ट्रीय अपमान होता है। सभी वह चाहते हैं जिसे सब चाहते हैं, इसीलिए किसी को कुछ नहीं मिलता। एक ओर ब्रिटेन अपना उपनिवेश बढ़ाता है, दूसरी ओर महासमर में उसके देश के नवयुवकों की माला स्वाहा हो जाती है। एक ओर जापान कोरिया छीनता है, दूसरी ओर भूडोल उसकी राजधानी नष्ट कर डालता है। घाटा पूरा करना होगा, लेन-देन बराबर होगा। दुनिया में कोई किसी से बड़ा या छोटा नहीं है। हमने एक हाथ से अपने दूसरे हाथ का छीन लिया, दूसरा फिर छीन लेगा। हाथ लड़ रहा है आँख बन्द है।

बस, चीन-जापान के भावी संघर्ष, जर्मनी की घरेलू अशान्ति, आयरलैंड की हलचल, स्पेन के उपद्रव का एक मात्र केवल एक ही उपाय है, एक ही तरीका है, एक ही विधि है; और वह है, किसी कनफ्यूसियस आत्मा की आवाज़ का सुनायी पड़ना और हमारा सुन लेना। एक कनफ्यूसियस पैदा हो गया है, और वह यरवदा मंदिर के भीतर बैठा हुआ है। वह कह रहा है "आपस में प्रेम करो। बस, प्रेम करो।" केवल प्रेम! जिस किसी को प्रेम न करते हो, करने लगो। ब्रिटेन से, जापान से, सब से। और कुछ कर भी तो नहीं सकते। केवल प्रेम करने में क्या हानि है। सच्चे दिल से, सबसे प्रेम करो। सम्भव है हमारे तुम्हारे प्रेम की ध्वनि जापान के जी को कचोट ले, चीन के जी को चुभ जावे और सब एक मन, एक वाणी और एक कार्य से प्रेम करने लग जावें। प्रेमी को ही प्रेमी मिलते हैं। आज हम अपना-पराया भुलाकर, अपना-उनका

भूलकर सबके साथ प्रेम करने लगें, हिन्दू-मुसलमान के साथ, सनातनी-अछूतों के साथ, अंग्रेज़ हिन्दू के साथ प्रेम करने लगें—सभी समस्याएँ अभी हल हो जायेंगी। सब की, चाहे व्यक्ति हो या राज्य, राजा हो या प्रजा, सबके मन में शान्ति की लहर हिलोरें लेने लगेंगी। प्रेम का, स्नेह का, ममता का वातावरण छा जावेगा। हम प्रेमी हैं, प्रेम करते हैं—समूचे विश्व से, हमने विश्व-शान्ति का डंका पीट दिया है। देखो कैसे विश्व-शान्ति नहीं होती। पर प्रेम सच्चा हो, डंके में चोट हो!

२७ फरवरी १९३३

जर्मनी का भविष्य

जर्मनी में नाज़ीदल की अद्भुत विजय के बाद यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में जर्मनी फ़ासिस्ट हो जावेगा और वहाँ नाज़ी-शासन कम से कम पाँच वर्ष तक दृढ़ रहेगा? यदि एक बार नाज़ी शासन को जम कर काम करने का मौका मिला तो वह जर्मन के प्रजातंत्रीय जीवन को, उसकी प्रजातंत्रीय कामना को अपनी सेना और शक्ति के बल पर इस तरह चूस लेगा कि फिर पच्चीस वर्ष तक जर्मनी में नाज़ी दल का कोई विरोधी नहीं रह जावेगा। संभव है तब तक राजसत्ता भी स्थापित हो जावे। कैसर जर्मनी आने की अनुमति माँग रहे हैं। कैसर के पुराने सेवक हिण्डेनवर्ग राष्ट्रपति हैं। नाज़ीदल का उपाध्यक्ष कैसर का पुत्र है। राजभवनों पर सम्राट् का पुराना झण्डा फहराया जा रहा है। ऐसी दशा में फ्रांस और योरोप की अन्य शक्तियों के लिए जर्मनी बड़ी चिंता का विषय हो रहा है। वार्सले-सन्धि के अनुसार जर्मनी सम्राट् का झण्डा भी नहीं फहरा सकता। कैसर को देश निकाला भी सभी राष्ट्रों की सम्मति से हुआ है, पर नाज़ी नेता हिटलर को इन बातों की चिन्ता नहीं। शासन अपने हाथ में आते ही वह फ्रांस से सैनिक प्रतिबन्ध के प्रश्न पर झगड़ बैठा है जिस कारण लन्दन के पत्रों ने "निरस्त्रीकरण" सम्मेलन को निर्जीव संस्था घोषित कर दिया है। कर्जे के विषय में हिटलर एकदम चुप है—मानो वह उसको कोई महत्व ही नहीं प्रदान करता। इसलिए आशंका यह है कि बात बढ़ ही जावे। जर्मनी में नाज़ी दल की नाजायज़ सेना का तीव्र दमन और सभी विरोधी शक्तियों को चुनाव के पूर्व कुचल डालना ही नाज़ी विजय का कारण है। यह कहाँ का न्याय था कि वर्ग वादियों को जेल भेजकर, विरोधियों को पिटवाकर, मुसोलिनी की तरह विरोधी पत्रों तक को बन्द कराकर चुनाव कराया जावे और उसकी विजय को राष्ट्र मत की विजय कहा जावे। हिटलर मुसोलिनी का अनुकरण कर रहा है, पर मुसोलिनी के सामने वार्सेल की सन्धि और राज सत्ता के साथ षड्यंत्र का कार्यक्रम नहीं था। अतएव हिटलर को सावधान रहने की आवश्यकता है। भीतरी और

बाहरी विरोध दोनों उसका पतन चाहते हैं। देखें क्या होता है?

२० मार्च १९३३

यह डिक्टेटरों का युग है

प्रजातन्त्र वाद असफल हो गया। एक सौ पचास वर्ष के बाद अब मालूम हुआ कि यह चलनेवाली चीज़ नहीं। रूस ने इसे धता बतलाया, इटली ने धता बताया, अब जर्मनी ने भी धता बता दिया। और आखिर में भारतवर्ष ने भी इसे धता बता दिया। समझ में नहीं आता, वाइसराय के अधिकार बढ़ जाने पर इस सिरे से उस सिरे तक हाय-हाय क्यों हो रही है। कोई कहता है यह गुलामी का पट्टा है, कोई पुकारता है भारत में अंग्रेज़ी राज्य अनन्त तक जमें रहने की योजना है, कोई हाँक लगाता है यह भारत का अपमान है। हम समझते हैं श्वेत-पत्र की रचना में ज़रूर विधि का हाथ है। आखिर डिक्टेटरशिप को एक न एक दिन आना ही है, जब पश्चिम के देशों ने जनतन्त्र को ठुकरा दिया तो हिन्दुस्तान में भी एक न एक दिन उसे ठुकराया ही जायगा। हमारे त्रिकालदर्शी देवता तो एक ही सयाने। उन्होंने सोचा व्यर्थ भारत में खून-खच्चर क्यों हो, क्यों हिटलर और मुसोलिनी और स्टालिन पैदा हों। पहले ही से न डिक्टेटर बना दो! बस हमारे देवता अंग्रेज-राजनीतिज्ञों के हृदय में अपने देवबल से घुस गये और यह व्यवस्था बनवा ली। आखिर कांग्रेस ने भी तो गाँव-गाँव, शहर-शहर, प्रान्त-प्रान्त, में छोटे बड़े डिक्टेटर बना लिये थे। अब यही समझ लो कि चौकीदार से लेकर वाइस-राय तक हमारे डिक्टेटर हैं। इसमें रोना-पीटना काहे का। हम तो कहते हैं यह काउंसिल और एसेम्बली सब व्यर्थ, व्यर्थ ही नहीं विनाशकारी हैं। देश उन पर करोड़ों रुपये साल खर्च करता है। हज़ारों आदमी वहाँ सब काम-धन्धा छोड़कर चिल्लाते हैं। क्या फ़ायदा! सब तोड़ दो, वाइसराय को डिक्टेटर बना दो। तब कम से कम रुपये तो बचेंगे, किसानों का बोझ तो हलका होगा, टैक्स तो कम हो जायगा। कुछ न होगा इस हाय-हाय से तो छुट्टी मिलेगी। अभी जो मेम्बर और मिनिस्टर बने मूँछों पर ताव दे रहे हैं और दुनिया को दिखा रहे हैं कि मानो वह देश का उद्धार किये डाल रहे हैं तब मज़े से नोन-तेल बेचेंगे या लौंडे पढ़ायेंगे। कोतल घोड़ों को बाँध कर खिलाने का ख़र्च तो जनता के सिर न पड़ेगा। मुफ्त की हाय-हाय और बाय-बाय! हम तो अपना डिक्टेटर वाइस-राय चाहते हैं और उसी की जै मनाते हैं!

२७ मार्च १९३३

मसौलिनी शांति व्यवस्थापक के रूप में

बरसों शस्त्र घटाने के असफल प्रयत्न के बाद अब मि० रामजे मैकडोनल्ड और सर जान साइमन इटली पहुँचे हैं और मसौलिनी ने उनका धूमधाम से स्वागत किया है। साइमन साहब भी खुश हैं और मैकडोनेल्ड साहब भी खुश हैं, मगर मसौलिनी ने जर्मनी के विषय में जो बात कह डाली और 'वर्सल संधि' की तरमीम की जो चरचा कर दी, बस समझ लो कि अँग्रेज नीतिज्ञों की यह चाल भी उल्टी पड़ी। फ्राँस न राजी होगा न शस्त्र घटेंगे। फ्राँसवाले पहले ही से मसौलिनी पर अविश्वास करते हैं। अब तो उसे जर्मनी का हिमायती ही कहेंगे। शस्त्र किसी तरह नहीं घट सकते चाहे सारी दुनिया ज़ोर लगाकर देख ले।

२७ मार्च १९३३

सहयोग या संघर्ष

जीवन के लिए संघर्ष का उतना ही महत्व है, जितना सहयोग का। कितने ही ऐसे काम हैं, जिनमें सहयोग से कहीं बढ़कर संघर्ष काम देता है, लेकिन देखना यह है कि कौन-सी नीति मानवता के अनुकूल है और कौन उसके प्रतिकूल। लड़के को पढ़ाने-लिखाने में प्यार और मार दोनों ही अपनी-अपनी जगह कल्याणकारी हैं, लेकिन प्यार हर समय के लिए है, मार केवल विशेष अवसरों के लिए। हम प्रातःकाल बच्चे का चुम्बन लेकर प्रसन्न होते हैं, लेकिन ऐसा तो शायद बहुत कम होता हो कि सवेरे उठते-उठते लड़के को दो-चार चाँटे लगाकर हम अपनी दिनचर्या शुरू करें। हम बच्चे को मारते भी हैं तो इसलिए कि उसे ज्यादा प्यार कर सकें। डाक्टर हमें नश्तर लगाता है तो इसीलिए कि फिर उसे नश्तर लगाने की ज़रूरत न पड़े। हम बच्चे को मारने के लिए नहीं मारते और न सरजन नश्तर लगाने के लिए नश्तर लगाता है। सहयोग प्राप्त करने का एक साधन संघर्ष हो सकता है और होता है, लेकिन संघर्ष पर जीवन और समाज की बुनियाद डाली जाय और संघर्ष को ही विकास का मूल तत्व समझा जाय, यह तो कभी हितकर नहीं हो सकता। डार्विन साहब ने संघर्ष-सिद्धांत का आविष्कार करके मानव-जाति में उस पशुता को एक सहारा दे दिया और उस प्रगति को रोक दिया, जिधर उसका स्वाभाविक विकास उसे लिये जाता था। संघर्ष पशुता का लक्षण है, सहयोग मानवता का।। हमें उत्तरोत्तर पशुता से मानवता की ओर जाना चाहिए था, लेकिन संग्राम के इस सिद्धांत ने उस पशुता को एक नयी शक्ति प्रदान कर दी और उसी का यह फल है कि आज भूमंडल पर संघर्ष की दुहाई सुन रहे हैं। इसने हमें कुछ ऐसा सम्मोहित कर दिया है कि इच्छा न रहते हुए भी हम उसी ओर खिंचे जा रहे हैं। आज **Exploitation** का जो बाज़ार गर्म है, वह संघर्ष-सिद्धान्त का सबसे विनाशकारी अंग

है। हमने अपने स्वार्थ की बाग छोड़ दी है, और इसकी कुछ परवाह नहीं करते कि वह कितने बोये हुए खेतों को रौंदता, कितने जीवों को कुचलता चला जा रहा है। योरोप से हमने अगर कुछ सीखा तो वही सीखा, जो उसकी संस्कृति का सबसे निकृष्ट पहलू था। अभी बहुत दिनों की बात नहीं है कि हमें पश्चिम की सभी चीज़ें अपनी सभी चीज़ों से बढ़िया लगती थी। उनका रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, उनके खान-पान सब में हमारे लिये एक न रुकनेवाला आकर्षण था। योरोपवाले देर में सोकर उठते हैं, इसलिए हमें भी देर में सोकर उठना चाहिए! योरोपवाले हरदम कपड़े पहने रहते हैं, इसलिए हमें भी कभी नंगे बदन न रहना चाहिए! योरोपवाले खूब शराब पीते हैं, इसलिए शराब पीना भी संसार पर विजय पाने का एक मंत्र है! वही एकांत प्रेम, वही अपने से नीचे दरजे के आदमियों से पृथक् रहने की आदत, वही मुँह में सिगार दबा कर चलना, ग़रज़ हमने बन्दरों की तरह पच्छिमवालों की नकल शुरू की और अभी तक करते जा रहे हैं। हमारे नेता और अगुआ जब उस प्रवाह में न सँभल सके, तो छोटे-छोटे साधारण आदमी क्या सँभलते? धीरे-धीरे समय ने हमको बताया कि योरोप में सब कुछ सोना ही सोना नहीं है, उसमें कांसा-पीतल भी है। हम अपने खोये हुए आत्मसम्मान को फिर अपनाने लगे, हमारी नज़रों से वह सम्मोहन हटा और हमें कुछ विचार करने की शक्ति आयी। महात्मा गांधी ने आकर मानों उन बिखरी हुई आकार-हीन भावनाओं को मूर्तिमान कर दिया और योरोप की बुराइयाँ भी हमें नज़र आने लगीं। लेकिन संघर्ष का जो विष संसार की वायु में घुल गया है, उससे हम बचना चाह कर भी नहीं बच सकते। हमारे शासन-विधान में, हमारी व्यापारिक संस्थाओं में, हमारे निजी व्यवहार में, संघर्ष अपना नंगा नृत्य कर रहा है। शक्तिवान और शक्तिवान, धनवान और धनवान होना चाहता है और वह निर्बलों को कुचलता हुआ आगे बढ़ेगा। वह पड़ोसी के बराबर नहीं रह सकता, उससे बढ़कर रहेगा, उसे उखाड़ फेंकेगा। उसे अधिकार चाहिए। सोते, जागते वह अधिकार का स्वप्न देखता है और अधिकार के आगे ही सिर झुकाना जानता है। सच्चाई का बल, दीनता का बल उसके सामने कोई महत्व नहीं रखता। इसे वह दुर्बलता समझता है। उसके सामने केवल पशुबल का महत्व है, इसी से वह भयभीत होता है। इसी की पूजा करता है। उसका बढ़ा हुआ अहंकार उसकी आँखों के सामने भूत की तरह खड़ा है। ब्रह्मांड में व्याप्त एक चेतना है, इसे वह स्वीकार नहीं करता। प्राणी-प्राणी में एक दूसरे को खा जाने के सिवा और कोई भावना है, इसे वह नहीं मानता। ममता का एक पतला परदा जो उसे व्यापक सत्य से पृथक् किये हुए है, उसे उसने एक किला बना लिया है, जहाँ बैठा हुआ वह दूसरों पर हमले करता है और खुद हमलों से बचा रहता है।

हमारे सामने जो श्वेत-पत्र रखा गया है, उसके एक-एक शब्द में यही संघर्ष की भावना भरी हुई है। भारत दुर्बल है, असंगठित है, इसलिए उसे क्यों उभरने दिया

जाय ? संघर्ष का अविश्वास से प्रेम है हो। इस विधान के एक-एक शब्द से भारतीयों के प्रति अविश्वास टपक रहा है। चूँकि भारत दबाया जा सकता है, उसे दबाये रखना चाहिए। भारत पर विश्वास करके, उसके उद्धार में सहयोग देकर संसार में नवयुग लाया जा सकता है, संघर्षी इंग्लैंड में इतनी कल्पना नहीं है। भारत तबाह हो जाय, उसके साथ चाहे इंग्लैंड खुद तबाह हो जाय, पर भारत पर अपनी गिरफ़्त ढीली नहीं की जा सकती। इंग्लैंड की बिलकुल उस शक्की आदमी की-सी दशा है, जो अपनी स्त्री पर अविश्वास करके उसे कोठरी में बंद रखता है, कहीं जाता है, तो कोठरी के द्वार पर ताला डाल देता है। ऐसी स्त्री सुखी नहीं रह सकती, लेकिन क्या ऐसी स्त्री का पुरुष सुखी रह सकता है ?

३ अप्रैल १९३३

अमेरिका फिर गीला हो गया

अगर कोई हमसे पूछे कि ईसाई धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता क्या है, तो हम कहेंगे शराब का इस्तेमाल। इसलाम की विशेषता प्याज हो या न हो, लेकिन ईसाई धर्म के विषय में तो कोई सन्देह नहीं। हमारे यहाँ जितने भाई ईसाई हो गये हैं, उनमें अगर कोई परिवर्तन देखते हैं तो यही कि अब वह शराब पीने लगे हैं। हिन्दू धर्म ने शराब का निषेध किया, इसलाम ने भी शराब का निषेध किया, मगर हज़रत ईसा ने खुद शराब पी और पिलायी और उन्हें आज यह देखकर अवश्य ही आनन्द आता होगा कि उनके उपासक और कोई उपदेश मानें या न मानें शराब धड़ल्ले से पीते हैं, जो उनके धर्म का एक अंग है। रूस ने ईसाई धर्म को छोड़ दिया, तो वहाँ शराब कैसे रहती। वहाँ न धर्म है न शराब। अमेरिका ने ईसाई रहते हुए शराब छोड़ी थी, लेकिन आखिर ईसाई धर्म की विजय हुई और अमेरिका को भी गीला बनना पड़ा। नये प्रेसिडेंट मि० रुजवेल्ट को अवश्य ही ईसाई शहीदों में स्थान मिलेगा। एक बड़े ऊँचे पादरी साहब ने मदिरा-निषेध के विरुद्ध भाषण करते हुए कहा है—

१९१९ में निषेध के पहले संयुक्त अमेरिका के कृषकों की आमदनी साढ़े पन्द्रह अरब डालर थी। १९३१ में उस आमदनी में साढ़े आठ अरब की कमी हो गयी। १९१९ में किसानों को जहाँ एक डालर कर देना पड़ता था, वहाँ १९३१ में अढ़ाई डालर देना पड़ा। इस तरह निषेध के इन दस वर्षों में वहाँ के कृषकों को कुल पचपन अरब की हानि उठानी पड़ी। वहाँ की सरकार की भी लगभग पाँच अरब डालर करों में कमी आ गयी।

अब देखिए निषेध के कारण बेकारी कितनी बढ़ी—१६१६ में केवल शराब खींचने के लिए दस करोड़ बुशेल गल्ला खर्च होता था। निषेध के इन सोलह सालों में पौने दो अरब बुशेल अनाज कम पैदा करना पड़ा, क्योंकि शराब खींचना बन्द था। अब यदि एक किसान साल भर में एक हजार बुशेल अनाज पैदा करे, तो इस निषेध के कारण कोई सत्रह लाख आदमी बेकार हो गये। और उस निषेध को व्यवहार में लाने के लिए सरकार को पचास लाख डालर सालाना खर्च करना पड़ता था।

जिस निषेध से इतनी हानि हो रही थी, उसे क्यों न उठा दिया जाय ?

खुशी की बात है कि हमारे योग्य मिनिस्टरों ने शराब की बिक्री बढ़ाकर अपनी धार्मिक उदारता का परिचय दिया है। हमें आशा है कि वह भी आँकड़ों से दिखा सकेंगे कि शराब की बिक्री से जनता का कितना भला होगा और सरकार की आमदनी में कितनी वृद्धि होगी। और सबसे बड़ी बात यह है कि बेकारों की संख्या कितनी कम हो जायगी! उचित समझें तो अमेरिका से ऐसे उपदेशक बुला लें और जनता में शराब का प्रोपेगेंडा शुरू कर दें! हम समझते हैं, वर्णाश्रम संघ में भी ऐसे सौ दो सौ महोपदेशक आसानी से मिल जायेंगे। आमदनी की इस मद में वृद्धि की जितनी गुंजाइश है, उतनी और किसी मद में नहीं। नमक और आमदनी और डाक आदि पर कर बढ़ाकर आय में थोड़ी ही वृद्धि होती है, और हाय-हाय बहुत मचती है। शराब की बिक्री थोड़े से प्रोपेगेंडा से कई गुनी बढ़ सकती है और क्या मजाल की कोई चूं भी करे!

३ अप्रैल १६३३

जर्मनी में यहूदियों पर अत्याचार

योरोपियन संस्कृति की तारीफ़ें सुनते-सुनते हमारे कान पक गये। उनको अपनी सभ्यता पर गर्व है। हम एशियावाले तो मूर्ख हैं, बर्बर हैं, असभ्य हैं, लेकिन जब हम उन सभ्य देशों की पशुता देखते हैं तो जी में आता है यह उपाधियाँ सूद के साथ क्यों न उन्हें लौटा दी जायँ। उनकी बानरीय मनोवृत्ति ने अभी तक उनका पिंड नहीं छोड़ा। यहूदी मालदार हैं और आजकल धन ही राष्ट्रों की नीति का संचालन करता है, माना! रूस में कम्युनिज्म के फैलाने में यहूदियों का हाथ था, यह भी माना। यहूदियों ने ईसाइयों से पुरानी अदावतों का बदला लेने और ईसाई-सभ्यता को विध्वंस करने का बीड़ा उठा लिया है। यह भी हम माने लेते हैं, लेकिन इसके क्या मानी कि एक राष्ट्र का सबसे बड़ा अंग यहूदियों को मिटा देने पर ही तुल जाय। जर्मनी में नाजी दल

ने आते ही आते यहूदियों पर धावा बोल दिया है। यहूदियों की दूकानें लूटी जा रही हैं, यहूदियों की जायदादें ज़ब्त की जा रही हैं, यहूदी विद्वानों और पदाधिकारियों का अपमान किया जा रहा है। मारपीट, खून खच्चर भी होना शुरू हो गया है, और यहूदियों को जर्मनी से भागने भी नहीं दिया जाता। चारों ओर नाका बन्दी हो गयी है। वह अपने प्राणों की रक्षा नहीं कर सकते। यहूदियों ने वहाँ सकूनत अख्तियार कर ली है। कई पीढ़ियों से वहाँ रहते आये हैं। जर्मनी की जो कुछ उन्नति है उसमें उन्होंने कुछ कम भाग नहीं लिया है, लेकिन अब जर्मनी में उनके लिए स्थान नहीं है। इतना तक न किया गया कि उनसे कह दिया जाता कि तुम लोग देश से निकल जाओ, उनका सफ़ाया कर देना ही ठान लिया गया है। अधिकार का दुरुपयोग इसी को कहते हैं। प्रोफेसर आईस्टाइन जैसे विद्वानों को केवल यहूदी होने के कारण देश से बहिष्कृत कर दिया गया और उनकी सम्पत्ति छीन ली गयी। वर्ग संग्राम का इससे भीषण रूप और क्या हो सकता है। इसके मुकाबले में भारत को देखिए। यहाँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सब सदियों से रहते चले आते हैं। इधर कुछ दिनों से हिन्दू मुसलमान के एक दल में वैमस्य हो गया है, पर इसके लिए भी वही लोग जिम्मेदार हैं, जिन्होंने पश्चिम से प्रकाश पाया है और अपरोक्ष रूप से यहाँ भी वही पश्चिमीय सभ्यता अपना करिश्मा दिखा रही है। संघर्ष उस सभ्यता का तत्व है, उसमें समझौते के लिए गुंजाइश नहीं। वहाँ बलवान होने का अर्थ है निर्बलों को, अरक्षितों को, पीसकर पी जाना। फ्रांस ने जर्मनी पर विजय पायी और उसका तावान जर्मनी आज तक दे रहा है। उदारता और हृदय की विशालता तो जैसे उन जातियों ने सीखी ही नहीं। जिसके पास मोटा सोटा देखा उसी की जूतियाँ सीधी करने लगे। जिसे कमजोर पाया उसके सामने शेर हो गये। यह और चाहे जो कुछ हो, मनुष्यता नहीं है। यहाँ लोग साम्प्रदायिकता का अंत कर राजनीति के आधार पर पार्टियाँ संगठित करने के विचार कर रहे हैं। लेकिन क्या इस साम्प्रदायिक संघर्ष से वह राजनैतिक संघर्ष कम भीषण है?

१० अप्रैल १९३३

जापान के हौसले

ज़बरदस्त का ठेंगा सिर पर, यह पुरानी कहावत, जापान पर ठीक उतरती है। उसने कोरिया लिया, मंचूरिया लिया, अब चीन पर दाँत लगाये हुए है। वर्तमान युग में जनसंख्या का कोई मूल्य नहीं। एक हवाई जहाज़ दस लाख की आबादीवाले नगर का सर्वनाश कर सकता है। चीन में जनसंख्या बेशक जापान की आठ गुनी है, लेकिन वह

लड़ाई के सामान कहाँ से लाये जो जापान के पास हैं। सारी दुनिया टुकुर-टुकुर ताक रही है और किसी की मजाल नहीं है, कि जापान के सामने चूँ कर सके। लीग आफ नेशन्स ने पहले कुछ बन्दर घुड़की जमायी, लिटन-कमीशन आया, उन्नीस मेम्बरों की कमेटी आयी, जापान को समझाने-बुझाने की कोशिश भी की गयी, मगर मनोविज्ञान का जानकार, पक्का खेलाड़ी, खूब जानता था, कि लीग कितने पानी में है। उसने लीग को धता बताया और अब चीन में निर्द्वन्द्व होकर अपना सिक्का जमा रहा है। इंग्लैण्ड ने देखा जापान से लोहा लेना मुश्किल है, तो सर जान साइमन ने जापान को कठिनाइयों और परिस्थितियों से हमदर्दी दिखा दी। इटली और जापान में तनातनी है। उनमें से कोई बोल नहीं सकता। रह गया अमेरिका। वह भी डरता है, कि जापान के सामने आये और फिलिपाइन्स हाथ से गया। रूस की पालिसी जनता में जाग्रति पैदा करना है और अब इसी एक पालिसी पर सब राष्ट्र आस लगाये बैठे हैं। जापान की जनता को ऐसा भरा जाय कि वह अपने अधिकारियों के साम्राज्यवाद में सहयोग देना छोड़ दे। अगर जापान चीन में पिट जाता तब जनता में सनसनी पैदा होती, लेकिन जब जापान को साम्राज्य वादो नीति सफल हो रही है तो जनता क्यों विद्रोह करने लगी। जनता में इतना दम होता तो इंग्लैंड और फ्रांस और इटली कैसे संसार पर अपना प्रभुत्व जमा लेते। हाँ, जापान में भी स्पेन की-सी हालत पैदा हो जाय, तो अलबत्ता उसकी कोर दब सकती है, लेकिन जापान की जनता अभी अपने शासकों से इतनी बेज़ार नहीं है। पच्छिमवालों को चीन के मिटने का तो ग़म नहीं, लेकिन यह भय अवश्य है, कि कहीं चीन पर जापान का अधिकार हो गया, तो फिर एशिया में योरोपवालों के लिए कोई भविष्य न रह जायगा। बल्कि यों कहो कि योरोप के प्रभुत्व का अन्त हो जायगा। मगर याद रहे कि चाहे चीन पर जापान का अधिकार हो या न हो, योरोप के प्रभुत्व के दिन गिने हुए हैं। जिस माल की खपत पर योरोप के प्रभुत्व का आधार है, उसका बाज़ार दिन-दिन उसके हाथ से निकलता जा रहा है। अभी तक तो भारत और चीन दो उल्लू उसके हाथ में थे। मगर चीन निकल गया तो अकेला भारत रह जायगा और भारत सारे योरोप का पेट नहीं भर सकता। लंकाशायर की आधी मिलें अभी से बन्द हैं। जो शेष हैं, वह भी दस बीस साल में बन्द हो जायेंगी और वही हल और करघा रह जायगा।

१० अप्रैल १९३३

जापान और चीन

राष्ट्रसंघ चीं-चीं करता ही रह गया और जापान ने चीन के उत्तरीय भाग पर

अपना सिक्का बिठा दिया। वह यह तो कहे जाता है कि मैं चीन के किसी अंश पर अधिकार करना नहीं चाहता, फिर भी उसकी विजयी सेनाएँ दिन-दिन आगे बढ़ रही हैं और नये-नये नाम से नये-नये राज्यों की सृष्टि हो रही है। इसकी मंशा क्या यह तो नहीं है कि चीन को कई स्वतन्त्र भागों में विभाजित करके जापान उन पर सरपंच बनकर राज्य करे? चीन कई स्वतन्त्र टुकड़ों में हो जाने पर संयुक्त होकर जापान के सामने न आ सकेगा और जापान उनको उसी तरह नचायेगा जैसे अंग्रेज़ी सरकार हमारे राजाओं को नचाती रहती है। उधर चीनी तुर्किस्तान में क्रान्ति हो गयी है और ऐसा मालूम होता है कि वहाँ जनता ने सोवियत शासन स्थापित कर लिया है। इंग्लैण्ड और अमरीका का ऐसे अवसर पर चुप साध जाना एक रहस्य है। यह तो हम नहीं मान सकते कि आर्थिक संकट और अन्य संकटों के कारण कोई राष्ट्र इस दशा में नहीं है कि जापान से कुछ कह सके। इंग्लैंड और अमरीका के स्वार्थ पर अगर प्रत्यक्ष रूप से कोई आघात होता तो उन्हें आर्थिक संकट की बिलकुल चिन्ता न होती। जनता को चाहे जितना कष्ट हो रहा हो, शासन कर्ताओं पर इसका कोई असर नहीं। नये-नये जहाज़ बन रहे हैं, खर्च ज्यों का त्यों है। बात यह है कि चीन में बोलसेविज़्म का असर बढ़ता जाता था और संभव था कि दस-बीस वर्ष में चीन और रूस दोनों ही एक संयुक्त सोवियत शासन स्थापित कर लेते। अलग-अलग रहने पर भी एक ही आदर्श के अनुयायी होने के कारण उनमें विशेष आत्मीयता रहती ही। चीन जैसे आबाद और धनवाद देश का सोवियत में आ जाना संसार में उथल-पुथल मचा देता। इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के बूते की बात न थी कि वे इस प्रवाह को रोक लेते। जापान ने चीन पर आक्रमण करके उस समस्या को कम से कम पचास साल के लिए पीछे ढकेल दिया है। और यही कारण है कि योरोप का कोई राष्ट्र चूँ नहीं कर रहा है, सब के सब दिल में जापान को दुआएँ दे रहे हैं कि उसने आगे आकर उन सबों की लाज रख ली। रहा रूस, उसे साम्राज्यवाद से तो कोई सम्बन्ध है नहीं, न वह चीन को अपने राज्य में मिलाने ही का इच्छुक है, वह तो यही चाहता है कि चीन पर चीन की जनता का अधिकार हो। जापान के साम्राज्यवाद ने पूर्व के चीन पर धावा किया है तो पच्छिम में तुर्किस्तान की क्रान्ति ने भी हमला कर दिया है। इन दोनों शक्तियों के बीच में चीन की क्या दशा होगी यही देखना है।

मई १९३३

संसार की दोरुखी प्रगति

दो-तीन साल पहले इंग्लैंड में मजूर पार्टी का अधिकार रूस और चीन आदि

में सोवियत की सफलता और अन्य देशों में जनपक्ष की प्रधानता देखकर यह अनुमान किया जाने लगा था कि संसार से साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद का प्रभुत्व उठने वाला है, या बहुत थोड़े दिनों का मेहमान है, लेकिन यकायक नक्शा जो पलटा तो इंग्लैंड में साम्राज्यवादियों का फिर जोर हो गया। जर्मनी और इटली में पूँजीवाद ने एक नये रूप में अपना चमत्कार दिखाया, चीन पर जापानी समाजवाद ने धावा बोल दिया और ऐसा जान पड़ता है कि कई सालों तक संसार की यह दो रुखी चाल जारी रहेगी। एक ओर पूँजीवाद का जोर दूसरी ओर समष्टिवाद का दौर-दौरा। रूस में जार शाही के विनाश का कारण जनपक्ष का संगठन ही नहीं था, परिस्थितियाँ भी अनुकूल थीं। वहाँ शासन-शक्ति बहुत कुछ ज़ार के ही हाथों में थी। ज़ार ने जनमत के दबाव से जो संस्थाएँ बना रक्खी थीं, उन्होंने शक्ति का संचय न कर पाया था और न ऐसी परम्पराएँ बना पायी थीं, जिनसे जनता को अपने पक्ष के सफल होने का भ्रम हो सकता। वहाँ जो कुछ था ज़ार और उसके नौकर थे और उसकी सेना थी। इंग्लैंड और जर्मनी और इटली में राजसत्ता जनता द्वारा चुनी हुई सभाओं के हाथ में है। उसे किसी क्रान्ति से उखाड़ फेंकना असम्भव है। वहाँ इन संस्थाओं ने जो परम्परा बना ली है उसी के अनुसार सब को चलना पड़ेगा, चाहे वह हिटलर हो या मुसौलिनी। इन संस्थाओं के विरोधी भी अवश्य हैं पर इनके पक्षपाती भी कम नहीं हैं, और किसी जनता की प्रतिनिधि संस्था को उखाड़ देना राष्ट्र में गृहयुद्ध की घोषणा करना है।

मई १९३३

जन-सत्ता का पतन

जनसत्ता का बड़े वेग से दुनिया बहिष्कार कर रही है। रूस और पौलैंड, इटली और स्पेन पहले ही कर चुके हैं, अब जर्मनी भी उसे डंडे मार-मार कर निकाले देता है। कारण क्या है? हमारा विचार है कि यह डिक्टेटरशिप उस जनसत्ता से कहीं बढ़कर जनसत्तात्मक है। उस जनसत्ता में धनसत्ता का मेल हो गया था। मेल ही क्यों, वह यथार्थ में धनसत्ता ही हो गयी थी। जिसके पास काफ़ी दौलत हो, वह जनता के वोटरों पर किसी न किसी तरह का दबाव डाल कर घुस जाता था। धीरे-धीरे पूँजी-पतियों ने उस पर प्रभुत्व जमा लिया। यही कारण है कि एक सदी तक जनसत्ता का राज होने पर भी संसार में संघर्ष-मनोवृत्ति दिन-दिन बढ़ती गयी। कहने को वह जनसत्ता थी, पर यथार्थ में वह जनता को पीसनेवाली चक्की थी। जनता का उस पर

उतना ही अधिकार था, जितना बादलों या नक्षत्रों पर। जनता भूखों मर रही है और उसके कर्मचारी लाखों रुपये साल वेतन उड़ा रहे हैं, और वह सारा धन जो जनता के भरण-भोषण और शिक्षण में खर्च होना चाहिए था फौजों और नौकाओं के संगठन और निर्माण में लुट जाता था। अगर आज एकतंत्र जनता के हित की रक्षा कर सकता है, तो वह उस जनसत्ता से लाख दर्जे अच्छा है।

१ मई १६३३

आर्थिक संघर्ष

इस व्यवसाय और व्यापार के युग में राष्ट्रों में लड़ाइयों का मुख्य कारण आर्थिक हुआ करता है। हरेक राष्ट्र चाहता है कि वह अधिक से अधिक नफ़े से रहे। इसलिए वह तरह-तरह से अन्य देशों के माल को अपने देश में आने से रोकता है। इसका नतीजा यह होता है कि आपस में वैमनस्य बढ़ता है और एक दिन बारूद में आग लग जाती है। जापान का माल भारत में रोक दिया गया है। अब जापान सोच रहा है कि किस तरह इसका बदला ले। उसने मंचुकुओ राज्य में अंग्रेज़ी माल के विरुद्ध कोई प्रतिबंध लगाने का विचार किया है। इससे इंग्लैंड में बड़ी खलबली मच गयी है। उधर इंग्लैंड ने रूस के माल को इंग्लैंड में आने से रोक दिया है। रूस की सोवियट सरकार ने दो अंग्रेजों को सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के अभियोग में सज़ा दे दी और इंग्लैंड का मिज़ाज गर्म हो गया। यहाँ भारत के कई व्यापारी तुरकिस्तान में मार डाले गये और उनकी सम्पत्ति लूट ली गयी। सरकार को खबर तक न हुई। पर अंग्रेज़ों की जान तो उतनी सस्ती नहीं। फिर, दोनों अंग्रेजों को कई साल का कारावास ही दिया गया। फिर भी इंग्लैंड इसे न सह सका। उसने रूस से व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ लेने की धमकी दी और जब रूस ने इन धमकियों की परवाह न की, तो वह धमकी कार्यरूप में लायी गयी। इस बहिष्कार से रूस की बड़ी हानि होगी। लेकिन क्या इंग्लैंड आशा रखता है कि रूस अंग्रेज़ी मशीनें खरीदता जायगा? इंग्लैंड में कितने ही व्यापारी अभी से रूसी माल के बहिष्कार को नापसंद करने लगे हैं। कुछ अजीब दिल्लगी है कि राष्ट्र की सरकार तो निशस्त्रीकरण की दुहाई देती है और उसी राष्ट्र के शस्त्र-व्यापारी लड़ाइयों को उत्तेजित करते हैं। कितनी ही लड़ाइयाँ तो इन्हीं शस्त्र-व्यापारियों द्वारा ही खड़ी की जाती हैं। वे इस बात का प्रोपेगैंडा करते रहते हैं कि किसी तरह दो राष्ट्रों में लड़ायी छिड़े, जिसमें उनके माल की खूब खपत हो। बल्कि निशस्त्रीकरण की विफलता का एक कारण य

भी है। खैर, इस तरह की आर्थिक खीच-तान एक न एक दिन रंग लायेगी। जब से ओटावा-सम्मेलन हुआ है, यह संघर्ष और भी प्रचण्ड हो गया है। इंग्लैंड ने सोचा होगा—हमीं ने अपनी माँ का दूध पिया है। और राष्ट्रों में तो बुद्धू ही बसते हैं। अब अमेरिका ने सोने का बंधन उठा दिया तो चारों ओर हाय-हाय मची हुई है और मिस्टर रामज़े मैकडोनल्ड दौड़े हुए अमेरिका गये हैं। आर्थिक सम्मेलन की तैयारियाँ हो रही हैं। कान्फ्रेन्सें किये जाओ, जनता का धन फूँके जाओ, अवसर मिले तो दस-बीस लाख गरीबों को तोप का शिकार भी बना दो, लेकिन जब तक कृत्रिम साधनों से व्यापार को सँभालने की चेष्टा होती रहेगी और जब तक बड़े-बड़े मिल-मालिक और पूँजीपति बने रहेंगे, शान्ति न होगी।

८ मई १९३३

सच्ची-राजनीति

ब्रिटिश राजनीति की कुछ ऐसी चालें होती हैं जो साधारण आदमी की समझ में ही नहीं आ सकतीं। समय पर बात पलट जाना, हरेक बात को, स्थिति की दशा तथा अवसर को रवड़ की तरह खींचकर उसको अपने मन के अनुकूल अर्थ लगा लेना, और घोर अन्याय और अत्याचार को भी न्याय तथा दयालुता की दुहाई से रंग देना, यह ब्रिटिश राजनीति की ही विभूति, प्रसाद, तत्परता तथा महत्ता है।

हमारे सामने ब्रिटिश राजनीति का सबसे सुन्दर "प्रहसन" बर्मा के पृथक्करण का प्रश्न है। आज के चार वर्ष पहले, सर चार्ल्स इनेस की गवर्नरी शुरू होने के कुछ ही समय बाद, जिसे देखिए वही-जिस बर्मी नेता की ओर आँख उठाइए वही इस बात का समर्थक मालूम होता था कि बर्मा का हित इसी में है कि वह भारत से अलग कर दिया जावे, वह भारत से अलग एक संघ बना दिया जावे। लार्ड पील ऐसे भूतपूर्व भारत-सचिव तथा माईकेल ओडायर ऐसे भूतपूर्व भारतीय गवर्नर यह चीत्कार करते फिरते थे कि समूचे बर्मा में एक भी ऐसा जिम्मेदार नेता नहीं है, जो भारत से अलग होना न चाहता हो।

यही नहीं, गवर्नर सर चार्ल्स इनेस अपने सरकारी पक्ष की निष्पक्षता छोड़कर, इधर-उधर भटकते फिरते थे, चेष्टा करते फिरते थे कि पृथक्करण के समर्थक बढ़ते जावें। पहली गोलमेज़ सम्मेलन के अवसर पर बर्मी प्रतिनिधि भेजने के समय यह ध्यान रखा गया कि सभी भारत-विरोधी हों। इतने पर भी सर चार्ल्स को विश्वास नहीं हुआ और वे छुट्टी लेकर लन्दन पहुँचे। उस समय, प्रधान मंत्री—भारत के

मित्र कहे जाने वाले मि० रैमज़े मैकडोनल्ड तथा गोलमेज़ के सभापति लार्ड सैंके ने कहा था, कि यह बात प्रायः निश्चित हो गयी कि बर्मा भारत से अलग कर दिया जायगा, क्योंकि सभी बर्मी यही चाहते हैं, अर्थात् "ब्रिटिश सरकार इस विषय में तटस्थ है, वह केवल बर्मी जनता की इच्छा का पालन कर रही है।"

जिस समय बात यहाँ तक बढ़ गयी थी, ब्रिटिश सरकार बर्मा को भारत से अलग कराने के लिए इतना प्रयास कर रही थी, भारतीय नेता चुप थे। काँग्रेस इस विषय में मौन थी। लिबरल लीग भी शान्त थी। इन दोनों संस्थाओं ने बड़े सौजन्य के साथ केवल यही घोषित कर दिया था, कि बर्मा भारत के साथ रहेगा अथवा अलग, यह निर्णय स्वयं बर्मी ही कर सकते हैं। तटस्थ रहने का दम भरते हुए भी जहाँ ब्रिटिश सरकार छिपे-छिपे इस बात की चेष्टा कर रही थी कि बर्मी भूल कर भी भारत के साथ रहने का नाम न लें, काँग्रेस इस विषय में पूरी तरह तटस्थ बनी रही और उसने भूल कर भी बर्मा को यह याद नहीं दिलाया कि ब्रिटेन का बर्मा को अलग रखने का अनुराग केवल तीन कारण से है। बर्मा हित की बात तो एक आडम्बर मात्र है। एकमात्र वस्तु, एकमात्र कारण जिससे अनायास ब्रिटेन को बर्मा का हित "परेशान" कर रहा है, वह है बर्मा का तेल, बर्मा का चावल, बर्मा का कोयला, बर्मा की चाय और बर्मा का जहाज़ी अड्डा रंगून—और प्रकृति के यही वरदान इस समय बर्मा के सबसे बड़े शत्रु हो रहे हैं। इन्हीं को अपनी मुट्ठी में रखने के लिए बर्मा की जनता को वास्तविक अधिकार न देकर, भारत से अलगकर, दुर्बल बनाकर, बर्मा को पराधीन रखने का "षड्यंत्र" किया जा रहा है।

यह बात काँग्रेस ने बर्मा को नहीं सुझायी, पर अवसर चूकने के पहले ही बर्मी जाग उठे—जाग ही नहीं उठे, उन्होंने एक स्वर में, अधिकांश की संख्या में यह कहना शुरु कर दिया कि भारत से अलग नहीं होना चाहते, वे भारत के साथ ही अपना भाग्य सूत्र भी बाँध देना चाहते हैं। कौंसिल का चुनाव हुआ। चुनाव में जनता ने अधिकांश संख्या में उन्हीं लोगों को प्रतिनिधि बनाकर भेजा, जो पृथक्ककरण के विरोधी थे। कौंसिल में पृथक्करण के समर्थन में एक प्रस्ताव पेश हुआ था, वह पास न हो सका, पर इतने से भी ब्रिटिश सरकार को यह संतोष न हुआ कि "बर्मी जनता पृथक्करण नहीं चाहती।" सभाएँ हुई, जुलूस निकले—हर तरह से बर्मी जनता ने पृथक्करण का विरोध किया, फिर भी प्रधान मंत्री तथा भारत सचिव की दृष्टि में—"यह निर्णय नहीं हुआ कि बर्मा असल में क्या चाहता है"—और इसी प्रश्न पर विचार करने के लिए बर्मा कौंसिल का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया, जिसने अवश्य ही बहुमत से पृथक्करण के विरोध में निश्चय कर लिया होता, पर सरकारी कूटनीति तथा जन-हित के शत्रुओं की दुष्ट नीति के कारण अधिवेशन केवल भाषणों में समाप्त कर दिया गया। पृथक्करण विरोधी नेता अपना भाषण या प्रस्ताव जेब में रखकर

वापस चले गये और ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में—"बर्मा पृथक्करण या अपृथक्करण—किसी भी बात का निश्चय नहीं कर सका।" भारत सचिव सर सेमुयेल होर का कथन है, "जितनी ही देर बर्मा इस विषय के निपटारे में कर रहा है, उतनी ही देर में उसका शासन विधान निश्चित होगा।" और भारत के प्रायः सभी ऐंग्लोइंडियन पत्र एक स्वर में लिख रहे हैं कि, "बर्मा की यह कौंसिल इस विषय में कोई निर्णय नहीं कर सकती कि पृथक्करण हो अथवा नहीं।" अतएव सरकार को तुरत एक नयी कौंसिल बुलानी चाहिए—यानी नया चुनाव कराना चाहिए।

पिछले कौंसिल-अधिवेशन के समय समाचार पत्रों में तथा कौंसिल के भाषण तक में बड़ी सनसनी भरी बातें प्रकाशित हुई थीं। कहा गया था कि पृथक्करण का समर्थक दल घूस देकर, फुसलाकर, डराकर लोगों को अपने पक्ष में कर रहा है। संभव है, यही परिस्थिति इस चुनाव के अवसर पर भी हो। यह भी संभव है, कि नये चुनाव की चाल बर्मा के प्रश्न को टालने की चाल है। भारत का संघ निर्माण रोकने की चाल है और चाल है कि किसी तरह चार वर्ष पहलेवाली हवा फिर बह जाती!

ब्रिटिश राजनीतिज्ञता की यही "सच्चाई" है, वह सीधी-सादी चाल है, यही न्याय है—एक महादेश के प्राचीन अंग को काटकर, उसे घायल कर देने की सच्चाई है, और इसी सच्चाई के साथ हमारे "संघ" निर्माण की चेष्टा का श्रीगणेश हुआ है। इसी से हम कहते हैं कि ब्रिटिश राजनीति एक रबड़ है, जो बड़ी सरलता से घटाया बढ़ाया जा सकता है।

बर्मी नेता नये चुनाव से नहीं डरते। वे लोहा लेने को तैयार हैं। बर्मा का लोकमत पृथक्करण के विरोध में जागृत हो उठा है। फिर भी, ब्रिटेन ने अपनी असली इच्छा लोगों के सामने प्रकट कर दी है। क्या यही सच्ची राजनीति है?

२२ मई १९३३

"हुआपेकू"

जापान की साम्राज्य-लिप्सा इस समय इतनी अधिक तीव्र हो उठी है कि थोड़े में उसका पेट भरने ही नहीं पाता। उसने पहले अपने पड़ोसी चीन के अंग से 'कोरिया' काट लिया फिर मन्चूरिया छीना। इसके बाद जेहोल का नम्बर आया और चीनी दीवाल के दक्षिण में, पेकिंग के उत्तर में, अपने नये विजित प्रदेश को "हुआपेकू" का नाम देकर वह एक नया राज्य स्थापित करना चाहता है। कोई देश कितनी वज्र नीचता कर सकता है, कोई देश अपने पड़ोसी के साथ कैसी घोर दुष्टता

का व्यवहार कर सकता है, कोई देश प्रत्येक साम्राज्यवादी देश का अन्त देखते हुए भी इतिहास से कैसे आँखें मूँद सकता है, इसका उदाहरण है जापान और जापान से आज हम उतनी ही नफ़रत करते हैं जितने का वह पात्र है। और इसीलिए हम बार-बार कहते हैं कि यह कैसे सम्भव है कि जापान भारत की सहानुभूति की आशा करे। भारत तथा चीन का साथ हजारों वर्षों का है। चीन के प्रति भारत के हृदय में जो आदर, जो श्रद्धा, जो सद्‌भाव तथा जो प्रेम है, वह भारतीय ही जानता है। जापान एक नयी शक्ति है और चीन तथा भारत ने जापान के अभ्युदय को अपने छोटे भाई की तरक्की की निगाह से, सहानुभूति से देखा था—और वही जापान आज अपने बड़े भाई का गला काटना चाहता है। जापान चाहता है कि चीन के समूचे महादेश पर अपना अधिकार जमा ले और भारत के समूचे महादेश पर अपना व्यापारिक राज्य जमा ले। भारत चीन की तरह दुर्बल और अशक्त नहीं है। यह जापान का स्वप्न है और हम जापान को सचेत कर देना चाहते हैं कि भारत में जापानी माल की बिक्री केवल इसीलिए नहीं घट रही है कि सरकार चुंगी लगा रही है, पर इसलिए भी कम हो रही है कि जनता ने एक आततायी देश का माल खरीदना पाप समझना शुरू कर दिया है। जापान का सारा दारोमदार व्यापार पर निर्भर करता है और यदि अभी तक वह अन्धा बना हुआ है, तो भूल कर रहा है।

२२ मई १९३३

भावी महासमर

मि० लायड जार्ज के शब्दों में, दिन प्रति दिन, महासमर के विरोध में जितनी बातें की जाती हैं, उतनी ही अधिक तैयारी आगामी महासमर के लिए की जा रही है। यह महायुद्ध कहाँ से शुरू होगा, यह कोई नहीं कह सकता। इसका कारण प्रत्येक देश का अपने पड़ोसी के प्रति इतना घोर अविश्वास है, कि किसी के अविश्वास अथवा विरोध की तुलना-समता नहीं की जा सकती। जापान का रूस के प्रति दुर्भाव, अमेरिका से वैर तथा चीन के प्रति "घृणा" का जितना हमें ज्ञान है, उतना ही हम ब्रिटिश-जापानी-प्रतिद्वन्दिता, ब्रिटिश-अमेरिकन नौ-सैनिक तथा आर्थिक होड़ और जर्मन-फ्रेन्च वैर, इटालियन-आस्ट्रियन विरोध या मध्य योरोप की छोटी तथा बड़ी शक्तियों का मनमुटाव भी जानते हैं। किसका विरोध किस समय कितना तीव्र हो जायगा, यह नहीं कहा जा सकता, पर यह निर्विवाद है, कि योरोप या एशिया जहाँ भी कहीं समर की आग फूटेगी, वह इतनी भयंकर होगी, कि अपनी लपटों में सबको समेट लेगी।

लड़ाई के लिए ईंधन तैयार है। प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा घोर दारिद्र्य तथा

हाहाकार की लहरों में, भविष्य की बिना कल्पना किये, लक्ष्य का बिना विचार किये, बहती चली जा रही है। यदि इस लहर में सभ्यता के, भौतिक विकास के बोझ से लदी कोई नौका भी है, तो स्वयं डूबती जा रही है। कोई सहारा न देखकर, हरेक राज्य चुंगी की दीवाल से, दूसरे के अपहरण से, अपनी रक्षाकर, दूसरे का संहार करना चाहता है। संहार न चाहता हुआ भी राज्य, अनायास दूसरे का संहार करता ही है। बिना पराये का व्यापार चौपट किये अपना व्यापार कैसे पनपेगा? बिना पराये का सोना छीने अपने यहाँ सोने का ढेर कैसे लगेगा? इस प्रकार, एक ऐसी सभ्यता में, जिसमें माँग तथा इच्छा को 'ढील' दिया गया है, "क्या चाहिए" की भावना शून्य होकर "जो मिले वही चाहिए" का विचार इतना बन्धन मुक्त हो गया है, कि हमारी प्रजा विवेक-बुद्धि पर केवल इच्छा का ही राज्य है। हम इच्छा करते हैं, केवल इच्छा के लिए। प्रयत्न करते हैं—केवल इच्छा के लिए।

इसलिए, इच्छापूरक सभी अस्त्रों-शस्त्रों का संचय हो रहा है, क्योंकि भौतिकी इच्छा इतनी सीमित वस्तु है कि यदि सभी इच्छा करेंगे तो सबकी इच्छा की वस्तु एक ही हो जायगी और फलतः अपनी इच्छा पूरी करने के लिए दूसरे की इच्छा कुचल देनी पड़ेगी। इसी कुचलने के लिए हथियारों की जरूरत है और अपनी जान प्यारी होते हुए भी, अपने विकास के लिए यह ज़रूरी है, कि इन साधनों को अपनाया जाय! अस्तु। साम्राज्य लिप्सा इस समय हमारी इच्छा का केन्द्र है। साम्राज्य-विरोधी रूस भी चाहता है, कि जमाना "सोवियेट" हो जाय। उसे "विचार का साम्राज्य" चाहिए। अतएव इच्छासंघर्ष, दारिद्र्य तथा भौतिकता के कारण लड़ाई की सामग्री पृथ्वी की थाल पर परसी हुई है।

तब लड़ाई क्यों नहीं होती? इसीलिए कि हरेक एक दूसरे से इतने सशंकित हैं, कि अपने मित्र पर भी संकट के समय भरोसा नहीं कर सकते। जापान रूस से लड़ना चाहता है, पर उसे अमेरिका का भय है। ब्रिटेन नहीं चाहता कि अमेरिका जपान को दबा दे, अतएव अमेरिका चीन के मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। फ्रान्स जर्मनी को कुचलना चाहता है, पर उसे अब इंग्लैंड की मित्रता का भरोसा नहीं। इत्यादि। एक दूसरे के स्वार्थ आपस में ऐसे सम्बद्ध हैं, एक दूसरे का हित ऐसा गुथा हुआ है, कि कोई न तो किसी को अपना मित्र कह सकता है न शत्रु, फिर भी, अविश्वास के इस युग में पारस्परिक अविश्वास ही युद्ध को रोक रहा है वरना, यदि दो राष्ट्र भी अपने ऐक्य को पूरी तरह से समझ लें, तो आज वे ताल ठोंककर मैदान में कूद पड़ने के लिए तैयार हो जायेंगे।

अस्तु! लड़ाई की भीषण तैयारी हो रही है। मि० सी० ई० एम० जोड ने हाल ही में अपने एक व्याख्यान में कहा था, कि पिछले वर्ष, महासमर की तैयारी में, सभ्य राष्ट्रों का कुल मिलाकर अठानबे करोड़ पौंड (एक पौंड १५ रुपये का ही

जोड़ियेगा) खर्च हुआ ! यानी, जब से ईसाई संवत् चला है। (ईसा की मृत्यु के बाद से) प्रति मिनट पीछे एक सोने का पौण्ड सोलह रुपये—आजकल तेरह छः आने लड़ाई के सामान पर एक वर्ष में खर्च हो गया। यह संख्या उस समय की है जब दुनिया के बेकारों की संख्या जैनेवा के "मज़दूर-दफ्तर" के अनुसार अठारह करोड़ है।

एक ओर यह व्यय है, दूसरी ओर हमारे राजनीतिज्ञ जेनेवा में बैठकर "निश्शस्त्रीकरण" सम्मेलन कर रहे हैं, किन्तु यदि भौतिक सभ्यता की प्रगति यही रही तो समर होगा, अवश्य होगा, और मनोविज्ञान के प्रकाण्ड-पण्डित, मि० टैंसले के मतानुसार—"कुछ थोड़े से राजनीतिज्ञ एक मेज़ के चारों ओर बैठकर, एक ऐसी क्रियाशील योजना कभी नहीं बना सकते, जो लड़ाई को समाप्त कर, राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा को ठंडा कर, एक वास्तविक सजीव विश्व यंत्र की रचना कर देगा।" (न्यू साइकोलोजी २१-२४३) महासमर का निदान है—विश्व प्रेम। एक बार विश्व प्रेम खोकर, विश्व वैर की सम्पूर्णता के बाद ही वह वस्तु पुनः जन्म लेगी।

२२ मई १९३३

लंदन का आर्थिक सम्मेलन

लंदन में आर्थिक सम्मेलन की तैयारियाँ बड़े धूमधाम से हो रही है। शायद इतना बड़ा सम्मेलन इसके पहले न हुआ हो। इसमें साठ राष्ट्रों के पच्चीस सौ प्रनिनिधि होंगे। सम्मेलन क्या होगा, अच्छा खासा मेला होगा, मगर सम्मेलन करेगा क्या? पुराना अनुभव तो यह बतला रहा है कि दस-पाँच लाख रुपये खर्च करने और गप-शप करने के सिवा और कुछ न होगा। इस तरह के तीन सम्मेलन बड़ी लड़ाई के बाद से हो चुके हैं। यही प्रश्न उनके सामने भी थे, पर उनमें कुछ भी तय न हो सका। क्या इस बार जो प्रतिनिधि आयेंगे, वह ज्यादा ऊँचे दिल और दिमाग़ के आदमी होंगे? जब प्रत्येक राष्ट्र अपने पड़ोसी का घर लूट कर अपना घर भरना चाहता है, जब एक दूसरे का माल रोकने के लिए तरह-तरह की रुकावटें पैदा की जा रही हैं, जब शासन और सेना के व्यय में कोई राष्ट्र किफ़ायत नहीं करना चाहता, जब इंग्लैंड ने ओटावा-सम्मेलन में संरक्षण के सिद्धान्त पर अमल करना शुरू कर दिया है, जब सोने के लिए चारों ओर लूट मची हुई है, तो हमें तो आशा नहीं कि इस सम्मेलन से भी दो-चार अच्छे-अच्छे प्रस्ताव करने के सिवा और कुछ हो सके। मि० लायड जार्ज ने इस सम्मेलन की चर्चा करते हुए एक जलसे में कहा है—सम्मेलन के प्रतिनिधि "एक दूसरे की ओर देखकर मुसकिराने के सिवा और कुछ न करेंगे।" और यही होना है। अमेरिका

इंग्लेंड की तारीफ़ करेगा, इंग्लैंड अमेरिका की, खूब दावतें उड़ेंगी, जलसे होंगे, प्रजा का धन उड़ाया जायगा और लोग अपने-अपने घर को राह लेंगे।

१२ जून १९३३

ईरान से ब्रिटेन की सन्धि

ईरान पर बहुत दिनों से रूस और ब्रिटेन दोनों दाँत लगाये हुए हैं। रजाशाह के पहले अंग्रेजी प्रभाव वहाँ बहुत बढ़ गया था। जिसका नतीजा यह हुआ कि जनता में सनसनी फैली और उस ईरानी सरकार का अंत हो गया। अब खबर है कि रजाशाह फिर ब्रिटेन से संधि करने जा रहे हैं, जिसका उद्देश्य यह है कि ईरान में रूस का प्रभाव न बढ़ने पावे। उस संधि की चंद शर्तें ऐसी हैं, कि अगर वास्तव में ईरानी सरकार उन शर्तों को स्वीकार कर रही है, तो उसकी स्वाधीनता ही खतम हो जायगी; जैसे—अंग्रेजी रिआया के साथ हरेक आर्थिक व्यवस्था में रिआयत या सैनिक संगठन में अंग्रेजों की मदद। हमें तो आशा नहीं कि हिज़ मैजेस्टी रजाशाह इस तरह की अपमानजनक सुलह करेंगे; लेकिन धन की उन्हें ज़रूरत है और इस दबाव में बड़ी शक्ति है।

१९ जून १९३३

नेकनीयती

लन्दन में विश्व-आर्थिक सम्मेलन हो रहा है। सम्मेलन का काम अब छोटी-छोटी समितियों में बँट गया है और एक समिति अर्थ द्रव्य मुद्रा तथा धातु नीति पर विचार कर रही है, दूसरी समिति ऋण-विनियम आदि की समस्या को सुलझाने की चेष्टा कर रही है।

धातु का प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। किसी देश में चाँदी की मुद्रा है, किसी में सोने की। कहीं पर नोट की चलन ज्यादा है, कहीं पर बैंक की हुण्डियाँ—बैंक के नाम हुण्डियाँ चेक का काम करती हैं। जब हरेक देश में आपस में लेन देन का सवाल आता है, तो बड़ी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। किसी देश के पास नोट बहुत अधिक हैं, पर उसके पीछे संचित कोष बहुत कम है—तब क्या होगा? किसी देश के पास चाँदी का रुपया है, पर कहीं पर भारत की तरह रुपये में ग्यारह आने चाँदी है। कहीं डालर की तरह अधिक मूल्य है। कहीं पर बैंक के नोटों की चलन बहुत है, पर अनेक कारणों से सरकार

बैंक की साख की गारंटी नहीं दे सकती। किस हिसाब से भुगतान किया जाय। किस हिसाब से नक़द व्यवहार किया जाय। मान लीजिए कि जर्मनी ने अमेरिका से चार लाख मार्क का माल खरीदा। जर्मनी का मार्क अमेरिका में नहीं चलता। इसलिए जर्मनी को चार लाख मार्क एक्सचेन्ज बैंक में भेज देना होगा। बैंक अपना कमीशन काट कर, डालर के रूप में, अमेरिका का मूल्य चुका देगा। यदि अमेरिकन डालर सस्ता पड़ा, तो मार्क की कम मात्रा देनी पड़ेगी। फल यह होगा कि अमेरिका का माल जर्मनी में सस्ता पड़ेगा। जर्मनी तुरंत अमेरिकन माल मँगाने लगेगा। अब स्वयं जर्मन व्यवसाय को अमेरिका की प्रतिस्पर्द्धा से हानि उठानी पड़ी। इसलिए वह तुरत कड़ी चुंगी की दीवाल उठाकर अमेरिकन माल मँहगा कर देगा। जो काम मुद्रा न कर सकी, वह काम चुंगी की दीवाल ने किया। फ्रान्स की मुद्रा मँहगी है। मार्क के रूप में महँगी पड़ती है, इसलिए फ्रान्स को अमेरिकन डालर के सस्ता होने से बड़ी डाह होगी। वह चेष्टा करेगा कि अमेरिका के डालर का भाव गिर जाय। जो काम अर्थशास्त्री न करेंगे, वह काम स्थानीय क़ानून करेगा—विनिमय की दर बढ़ा दी जायगी।

भारत का रोजगार चौपट क्यों हुआ? पौंड को रुपये की पूँछ से बाँध दिया गया। बिलायती माल भारतीयों के लिए सस्ता पड़ने लगा। विश्व सम्मेलन की नौबत ही क्यों आयी? अमेरिका ने स्वर्ण-मुद्रा का परित्याग कर दिया। डालर का धातु-द्रव्य कम कर दिया। डालर सस्ता हो गया। अमेरिकन माल के योरोप में उतर आने की आशंका हो गयी। पौंड-स्टर्लिंग का राज्य लुट गया। सम्मेलन का विचार पहले से था ही, तुरत उसकी तैयारी की गयी। इंग्लैंड तो काम सीधी चाल से नहीं कर सकता, वह काम टेढ़ी चाल से करता है। सदियों से ब्रिटिश राजनीति अमेरिकन राजनीति को पराजित करती आ रही है।

अस्तु, इसलिए संसार के व्यापार की, व्यवसाय की सारी गड़बड़ी का एक कारण है—धातु का असंतुलन, द्रव्य का अनियमित होना, एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा का अभाव। इसी से चुंगी की दीवाल उठती है, इसी से व्यवसाय चौपट होता है, इसी से ऋण का भुगतान ठीक से नहीं हो पाता, इसी से आपसी लेन-देन में गड़बड़ी होती है। इसीलिए, भारत के एक गांधी आश्रम ने यहाँ तक सलाह दी है, कि पिछले युग की "चीज़ों द्वारा चीज़ों के परिवर्तन" की प्रणाली को लौट चलो, पर उस प्रणाली पर लौट जाने के लिए सभ्यता की प्रगति के कई पन्ने फाड़ कर फेंक देने होंगे। औद्योगिक संसार में वस्तु द्वारा वस्तु का विनिमय संभव नहीं है। विनिमय या परिवर्तन उस चीज़ का होता है जो अपने पास न हो। आज नियम तो यह है कि जो वस्तु कहीं भी बनायी जाती हो वह अपने यहाँ बना लेना। ऐसी दशा में वह नियम अब असामयिक और असंभव है।

ऊपर हमने यह लिख दिया है कि धातु ही सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है। धातु का

निर्णय ही विश्व आर्थिक सम्मेलन की सबसे बड़ी समस्या, सबसे बड़ी कठिनाई, सबसे बड़ी विपत्ति है। यदि इसी का निर्णय न हो सका तो अन्य निर्णय बेकार हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि धातु समिति सबसे महत्वपूर्ण समिति है और उसी के निर्णय पर सम्मेलन की बहुत बड़ी सफलता निर्भर करती है।

किन्तु, क्या यह सम्भव है, कि धातु समिति या मुद्रा समिति किसी प्रकार का सर्वमान्य निर्णय कर सके। संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी घरेलू व्यापार नीति के लिए जो नये नियम बना रहा है, वे सभी इस ढंग के हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लन्दन का निर्णय जो कुछ भी हो, वाशिंगटन की नीति ज्यों की त्यों, अपनी मनमानी करती रहेगी। इस विषय में समाचार पत्रों में अनेक शंकाएँ प्रकट की गयीं, अनेक लेख लिखे गये, अतः अमेरिकन प्रतिनिधि सिनेटर कोर्डेल हल ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित कर इस प्रकार की शंका का समाधान करना चाहा है, कि अमेरिका की राष्ट्रीय अर्थ नीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ नीति में कोई सामन्जस्य नहीं है, पर आपने यह भी लिखा है कि "मेरी समझ में ही नहीं आता कि राष्ट्रीय अर्थ संकट को हल करने के लिए जो नवीन कार्यक्रम अपनाया जा रहा है, उसमें उन सभी राष्ट्रों का सहयोग क्यों न प्राप्त होगा जो अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव को हृदय से चाहते हैं।"—यह राजनीतिक भाषा है। इसका शुद्ध अर्थ यह है कि अमेरिका अपनी गृहनीति को अन्तर्राष्ट्रीय-उद्धार से ज्यादा महत्व देता है। मि० हल का यह कहना है, कि व्यापारिक बाधाएँ दूर करने का नियम प्रति-निधि-मण्डल के अमेरिका से रवाना होने के पहले बन चुका था—संयुक्त राज्य का भोलापन नहीं साबित करता। इससे तो यही सिद्ध होता है कि प्रतिनिधि मण्डल के रवाना होने के पहले से ही अमेरिका ने अपनी मनमानी करने की स्वच्छता दिखला दी है।

दूसरी ओर फ्रांस है। फ्रांस की महासभा में एक प्रस्ताव पेश किया गया है, कि विश्व अर्थ सम्मेलन की बैठक तब तक स्थगित कर दी जाय, जब तक "अस्वर्ण मुद्राओं का मूल्य संतुलन न हो जाय।" लन्दन की यह भी रिपोर्ट है कि फ्रेंच अर्थ-मंत्री ने फ्रांस की ओर से यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्मेलन की कोई कार्रवाई करने के पहिले पौंड और डालर का मूल्य निर्धारित कर देना चाहिए, तभी कोई दूसरा काम आगे बढ़ सकता है। रायटर का सम्वाद है कि, "इस प्रस्ताव का यह अर्थ नहीं है कि फ्रांस अपने को सम्मेलन से हटा रहा है।" पर, इच्छा क्रिया की जननी होती है। कल्पना के भीतर एक तथ्य छिपा रहता है। फ्रांस के मन में एक बात बैठ गयी है। वह शुरू से ही छेड़ छाड़ कर रहा है। सब कर्जदारों ने अमेरिका को प्रसन्न करने के लिए जून की किस्त का कुछ अंश पटा दिया है। फ्रांस ने पिछले दिसम्बर, तथा इस जून तक की किस्त का एक टुकड़ा भी नहीं दिया है। फ्रांस जानता है कि अमेरिका अपना कर्ज वसूल करने के लिए सेना नहीं भेज सकता। इसलिए जब शरारत और छेड़छाड़ से लाभ हो

सकता है—तो वही क्यों न किया जावे ।

ब्रिटिश सरकार स्वयं सम्मेलन भंग करने की बदनामी नहीं लेना चाहती है। लन्दन में सम्मेलन बुलाकर, लन्दन सरकार द्वारा ही उसका भंग हो जाना उसे अभीष्ट नहीं है। इसीलिए, उसने अपने पिट्ठुओं से सम्मेलन के मार्ग में रोड़े अटकाना प्रारम्भ कर दिया है। भारत की ओर से "जबर्दस्ती प्रतिनिधि" बन जानेवालों ने एक आवेदन-पत्र प्रकाशित किया है। इसमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि—आशा है कि सम्मेलन में इस प्रकार का कोई निर्णय न होगा जिससे देश को अपनी चुंगी नीति को स्वाधीनता-पूर्वक बर्तने की आजादी में बाधा प्रतीत होगी।"—भारत की चुंगी नीति का प्रधान उद्देश्य है—ब्रिटिश-वस्तु-संरक्षण। बस, इस घोषणा की आड़ में जो असलियत छिपी हुई है, वह इससे साफ मालूम हो जाती है। विज्ञप्ति ने छिपे शब्दों में "ओटावा के समझौते को अकाट्य रखने की नीति" की घोषणा कर दी है।

बस—"संरक्षण" एक ओर होगा—दूसरी ओर समझौता होगा। यह दोनों बातें असंभव हैं। ऐसे विषय पर बिना खुले दिल से विचार किये किसी निर्णय पर पहुँच जाना असंभव है—असंभव है कोई सर्वमान्य समझौता होना। असंभव है कोई लोक-हितकारी विधान बनना। दुस्साध्य है कोई ऐसा तरीका चालू करना जिससे सबको लाभ हो। संसार का कल्याण तभी हो सकता है जब संकुचित राष्ट्रीयता का भाव छोड़कर व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय भाव से विचार हो। विश्व सम्मेलन में ऐसी कोई बात नहीं दीख पड़ती। ऊपर हमने केवल तीन ही उदाहरण दिये हैं। एकाग्र भाव से और उदाहरण देना असंभव है। फिर भी इनसे ही यह पता चल जाता है कि सम्मेलन के प्रतिनिधियों की नीयत ही साफ़ नहीं है, निर्णय क्या होगा ?

३ जुलाई १९३३

आयरलैंड का स्थिति

आयरलैंड में इस सयय काफी उथल-पुथल मची हुई है। ब्रिटेन से स्वतन्त्र होने और प्रजातन्त्र की घोषणा के लिए रास्ता साफ करने के उद्देश्य से गत नौ-दस अगस्त को राष्ट्रपति डी वेलरा आयरिश पार्लमेंट में कुछ बिल पेश करनेवाले थे। इन बिलों को देखकर डी वेलरा के विरोधी कासग्रेव दलवाले समझ गये कि यदि ये स्वीकृत हो गये, तो फिर आयरलैंड की वर्तमान सरकार को प्रजातन्त्र की घोषणा करने में देर न लगेगी। इसी से उन्होंने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि हम यथासंभव इन बिलों को "डेल" में पेश ही न होने देंगे। नौ अगस्त की रातवाली बैठक में उन्होंने इतना

शोर गुल मचाया कि डी वेलरा को वाध्य होकर पार्लियामेंट का अधिवेशन २७ सितम्बर के लिए स्थगित कर देना पड़ा ।

इधर कासग्रेव दल के अतिरिक्त एक दल और डी वेलरा का विरोधी बन गया है । यह फासिस्ट सिद्धान्तों के अनुयायी नीले कुरतेवालों का दल है। इस दल ने एकाएक इतनी शक्ति कैसे प्राप्त कर ली यह आश्चर्य की बात है । इसके नेता जनरल ओडफी ने हाल में ही एक घोषणा निकाली थी, जिसमें कहा गया था कि १३ अगस्त को "ब्लूशर्ट्स नेशनल गार्ड" (नीले कुरतेवाली राष्ट्रीय संरक्षक सेना) परेड अवश्य करेगी, चाहे डी वेलरा की सरकार उसमें बाधा ही क्यों न डाले । डी वेलरा ने सार्वजनिक शान्ति के लिहाज से परेड की मनाही कर दी थी, अतः ऐसा प्रतीत हो रहा था कि १३ अगस्त को भी भीषण अवस्था उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती, किन्तु सरकारी सेना का सुदृढ़ प्रबन्ध देखकर जनरल ओडफी ने परेड करना स्थगित कर दिया और देश के सौभाग्य से अशान्ति की आशंका दूर हो गयी । इस समय तो संकट टल गया है, किन्तु संभव है कासग्रेव दल के साथ मिलकर ये लोग पुनः कोई उपद्रव खड़ा करें । देखें वहाँ की स्थिति अब क्या रुख धारण करती है ।

२१ अगस्त १९३३

अमेरिका में कृषक विद्रोह

इस मन्दी में सबसे ज्यादा चोट किसानों को लगी है, और कृषि प्रधान देशों में किसानों में एक प्रकार का विद्रोह फैला हुआ है । अमेरिका का सबसे बड़ा व्यवसाय खेती है और कृषक विद्रोह ने वहाँ भयंकर रूप धारण कर लिया है । पैदावार का मूल्य कम हो जाने के कारण वहाँ के आधे से ज्यादा किसान कर्जदार हो गये हैं और उनकी जायदादें नीलाम होती चली जा रही हैं । १९२९ में पैंतालीस हजार आराज़ियाँ नीलाम हुईं । ३० में चौवन हजार, ३१ में एक लाख और ३२ में डेढ़ लाख आराज़ियाँ रेहनदारों के पेट में समा गयीं । अमेरिका में साठ लाख काश्तें हैं, इनमें आधी रेहनदारों के अधिकार में हैं । आराज़ियों पर कुल ऋण नौ अरब डालर है । १९२० में साढ़े तेरह अरब की उपज हुई थी । १९३२ में वह केवल सवा पाँच अरब की रह गयी अर्थात् रुपये में छः आने । कर्ज़ पर किसानों को पचास करोड़ डालर सूद देना पड़ता है ।

बरसों तक बेचारे अमेरिकन किसान गवर्नमेंट से सहायता की आशा करते रहे । गवर्नमेंट ने कई बार उनके उद्धार का प्रयत्न किया, पर वह सभी प्रयत्न असफल हो गये । अब मजबूर होकर उन्होंने अपने उपायों से काम लेना शुरू किया, और यह उपाय

ज्यादा सफल हो रहे हैं। उन्होंने गुट बाँध कर कई शहरों के सड़कों की नाकाबंदी कर दी और देहातों से जो सामान नगर में आता था, उसे रोक दिया। जहाँ जरूरत पड़ी, वहाँ पशुबल से भी काम लिया। इसमें उन्हें पूरी सफलता तो नहीं मिली, पर वे बिलकुल असफल भी न रहे।

पर दूसरा उपाय इससे कहीं ज्यादा सफल हुआ। कृषि-प्रधान प्रान्तों में किसानों ने नीलामों को रोकने के एक संगठित आन्दोलन जारी किया। एक बीमा कम्पनी ने एक जायदाद नीलाम करनी चाही, पर किसानों का एक दल स्थान पर जा पहुँचा और कर्मचारियों को भगा दिया। नीलाम स्थगित कर देना पड़ा। इस आन्दोलन का फल यह हुआ कि १९३५ के लिए आइओवा प्रान्त की व्यवस्थापक सभा ने आराज़ियों का नीलाम होना बन्द कर दिया है।

काँसास प्रान्त में जब अदालत ने आराज़ी नीलाम करने की तैयारी की, तो कई सौ कृषक जमा हो गये और उसे फाँसी दे देने की धमकी दी, बेचारा कुर्क अमीन अपनी जान बचाकर भागा। नेब्रासका और ओहियो प्रान्तों में हरेक गाँव में वृक्षों से फन्दे लगे रहते थे कि ज्यों ही राहिन कुर्क अमीन को लेकर आये, उसे फाँसी पर लटका दो कि वह बोली न बोल सके।

बहुत-सी रियासतों ने एक ऐसा विधान सोच निकाला है कि नीलाम हो भी जाय, तो जायदाद उन्हीं के हाथ में रहे। राहिन के मुख्तार को वह बोली ही नहीं बोलने देते। वह अगर उस स्थल पर आ जाय, तो अपनी जान से हाथ धोये। कोई बाहरी आदमी बोली बोलनेवाला नहीं रह जाता, तो किसान आपस में बोली बोलकर नाममात्र मूल्य पर खरीद लेते हैं। कई प्रान्तों में कृषक-रक्षिणी सभाओं द्वारा यह काम किया जाता है। सभा जायदाद खरीदकर उसके मालिक को लौटा देती है। रेहनदार के रुपये गायब हो जाते हैं। केवल एक उज्रदारी रेहनदार की तरफ से हुई है कि नीलाम बेकायदा था क्योंकि कुछ लोगों ने गुट बनाकर बाहर के आदमियों को बोली बोलने से रोक दिया। इस तरह की संस्थाएँ बढ़ रही हैं। आन्दोलन अग्निज्वाला की तरह फैलता जा रहा है। किसान इस नबे अरब डालर के ऋण को मिटाकर रहेंगे।

अगस्त १९३३

रूस में समाचार पत्रों की उन्नति

रूस के सिवा समस्त संसार पर पूँजीपतियों का राज्य है और समाचार पत्रों को भी पूँजीपतियों का रोग अलापना पड़ता है, नहीं उनका दीवाला निकल जाय। अधिकांश पत्र तो पूँजीपतियों के ही धन से चलते हैं। इसलिए रूस के सोवियट शासन को काले से

काले रंगों में रंगने की चेष्टा की जाती है और सिद्ध किया जाता है कि अब वह बहुत जल्द रसातल में पहुँचना चाहता है। पर रूस इतनी हवाई गति से उन्नति कर रहा है कि इन समाचार पत्रों को भी कभी-कभी इस उन्नति को दबा रखना कठिन हो जाता है। शिक्षा प्रचार में इन दस-बारह बरसों में उसने जो तरक्की की है, उस पर सारा संसार दाँतों तले उँगली दबा रहा है। अभी तक समझा जाता था कि सिनेमा क्षेत्र में अमेरिका सबसे आगे है। पर अब मालूम हुआ कि संसार के कुल साठ हजार सिनेमा घरों में सत्ताईस हजार केवल रूस में हैं। अमेरिका में चौबीस हजार हैं। शेष नौ हजार में सारा संसार है। एशिया में एक हजार से अधिक नहीं। लोहे की चीजों में, बिजली के प्रसार में, खेती वृद्धि में वह बड़े वेग से क़दम बढ़ाता जा रहा है। अब ज्ञात हुआ कि उसने सोवियट-काल में समाचार पत्रों में अश्रुतपूर्व उन्नति की है। महायुद्ध के पहले रूस में कुल आठ सौ छप्पन पत्र थे, जिनकी ग्राहक संख्या सत्ताईस लाख थी, आज वहाँ चौवन सौ पत्र छपते हैं और ग्राहक संख्या तीन करोड़ अस्सी लाख है। अगर क़ागज़ का अभाव न होता, तो इससे भी अधिक प्रचार होता। कई पत्रों का प्रचार तो बीस लाख है। और उन चालबाजियों का नाम भी नहीं है, जो अन्य देशों के पत्र प्रतिद्वन्दिता के कारण अपनी ग्राहक-संख्या बढ़ाने के लिए किया करते हैं। सनसनी फैलानेवाली खबरें, चोरी, बलात्कार आदि की घटनाएँ, तेज़ी, मन्दी और मिल के हिस्सों की नोटिसें और शब्द जाल और पहेलियाँ, फैशन और समाज के चुटकले, उन पत्रों में नज़र नहीं आते। तलाक़, ज़िना आदि की खबरें छपने नहीं दी जातीं। हाँ, अन्तर्राष्ट्रीय समाचारों पर काफ़ी ध्यान दिया जाता है। यहाँ तक कि विदेशी भाषाओं के पत्रों का प्रचार भी एक करोड़ से कम नहीं। इन प्रमाणों के सामने कौन कह सकता है कि सोवियट शासन बौद्धिक और सांस्कृतिक उन्नति में उन्नत से उन्नत राष्ट्र से भी पीछे है।

२१ अगस्त १९३३

गेहूँ सम्मेलन

आजकल इंग्लैंड में गेहूँ पैदा करनेवाले देशों के प्रतिनिधि बैठकर इस समस्या को हल करने की चेष्टा कर रहे हैं कि गेहूँ का दाम कैसे चढ़ जाय। एक विद्वान् का तो यह कहना है कि आजकल संसार में जो मन्दी व्याप रही है उसका कारण गेहूँ की कसरत से पैदावार है। उनके कथनानुसार सन् २७, २८, २९ में इतनी इफ़रात से संसार में गेहूँ पैदा हुआ, कि मनुष्य जाति के खाये न खाया गया। एक साल की पैदावार चुकने न पाती थी कि दूसरी फ़सल पहली से भी ज़्यादा ठसाठस पैदा हो जाती थी। संसार में इतना गेहूँ जमा हो गया कि १९३० आते-आते उसका दाम और गिर गया उसी के कारण

संसार-व्यापक मन्दी ने डेरा जमा लिया। अब गेहूँ की खेती में कमी करके पैदावार कम करने का प्रस्ताव हो रहा है। हमें यह सब सुनकर विस्मय होता है। खाने की चीज़ भी इतनी इफ़रात से हो सकती है कि उसकी पैदावार कम की जाय, हमें इस पर विश्वास नहीं आता। जिस देश के अस्सी फी सदी निवासी साल के तीन सौ साठ दिनों में आधे और चौथाई पेट खाकर दिन काट देते हों, उसे इस पर विश्वास आ ही कैसे सकता है। अगर गेहूँ ऐसा ही अजीरन हो रहा है और मारा-मारा फिर रहा है, तो करोड़ दो करोड़ टन भारत क्यों नहीं भेज दिया जाता? यहाँ के भूखे खाकर गेहूँ के व्यापारियों को कोटि-कोटि धन्यवाद देंगे। पैदावार में कमी करना तो हमें किसी सिद्धान्त से भी मुनासिब नहीं मालूम होता। बस गेहूँ के विशेषज्ञों को यही निश्चय करना चाहिए कि साल के अंत में जितना गल्ला बच रहे, वह जहाजों पर लादकर भारत भेज दिया जाय। फिर एक महीने में तेज़ी न हो जाय, तो हमारा ज़िम्मा। गेहूँ बेचारे पर इतना बड़ा लांछन लगाना कि उसी के कारण संसार का व्यापार मिट्टी में मिला जा रहा है, बड़ा अन्याय है। मगर नहीं, इसी गेहूँ ने हज़रते आदम को जन्नत से निकलवाया था, इसलिए अब हम उसे दुनिया से निकालकर उसकी उस शरारत का मज़ा चखा देंगे! पश्चिम के अर्थ-शास्त्रियों की निराली अर्थनीति की बलिहारी!

२८ अगस्त १९३३

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बन्द कर दो

"फोर्टनाइटली रिविउ" विलायत का प्रतिष्ठित पाक्षिक पत्र है। उसमें एक अंग्रेज अर्थ शास्त्री ने यह विचार प्रकट किया है कि वर्तमान मंदी का मुख्य कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार है। अगर हरेक देश अपनी-अपनी जरूरत भर की चीजें बनाये तो उसे क्यों अपने फालतू माल की खपत के लिए अन्य देशों में बाज़ार ढूँढ़ना पड़े, क्यों एक्सचेंज और करेंसी के झगड़े खड़े हों, क्यों आपस में प्रतियोगिता बढ़े, क्यों इतने जहाज बढ़ें और क्यों इन जहाजों की रक्षा के लिए सैनिक जहाज़ रखने पड़ें, क्यों आये दिन लड़ाइयाँ खड़ी हों, और क्यों आये दिन निरर्थक सम्मेलनों पर प्रजा का धन नष्ट हो। प्रस्ताव तो लाख रुपये का है, पर कुबेर के उपासक और साम्राज्य के भक्त योरोपियन व्यापारी भला कब मानने लगे। उन्हें तो धन चाहिए, धन के लिए माल की खपत होनी ज़रूरी है, और माल की खपत के लिए निर्बल देशों का होना लाज़िम है। माल की खपत तो पच्छिमी संस्कृति का मूल तत्व है। भला इसे वह कैसे छोड़ दे। मगर ऐसा मालूम होता है कि ईश्वर ने अब संसार की समस्याओं पर ध्यान देना शुरू कर दिया है।

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अब एक बटा तीन मात्र रह गया है। और यह मात्रा भी दिन-दिन घटती जाती है। सभी राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के विरुद्ध अपने-अपने द्वार बन्द कर रहे हैं। दूसरों के माल पर सौ-सौ फी सदी चुंगियाँ लगायी जा रही हैं। इससे साफ जाहिर है कि इस लेखक ने जो प्रस्ताव किया है, वह परिस्थिति को अच्छी तरह देखकर किया है। कहीं ऐसा हो जाय, तो भारत मूसलों ढोल बजावे। हाँ, इंग्लैंड के लिए वह पतन का दिन ही होगा।

२८ अगस्त १९३३

मि० डी० वेलरा से विरोध

राजनैतिक प्रभाव के बनने में चाहे जितनी देर लगे, उसके बिगड़ने में देर नहीं लगती। वही मि० डी० वेलरा जो आयरलैंड के बेताज के बादशाह थे, आज उनके विरुद्ध इतने लोग हो गये हैं कि वह प्लेटफार्म से बोल नहीं सकते। जब से डी० वेलरा ने इंग्लैंड को कर देना अस्वीकार किया; उसी वक्त से इंग्लैंड घात में लगा हुआ था। इंग्लैंड के बाजार में आयरिश किसानों की चीजों की खपत बन्द होते ही किसानों में असन्तोष होना स्वाभाविक था। डी० वेलरा के प्रतियोगी इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे। उन्होंने चटपट किसानों को मिलाकर डी० वेलरा का विरोध करना शुरू कर दिया और ऐसा अनुमान होता है कि शीघ्र ही वहाँ नया चुनाव करना पड़ेगा और कुछ नहीं कहा जा सकता कि इस चुनाव में डी० वेलरा की गवर्नमेंट का क्या अन्त होगा।

१८ सितम्बर १९३३

डिक्टेटरशिप या डिमाक्रेसी

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के यूनियन में इस विषय पर एक बड़ी मनोरंजक बहस हुई कि डिमाक्रेसी असफल हुई है और संसार का भविष्य डिक्टेटरशिप के हाथ है। एक दल डिमाक्रेसी के पक्ष में था, दूसरा डिक्टेटरशिप के पक्ष में। दोनों पक्षों ने अपना-अपना समर्थन किया और अन्त में डिक्टेटरशिप पक्ष की बहुमत से जीत हुई। डिमाक्रेसी सदियों के राजनैतिक विकास का फल थी और विचारवानों की धारणा थी कि यही राजनैतिक उन्नति का शिखर है। इस पद को प्राप्त करने के लिए कितने विप्लव हुए, कितनी लड़ाइयाँ हुई, कितना मानव रक्त बहा, पर मानवी दुर्बलताओं ने उस स्वर्ण स्वप्न

को मिथ्या कर दिया। डिमाक्रेसी केवल एक दलबन्दी होकर रह गयी। जिनके पास धन था, जिनकी ज़बान में जादू था, जो जनता को सब्जबाग दिखा सकते थे, उन्होंने डिमाक्रेसी की आड़ में सारी शक्ति अपने हाथ में कर ली। व्यवसायवाद और साम्राज्यवाद उस सामूहिक स्वार्थपरता के भयंकर रूप थे, जिन्होंने संसार को गुलाम बना डाला और निर्बल राष्ट्रों को लूटकर अपना घर भरा और आज तक वही नीति चली जा रही है। डिमाक्रेसी की इन दो सदियों में संसार में जो-जो अनर्थ हुए, वह एकाधिपत्य की असंख्य सदियों में न हुए थे। अपने राष्ट्र के लिए डिमाक्रेसी चाहे जितनी मंगलमय सिद्ध हुई हो, पर संसार की दृष्टि से तो उसने ऐसा कोई कार्य नहीं किया जिस पर वह गर्व कर सके। अब संसार उससे तंग आ गया है और उसका अन्त करके ऐसी व्यवस्था का आश्रय लेना चाहता है, जिसमें एकसत्तात्मक राज्य और डिमाक्रेसी दोनों गुण तो हों, पर अवगुण न हों। मुसोलिनी या हिटलर या स्टालिन आज ईश्वर के प्रतिनिधि राजाओं की भाँति पशुबल से राज्य का संचालन नहीं कर रहे हैं। राष्ट्र उनकी सम्पत्ति नहीं है और न राष्ट्र का धन उनके भोग विलास के लिए है। वे जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकते और न उनकी अधिकार-लालसा स्वार्थ के लिए है। वे राष्ट्र के सच्चे सेवक हैं और यही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। यह कहना मुश्किल है कि डिक्टेटरशिप चंद रोज़ा है या स्थायी, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस वक्त डिमाक्रेसी से कहीं उपयोगी हो रहा है। यहाँ तक कि प्रेसिडेंट रूज़वेल्ट भी डिक्टेटर बने हुए हैं।

१८ सितम्बर १९३३

ज़बरदस्ती या समझाबुझाकर

दुनिया में दो स्वभाव के आदमी होते हैं, एक गर्म दूसरे नर्म। गर्म स्वभाव का आदमी छः महीने की राह एक महीने में तय करना चाहता है, नर्म स्वभाव का आदमी चाहे रास्ते में किसी दरख्त के नीचे रात काट ले, पर दौड़ना उसे नहीं भाता। नर्म स्वभाव का आदमी लिबरल होता है, गर्म स्वभाव का रेडिकल, या और ज़्यादा गर्म हुआ तो क्रान्तिवादी।

किसी नीति या पालिसी या मत का प्रचार करना है। गर्म स्वभाव का आदमी जोश में चाहता है कि आन की आन में उसकी नीति सफल हो जाय, कुछ परवाह नहीं, यदि इसके लिए कठिनाइयाँ झेलनी पड़ें। अपनी नीति में उसे इतना विश्वास होता है कि वह समझता है इसके सफल होते ही वह संसार में एक नये युग का प्रवर्तक कहा जायगा, सारी बाधाएँ छू मन्तर में उड़ जायेंगी।

नर्म स्वभाव का आदमी उतना ही या उससे अधिक उत्साह रखने पर भी उसी मार्ग पर कदम रखते डरता है, जिसके एक ओर हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं, दूसरी ओर गहरी खाई। उसे समतल भूमि चाहिए। फिसलन और रपटन से उसके प्राण काँपते हैं। और उसकी उर्वर बुद्धि अपने इस मीठेपन के लिए कोई अच्छा बहाना खोज निकालना चाहती है जिससे वह अपने प्रतियोगी को लज्जित कर सके। और वह कहता है—थोड़ा-थोड़ा खाओ, जिससे वह देह में लगे, जिससे तुम्हारी पाचन क्रिया भोजन से रक्त बनाकर तुम्हारे शरीर को पुष्ट करे। एकबारगी पेट को ठूँस लेने से बदहजमी हो जायगी। लाभ की जगह क्षति पहुँचेगी।

गर्म दिल के आदमी के पास जवाबों की कमी नहीं है। वह कहता है, जब तक पानी उबाल की बिन्दु तक न खौल जाय, उससे भोजन नहीं पक सकता। उसकी चौगुनी आँच भी अगर एक निश्चित समय के अन्दर न लगायी जाय तो पानी कभी खौलेगा ही नहीं। सूर्य की गरमी जब तक किसी विधि से केंद्रित न कर दी जाय, वह ताप का अखंड भंडार होने पर भी मुट्ठी भर कोयले का भी काम नहीं कर सकती।

इसी तरह दोनों ओर से सवाल जवाब होते रहते हैं, पर मसला हल नहीं होता। मौलिक भेद नहीं है। केवल तबीयत या स्वभाव का भेद है। दोनों के उद्देश्य एक हैं, विधि भी प्रायः एक है, केवल गति का अन्तर है। गति ही से हवा आँधी भी हो सकती है और मन्द समीरण भी। सूरज और हवा में एक बार मजेदार होड़ लगी। सूरज कहता था—मैं बड़ा। हवा कहती थी—मैं बड़ी। उसी वक्त एक आदमी कम्बल ओढ़े आ निकला। फैसला इस बात पर ठहरा कि जो उस आदमी का कम्बल उतरवा दे, वह बड़ा। हवा के नाम से टास पड़ा। उसने अपनी गति तेज करनी शुरू की। झोंके आये, फिर आँधी आयी, फिर बवन्डर और तूफान। पर कम्बल न उतरा। नदियों का पानी चढ़ गया, दरख्त उखड़ गये, मकान गिर गये, पर कम्बल न गिरा। तब सूरज की बारी आयी। किरणें प्रखर हुईं और एक क्षण में मुसाफ़िर ने कम्बल उतार फेंका। एक ही नीति सब जगह काम नहीं देती। देश और काल और परिस्थिति के अनुसार नीति भी बदलती रहती है।

पर ज़ोर स्थायी नहीं होता। जो काम समझा-बुझाकर किया जाता है, वह स्थायी और टिकाऊ होता है। जोर का काबू मन पर नहीं चलता। उसका काबू केवल देह पर चलता है। देह को परास्त करके भी आप मन को उतना ही अजेय छोड़ सकते हैं। बल्कि ऐसी अवस्था भी आती है जब देह के प्रत्येक पराजय के साथ मन और दृढ़, और दुर्दमनीय हो जाता है। प्रेरक शक्ति तो मन के पास है। देह तो केवल उसका दास है। जब तक आप मन को नहीं जीत लेते, मन को नहीं कायल कर देते, आप भविष्य के लिए विष बो रहे हैं। अगर हम किसी नीति की सफलता के इच्छुक हैं, तो हमें बड़ी शान्ति, पर बड़ी लगन के साथ अपने विरोधियों का, उन लोगों का जिन्हें उस नीति की

सफलता से हानि पहुँचेगी, मत परिवर्तन करना पड़ेगा। तभी हम यथार्थ में विजयी होंगे। यह सत्य है कि प्राणी अपने स्वार्थ को आसानी से नहीं छोड़ता। लेकिन जनमत में वह शक्ति है, जो असंभव को संभव कर दिखाती है। जनमत के दबाव से ही लाखों आदमी विदेशी कपड़े का लाभप्रद व्यापार छोड़कर दरिद्र हो गये, जनमत के प्रभाव से लाखों आदमी स्वेच्छा से कमर कसकर रणक्षेत्र में जाते हैं और प्राणों को उत्सर्ग कर देते हैं। जोर और सख्ती से काम लेना मानों यह स्वीकार करना है कि हमारी नीति में सत्य नहीं है। क्योंकि सत्य की विजय पाने के लिए पशुबल की आवश्यकता नहीं होती। सत्य में ऐसी आंतरिक शक्ति है, जो किसी तरह दबायी नहीं जा सकती। आज किसी को जबरन् मुसलमान बना लो। कल वह अवसर पाते ही अपनी शुद्धि करा लेगा। लेकिन जो व्यक्ति इसलाम में सत्य पाकर मुसलमान होता है, उसे कौन इसलाम से फेंक सकता है।

बेशक समझाने बुझानेवाली नीति में समय लगता है। ज़ोर और जब्र से वही बात थोड़े समय में हो जाती है, लेकिन पहली दशा में फिर उस बुराई के उभड़ आने की शंका नहीं रहती। दूसरी दशा में वह शंका इतनी प्रचंड हो जाती है कि उस बुराई को दबाये रखने के लिए और भी बुराइयाँ करनी पड़ती हैं। और अगर दूर तक निगाह डालें, तो मालूम होगा, कि ज़ोर या Coercion से जो कुछ हुआ वही कुछ और धैर्य से, Convernsion से हो सकता था, और बिना रक्तपात के।

आज बीसवीं सदी में विशेष अधिकारों और स्तत्वों के राग अलापने का समय नहीं रहा। आज यह विषय विवादग्रस्त नहीं है, कि मजूर और मालिक में, ज़मींदार और किसान में जो अन्तर है वह अन्याय और ज़बरदस्ती पर टिका हुआ है। राज्य अब केवल एक गुट बनाकर गरीबों से कर वसूल करने और ऐश उड़ाने, अथवा उस ऐश में बाधा देनेवालों से लड़ने का नाम नहीं रहा, जिसका प्रजा के प्रति अधिक से अधिक यही धर्म था, कि उनके जानमाल की रक्षा करे। आज का राज्य ऐसी विषमताओं का समर्थक नहीं। आज का राज्य वह संस्था है, जिसका आधार-स्तम्भ है समता। उसका धर्म है, प्रजामात्र के लिए समान अवसर, समान सुविधा और समान सत्ता की व्यवस्था करना, और जो राज्य इस सत्य को स्वीकार नहीं करता, वह बहुत दिन टिक नहीं सकता।

२५ सितम्बर १९३३

खेती की पैदावार कम करने का आयोजन

योरोप के अर्थशास्त्रज्ञों ने बड़ा ही आसान नुस्खा ढूँढ़ निकाला है। बस, जिस

चीज़ का दाम गिर जाय उस चीज़ की पैदावार कम कर दो। गेहूँ का दाम गिर गया। चटपट गेहूँ सम्मेलन हो गया और उसमें यह तय कर दिया गया कि पन्द्रह फीसदी गेहूँ की खेती घटा दी जाय। रबर का दर गिरा, बस, रबर की खेती कम कर दो। अब चाय का दर गिर रहा है। चाय के कारखानों में नफा नहीं हो रहा है। बस, चाय के बागों के मालिकों ने तय कर लिया कि चाय कम तैयार की जाय। पूँजीपति को सस्ती काले साँप-सी नजर आती है। वह तो मँहगी चाहता है जिसमें थोड़ी-सी चीज़ देकर वह थैलियाँ भर ले। काश्तकार चाहता है और ईश्वर से मनाता है कि खेतों में इतना अनाज हो जाय कि वह दोनों हाथों लुटाये। मगर जिसने खलिहान का सारा माल अपने बखारों और खत्तियों में भर कर रक्खा है, वह प्रातःकाल पंसेरियाँ लुढ़काता है कि भाव तेज़ हो। वह सदैव अकाल की कामना किया करता है। आज इस सस्ती में गरीबों को भोजन नहीं मिल रहा है। सस्ती का कारण यह नहीं है कि फसल अच्छी हो रही है, बल्कि किसी के पास खरीदने को पैसा नहीं है और लोग भूखों मर रहे हैं। खाने पीने की चीज़ों की उपज घटाकर व्यापारियों को नफ़ा तो खूब होगा, इसमें शक नहीं, पर जब सस्ती में अधिकांश आदमी भूखों मर रहे हैं तो उस मँहगी में उनकी क्या दशा होगी यह हमारे अर्थशास्त्री नहीं सोचते। मर जायेंगे ? मर जायँ; और पृथ्वी का बोझ हल्का हो जायगा। संसार में जो यह तबाही आयी हुई है, इसका कारण योरोप के पूँजीपति हैं और आज समस्त संसार को उन्हीं के पापों का प्रायश्चित्त करना पड़ रहा है। अगर पैदावारों के घटाने की यही सनक कुछ दिन और रही, तो ये लोग संसार को निर्जन बनाकर छोड़ देंगे। यह साम्राज्यवाद की विपत्ति जिस से संसार त्राहि-त्राहि कर रहा है। यह किसकी बुलायी हुई है ? इन्हीं कुबेर के गुलामों की। यह जो चुंगियों की प्रत्येक देश ने दीवारें खड़ी कर ली हैं, यह किसकी कृपा है ? इन्हीं पूँजीपतियों की यह जो बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ होती हैं जिनमें खून की नदियाँ बह जाती हैं, इनका जिम्मेदार कौन है ? यही लक्ष्मी के उपासक। संसार इनके भोग का क्षेत्र है। सारी राज्य व्यवस्था, यह बड़ी-बड़ी सेनाएँ, ये जंगी बेड़े, ये हवाई जहाज़ों की परें इन्हीं व्यापारियों के फ़ायदे के लिए तो हैं ! वे संसार के स्वामी हैं, पार्लमिंट और सेनेट-सिंडिकेट तो उनके खिलौने हैं। भारत भी उनकी मायाजाल में फँसा हुआ अपनी किस्मत को रो रहा है।

९ अक्टूबर १९३३

निश्शस्त्रीकरण का ड्रामा

बरसों से यह ड्रामा हो रहा है, एक परदा गिरता है दूसरा उठता है, वक्तव्य

निकलते हैं, मंत्रिगण दौरे करते हैं, कांफ्रेंसें होती हैं, और यही सिलसिला चलता रहता है। फ्रांस शेर है, वह जर्मनी को उभरने नहीं देना चाहता। और जर्मनी कहता है, अगर मित्र-दल वर्सेल की सन्धि को नहीं मानना चाहते, तो मैं ही क्यों मानूँ। अबकी इटली, फ्रांस और इंग्लैंड तीनों ने मिलकर जर्मनी पर दबाव डालना चाहा था, पर जर्मनी अपनी टेक पर अड़ा हुआ है। और इधर मिलबाल्डविन ने अपने कथन में कह दिया कि अब इंग्लैंड भी अपने को भरपूर सशस्त्र करेगा। बहुत ठीक। लेकिन जर्मनी खूब समझ रहा है मि० बाल्डविन का संकेत किस ओर है और इसीलिए इस निशशस्त्रावस्था में भी वह जरा भी नहीं दबता।

१६ अक्टूबर १९३३

जर्मनी में अनार्यों का वहिष्कार

इस घोर बुद्धिवाद के युग में जर्मनी आर्य-अनार्य का झगड़ा ले बैठा है। एक ओर तो संसार में भिन्न-भिन्न जातियों का संमिश्रण हो रहा है, दूसरी ओर वैज्ञानिक जर्मनी यह नियम बना रहा है कि उसके स्त्री-पुरुष अनार्य जातियों से शादी-विवाह न करें। जर्मनी किसी उर्दू कवि की इस उक्ति को सार्थक करना चाहता है, जो बात की खुदा की क़सम लाजवाब की। व्यक्तित्व में वह जादू है कि बीसवीं शताब्दी में चाहे तो योरोप को भी संन्यास और वैराग्य का भक्त बना दे, और यंत्र-युग को भी कृषि युग में बदल दे। संस्कृति के चक्र उलट देना उसके लिए बच्चों का खेल है। हर हिटलर एक आदेश निकाल कर विज्ञान और प्रेम और नीति का रूप पलटे देता है। फिर अगर भारतवालों ने खान-पान और शादी विवाह के लिए बंधन लगा दिये थे, तो क्या बुरा किया था। अब कोई गोरी युवती किसी हब्शी के साथ नृत्य का आनन्द नहीं उठा सकती। कोई जर्मन युवक किसी यहूदी ललना के प्रेम में फँस जाय, तो फड़फड़ाते ही रह जाय, उस ललना से विवाह नहीं कर सकता। जर्मनो सारे संसार से अलग रहना चाहता है।

१६ अक्टूबर १९३३

जर्मनी के कम्युनिस्ट

जब हर हिटलर का निर्वाचन हुआ तो जर्मनी में पचास लाख कम्युनिस्ट थे। हिटलर

ने उनके पत्र बन्द कर दिये, उनके प्रतिनिधियों को जेल में डाल दिया और उस दल को मिटा देने में कोई बात उठा न रक्खी। अनुमान किया जाता है कि वह सारे कम्युनिस्ट हिटलर-दल में मिल गये, पर एक अँग्रेजी पत्र ने पता लगाया है कि कम्युनिस्ट पत्र अभी तक गुप्त रूप से छापे जाते हैं, यहाँ तक कि एक पत्र तो तीन लाख छपता है और हाथों हाथ बिक जाता है। उसके अतिरिक्त एक सौ पचास कम्युनिस्ट पत्र और भी निकल रहे हैं। पुलोस उनका सुराग नहीं लगा सकती। उस पत्र का कथन है कि कम्युनिस्ट लोग नाज़ीदल में केवल इसलिए घुसे हैं कि अन्दर से उसमें बारूद भरें। जो कुछ भी हो, इस वक़्त तो नाज़ियों का राज्य है।

३० अक्टूबर १९३३

अन्धा पूँजीवाद

जिधर देखिए उधर पूँजीपतियों की घुड़दौड़ मची हुई है। किसानों की खेती उजड़ जाय, उनकी बला से। कहावत के उस मूर्ख की भाँति जो उसी डाल की जड़ काट रहा था, जिस पर वह बैठा था, यह समुदाय भी उसी किसान की गर्दन काट रहा है, जिसका पसीना उसी की सेवा में पानी की तरह बह रहा है।

पहले जब किसान निपट मूर्ख था, उसके लिए गोरे और काले पूँजीपति में कोई अन्तर न था। साँप और नाग दोनों ही उसके लिए समान थे। मि० बुल और सेठ पुनपुनवाला दोनों ही को देखकर वह काँप उठता था।

तब धीरे-धीरे उसने कुछ राजनैतिक ज्ञान सीखा, राष्ट्र और जाति जैसे शब्दों से उसका परिचय हुआ और भोले बालकों की भाँति जो हरेक वस्तु को मुँह में डाल लेते हैं, इस सरल व्यक्ति ने भी सेठ पुनपुनवाला के वैष्णव तिलक और हिन्दू-धर्म के प्रति असीम श्रद्धा और उनके नाम को उजागर करनेवाले धर्मशालों, मन्दिरों और पाठशालों को देखकर, उनको अपना उद्धारक समझा। यही सेठ पुनपुनवाला तो हैं, जिनके नाम और यश की कथाएँ मोटे-मोटे अक्षरों में समाचार पत्रों में छपती हैं। ऐसे राष्ट्र-प्रेमी सेठ जी से उसने मन में बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध लीं। ये अपने हैं, अपने देश के हैं; कितने ही स्वार्थी क्यों न हों विदेशियों से तो अच्छे ही होंगे। इतना पुण्य कमाया है, तभी तो लक्ष्मी ने उनके ऊपर कृपा की है। अपने दुखी देश-वासियों के लिए उनके मन में कहाँ तक दया न होगी।

लेकिन जब पुनपुनवाला के मिलों में उसकी ऊख की खरीद होने लगी, जब उनकी आढ़तों में उसका अनाज या सन तौला जाने लगा, तब उसे अनुभव हुआ कि

सेठ जी बाहर से जितने बड़े धर्मात्मा और देशभक्त हैं, भीतर से उतने ही लुटेरे और बन्धुद्रोही भी हैं, और धन और देश प्रेम का यह सारा आडम्बर उन्होंने केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए रच रक्खा है। पहले उसे सहसा अपनी आँखों पर विश्वास न आया। सेठ पुनपुनवाला जिनके नाम से ऐसी-ऐसी धर्म संस्थाएँ चलती हैं कभी इतने पाषाण-हृदय नहीं हो सकते। यह उनके मुखतारों और मुनीमों का चक्र है। उसने सेठ जी से अपना दर्द दिल कहने की अनुमति चाही, लेकिन बेकार, सेठ जी के उसे दर्शन न हुए, उनके दर्बानों ने उसे धक्के देकर निकाल दिया, यहाँ तक कि जब उसने रोना शुरू किया तो धर्मात्मा सेठ पुनपुनवाला खुद हंटर लेकर दौड़े। तब अभागा कृषक समझ गया कि इन सेठ जी से उसने व्यर्थ ही ऐसी आशाएँ बाँधी थीं। वहीं उसे दूसरा अनुभव यह हुआ, और जिससे उसे और मर्मवेदना हुई, कि मि० बुल इन सेठ पुनपुनवाला से कहीं खरे, सच्चे और सज्जन हैं। उनके मिल में उसकी ऊख चट पट तुल जाती है, और तुरंत दाम मिल जाते हैं। रोकड़ियों और प्यादों को कुछ न कुछ चटाना जरूर पड़ता है—और इसमें उसे लेशमात्र भी आपत्ति नहीं है—पर यदि इसकी शिकायत की जाय तो मि० बुल उसे सुनने और दूर करने के लिए तैयार रहते हैं। उनकी आढ़ती में भी ज्यादा धाँधली नहीं होती।

बिलकुल यही दृश्य आजकल बिहार में देखने में आ रहा है। बिहार में शक्कर के इतने मिल खुल गये हैं कि वह भारतवर्ष का खंडसाल हो गया है। वहीं की भूमि में उपजी हुई ऊख सफेद शक्कर बनाने के लिए बहुत ही उपयुक्त है। बिहार ही क्यों, संयुक्त प्रान्त के उत्तर पूर्व भाग में भी उसी तरह की ज़मीन है। इन मिलों के मालिक योरोपियन भी हैं, मारवाड़ी भी, पंजाबी भी, पर जहाँ अँग्रेज़ों के मिलों में किसानों के साथ सफ़ाई का व्यवहार किया जाता है, वहाँ भारतीय मिलों में इन गरीबों को तरह-तरह से सताया जाता है, कई-कई दिन उनकी ऊख नहीं खरीदी जाती, यहाँ तक कि जब ऊख सूखने लगती है, तो उसे नाममात्र का दाम देकर गिरवा लिया जाता है। मिल के सामने गरीब किसानों को कई-कई दिन वर्षा और ठंड में पड़ा रहना पड़ता है, क्लर्कों और मुंशियों की खुशामदें करनी पड़ती हैं, तब भी कोई उसकी नहीं सुनता। इसके प्रतिकूल अँग्रेजी मिलों में उनके ठहरने और जानवरों को बाँधने के लिए टीन के छप्पर डाल दिये गये हैं। मैनेजर और अधिकारी भी ज्यादा इंसानियत से पेश आते हैं। हम से यह वृतान्त बिहार के एक सज्जन ने जिन्हें इस व्यवसाय का प्रत्यक्ष अनुभव है बयान किया है, इसलिए सत्य होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। भारतीय पूंजीपतियों की नृशंसता इतनी बढ़ गयी है कि बिहार सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा है और उसने एक सरकुलर निकाल कर मिल के प्रबन्धकों को चेतावनी दे दी है कि वे ऊख की खरीद के दर लिखकर नगर के मुख्य-मुख्य स्थानों पर लगा दें, जिसमें किसानों को कोई धोखा न दे सके। बिहार सरकार ने शक्कर के बाज़ार दर और शक्कर की तैयारी की

लागत आदि का परता मिला कर यह हिसाब लगाया है कि तेंतीस-चौंतीस में ऊख की खरीद सात आने मन के हिसाब से होनी चाहिए। अगर कोई मिल इस तरह की विज्ञप्ति न निकालेगी या इस दर से ऊख न खरीदेगी तो उस पर पाँच सौ रु० जुर्माना होगा। हम, निजी मुआमलों में सरकार का पड़ना बहुत अच्छा नहीं समझते, लेकिन इस अवसर पर बिहार-सरकार की कार्रवाई पर उसे धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझते हैं। हमें आशा है कि हमारे प्रान्त में भी किसानों को पूँजी-पतियों के पंजे से बचाने की कोशिश की जायगी। अब किसान-सभाओं के कार्यकर्ताओं का यह काम है कि वह मिलवालों पर कड़ी निगाह रखें और किसी को बेराह चलते देखें तो सरकार को सूचना दें। यह आशा करना कि पूँजीपति किसानों की हीन दशा से लाभ उठाना छोड़ देंगे, कुत्ते से चमड़े की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूंखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वयं सशस्त्र होना पड़ेगा।

६ नवम्बर १९३३

नादिरशाह की हत्या

काबुल की राजनीति दिन-दिन जटिल होती जाती है। अभी सर रास मसऊद, सैयद सुलेमान नदवी आदि महानुभाव काबुल विश्वविद्यालय के विषय में सलाह देने के लिए काबुल निमन्त्रित हुए थे। उनके कथन से मालूम हुआ था कि काबुल की गति प्रगतिशील है और वह थोड़े दिनों में सभ्य राष्ट्रों की पंक्ति में बैठने जा रहा है। पर इस हत्या से यह अनुमान होता है कि काबुलवाले एक कदम भी आगे नहीं बढ़ना चाहते। या कहीं ऐसा तो नहीं है कि कम्युनिज़्म ने उधर कदम बढ़ाया हो।

१३ नवम्बर १९३३

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता वर्तमान युग का कोढ़ है, उसी तरह जैसे मध्य-कालीन युग का कोढ़ साम्प्रदायिकता थी। नतीजा दोनों का एक है। साम्प्रदायिकता अपने घेरे के अन्दर पूर्ण शान्ति और सुख का राज्य स्थापित कर देना चाहती थी, मगर उस घेरे के बाहर जो संसार था, उसको नोचने-खसोटने में उसे जरा भी मानसिक क्लेश न होता था। राष्ट्रीयता भी अपने परिमित क्षेत्र के अन्दर रामराज्य का आयोजन करती है। उस क्षेत्र के बाहर का संसार उसका शत्रु है। सारा संसार ऐसे ही राष्ट्रों या गिरोहों में बँटा हुआ है,

और सभी एक दूसरे को हिन्सात्मक संदेह की दृष्टि से देखते हैं और जब तक इसका अन्त न होगा, संसार में शान्ति का होना असंभव है। जागरूक आत्माएँ संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रचार करना चाहती हैं और कर रही हैं, लेकिन राष्ट्रीयता के बन्धन में जकड़ा हुआ संसार उन्हें ड्रीमर या शेखचिल्ली समझ कर उनकी उपेक्षा करता है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीयता मानव संस्कृति और जीवन का बहुत ऊँचा आदर्श और आदि से संसार के विचारकों ने इसी आदर्श का प्रतिपादन किया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इसी आदर्श का परिचायक है। वेदान्त ने एकात्मवाद का प्रचार ही तो किया। आज भी राष्ट्रीयता का रोग उन्हीं लोगों को लगा हुआ है, जो शिक्षित हैं, इतिहास के जानकार हैं। वे संसार को राष्ट्रों ही के रूप में देख सकते हैं। संसार के संगठन की दूसरी कल्पना उनके मन में आ ही नहीं सकती। जैसे शिक्षा से और कितनी ही अस्वाभाविकताएँ हमने अपने अन्दर भर ली हैं, उसी तरह से इस रोग को भी पाल लिया है। लेकिन प्रश्न यह है कि उससे मुक्ति कैसे हो ? कुछ लोगों का ख्याल है कि राष्ट्रीयता ही अन्तर्राष्ट्रीयता की सीढ़ी है। इसी के सहारे हम उस पद तक पहुँच सकते हैं, लेकिन जैसा श्रीकृष्ण मूर्ति ने काशी में अपने एक भाषण में कहा है, यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि आरोग्यता प्राप्त करने के लिए बीमार होना आवश्यक है। तो फिर यह प्रश्न रह जाता है कि हमारी अन्तर्राष्ट्रीय भावना कैसे जागे।

समाज का संगठन आदि काल से आर्थिक भित्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समम भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न की ओर से आँखें बन्द करके समाज का कोई दूसरा संगठन सफल नहीं हो सकता। यह जो प्राणी-प्राणी में भेद है, फूट है, वैमनस्य है, यह जो राष्ट्रों में परस्पर तनातनी हो रही है, इसका कारण अर्थ के सिवा और क्या है। अर्थ के प्रश्न को हल कर देना ही, राष्ट्रीयता के किले को ध्वंस कर सकता है।

वेदान्त ने एकात्मवाद का प्रचार करके एक दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुँचने की चेष्टा की। उसने समझा समाज के मनोभाव को बदल देने से ही यह प्रश्न आप ही आप हल हो जायगा, लेकिन इसमें उसे सफलता नहीं मिली। उसने कारण का निश्चय किये बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया, जिसका परिणाम असफलता के सिवा और क्या हो सकता था। हज़रत ईसा, महात्मा बुद्ध आदि सभी धर्म-प्रवर्तकों ने मानसिक और आध्यात्मिक संस्कार से समाज का संगठन बदलना चाहा। हम यह नहीं कहते कि उनका रास्ता गलत था। नहीं, शायद वही रास्ता ठीक था, लेकिन उसकी असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसने अर्थ को नगण्य समझा। अन्तर्राष्ट्रीयता, या एकात्मवाद या समता तीनों मूलतः एक ही हैं। उनकी प्राप्ति के दो मार्ग हैं, एक आध्यात्मिक

दूसरा भौतिक। आध्यात्मिक मार्ग की परीक्षा हमने खूब कर ली। कई हज़ार बरसों से हम यही परीक्षा करते चले आ रहे हैं। वह श्रेष्ठतम मार्ग था। उसने समाज के लिए ऊँचे से ऊँचे आदर्श की कल्पना की और उसे प्राप्त करने के लिए ऊँचे से ऊँचे सिद्धांत की सृष्टि की थी। उसने मनुष्य की स्वेच्छा पर विश्वास किया, लेकिन फल इसके सिवा और कुछ न हुआ कि धर्मोपजीवियों की एक बहुत बड़ी संख्या पृथ्वी का भार हो गयी। समाज जहाँ था, वहीं खड़ा रह गया, नहीं, और पीछे हट गया। संसार में अनेक मतों और धर्मों और करोड़ों धर्मोपदेशकों के रहते हुए भी जितना वैमनस्य और हिंसा-भाव है, उतना शायद पहले कभी न था। आज दो भाई एक साथ नहीं रह सकते। यहाँ तक कि स्त्री-पुरुष में संग्राम चल रहा है। पुराने ज्ञानियों ने सारे झगड़ों की जिम्मेदारी 'ज़र, ज़मीन, जन' रक्खी थी। आज उसके लिए केवल एक ही शब्द काफी है—सम्पत्ति।

जब तक सम्पत्ति मानव-समाज के संगठन का आधार है, संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है। संसार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यतिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मजदूरों के काम का समय घटाइये, बेकारों का गुजारा दीजिये, जमींदारों और पूँजीपतियों के अधिकारों को घटाइये, मजूरों और किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइये, सिक्के का मूल्य घटाइए इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस टीप-टाप से नहीं खड़ी रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।

संसार आदि काल से लक्ष्मी की पूजा करता चला आता है। जिस पर वह प्रसन्न हो जायँ उसके भाग्य खुल जाते हैं। उसकी सारी बुराइयाँ मुआफ़ कर दी जाती हैं, लेकिन संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया। यह देवी नहीं, डायन है।

सम्पत्ति ने मनुष्य को अपना क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल सम्पत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान् बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं, सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एक मात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन न होगा, जब तक संपत्ति-व्यक्तिवाद का अन्त न होगा, संसार को शान्ति न मिलेगी।

कुछ लोग समाज के इस आदर्श की वर्गवाद, या "क्लास वॉर" कह कर उसका

अपने मन में भीषण रूप खड़ा कर लिया करते हैं। जिनके पास धन है, जो लक्ष्मी पुत्र हैं, जो बड़ी-बड़ी कंपनियों के मालिक हैं, वे इसे हौवा समझकर, आँखें बंद करके, गला फाड़कर चिल्ला पड़ते हैं। लेकिन शांत मन से देखा जाय, तो असंपत्तिवाद के शरण में आकर उन्हें भी वह शांति और विश्राम प्राप्त होगा, जिसके लिए वे सन्तों और संन्यासियों की सेवा किया करते हैं, और फिर भी वह उनके हाथ नहीं आती। अगर वे अपने पिछले कारनामों को याद करें तो उन्हें मालूम हो कि सम्पति जमा करने के लिए उन्होंने अपनी आत्मा का, अपने सम्मान का, अपने सिद्धांत का कितना खून किया। बेशक उनके पास करोड़ों की विभूति है, पर क्या उन्हें शान्ति मिल रही है? क्या वे अपने ही भाइयों से, अपनी ही स्त्री से सशंक नहीं रहते? क्या वे अपनी ही छाया से चौंक नहीं पड़ते? वह करोड़ों का ढेर उनके किस काम आता है? वे कुम्भकर्ण का पेट लेकर भी उसे अन्दर नहीं भर सकते। ऐंद्रिक भोग की भी सीमा है। इसके सिवा कि उनके अहंकार को यह सन्तोष हो कि उनके पास एक करोड़ जमा है, और तो उन्हें कोई सुख नहीं है। क्या ऐसे समाज में रहना उनके लिए असह्य होगा, जहाँ उनका कोई शत्रु न होगा, जहाँ उन्हें किसी के सामने नाक रगड़ने की जरूरत न होगी, जहाँ उन्हें छल-कपट के व्यवहार से मुक्ति होगी, जहाँ उनके कुटुम्बवाले उनके मरने की राह न देखते होंगे, जहाँ वे विष के भय के बगैर भोजन कर सकेंगे? क्या यह अवस्था उनके लिए असह्य होगी? क्या वे उस विश्वास, प्रेम और सहयोग के संसार से इतना घबराते हैं, जहाँ वे निर्द्वन्द और निश्चिन्त, समष्टि में मिलकर जीवन व्यतीत करेंगे? बेशक उनके पास बड़े-बड़े महल और नौकर-चाकर और हाथी घोड़े न होंगे, लेकिन यह चिन्ता, संदेह और संघर्ष भी तो न होगा।

कुछ लोगों का संदेह होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना मनुष्य में प्रेरक शक्ति कहाँ से आयेगी। फिर विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति कैसे होगी? क्या गोसाईं तुलसीदास ने रामायण इसलिए लिखा था कि उस पर उन्हें रायलटी मिलेगी। आज भी हम हज़ारों आदमियों को देखते हैं, जो उपदेशक हैं, कवि हैं, शिक्षक हैं, केवल इसलिए कि इससे उन्हें मानसिक संतोष मिलता है। अभी हम व्यक्ति की परिस्थिति से अपने को अलग नहीं कर सकते, इसीलिए ऐसी संकाएँ हमारे मन में उठती हैं। समष्टि कल्पना के उदय होते ही यह स्वार्थ चेतना स्वयं संस्कृत हो जायगी।

कुछ लोगों को भय होता है कि तब बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। हम कहते हैं कि आज ऐसा कौन-सा राजा या धनी है जो कि आधीरात तक बैठा सिर नहीं खपाता। यहाँ उन विलासियों की बात नहीं है, जो बाप दादों की कमायी उड़ा रहे हैं। वे तो पतन की ओर जा रहे हैं। जो आदमी सफल होना चाहता है, चाहे वह किसी काम में हो, उसे परिश्रम करना पड़ेगा। अभी वह अपने और अपने कुटुम्ब के लिए परिश्रम करता है। क्या तब उसे समष्टि के लिए परिश्रम करने में कष्ट होगा?

२७ नवम्बर १९३३

योरोप में निश्शस्त्रीकरण की प्रगति

बरसों से सुनते आते हैं कि योरोप में लड़ाई के यंत्र घटाये जा रहे हैं। लीग में बहसें हुईं, जाने कितने सम्मेलन हुए, नेताओं ने कितनी दौड़-धूप की, मगर परिणाम क्या हुआ ? १९१४ में अँग्रेजों के पास एक लाख पैंतीस हजार टन की टारपीडो नौकाएँ थीं, अब एक लाख सत्तरह हजार टन की हैं; १९१४ में फ्रांस के पास पैंतीस हजार टन थे, अब एक लाख अठानबे हजार टन हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के पास चालीस हजार टन थे अब दो लाख उनसठ हजार टन हैं। जापान के पास चार हजार चार सौ सत्तर टन थे, अब एक लाख पच्चीस हजार टन हैं। अब सबमेरीनों को लीजिये। १९१४ में ब्रिटेन के पास सैंतालिस हजार टन थे, अब एकसठ हजार टन हैं, फ्रांस के पास तैंतीस हजार टन थे, अब सत्तानबे हजार टन हैं, संयुक्त राज्य अमेरिका के पास सोलह हजार टन थे, अब सतहत्तर हजार टन हैं।

यह है योरोपीय निश्शस्त्रीकरण की प्रगति। जब कमी की यह प्रगति है, तो वृद्धि की क्या प्रगति होगी, इसका कौन अनुमान कर सकता है !

४ दिसम्बर १९३३

समाजवाद का आतंक

यह डिक्टेटरशिप का युग है। जनमतवाद के दिन लद गये। रूस, जर्मनी, इटली, आस्ट्रिया, स्पेन, ग़रज़ जहाँ देखो डिक्टेटरशिप का राज है ! जहाँ प्रत्यक्ष रूप से डिक्टेटरशिप नहीं है, वहाँ भी व्यवहारिक रूप से उसने दखल कर लिया है, जैसे अमेरिका। अब इंग्लैंड को भी खटका होने लगा है कि कहीं इस खिचड़ी शासन के बाद समाजवादी डिकटेटरशिप न खड़ी हो जाय। मगर इंग्लैंड-जैसे पूंजी-प्रधान देश में शायद ही ऐसी स्थिति पैदा हो सके। हाँ, यह हो सकता है कि फैसिस्ट डिक्टेटरशिप खड़ी हो जाय। कुछ भी हो, वहाँ अभी से उस सम्भाव्य स्थिति का सामना करने की तैयारियाँ होने लगी हैं। इंग्लैंड में फैसिज़्म के आने की देर है। फिर योरोप का सारा निश्शस्त्रीकरण गायब हो जायगा। हमें खुश होना चाहिए कि सुफ़ेद कागज का वाइसराय पक्का डिक्टेटर होगा, बिलकुल अपटुडेट।

१५ जनवरी १९३४

काशगर और मुस्लिम विप्लव

चीन के अंग-भंग का एक सामूहिक षड्यंत्र हो रहा है। और काशगर (चीनी तुर्किस्तान) की जंगली मुस्लिम-जातियों का विप्लव और उसके प्रति भारत के अर्ध-सरकारी (एंग्लो-इंडियन) पत्रों की सहानुभूति हमारे मन में एक विचित्र शंका उत्पन्न कर देती है। "डेली गजट" ने चीनी तुर्किस्तान में एक नयी मुस्लिम जाति तथा राष्ट्र की स्थापना पर हर्ष प्रकट किया है तथा इस प्रकार भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त करने या "दिलाने" की छिपी चेष्टा की है। इस नीति की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। हमें भारत में चीनी राजदूत के इस कथन पर पूरा विश्वास है कि इस विषय में प्राप्त समाचार अधूरे और अविश्वसनीय हैं। तथा चीन सरकार अपने अधिकार को जमाने की पूरी चेष्टा करेगी। चीन-सरकार की सफलता की हरेक सच्चा भारतीय कामना करेगा तथा यह चाहेगा कि कुछ जंगली हमारे पड़ोसी की हानि न करें। साथ ही इस विषय में रूटर के तारों पर अभी विश्वास न करेगा।

५ फरवरी १९३४

भावी महासमर तथा जापान

रूस के अधिनायक मोशिये स्टालिन की भावी महासमर के संबंध की ताज़ी विज्ञप्ति बड़ी रोचक, विचारपूर्ण तथा सूचनापूर्ण है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संसार की इस समय जैसी दशा हो रही है, उसे देखते हुए यह विज्ञप्ति सत्य से बहुत निकट प्रतीत होती है। वर्गवादी दल, काँग्रेस के सामने उन्होंने जो रिपोर्ट पेश की है, उसमें वे लिखते हैं, "पूँजीवादी देशों पर महासमर तथा बदला-वृत्त का भूत छाया हुआ है। चीन जापानी युद्ध, मंचूरिया में जापान की नीति, उत्तरी चीन की दिशा में जापान का बढ़ते जाना, जापान तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का नौसैनिक शस्त्रीकरण, ब्रिटेन और फ्रांस की सेना में बढ़ती, इससे अवस्था और भी खराब हो गयी है और पिछली बात का कारण प्रशान्त महासागर पर अधिकार करने के लिए ऊपरलिखित चारों शक्तियों की प्रतिस्पर्द्धा है।"

मोशिये स्टालिन ने जितनी बातें कही हैं वे नयी नहीं हैं, पर सभी मार्के की हैं। सचमुच भावी-समर का बहुत बड़ा कारण जापान की वर्तमान गृह-नीति है और हाल ही में जापानी पार्लमेंट के सामने जापानी परराष्ट्र-सचिव ने जो व्याख्यान दिया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जापान अपनी शान्ति-प्रियता की जितनी ही दुहाई देता है,

वह सब झोल है और वह अशान्ति की नीति का उतना ही प्रतिपादन करता है। चीन का अंगच्छेदकर, मंचूरिया को स्वतन्त्र बनाकर, उसमें अपना आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकार जमा लेना, कहीं शान्ति-प्रियता नहीं कही जायगी। चीन से अन्यायपूर्वक जेहोल छीन लेना शान्ति-प्रियता नहीं कही जायगी। सोवियट रूस की रेलवे-लाइन हड़प लेने की चेष्टा करना शान्ति-प्रियता नहीं कही जायगी और सबसे बड़ी बात यह है कि अब भी यह कहना कि "चूँकि चीन का भाव अमैत्रीपूर्ण है, अतएव जापान लाचार है" घोर नादानी है और यह सिद्ध कर देना है कि जले पर नमक छिड़कना भी दर्द को कम करना है। जापान ने चीन का क्या नहीं बिगाड़ा ? सोवियट की प्रगति रोकने की वह क्या चेष्टा नहीं कर रहा है ? अमेरिका उसकी उग्रता तथा प्रगति का किसी नैतिकता से नहीं, दार्शनिकता या दयालुता से नहीं, पर कोरे द्वेष के कारण विरोध करना चाहता है। प्रशान्त महासागर अमेरिका तथा जापान के बीच का समुद्र है। एक म्यान में दो तलवार, एक वन में दो सिंह, नहीं रह सकते। उधर ब्रिटेन के लिए भी भारत तथा आस्ट्रेलिया तथा अन्य उपनिवेशों के कारण प्रशान्त महासागर बड़ा महत्वपूर्ण है। वह सिंगापुर का जहाज़ी-अड्डा इसी हेतु से बनाता रहा है कि वक्त ज़रूरत काम आवे। अतएव ब्रिटेन के अभ्युदय से भयभीत फ्रांस को भी कुछ करना ही पड़ेगा। ऐसी दशा में, इतने उग्र स्वार्थों का संघर्ष तो होगा ही। अमेरिका से वैर लेकर, ब्रिटेन को प्रसन्न रखकर, अपना अस्तित्व बनाये रखने का जापान का पूरा प्रयास सफल नहीं हो सकता। एक न एक दिन भयंकर कलह खड़ा होगा और मोशिये स्टालिन का यह अनुमान सत्य है कि सारी ज़िम्मेदारी जापान की होगी।

५ फरवरी १९३४

मजूरदल का डिक्टेटरशिप से विरोध

डिक्टेटरशिप की कुछ चर्चा इंग्लैंड में भी होने लगी है, और एक दल ऐसा उठ खड़ा हुआ है, जो इंग्लैंड में भी डिक्टेटरशिप का समर्थक है, मगर मजूरदल ने एक सभा करके डिक्टेटरशिप का विरोध किया है और जनतंत्र में अपने विश्वास की घोषणा की है। डिक्टेटरशिप कोई बहुत अच्छी चीज़ नहीं है, यह सभी जानते हैं, मगर जब जनतंत्र केवल धनवानों और पूंजीपतियों के हाथ का खिलौना हो जाय, तो ऐसी दशा में स्वभावतः यह खयाल होता है कि इस ढोंग से क्या फायदा। रूस, जर्मनी, अमेरिका, स्पेन, आस्ट्रिया, इटली, टर्की आदि राष्ट्रों ने विवश होकर डिक्टेटरशिप की शरण ली, मगर इसमें अनेक दोष हैं। आज जो आदमी प्रजाहित का पुजारी है, संभव है कि कल वह स्वार्थ का पुजारी हो जाय, जिसकी मिसाल नेपोलियन है। फिर यह क्या खबर है

कि एक डिक्टेटर के बाद दूसरा डिक्टेटर किस ढंग का आदमी हो। हमारा विचार है कि धीरे-धीरे दुनिया फिर राज्य प्रथा की ओर आ रही है। हाँ, वह इससे कुछ उन्नत अवश्य होगी।

१२ फरवरी १९३४

रूस और जापान में तनाव

रूस और जापान में मनोमालिन्य तो पहले ही से था, अब ऐसा जान पड़ता है, बारूद में फलीता लगने की देर है। रूस का फ़ौजी देवता लाल-लाल आँखों से घूर रहा है, जापान केवल शब्दों में अपने पराक्रम का परिचय नहीं देना चाहता। वह अभी तक यही कहे जाता है कि हमें तो दादा चुप-चाप पड़ा रहने दो, हम किसी से रार मोल नहीं लेना चाहते। मगर तैयारियाँ दोनों ओर से हो रही हैं। जापान साम्राज्यवाद की धुन में मस्त है, सोवियट शासन का पड़ोस उसे खटक रहा है। चीन में कई प्रान्तों में सोवियट शासन स्थापित हो गया है, और जापान में भी भीतर ही भीतर आग सुलग रही है। जैसा एम ट्राट्स्की ने जापानी परिस्थिति का दिग्दर्शन करते हुए लिखा था, जापान ज्वालामुखी के मुख पर बैठा हुआ है, और उसका साम्राज्य सोवियट शासन के बगल में फल-फूल नहीं सकता। जापान इतना तो जानता है कि आज का रूस ज़ार के जमाने का रूस नहीं है, और इधर उसने चीन पर आघात कर के संसार की सहानुभूति भी खो दी है, पर रूस की गरज का उस पर कुछ असर होता नहीं मालूम होता। उधर अमेरिका भी जापान से बिगड़ बैठा है, और इधर रूस और जापान में संघर्ष हुआ, तो अमेरिका भी रूस का साथ देगा। जापान बलवान सही, पर दो महान शक्तियों के सामने वह टिक सकेगा, इसमें संदेह है। कहीं उसकी भी वही दशा न हो, जो १९१४ में जर्मनी की हुई। सभी बड़े राष्ट्र उसके दुश्मन हो गये। जापान भी कुछ उसी नीति पर चल रहा है और हमें आश्चर्य होगा अगर लड़ाई के अवसर पर वह रूस के साथ अमेरिका और दो-एक योरोपीय राष्ट्रों को भी अपने सामने खड़ा देखे। और क्या उस वक्त चीन अपना पुराना बैर न चुकावेगा? फिर पूर्व में जापान ही एक ऐसी शक्ति है, जो योरोप की बड़ी-बड़ी सलतनतों से बराबरी कर सकती है, और जिसकी व्यवसायिक उन्नति ने सारे संसार को चकित कर दिया है। पच्छिम उसके प्रभुत्व को मिटाने के लिए अपने भेदों को भूल जाय, तो आश्चर्य नहीं। जापान के लिए किसी तरफ़ से भी सहायता मिलने की सँभावना नहीं है। अगर खुदा न ख्वास्ता यह लड़ाई हुई, तो जापान को ऐसी क्षति पहुँचेगी कि वह बरसों तक न सँभल सकेगा। फायदा शायद यह हो

कि—एक साम्राज्यवादी शासन नष्ट होकर, उसकी जगह सोवियट-शासन स्थापित हो जाय।

१९ फ़रवरी १९१४

योरोप में लड़ाई के बादल

जर्मनी इस बात पर तुला है कि वह दूसरे राष्ट्रों की भाँति खूब अस्त्र-शस्त्र बढ़ायेगा। मौशियो मुसोलिनी उसकी पीठ ठोंक रहे हैं। फ्रांस और ब्रिटेन की साँस फूल रही है। जर्मनी यों माननेवाला नहीं। राष्ट्र संघ की उसे परवाह नहीं है। तो क्या फ्रांस और इंग्लैंड यों ही चुपचाप बैठे देखते रहेंगे? इधर भी ज़ोरों से तैयारियाँ हो रही हैं। बारूद तैयार है, केवल चिंगारी की देर है। पिछले महायुद्ध में न्याय मित्रराष्ट्रों के साथ था। अब की बार न्याय जर्मनी के साथ है।

१६ अप्रैल १९१४

अंग्रेजी फ़सिस्ट दल की नीति

ब्रिटेन में भी खुदा के फ़ज़ल से एक फ़ैसिस्ट-पार्टी क़ायम हो गयी है और जहाँ तक भारत का संबंध है, वह कंज़रवेटिव दल से भी आगे बढ़ी हुई है। उसके नेता साहब ने एक भाषण में फ़रमाया है—कैसा सुधार और कैसा सुफ़ेद काग़ज़ और कैसा डोमिनियन स्टेट्स और कैसा स्वराज्य! यह सब पागलों की बातें हैं! इंग्लैंड का काम है, तलवार के ज़ोर से भारत पर कयामत के दिन तक राज्य करना, वहाँ खूब धन जमा करना और चैन की बंसी बजाना! बिलकुल ठीक। ब्रिटेन का भारत के साथ वास्तव में यही धर्म है। भारत संसार में है ही इसलिए कि इंग्लैंड उस पर सवारी गाँठे। फ़ैसिज्म के आचार्य हर हिटलर भी एक बार भारत के विषय में अपनी कीमती राय जाहिर कर चुके हैं। कंज़रवेटिवों को अब भारत की ओर से निश्चिन्त हो जाना चाहिए। अंग्रेजी फ़ैसिस्ट पार्टी उसका होश ठीक करने के लिए बहुत काफ़ी है। चर्चिल साहब तो फूले न समाते होंगे। है यह फ़ैसिस्ट पट्ठा बड़े जीवट का। अभी घुटनियों के बल घिसट रहा है, खड़ा भी नहीं होने पाया; मगर बातें करता है ऐसी बढ़-बढ़कर! हम उसका यह जीवट तो तब देखते, जब आयरलैंड या कैनाडा या आस्ट्रेलिया के विषय में भी वह ऐसी बातें करता; मगर वहाँ उसकी दाल नहीं गलती। उनका नाम भी ले

तो गोशमाली कर दी जाय। भारत को चार खोटी-खरी सुना देना तो अंग्रेजी शिष्टता का एक अंग है। हिन्दुस्तान में किरंटे लौंडे भी हिन्दुस्तानियों की ओर जब देखते हैं, तो तिरछी आँखों से ही ; लेकिन अंग्रेज़ी फैसिज़्म के संस्थापक सर ओसवाल्ड को शायद जल्द मालूम हो जायगा कि फैसिज़्म स्थायी वस्तु नहीं है, वह कम्युनिज़्म के समीप आते-आते एक दिन उसी में विलीन हो जायगा।

१६ अप्रैल १९३४

रूस में भी पूँजीवाद

अभी समाचार पत्रों में खबर छपी है कि रूस कई अरब रूबल के तमस्सुक जारी कर रहा है। पूंजीवादी जातियों में आये दिन कर्ज लिये जाते हैं। पूँजीपति लोग रुपये लगाते हैं, सूद लेते और धन बटोरते हैं, मगर हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि रूस में भी फिर वही बीमारी फैल रही है। अगर पूँजीपति वहाँ नहीं हैं, तो इस लोन के लिए रुपये कौन देगा ? और कर्ज भी छोटा-मोटा नहीं है, अरबों का है। इससे तो यही मालूम होता है कि वहाँ अब भी पूँजीपतियों की संख्या काफ़ी है। विदेशी जातियाँ तो शायद ही रूस में रुपये लगाने पर तैयार हों। और अगर रूस बाहर की पूंजी अपने राज्य में लाना चाहता है, तो वह पूँजीवाद की सहायता कर रहा है। और यह उस पर पूँजीवाद की विजय है। हम समझ रहे थे कि कम से कम रूस एक ऐसा देश है, जिसने पूँजीवाद पर विजय पायी है और अपने देश में एक नयी समाज व्यवस्था कायम कर दी है, लेकिन मालूम होता है कि हम भ्रम में थे। इन्दौर की मासिक पत्रिका 'वीणा' के सम्मेलनांक में मान्यवर बाबू भगवानदास जी का एक लेख है, जिसे पढ़ कर यह मानना पड़ता है कि सोवियट रूस अभी तक भेदभाव और ऊँच-नीच के अन्तर को मिटा नहीं पाया। वहाँ अफसरों को बड़ी-बड़ी रकमें मिलती हैं, उनके रहने के लिए बड़े-बड़े महल दिये जाते हैं और वे भी जनता पर उसी तरह रोब जमाते हैं जैसे अन्य देशों में। इसमें सन्देह नहीं कि सोवियट ने भेद-भाव को कम कर दिया है, उसे मिटा नहीं सका।

लेकिन हमारा तो अनुमान है, कि यह खबर भी पूंजीवादी राष्ट्रों का रूस के खिलाफ प्रोपेगण्डा है। रूस अभी एक नयी सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में है। पुराने संस्कार कुछ न कुछ रहेंगे ही। बेशक प्रोलिटेरियट के हाथ में बहुत अधिकार है। मजदूरों और किसानों को विशेष अधिकार मिले हुए हैं, लेकिन यह पुरानी दशा की प्रक्रिया है, जब मजूरों और किसानों का कोई अधिकार ही न था। जिस तरह उस समय शिक्षित और धनी समाज मजूरों पर अन्याय करता था, उसी तरह मजूरों के हाथ में शक्ति आ गयी है, तो वे शिक्षित समाज के साथ भेद-भाव कर रहे हैं। जैसे तब मध्यम

वर्ग ने जमींदारियाँ, ओहदे, तिजारत और कारखाने अपने हाथ में कर लिये थे और जीवन के हरेक अंग पर मध्यमवर्ग की प्रभुता की छाप रहती थी, उसी तरह अब रूस के इन्तज़ाम, समाज, शिक्षा, साहित्य, विनोद, अर्थात् जीवन के हरेक अंग पर कम्युनिस्ट छाप है, मगर हमारा ख्याल है, यह वहाँ की स्थायी दशा नहीं है। सोवियट का आदर्श कम्युनिस्ट पार्टी या डिक्टेटरशिप नहीं है। यह तो इस अवस्था के लिए अस्थायी तौर पर बना लिये गये हैं। उसका आदर्श एक ऐसा साम्यवाद है, जिसमें आदमी स्वार्थ से नहीं, केवल समाज के हित के लिए बगैर किसी दबाव के जियेगा और मरेगा, जब सभी मनुष्य होंगे, ऊँच नीच या शासक और शासित का भेद भाव मिट जायगा।

२३ अप्रैल १९३४

हिटलर की तानाशाही

अभी-अभी, गत पक्ष में, हिटलर ने जर्मनी में जो भीषण हत्याकाण्ड किया, उससे वहाँ हाहाकार मच गया है। कहा जाता है कि लगभग दो सौ नाज़ी नेताओं को कत्ल कर दिया गया। जब कुछ समय पूर्व जर्मनी के प्रचार मंत्री हर गोबेल्स ने हर वॉन पापेन का भाषण प्रकाशित करने की मनाही कर दी थी, तभी यह ख्याल हो गया था कि नाज़ी-पक्ष के प्रधान मण्डल में बहुत शीघ्र कलह और विग्रह उत्पन्न हो जायगा और बहुत कुछ हो भी गया था, पर, जर्मनी के सर्वेसर्वा हर हिटलर ने अपने बुद्धि-कौशल और वाक्पटुता से उस समय उसे दूर कर दिया। किन्तु, उपर्युक्त घटना से यह साफ़ समझ में आ गया था कि नाज़ी दल में घोर मतभेद हो गया है और वह शीघ्र ही रंग लायेगा। और असल में हुआ भी वही। बर्लिन और म्युनिक के नाज़ी तूफ़ानी दल के लगभग दो सौ नेताओं को हर हिटलर ने हवाई जहाज से यात्रा करके स्वतः गिरफ्तार किया। बर्लिन के चान्सलर वॉन श्लीपर ने इस गिरफ्तारी पर आपत्ति की तो उन्हें गोली का निशाना बना दिया गया। उनकी स्त्री पति को बचाने के लिए बीच में आयीं, तो वह भी गोली का शिकार हो गयीं। गिरफ़्तार किये हुए नाज़ी नेताओं को अपने विचार प्रकट करने के लिए एक घण्टे का समय भी नहीं दिया गया। तुरन्त तलाशी ली गयी, जाँच की गयी और उनके प्राणान्त कर देने का हुक्म हो गया। वाइस चान्सलर हर वॉन पापेन को नज़रबन्द कर लिया गया। उनके घर की तलाशी ली गयी। उनके रहन-सहन पर नज़र रखी गयी। पर भेद की कोई बात न मालूम हुई और उन पर से प्रतिबन्ध उठा लिया गया।

इस नृशंस हत्याकाण्ड के विषय में यह कहा गया है, कि मृत कथित अपराधियों ने जर्मनी के वर्तमान शासन को उलट देने के लिए एक प्रकाण्ड षड्यन्त्र रचा था और

उसका इस प्रकार दमन न कर दिया जाता, तो देश पर घोर विपत्ति आ जाती। पर, इसके विषय में प्रमाण तो कोई नहीं दिया गया ! जब यह कहा जाता है कि दो सप्ताह पूर्व ही इस षड्यन्त्र के समाचार मिल गये थे तो यह प्रश्न सामने आ जाता है कि हत्याकाण्डवाले दिन तक भी वह समाचार प्रकाशित क्यों नहीं किया गया ? और क्यों ऐसा भयंकर, बर्बर, रोमांचकारी और घृणास्पद रक्तपात मचाया गया ? देश की रक्षा के नाम पर भी यह नारकीय कृत्य, हर हिटलर के माथे पर अपनी जघन्यता का कलंक लगा देता है।

और यह मान लिया जाय कि मृत नाज़ी नेताओं ने जर्मनी के वर्तमान शासन के खिलाफ़ षड्यन्त्र किया था, तो इससे यही प्रकट होता है कि जर्मनी की प्रजा का, या उनके अपने साथियों का ही एक बहुत बड़ा दल, उनका शासन मानने को तैयार नहीं है। लगभग पचीस लाख नाज़ियों में से तृतीयांश उनके शासन के खिलाफ़ हैं और वे कम्युनिस्ट या साम्यवादी विचार रखते हैं। यह भी कहा जाता है कि हर हिटलर ने शासनाधिकार प्राप्त करने के समय प्रजा और अधिकारी वर्ग के हित-साधन के लिए जो प्रतिज्ञा की थी वह पूरी नहीं की गयी, इससे भी लोगों में असंतोष फैल गया है। आरम्भ में स्टार्म ट्रुप्स या तूफानी-दल के नाम से जो नाज़ी सेना खड़ी की गयी थी, और जिसकी संख्या पच्चीस-तीस लाख है, आर्थिक मंदी के कारण उसके खर्च का निर्वाह नहीं हो रहा है और इसलिए हिटलर उसे चुपचाप तोड़ देना चाहता है। उसके इस कार्य में मृत नाज़ी नेता विघ्न-स्वरूप थे।

लन्दन के कुछ प्रतिष्ठित अखबारों ने यह भी छापा है कि हिटलर भूतपूर्व केसर को पुन: जर्मनी में लाकर राजतन्त्र स्थापित करना चाहता है और नाज़ीदल और उसके मृत नेता हिटलर के इस कार्य के विरोधी थे; इसीलिए उन्हें अपने मार्ग से यों क्रूरतापूर्वक हटा दिया गया। अभी-अभी जो मुसौलिनी-हिटलर सम्मेलन हुआ था, कहा जाता है कि उसमें मुसौलिनी ने हिटलर को पुन: जर्मनी में राजतन्त्र स्थापित करने की सलाह दी थी। अगर मुसौलिनी ने राजतन्त्र के लिए सलाह दी है, तो बुरा नहीं किया, वे भी तो इटली में वही राजतन्त्र स्थापित करके सर्वेसर्वा पद का सारा सुख लूट रहे हैं। पर राजनीतिज्ञों का यह खयाल है कि हिटलर ने अगर भूतपूर्व केसर को तख्त पर बैठाया, तो उसी के नहीं, सारे संसार के सुख-सौभाग्य पर वज्राघात हो जायगा।

हिटलर ने जर्मनी के पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली बनकर कुछ समय पूर्व यहूदियों पर जो अत्याचार किया था, उसी से उसकी ख्याति संसार में हो गयी और अब इस क्रूर कर्म ने तो विद्युत्-प्रकाश डालकर उसके हृदय का रग-रेशा तक साफ़ दिखला दिया है।

जुलाई १९३४

वॉन हिंडनबर्ग का स्वर्गवास

गत महायुद्ध के तेजस्वी नक्षत्र तथा जर्मनी के प्रतापी प्रसीडेण्ट मार्शल वॉन हिंडनबर्ग अब इस संसार में नहीं हैं। गत दो अगस्त को जर्मनी में उनका स्वर्गवास हो गया।

वॉन हिंडनबर्ग एक कुशल सेनापति तो थे ही, साथ ही साथ गम्भीर राजनीतिज्ञ भी थे। जितनी कुशलता के साथ उन्होंने एक सुयोग्य सेनापति के रूप में युद्ध का संचालन किया था, उतनी ही गम्भीरता और उत्कृष्टता के साथ अपने प्रसीडेण्ट पद को भी निभाया था। यही कारण है, कि गत महासमर में हारे जाने पर भी जर्मनी विजयी रहा। वॉन हिंडनबर्ग ने दूरदर्शिता से काम लेकर युद्ध बन्द कर दिया और ब्रसेल्स की सन्धि पर हस्ताक्षर करके मित्र राष्ट्रों के प्रबल संघर्ष से पस्त हो रहे स्वदेश को नष्ट होने से बचा लिया। गत महायुद्ध के दर्शक भली-भाँति जानते हैं, कि उस समय अगर युद्ध बन्द न हो जाता, तो जर्मनी में आज उठने की शक्ति न आती। इस तरह जर्मनी की वर्तमान जागृति तथा उसके शक्तिशाली राष्ट्र होने का श्रेय हिंडनबर्ग को है। जब जर्मनी-फ्रांस युद्ध का सूत्रपात हो गया था, तब रूस ने भी जर्मनी पर पूर्वीय सीमा से धावा बोल दिया था। यह जर्मनी के लिए महान् संकट का समय था। हिंडनबर्ग उस समय अवसर-प्राप्त पेंशनर थे। किन्तु, इन प्रबल शत्रुओं से मोर्चा लेना उन्हीं का काम था, क्योंकि सब सेनापति जवाब दे चुके थे। निदान हिंडनबर्ग के पास कैसर तथा अन्य देशभक्तों के तार आने लगे और देश की पुकार पर बूढ़े हिंडनबर्ग से न रहा गया। वृद्ध शरीर ने पुनः सेनापति पद को सँभाला। वृद्ध हिंडनबर्ग ने पूर्वीय सीमा का काफ़ी अच्छा भौगोलिक अध्ययन कर रक्खा था, उसके फलस्वरूप उन्होंने बड़ी कुशलता के साथ रूसी सेना को दलदल में फँसाकर पस्त कर दिया। छः लाख रूसी सेना को आत्म-समर्पण करना पड़ा। इस विजय ने भी अपने सच्चे सेवक का पूरा-पूरा सम्मान किया और ४ अप्रैल १९२५ को हिंडनबर्ग जर्मनी के प्रेसीडेंट बना दिये गये। सात वर्ष प्रेसीडेंट रहने के उपरान्त उनका कार्यकाल समाप्त हुआ, किन्तु हिंडनबर्ग पुनः खड़े हुए और कहा—अगर इस बार भी मैं चुना गया, तो देश की काफी सेवा करूँगा, अन्यथा जर्मनी को मुझसे यह कहने का हक़ न रहेगा कि मैं उसकी सेवा के लिए तैयार न था। इस चुनाव में हिटलर भी खड़े हुए थे, किन्तु जर्मनी हिंडनबर्ग को पहचानता था। उनके सामने कोई ठहर न सका। बहुमत उन्हीं के पक्ष में रहा और वह १९३३ में पुनः प्रेसीडेंट चुन लिये गये।

प्रेसीडेंट पद पर आसीत होने के पश्चात् वॉन हिंडनबर्ग ने जर्मनी की क्या-क्या सेवाएँ कीं, यह राजनीति के जानकारों से छिपा नहीं है। ब्रसेल्स की संधि को स्वीकार करने के पश्चात् प्रेसीडेंट होने पर हिंडनबर्ग ने प्रधान कार्य यह किया कि अपने देश की

अस्त-व्यस्त शक्ति का पुनर्गठन कर डाला और उसे शक्तिशाली राष्ट्र में परिणित कर दिया। नवशक्ति-प्राप्त जर्मनी अपने पैरों खड़ा हो गया और अपमान से भरी हुई ब्रसेल्स की संधि को ठुकरा दिया, हर्जाने का रुपया देने से इनकार कर दिया, मित्र राष्ट्रों में बँटे हुए अपने अंग को भी माँगा और वह एक स्वतन्त्र सिंह की तरह दहाड़ा भी। यदि इस समय का जर्मनी ब्रसेल्स की संधि से दबा हुआ जर्मनी होता, तो मित्रराष्ट्र उसे तुरन्त दबोच डालते, किन्तु अब तो वह शक्तिशाली जर्मनी था, हिंडनबर्ग ने उसे सम्मानित जीवन व्यतीत करने के योग्य बना दिया था, ऐसी अवस्था में वह कैसे दबता? किसी की हिम्मत न थी, जो उसको छेड़ करता। जर्मनी अब शक्तिशाली राष्ट्र है, अब उसमें बड़े से बड़े शत्रु को भी धूल में मिलाने की सामर्थ्य है। यह सब हिटलर का कार्य नहीं है, उसी वृद्ध हिंडनबर्ग का प्रताप है। उसी का सींचा हुआ यह पौदा विशालता धारण कर ऊँचा सिर किये तना हुआ है। इस प्रकार जर्मनी का नव-निर्माण करके सतासी वर्ष की अवस्था में वह बूढ़ा राष्ट्रपति सर्वदा के लिए मातृभूमि की गोद में सो गया और जर्मनी को शोक-सागर में डाल गया। वही एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने हिटलर को भी अपने पंजे में कर रक्खा था और उसके सामने हिटलर को दबना पड़ता था; किन्तु अब उसके अभाव में हिटलर की स्वेच्छाचारिता क्या करेगी, यह नहीं कहा जा सकता। हिटलर के अब तक के कामों को देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि जर्मनी का भविष्य उतना सुन्दर नहीं रहा, जितना कि हिंडनबर्ग के समय था।

हिंडनबर्ग के अवसान से न केवल जर्मनी की ही हानि हुई है; बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षति भी भारी हुई है। हिंडनबर्ग अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अच्छे जानकार थे। जिस राष्ट्र को ऐसे महा-पुरुषों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त होता है, वास्तव में वह राष्ट्र धन्य है। यद्यपि हिंडनबर्ग पंचतत्व को प्राप्त हो गये हैं, किन्तु वे अमर हो चुके हैं। उनका देशभक्ति का आदर्श, उनकी विजय-पताका फहराता रहेगा।

अगस्त १९३४

फ्रांस की तैयारी

कभी निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन की बैठकें होती हैं, कभी राष्ट्र संघ के अधिवेशन होते हैं और लच्छेदार भाषण में शान्ति की योजनाएँ तैयार की जाती हैं, किन्तु 'मुख में राम, बगल में छुरी' की वृत्ति के कारण सब टाँय-टाँय फिस हो जाती हैं। जब तक राष्ट्रों के हृदयों में मैल रहेगा, कपट और स्वार्थ के लिए गुंजाइश रहेगी, सच्ची सहानुभूति सच्चे प्रेम का अभाव रहेगा, मैत्री हो नहीं सकती। हृदय भिन्न और सशंकित रहेंगे। जब नीयत ही साफ़ नहीं है, तब हो ही क्या सकता है। राष्ट्र संघ और निःशस्त्रीकरण

सम्मेलन की बैठकें कुछ नहीं कर सकतीं। चाहे उनमें कितने ही महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हो जायँ, लेकिन उनका कोई मूल्य नहीं है। सब व्यर्थ है। यही कारण है कि सब राष्ट्र अपनी-अपनी डफ़ली बजा रहे हैं, मनमानी तैयारी कर रहे हैं। फ्रांस का समाचार है कि फ्रांस आजकल हवाई तैयारियों में ज़ोरों से लगा हुआ है। वह एक छः हज़ार फीट ऊँची टावर बनवायेगा, जिसके तीन प्लेटफार्म से लड़ाकू हवाई जहाज़ भेजे जायेंगे। उस टावर पर तीन सौ तोपें लगी रहेंगी, जो हर दिशा में गोले फेंक सकेंगी। एक तरफ यह हो रहा है और दूसरी तरफ शान्ति की दुहाई दी जा रही है। यह नियत के दिवालियेपन का प्रमाण है। इसमें सन्देह नहीं कि योरोप शान्ति की अपेक्षा सर्वनाश की तैयारी ज़ोरों से कर रहा है।

सितंबर १९३४

अमर कवि गेटे का अपमान

गेटे जर्मनी का ही अमर कवि नहीं, संसार के युग-प्रवर्तक कवियों में है और अभी तक जर्मनी ने उसे जन्म देने का गर्व किया है, पर अब नात्सी नीति में गेटे इसलिए सम्मान के योग्य नहीं रहा कि उसके विचार अन्तर्राष्ट्रीय थे और अब जर्मनी की संकुचित जातीयता में ऐसे महान स्रष्टाओं के लिए भी स्थान नहीं। जो जर्मनी अपनी संस्कृति और अपने ऊँचे दार्शनिक आदेशों के लिए विख्यात था, उसका आज यह पतन।

नवम्बर १९३५



हिन्दू-मुसलमान

मनुष्यता का अकाल

हिन्दू-मुस्लिम एकता के बारे में इस वक़्त मुसलमान क़ौम के बड़े लोगों ने बार-बार की उत्तेजना के बावजूद जो अच्छी रविश अख़्तियार की है, और जिस सूझ-बूझ और दूरंदेशी का सबूत दिया है उस पर हिन्दुओं को शर्मिन्दा होना चाहिए। अब तक उन्हें यह दावा था कि स्वराज्य के लिए हम जितनी क़ुर्बानियाँ कर सकते हैं, उतनी मुस्लिम सम्प्रदाय नहीं करता। वह हिन्दुस्तान में रहकर, हिन्दुस्तान का दाना-पानी खाकर अरब और अजम के सपने देखा करता है। उसे स्वराज्य की उतनी फ़िक्र नहीं है जितनी पैन-इसलाम की। एक बार जब मौलाना शौकत अली ने किसी ख़िलाफ़त के जलसे में कहा था कि अगर मुसलमान को किसी क़ौमी काम के लिए एक रुपया देना मंजूर हो, तो वह चौदह आने ख़िलाफ़त को दे और दो आने काँग्रेस को, इस क़ौल को हिन्दू अख़बारों ने बड़े निष्ठुर ढंग से बहुत ज़्यादा महत्व दिया और उसे अपनी बात का प्रमाण के रूप में पेश किया।

इस क़ौल का तक़ाज़ा तो यह था कि हिन्दू महाशय अपने दिल में लज्जित होते कि एक मुसलमान को जो अपना सब कुछ भारतमाता की नज़र कर चुका हो, इस तरह दोनों में भेद करने की ज़रूरत पड़ी क्योंकि जाहिर है कि अगर हिन्दुओं ने ख़िलाफ़त के मसले को महात्मा गाँधी की व्यापक दृष्टि से देखा होता तो मौलाना साहब को यह बात कहने का कोई मौक़ा ही न था। मगर सच्चाई यह है कि हिन्दुओं ने कभी ख़िलाफ़त का महत्व को ही नहीं समझा और न समझने की कोशिश की, बल्कि उसको संदेह की दृष्टि से देखते रहे। मगर अब जिसे न्याय की दृष्टि मिली हुई हो, वह चाहे तो देख सकता है कि वही व्यक्ति हिन्दू-मुस्लिम एकता को, जो दूसरे शब्दों में स्वराज्य है, कितना महत्वपूर्ण समझता है और उसके लिए कितनी बड़ी क़ुर्बानियाँ करने के लिए तैयार है। हिन्दू क़ौम कभी अपनी राजनीतिक उदारता के लिए मशहूर नहीं रही और इस मौक़े पर तो उसने जितनी संकीर्णता का परिचय दिया है, उससे मजबूरन इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि इस क़ौम का राजनीतिक दीवाला हो गया वर्ना कोई

वजह न थी कि सारी हिन्दू क़ौम सामूहिक रूप से कुछ थोड़े से उन्मादग्रस्त तथाकथित देशभक्तों की प्रेरणा से इस तरह पागल हो जाती। हम कहते हैं कि अगर हिन्दुओं में एक भी किचलू, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू-संगठन और शुद्धि की इतनी गर्मबाज़ारी न होती और इन हँगामों में काफ़ी कमी हो जाती जो इस वैमनस्य के कारण दिखायी पड़ते हैं। मगर अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि काँग्रेस ने भी समग्र रूप से इन आन्दोलनों से अलग-अलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा। इतना ही नहीं, एक भी ज़िम्मेदार काँग्रेस नेता ने ऐलान करके इन आन्दोलनों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द करने का साहस नहीं किया। पंडित मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहरलाल नेहरू, लाला भगवानदास, लाला-श्रीप्रकाश इन आदमियों में, जिनसे ज़्यादा नैतिक साहस से काम लेने की आशा की जा सकती थी, मगर इन सभी लोगों ने एक रोज़ अपने विरोध और अपनी आशंका को व्यक्त करके दूसरे रोज़ उसका खण्डन कर दिया और डंके की चोट पर यह कहा कि शुद्धि और संगठन के बारे में हमने जो ख़याल ज़ाहिर किया था वह ग़लतफ़हमियों पर आधारित था। जब ऐसे-ऐसे लोग दबाव में आ जायँ तो फिर इन्साफ़ की उम्मीद किससे की जाये। अगर मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली की तरह इन सज्जनों ने भी अपनी क़ौम को इन आन्दोलनों के हानिकर और सांघातिक परिणाम बतलाये होते और उसके ख़िलाफ़ बाक़ायदा व्यवस्थित ढंग से प्रयत्न करते तो यक़ीनन आज हिन्दू-मुस्लिम संबंध इतने खिंचे हुए न होते। मगर जो राजनीतिक दूरदर्शिता सदियों से ख़त्म हो चुकी हो उससे और क्या हो सकता है। एक स्त्री ने सारे योरोप को दाँतों तले उँगली दबाने पर मजबूर कर दिया। हिन्दुओं में ऐसे व्यक्ति पैदा करने के लिए अभी सदियाँ लगेंगी। आज कौन कौन हिन्दू है जो हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए जी-जान से काम कर रहा हो, जो उसे हिन्दोस्तान की सबसे महत्वपूर्ण समस्या समझता हो, जो स्वराज्य के लिए एकता को बुनियादी शर्त समझता हो। क़ौम का यह दर्द, यह टीस, यह तड़प आज हिन्दुओं में कहीं दिखायी नहीं देती। दस-पाँच हज़ार मलकानों को शुद्ध करके लोग फूले नहीं समाते, मानो अपने लक्ष्य पर पहुँच गये, अब स्वराज्य हासिल हो गया! हमें याद नहीं आता कि आज तक किसी हिन्दू ने वैसे पवित्र, ऊँचे, दैवी प्रेरणा के भाव व्यक्त किये हों जो इस रामलखन की जोड़ी ने जेल से निकलते ही रो-रो कर भीगी हुई आँखों से निकलती हुई दर्द की एक आवाज़ की तरह व्यक्त किये हैं। यह है वह राष्ट्रीय भावना जो राष्ट्रों के बेड़े पार करती है, उनकी नैया किनारे लगाती है। यह क़ौमी मेल-जोल और एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता का चमत्कार है। हमारे पास वह शब्द नहीं है जो उस कृतज्ञता को ज्ञापित कर सके, जो हर एक देशभक्त हिन्दू के दिल में इन आदरणीय व्यक्तियों के लिए उबल रहा है।

हमको यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि इन दोनों सम्प्रदायों में कशमकश

श्रौर सन्देह श्रौर घृणा की जड़ें इतिहास में हैं। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित। मुसलमानों की तरफ़ से हिन्दुओं पर अकसर ज़्यादतियाँ हुईं और यद्यपि हिन्दुओं ने मौक़ा हाथ आ जाने पर उनका जवाब देने में कोई कसर नहीं रखी, लेकिन कुल मिलाकर यह कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहों ने सख्त से सख्त जुल्म किये। हम यह भी मानते हैं कि मौजूदा हालात में अज़ान और क़ुर्बानी के मौक़ों पर मुसलमानों की तरफ़ से ज़्यादतियाँ होती हैं और दंगों में भी अक्सर मुसलमानों ही का पलड़ा भारी रहता हैं। ज़्यादातर मुसलमान अब भी 'मेरे दादा सुल्तान थे' नारे लगाता है और हिन्दुओं पर हावी रहने की कोशिश करता रहता है। तबलीग के मामले में ज़्यादती मुसलमानों ने की और हिन्दुओं की रोज़ ब रोज़ घटती हुई संख्या के कारण भी किसी हद तक वही हैं। मगर इन सारे कारणों और दलीलों और घटनाओं को नज़र के सामने रखते हुए हम यह कहना चाहते हैं कि हिन्दुओं को इससे कहीं ज़्यादा राजनीतिक सहिष्णुता से काम लेने की ज़रूरत है। इतिहास से उत्तराधिकार में मिली हुई अदावतें मुश्किल से मरती हैं, लेकिन मरती हैं, अमर नहीं होतीं। दुनिया के इतिहास में इसकी मिसालें न मिलती हों, ऐसी बात नहीं है और अगर न भी मिलती हों तो कोई वजह नहीं कि हम इसे तावीज़ की तरह अपने गले में लटकाये रहें। हिन्दुओं के त्योहारों और जुलूसों के मौक़े पर अक्सर मुसलमानों की तरफ़ से यह तक़ाज़ा होता है कि मसजिदों के सामने नमाज़ के मौक़े पर बाजा और शादियाने न बजाये जायँ। यह बहुत ही स्वाभाविक माँग है। शोर-गुल से निश्चय ही उपासना में विघ्न पड़ता है और अगर मुसलमान इस शोर-गुल को बन्द करने पर ज़ोर देते हैं तो हिन्दुओं को चाहिए कि वह उनकी दिलजोई करें। यह तो हिन्दुओं का उनके आग्रह के बिना भी, भगवान के प्रति सम्मान की दृष्टि से ही कर्तव्य है, न कि जब कोई उन्हें उनका कर्तव्य याद दिलाये तो उससे लड़ने के लिए तैयार हो जायँ। हिन्दू कहेंगे कि हमारे मन्दिरों के सामने से मुसलमानों के जुलूस भी बाजे बजाते न निकलें। ऊपरी दृष्टि से तो यह बात बिलकुल न्याय की मालूम होती है लेकिन व्यवहार में इसका यह परिणाम होना सम्भव है कि शहरों में बाजे क़तई बन्द कर दिये जायँ क्योंकि मन्दिरों की संख्या इतनी अधिक है कि किन्हीं-किन्हीं शहरों में तो हर एक घर के बाद मन्दिर दिखायी पड़ता है। फिर हिन्दुओं की सन्ध्या-हवन तो एकांत में होती है लेकिन देवताओं की पूजा अक्सर घंटे और घड़ियाल के साथ हुआ करती है। तो जब वह उपासना के लिए स्वयं भी मौन आवश्यक नहीं समझते तो किस मुँह से मुसलमानों से इस चीज़ की माँग कर सकते हैं। तो भी हम यह कह देना उचित समझते हैं कि जब उपासना एक ही परमात्मा की है और केवल उसके वाह्य रूप में भेद है तो हिन्दू लोग क्यों इसकी राह देखें कि जब मुसलमान हमारे धर्म का आदर करेंगे तो हम भी उनके धर्म का आदर करेंगे। अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है। इसके लिए किसी शर्त की ज़रूरत नहीं।

अच्छा काम करनेवाले को सब अच्छा कहते हैं। दुनियाबी मामलों में दबने से आबरू में बट्टा लगता है, दीन-धर्म के मामले में दबने से नहीं। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि हम किसी के धर्म का आदर करें और वह हमारे धर्म का अपमान करे। थोड़ी देर के लिए यह भी सुन लें। अगर मुसलमानों का आम ग़ैर-ज़िम्मेदार तबक़ा हमारे बाजों को मसजिदों के सामने बन्द होते देखकर तालियाँ बजायेगा और बड़ी शान के साथ कहेगा 'दब गये, दब गये' तो इतना सुन लेने में क्या बुराई है। निश्चय ही मुसलिम लीडरान इस हालत को ज़्यादा अर्से तक कायम न रहने देंगे। यह किसी मज़हब के लिए शान की बात नहीं है कि वह दूसरों की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाये। गोकशी के मामले में हिन्दुओं ने शुरू से अब तक एक अन्यायपूर्ण ढंग अख्तियार किया है। हमको अधिकार है कि जिस जानवर को चाहें पवित्र समझें लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को माननेवाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझें, ख़ामख़ाह दूसरों से सर टकराना है। गाय सारी दुनिया में खायी जाती है, इसके लिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के क़ाबिल समझेंगे? यह किसी खूं-खार मज़हब के लिए भी शान की बात नहीं हो सकती कि वह सारी दुनिया से दुश्मनी करना सिखाये, न कि हिन्दू जैसे दार्शनिक, व्यापक और सुसंस्कृत के लिए जिसका सबसे पवित्र सिद्धान्त हो 'अहिंसा परमो धर्मः'। अगर हिन्दुओं को अभी यह जानना बाक़ी है कि इन्सान किसी हैवान से कहीं ज़्यादा पवित्र प्राणी है, चाहे वह गोपाल की गाय हो या ईसा का गधा, तो उन्होंने अभी सभ्यता की वर्णमाला भी नहीं समझी। हिन्दुस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए गाय का होना एक वरदान है, मगर आर्थिक दृष्टि के अलावा उसका और कोई महत्व नहीं है। लेकिन गोरक्षा का सारे हो-हल्ले के बावजूद हिन्दुओं ने गोरक्षा का ऐसा कोई सामूहिक प्रयत्न नहीं किया जिससे उनके दावे का व्यावहारिक प्रमाण मिल सकता। गौरक्षिणी सभाएँ कायम करके धार्मिक झगड़े पैदा करना गो रक्षा नहीं है। इस सूबे में अधिकांश ज़मींदार हिन्दू हैं। उन्होंने गोचर ज़मीन का कोई इन्तज़ाम किया या जहाँ पहले से इन्तज़ाम था वहाँ उसे खत्म नहीं कर दिया? जिस मुल्क में तम्बाकू और चाय और नील और रबर की खेती के लिए काफ़ी ज़मीन हो वहाँ मौज़ों में गोचर का न होना आर्थिक खींच-तान की दलील हो सकती है, गोरक्षा की दलील हरगिज़ नहीं हो सकती। जब हम देखते हैं कि बैलों के लिए चारा मयस्सर नहीं तो गायों के लिए (वह भी जब बुड्ढी, मरियल, कमज़ोर हो जायँ) चारा इकट्ठा करने की दिक़्क़त का हाल किसी किसान से पूछिए। वह गायों को भूख से एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरने के बदले उन्हें कसाई के हवाले कर देना ज़्यादा अच्छा समझता है।

रहा तबलीग़ का मसला। इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं, क्योंकि हर मज़हब को इसका काफ़ी अख्तियार है बशर्ते कि उद्देश्य सच्चे अर्थों में धर्म का संस्कार और सिद्धान्तों का प्रचार हो। जब उसमें कोई राजनीतिक उद्देश्य छिपा होता है तो वह

फ़ौरन एक सियासी मामले की सूरत अख्तियार कर लेता है। दुर्भाग्य से वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि का साधन बना लिया गया है। उसकी हैसियत पागलपन की-सी हो गयी है जिसका वसूल है कि सब कुछ अपने लिए और दूसरों के लिए कुछ नहीं। जिस दिन यह आपस की होड़ और दूसरे से आगे बढ़ जाने का ख़याल धर्म से दूर हो जायगा, उस दिन धर्म-परिवर्तन पर किसी के कान न खड़े होंगे।

ग़रज़ कि जिन कारणों का ऊपर ज़िक्र हुआ उनमें एक भी ऐसा नहीं है जो हिन्दुओं के लिए 'हमारी जान खतरे में है' की हाँक लगाने को उचित ठहरा सके। इस खास मौक़े पर हिन्दू संगठन की पुकार ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को जो ठेस पहुँचायी है, उसका बुरा असर अगर दूर भी होगा तो बहुत दिनों में होगा। हिन्दू और मुसलमान न कभी दूध और चीनी थे, न होंगे और न होने चाहिए। दोनों की अलग-अलग सूरतें बनी रहनी चाहिए और बनी रहेंगी। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि उनके नेताओं में परस्पर सहिष्णुता और उत्सर्ग की भावना हो। आम तौर पर हमारे नेता वह सज्जन होते हैं जो अपने सम्प्रदाय की मुसीबतों और शिकायतों का हमेशा बहुत सरगर्मी से रोना रोया करते हैं। वह अपने सम्प्रदाय के लोगों की दृष्टि में लोकप्रिय बनने के लिए उसकी भावनाओं को उकसाते रहते हैं और समझौते के मुक़ाबिले में, जो उनके उस विलाप को बन्द कर देगा, झगड़े को क़ायम रखना ज़्यादा ज़रूरी समझते हैं। हिन्दुओं में इस वक़्त सहिष्णु नेताओं का अकाल है। हमारा नेता वह होना चाहिए जो गम्भीरता से समस्याओं पर विचार करे। मगर होता यह है कि उसकी जगह शोर मचानेवालों के हिस्से में आ जाती है जो अपनी ज़ोरदार आवाज़ से जनता की गंदी भावनाओं को उभाड़कर उन पर अपना अधिकार जमा लिया करते हैं। वह कौम को दरगुज़र करना नहीं सिखाता, लड़ना सिखाता है, उसका फ़ायदा इसी में है। कोई आदमी ऐसी उल्टी बुद्धि का नहीं हो सकता कि उसे इस नाज़ुक मौक़े पर दोनों सम्प्रदायों की आपसी खींच-तान के नतीजे न दिखायी दें और अगर है तो हमें उसकी नीयत में सन्देह है। इस संदेह की पुष्टि इस कारण से और भी होती है कि इस आन्दोलन के शुरू करनेवाले और कार्यकर्ता अधिकतर वह लोग हैं जो राजनीतिक मामलों में हिस्सा लेने से कावा काटते रहते हैं या उसमें हिस्सा लेते भी हैं तो आबरू बचाये हुए। वर्ना हिन्दू संगठन के बनारस में आयोजित जलसे में ज़मीदारों और राजाओं की इतनी बड़ी संख्या न दिखायी देती। जिधर देखिए राजे-महराजे और सेठ-महाजन ही नज़र आते थे। उनके पीछे चलनेवालों में अधिकतर वह लोग थे जिनका पुश्तैनी पेशा गुलामी है, जिन्हें शुरू से यह शिकायत है कि मुसलमान सरकारी नौकरियाँ हड़प कर जाते हैं और हमारा हाल पूछनेवाला कोई नहीं है, जिनके लिए एक मुसलमान सब-इंसपेक्टर या कुर्क अमीन की नियुक्ति चीन के इंकलाब या तुर्की की फ़तेह से ज़्यादा बड़ी घटना है।

हमारे रईसों ने जन-आन्दोलनों की तरफ़ अब तक जो रवैया अख्तियार किया है उसने उन्हें एक नापने का आला बना दिया है जिससे हुक्काम के हथकंडों का साफ़-साफ़ पता चलता है। हिन्दू-मुस्लिम एकता हुक्काम की नज़रों में काँटे की तरह खटकती थी इसलिए जब धनी-मानी लोग किसी ऐसे आन्दोलन का उत्साह से स्वागत करें जिससे एकता को नुकसान पहुँचने का यक़ीन हो तो ज़ाहिर है कि उनका उसमें शरीक होना उनके अपने मन की बात नहीं, बल्कि किसी की प्रेरणा से होनेवाली बात है। वर्ना जिन लोगों ने सख्त क़ानून पास करने में गवर्नमेण्ट का साथ दिया वह हिन्दू संगठन के जलसे में इस ज़ोर-शोर से हरगिज़ शरीक न होते। मगर यहाँ तो यक़ीन था कि हमारी कोशिशें ऊपरवालों की दुनिया में क़द्र की निगाहों से देखी जा रही हैं। तो फिर क्यों न हाथों से पुण्य लूटें, क़ौम रहे या मिटे, इसकी क्या फ़िक्र। यह एक सच्ची बात है कि हुक्काम ने भी हिन्दू संगठन के आन्दोलन से हमदर्दी दिखलायी। इसलिए रईसों का उसमें ज़ोर-शोर से बड़ी संख्या में शरीक होना ज़रूरी था। उनके योगदान पर खुशी ज़ाहिर करना घटनाओं से अपनी नादानी ज़ाहिर करना है।

इन धार्मिक आवेशों को भड़काने का इल्ज़ाम सबसे ज़्यादा कौंसिलों की माँग करनेवालों की गर्दनों पर है। चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान। कांग्रेस ने लिबरल नेताओं का पर्दाफ़ाश कर दिया था। रईस और ताल्लुक़ेदार भी जनता की नज़रों से गिर चुके थे। वह हज़रात जिन्होंने देशभक्ति के अपने तमाम दावों के बावजूद वकालत या सरकारी नौकरी न छोड़ी थी, पब्लिक की निगाहों में अपनी प्रतिष्ठा खो बैठे थे। इस बहुसंख्यक जमात के लिए अपनी खोयी हुई आबरू हासिल करने का, अपनी साख जमाने का, अपनी क़ौमेपरस्ती का सबूत देने का, और ऐसे मौक़े पर जब कौंसिलों का चुनाव पास था, इससे बेहतर और कौन मौक़ा हाथ आ सकता था? 'हिन्दू क़ौम खतरे में है' का नारा मारकर वह लोग हिन्दुओं के हितैषी बनना चाहते थे। मुसलिम जमात में भी उनकी तादाद कम न थी। धार्मिक पक्षपातों को भड़काना शुरू किया गया। राय साहब और खान साहब अपने गुप्त स्थानों से निकल पड़े और जनता की दोस्ती का दम भरने लगे। एक तरफ़ से आवाज आयी, हिन्दुओं को खिलाफ़त के आन्दोलन से सावधान रहना चाहिए क्योंकि यह उनकी हस्ती को मिटा देगा। दूसरी तरफ़ नारए तकबीर बुलंद हुआ, हिन्दू हम पर हावी होते जा रहे हैं, स्वराज्य से दूर रहना हमारा कर्तव्य है। कहीं किसी म्यूनिसिपैलिटी ने क़ानूनन् गौकुशी बन्द की। बावेला मच गया। शोर मचानेवालों की कमी न थी। जेल जाना था, तब शान्तिपूर्वक अपने-अपने कोनों में दुबके बैठे थे। अब जेल का डर नहीं, इज्ज़त बढ़ने की उम्मीद थी। फिर क्यों चुप रहें। सवाल-जवाब शुरू हुआ। रोज़ ब रोज़ लहजा सख्त होता गया। इधर 'लीडर' था तो उधर ढेरों उर्दू अखबार ऐंग्लो-इंडियन अफ़सरों के निर्देशानुसार मैदान में आ खड़े हुए। युद्ध की घोषणा हो गयी। जो इस हँगामे को ठंडा कर सकते थे वह जेल में थे।

उनकी जगह लिबरल हज़रात ने ली। नतीजा जो कुछ हुआ, ज़ाहिर है। वह क़ौम के दोस्त साबित हो गये। सरकार से भी वाहवाही मिली। फूट का बीज बोया गया; कांग्रेस की जड़ खोदने के लिए। उसकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिलाने के लिए। उसे पब्लिक की नज़रों में ज़लील करने के लिए। और चूँकि कांग्रेस का एक हिस्सा खुद ही लिबरल सज्जनों के से स्वार्थवाला था, उसने भी इस चिनगारी को भड़काया कि कहीं हम अपना भरम न खो बैठें। कांग्रेस के लीडरों ने भी अपराधियों जैसे मौन से काम लिया। यह है उस खींचतान का भेद जो इस वक्त क़ौम का सबसे नाजुक मसला बना हुआ है। यह सारी आग लगाने की कोशिशें या तो महज़ कौंसिलों में वोट हासिल करने के लिए की गयीं या सरकार को खुश करने के लिए। बस। लेकिन इसका असर लक्ष्य-सिद्धि के बाद बरसों तक क़ायम रहेगा। सितम यह है कि अब भी हिन्दू क़ौम के अलमबरदार एकता के महत्व को समझने में असमर्थ हैं। चुनांचे कौंसिलों में जानेवालों की कमी नहीं है, हिन्दू संगठन को ताक़त पहुँचानेवालों की कमी नहीं है, ऐतिहासिक विद्वेषों के मुर्दे उखाड़नेवालों की कमी नहीं है—कमी है तो एकता के लिए अपने को समर्पित कर देनेवालों की, एकता के लिए मिट जानेवालों की। मुसलमानों में अली बरादरान, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, डाक्टर किचलू एकता के लिए अपने को समर्पित कर चुके हैं। हिन्दुओं में यह क़तार खाली है। कितने शर्म की बात है कि जिस एकता को महात्मा गांधी ने स्वराज्य की पहली सीढ़ी क़रार दिया हो उसके लिए एक प्रभावशाली हिन्दू बुज़ुर्ग पूरी तरह तैयार नहीं हैं। अगर यही रफ्तार है तो स्वराज्य मिल चुका, और अगर हलवाई की दूकान पर दादे का फ़ातिहा पढ़ा जाना मुमकिन हो तो हमें स्वराज्य के नाम पर फ़ातिहा पढ़ लेना चाहिए।

ज़माना, फरवरी १९२४

कर्बला

मित्रवर श्रीयुक्त रामचन्द्र टण्डन ने मेरे 'कर्बला' नामी ड्रामा की आलोचना करते हुए यह शंका प्रकट की है कि इस नाटक में हिन्दू पात्र क्यों लाये गये। उनका कथन है—'हिन्दू पात्रों के समावेश से न हिन्दुओं को प्रसन्नता होगी, न मुसलमानों को तुष्टि, इसलिए हिन्दू पात्र न लाये जाते तो कोई हानि न होती।' यह ड्रामा ऐतिहासिक है, और इतिहास से यह पता चलता है कि कर्बला के संग्राम में कुछ हिन्दू योद्धाओं ने भी हज़रात हुसैन का पक्ष लेकर प्राणोत्सर्ग किये थे, अतः उन पात्रों का बहिष्कार करना किसी भाँति युक्तिसंगत न होता। रही यह बात कि उनके समावेश से हिन्दू और मुसलमान, दो में से एक को भी प्रसन्नता न होगी, इसके लिए लेखक क्यों कुसूरवार ठहराया जाय? आज हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में वैमनस्य है, इसलिए संभव है कि

ऐसे मिश्रित दृश्य रुचिकर न हों, लेकिन ज़रा ग़ौर से देखिए, तो इस दृश्य में ऐसी कोई बात नहीं है, जिस पर किसी हिन्दू या मुसलमान को आपत्ति हो। हिन्दू जाति यदि अपने पुरुखाओं को किसी धर्म-संग्राम में आत्मोत्सर्ग करते हुए देखकर प्रसन्न न हो तो सिवाय इसके और क्या कहा जा सकता है कि हममें वीर-पूजा की भावना भी नहीं रही, जो किसी जाति के अध:पतन का अंतिम लक्षण है। जब तक हम अर्जुन, प्रताप, शिवाजी आदि वीरों की पूजा और उनकी कीर्ति पर गर्व करते हैं तब तक हमारे पुनरुद्धार की कुछ आशा हो सकती है। जिस दिन हम इतने जातिगौरय-शुन्य हो जायेंगे कि अपने पूर्वजों की अमरकीर्ति पर आपत्ति करने लगें, उस दिन हमारे लिए कोई आशा न रहेगी। हम तो उस चित्तवृति की कल्पना करने में भी असमर्थ हैं जो हमारे अतीत गौरव की ओर इतनी उदासीन हो। हमारा तो अनुमान है कि हिन्दू इच्छा न रहने पर भी इस बात से प्रसन्न होंगे और उस पर गर्व करेंगे। हाँ, मुसलमानों की तुष्टि के विषय में हम निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कह सकते। लेकिन चूंकि मुसलमान लेखकों ने यह अन्वेषण किया है और उन्हीं के आधार पर हमने हिन्दू पात्रों का समावेश किया है इसलिए इस विषय में शंका करने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि मुसलमान तुष्ट होंगे। यदि मुसलमानों को एक महान् संकट में आर्यों से सहायता पाने पर खेद होता तो वह इसका उल्लेख ही क्यों करते। आजकल की समुन्नत जातियाँ भी संकट के अवसर पर दी गयी सहायता का एहसान मानने में अपमान नहीं समझतीं। फिर कोई कारण नहीं कि मुसलमान क्यों आर्यों की प्राणपण से दी गयी सहायता का अनादर करें। हाँ, यदि हिन्दू लोग आज उस एहसान के बल पर मुसलमानों के सामने शेखी बघारने लगें तो संभव है, मुसलमानों के मन में कृतज्ञता की जगह द्वेष का भाव उत्पन्न हो जाय और वे उस घटना को भूल जाने की चेष्टा करने लगें।

समालोचक महोदय को दूसरी शंका यह हुई है कि यदि आर्यों का अरब में जाकर बसना मान लिया जाय तो यह क्योंकर हो सकता है कि महाभारत काल से हुसैन के समय तक वे लोग अपने धार्मिक आचार-विचार की रक्षा कर सके, कैसे मन्दिर बनवा सके, कैसे रियासत बना सके? अतएव उनकी वेश-भूषा तथा भाषा भी अरबों ही से मिलनी चाहिए थी। अरब जैसी मूर्ति विध्वंसक जाति के बीच में रहकर वे कैसे अपनी जातीयता का पालन कर सके?

हमारे मित्र को मालूम होगा कि महाभारत काल में अरब या ईरान आर्यों के लिए कोई अपरिचित स्थान न थे। परस्पर गमनागमन होता रहता था। उस समय मुसलमान धर्म का जन्म न हुआ था और अरब जाति मूर्तिपूजा में रत थी। एक नहीं, अनेक देवता की पूजा होती थी। बहुत संभव है उनकी वेश-भूषा भी आर्यों से मिलती-जुलती रही हो। सिदियन, हूण, कुशन आदि जातियाँ उत्तर-पश्चिम से आकर आर्यों में सम्मिलित हो गयीं। इससे प्रकट होता है कि उस समय उनमें और आर्यों में विशेष

सादृश्य था। कम से कम यह अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत काल में प्रतिमा-पूजा का प्रसार न हुआ था और इसका कोई प्रमाण नहीं कि आर्यों और अरबों में उतनी विभिन्नता न थी जितनी इस समय है। हुसैन के समय तक मुसलमान धर्म का प्रादुर्भाव हुए पचास वर्ष से अधिक न हुए थे। उस वक्त तक ईरान भी पूर्णरीति से मुसलमान सेनाओं के सामने परास्त न हुआ था। जब हम जानते हैं कि अश्वत्थामा के अरब निवासी वंशज मूर्तिपूजक थे तो मुसलमानों को उनसे ख्वामख्वाह लड़ने का क्या कारण हो सकता था? ऐसी दशा में यदि वे आर्य अपने आचरण का पालन कर सके तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उनका नामकरण हमने नहीं किया। हमने उनके वही नाम लिख दिये हैं, जो हमें इतिहास में मिले। यह इस बात की एक और दलील है कि इतना ज़माना गुज़रने पर भी वे आर्य वीर अपनी वंश परम्परा को भूले न थे। जब हम देखते हैं कि पारसी जाति शताब्दियाँ से भारतवर्ष में रहने पर भी अपने धर्म और आचरण को निभाती चली जाती है तो आर्यों के विषय में ऐसी शंका करना सर्वथा निर्मूल है।

माधुरी, १ जनवरी १९२५

उर्दू में फ़िरऔनियत[1]

मिस्टर नियाज़ फ़तेहपूरी उर्दू के एक प्रतिष्ठित पत्रकार हैं यानी उनमें इस तरह लिखने की जन्मजात प्रतिभा है कि पढ़नेवाले भड़क जायँ। इतना ही नहीं, उनमें देश-भक्ति के तमाम दावों के बावजूद हद दर्जे की साम्प्रदायिक भावनाओं और विचारों को प्रकट करने का आश्चर्यजनक साहस भी है। जिस व्यक्ति में यह दोनों तत्व एकत्र हो जायँ उसके सफल पत्रकार होने में संदेह की गुंजाइश नहीं। उधर सरकार भी खुश, खरीदार भी खुश और समझदार लोग हैरत से दाँतों तले उँगली दबाये हुए। इन महाशय ने उर्दू दुनिया में एक लेखन-शैली का आविष्कार किया जिसे उलझी हुई शैली कह सकते हैं और शुरू में 'रक्क़ासा' और 'मुग़लिया' और 'क्यूपिड' और इसी तरह के दूसरे मौलवियाना विषयों पर लिखते रहे। आप आजकल इनसाइक्लोपीडिया या दूसरी पत्रिकाओं में गम्भीर लेखों का अनुवाद, उनका हवाला दिये बग़ैर, किया करते हैं और इस खयाल से उनकी गिनती विद्वानों में की जा सकती है। आप रूढ़ियों के तोड़नेवाले हैं और मौलवियों के सुधार के प्रबल पोषक। समय-समय पर आप अपने स्वतंत्र चिन्तन को प्रकाशित करने के लिए धार्मिक मान्यताओं और नैतिक समस्याओं पर चोटें किया

---

१ मिस्र के बादशाह 'फ़िरौन' से, जिसने घमण्ड के मारे खुदाई का दावा किया था और जिसे हज़रत मूसा के शाप ने समाप्त किया।

करते हैं जिससे मित्र-मंडली में अच्छी चहल-पहल हो जाया करती है। शायद इसी वजह से कोई आपकी आपत्तियों का उत्तर देने की ज़रूरत नहीं समझता। आप पिछले तीन सालों तक हिन्दुस्तानी एकेडेमी के एक विशिष्ट सदस्य रहे मगर नये चुनाव में किसी कारण से न आ सके। यह तो उनके एकेडेमी पर गुस्सा होने का कोई कारण नहीं हो सकता क्योंकि खुदा के फ़ज़ल से आप इतने तंगदिल नहीं हैं मगर शायद आपकी अनुपस्थिति में एकेडेमी ने सरासर नियमों का उल्लंघन और साम्प्रदायिक भावना को बल देना शुरू कर दिया है और इसीलिए आपका आज़ाद कलम इधर दो-तीन महीनों से एकेडेमी की बखिया उधेड़ने में लगा हुआ है। हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी का जन्म उर्दू-हिन्दी दोनों भाषाओं को सशक्त और उन्नति करने के लिए हुआ और दोनों ही भाषाओं के कुछ विशिष्ट लोग उसके सदस्य बनाये गये। हिन्दी के विभाग में किसी मुसलमान लेखक को नामज़द नहीं किया गया क्योंकि इस सूबे में हिन्दी का कोई मुसलमान लेखक नहीं है। उर्दू विभाग में दो-एक हिन्दू भी नामज़द कर दिये गये इसलिए कि हज़रत नियाज़ चाहे उनके अस्तित्व से इनकार करें पर उर्दू में हिन्दुओं की एक अच्छी-खासी संख्या है। एकेडेमी चूँकि एक साहित्यिक संस्था है जहाँ उसने तत्व चिन्तन, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति की ओर ध्यान दिया वहाँ साहित्य की भी उपेक्षा नहीं की और अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध नाटककार के कुछ नाटकों को दोनों भाषाओं में प्रकाशित करने का निश्चय किया। हिन्दी अनुवाद मुझको सौंपा गया, उर्दू अनुवाद मुंशी दया नरायन साहब निगम एडिटर 'ज़माना' और मुंशी जगत मोहन लाल साहब 'खाँ' को। हज़रत नियाज़ उस वक्त एकेडेमी के मेम्बर थे। मगर तब उन्होंने इन प्रस्तावों के विरोध में ज़बान खोलना किसी वजह से ठीक नहीं समझा। अब आपको यह आपत्ति है कि अँग्रेज़ी नाटकों का अनुवाद क्यों किया गया और क्या इसके लिए मुसलमान लेखक न मिल सकते थे। आपके खयाल में कोई हिन्दू उर्दू लिख ही नहीं सकता चाहे वह सारी उम्र इसकी साधना करता रहे और मुसलमान जन्म से ही उर्दू लिखना जानता है यानी उर्दू लिखने की योग्यता वह माँ के पेट से लेकर आता है! यह दावा इतना ग़लत, पोच, लचर और बेवकूफ़ी से भरा हुआ है कि इसके जवाब की ज़रूरत नहीं। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि जिस ज़बान के साहित्यकार इतने तंग-नज़र, अपने घमंड में फूले हुए हों उसका खुदा ही मालिक है। मुसलमानों पर यह आम एतराज है कि उन्होंने हिन्दू शायरों और लिखनेवालों का कभी सम्मान नहीं किया। यहाँ तक कि नसीम और सरशार भी उर्दू के बड़े लिखनेवालों के दायरे से बाहर कर दिये गये मगर ऐसी ढिठाई की हिम्मत आज तक किसी ने न की थी। उसका सेहरा मिस्टर नियाज़ के सर है। मैं यह मानने को तैयार हूँ कि उर्दू ज़बान पर निसबतन् मुसलमानों के एहसान ज़्यादा हैं लेकिन यह नहीं मान सकता कि हिन्दुओं ने उर्दू कुछ किया ही नहीं। आज करोड़ों हिन्दू उर्दू पढ़ते हैं, लाखों लिखते हैं, हज़ारों इसी ज़बान

में साहित्य-रचना करते हैं चाहे कविता में, चाहे गद्य में, और उर्दू की हस्ती हिन्दुओं के सहयोग से क़ायम है। पंजाब के मुसलमान पंजाबी लिखते और बोलते हैं, बंगाल के मुसलमान बंगाली, सिन्ध के सिन्धी, गुजरात के गुजराती, मद्रास के तामिल। उर्दू बोलने-वाले हिन्दू या मुसलमान ज्यादातर इस सूबे में हैं। कुछ पंजाब और हैदराबाद में। अगर इस बात की छानबीन का कोई सही तरीक़ा हो कि कितने हिन्दू उर्दू बोलते हैं और कितने मुसलमान तो मेरे ख़याल में दोनों की तादाद में बहुत ज्यादा फ़र्क़ न नज़र आयेगा। यह दूसरी बात है कि हज़रत नियाज़ हिन्दुओं की उर्दू को उर्दू ही न कहें। इसी तरह हिन्दू भी मुसलमानों की उर्दू को उर्दू न समझें तो उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। अगर मुसलमान उर्दू में अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ ठूँस-ठूँस कर उसे इस्लामी रंग देना चाहता है तो हिन्दू भी उसमें हिन्दी और भाषा के शब्द दाखिल करके उसे हिन्दू रंग देने का इच्छुक हो सकता है। उर्दू न मुसलमान की बपौती है न हिन्दू की। उसके लिखने और पढ़ने का हक़ दोनों को हासिल है। हिन्दुओं का उस पर हक़ पहला है क्योंकि वह हिन्दी की एक शाखा है, हिन्दी पानी और मिट्टी से उसकी रचना हुई है और सिर्फ़ कुछ थोड़े से अरबी और फ़ारसी शब्दों के दाखिल कर देने से उसकी असलियत नहीं बदल सकती, उसी तरह जैसे पहनावा बदलने से राष्ट्रीयता या जाति नहीं बदल सकती। हज़रत नियाज़ चाहे जितनी ही आँखें लाल-पीली करें मगर हिन्दू उर्दू पर अपने हक़ से अपना हाथ नहीं खींच सकता और न वह उसे अपने ढंग पर लिखने ही से बाज़ आ सकता है उसी तरह जैसे मुसलमान उसे अपने ढंग पर लिखने से बाज़ नहीं आते। हिन्दू उर्दू का खून कर रहे हैं। उसी तरह हिन्दू भी कह सकता है मुसलमान उर्दू के गले पर कुन्द छुरी फेर रहे हैं। बटवारा इसी तरह हो सकता है कि मुसलमान लिखें, मुसलमान पढ़ने वालों के लिए, हिन्दू लिखेगा हिन्दू पढ़नेवालों के लिए, मगर यह नहीं हो सकता कि हिन्दू उर्दू लिखने-पढ़ने से बिल्कुल किनारा कश हो जायँ और मुसलमानों की लिखी हुई किताबें पढ़ कर अपना संतोष कर लें। वह इस गौण स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं और हर आन्दोलन जो उर्दू ज़बान की तरक़्क़ी के लिए अमल में आये उसमें हिन्दू अपनी हैसियत से शरीक होने का हक़ रखते हैं और मुझे यक़ीन है कि हज़रत नियाज़ जैसे तंग-नज़र लोगों को छोड़कर ऐसे मुसलमान बहुत कम होंगे जो हिन्दुओं के इस हक़ से इन्कार कर सकें। एकेडेमी की जिस सब-कमेटी पर उर्दू अनुवादकों का चुनाव करने का दायित्व है उसमें काफ़ी तादाद मुसलमान साहबान की है। अगर वह लोग हिन्दुओं को इस हद तक नालायक नहीं समझते, जितना हज़रत नियाज़ समझते हैं और कुछ हिन्दू लेखकों की पिछली सेवाओं या साहित्यिक रुचि का सम्मान करना उन्हें उचित मालूम होता है तो किसी को शिकायत का मौक़ा न होना चाहिए। मिस्टर निगम ने उर्दू की जो खिदमतें की हैं उनसे इन्कार करना साहित्य के प्रति ऐसी निर्लज्ज कृतघ्नता है जो हज़रत नियाज़ से ही मुमकिन है। कौन अंदाज़ा कर सकता है कि मिस्टर निगम ने 'ज़माना' के प्रकाशन में कितने नुक़सान

उठाये हैं। उस पर खानदानी जायदाद ही नहीं लुटा दी बल्कि अपनी ज़िन्दगी भी उसको भेंट कर दी और आज एक तंगदिल अख़बारनवीस को यह कहने की हिम्मत होती है कि पच्चीस साल की इस साहित्यिक सेवा का कुछ मूल्य ही नहीं। हज़रत खाँ उर्दू के सिद्धहस्त कवि हैं। उनकी कविता के शायद हज़रत नियाज़ भी क़द्रदाँ हों मगर आपकी क़द्रदानी ज़्यादा से ज़्यादा ज़बानी जमाख़र्च तक जा सकती है। रुपये पैसे का मौक़ा आते ही वह कद्रदानी उड़नछू होने लग जाती है। मैं हज़रत नियाज़ को बड़ी ईमानदारी से मशविरा दूँगा कि वह एकेडेमी के सदस्यों का चुनाव भाषा के आधार पर नहीं संप्रदाय के आधार पर करवायें। उस वक़्त अगर कोई हिन्दू अनधिकार हस्तक्षेप करे तो उसके पीछे लट्ठ लेकर दौड़ें। लेकिन जब तक चुनाव भाषा के आधार पर है, और हिन्दू भी उर्दू लिखते हैं, उस वक़्त तक वह हिन्दुओं को अमली क़द्रदानी के दायरे से बाहर नहीं रख सकते। मगर यह याद रहे कि संप्रदाय के आधार पर हद से हद एक तिहाई से ज़्यादा रक़म उर्दू के हाथ नहीं पड़ सकती। इस तिहाई में ऐतिहासिक महत्व और आन-बान सब कुछ शामिल है।

यहाँ तो हिन्दू लेखकों के साथ यह क़द्रदानी दिखायी जाती है उधर हिन्दुओं को हिन्दी के मुसलमान कवियों से कितना सच्चा प्रेम है! रहीम और जायसी आदि की कविता के नये-नये संस्करण प्रकाशित होते रहते हैं। उन्हें इतने ही शौक़ से पढ़ा जाता है जैसे सूर या तुलसी को। पाठ्यक्रम में उसे हिन्दू कवियों के साथ-साथ जगह दी जाती है, हिन्दू या मुसलमान होने का किसी को ख़याल ही नहीं आता। उर्दू के किसी हिन्दू शायर का कलाम किसी मुसलमान ने संग्रह किया हो इसकी मुझे कोई मिसाल नहीं मिलती। हाल में हज़रत असग़र ने 'यादगारे नसीम' का संकलन किया है जिसका भुगतान उन्हें करना पड़ रहा है! इस साहित्यिक संकीर्णता और द्वेष की भी कोई सीमा है।

ज़माना, दिसम्बर १९३०

नवयुग

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य के प्रकोप से नवयुग का आरम्भ हो रहा है, उसी भाँति जैसे नववर्ष का प्रारम्भ होलिका के प्रचण्ड अग्निकाण्ड से होता है। एक तरफ काँग्रेस की वर्किंग कमेटी प्रयाग में बैठी हुई गोलमेज़ परिषद् की शर्तों पर विचार कर रही थी, दूसरी ओर काशी में विद्रोह की आग धधक रही थी। और ठीक उस समय जब काँग्रेस समझौते की स्वीकृति पर फैसला सुनाने जा रही थी, कानपुर में भीषण हत्याकाण्ड आरम्भ हो गया। काशी की अपेक्षा कानपुर का दंगा कहीं अधिक भीषण और प्रलयंकारी था। अभी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस हत्याकाण्ड से राष्ट्र

को कितनी क्षति पहुँची पर इसमें सन्देह नहीं कि हानि इतनी अधिक हुई है जो वर्षों में पूरी न होगी। एक सप्ताह तक कानपुर में अराजकता का पूरा आधिपत्य रहा। सरकार अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उसका दमन न कर सकी। बुद्धि यह मानने को तैयार नहीं होती कि जो सरकार राजनीतिक आन्दोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियाँ चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गयी कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गयी और वह कुछ न कर सकी! क्या खुफ़िया पुलिस केवल राजनीतिक प्रगति की जाँच करने के लिए ही है? उसे जनता में आन्दोलित होनेवाली भावनाओं का पहले से क्यों ज्ञान नहीं होता? क्यों उसके कर्मचारी बारूद पर सोये रहते हैं और जब तक धड़ाका नहीं हो जाता उन्हें खबर नहीं होती? सम्भव है सरकार की इस दलील में कुछ सत्य हो कि वह दंगे को दबाने के लिए काफी शक्ति न रखती थी; पर साधारण बुद्धि जिस नतीजे पर पहुँची है वह यह है कि सरकारी कर्मचारियों ने जान-बूझकर केवल यह दिखाने के लिए कि बगैर सरकारी सहायता के तुम लोग कुछ नहीं कर सकते, यहाँ तक कि शान्तिपूर्वक रह भी नहीं सकते और तुम्हें एक दूसरे को फाड़ खाने से बचाने के लिए एक तीसरी बलवान शक्ति का रहना अनिवार्य है, इस हत्याकाण्ड को रोकने की कोशिश नहीं की। उनका यह अभिप्राय पूरा हुआ या नहीं, हम नहीं कह सकते लेकिन इतना हम कह सकते हैं कि सरकार का जो कुछ रहा-सहा विश्वास था वह भी जनता के दिलों से उठ गया। जन साधारण को ऐसे काण्डों को रोकने का एक ही उपाय सूझता है और वह उत्तरदायित्वपूर्ण विधान है। यदि सरकार को भय होता कि ऐसी दुर्घटना उसे जड़ से उखाड़ देगी, उसके विरुद्ध ऐसा वातावरण पैदा हो जायगा जिसमें उसकी सत्ता ही बाधा में पड़ जायगी तो वह यों तटस्थ न रहती। एक मास के अन्दर काशी, मिर्ज़ापुर, आगरा आदि स्थानों में जातिगत वैमनस्य का इतना भयंकर रूप धारण कर लेना अगर हमें कोई शिक्षा देता है तो वह यह है कि मुस्लिम भाइयों को अपने साथ न ले चलने में हमने भूल की। यह सत्य है कि हमने उनकी सहायता के लिए सदैव हाथ फैलाये रखा, सदैव उनकी सहानुभूति की याचना करते रहे, लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि बगैर आपस में कोई समझौता किये हुए सत्याग्रह आन्दोलन का सूत्रपात कर देना हमारे मुस्लिम भाइयों को अप्रिय ही नहीं लगा, उसमें कुछ सन्देह भी उत्पन्न किया। शायद आन्दोलन की सफलता ने उन्हें और भी भयभीत कर दिया हो। जिस काम में हम शरीक नहीं होते, जिसकी सफलता की हमें कोई आशा नहीं होती, उसे सफल होते देखकर हमें स्वाभाविक रूप से कुछ चिढ़ होती है। मुस्लिम भाइयों में इसी मनोवृत्ति ने अवश्य असंतोष पैदा किया और यह अनुभव कि हिन्दुओं ने मुसलमानों के एक अंश की सहायता से इतना बड़ा पड़ाव मार लिया, मुसलमानों को अपनी ही दृष्टि में पराभूत कर दिया। इधर राष्ट्रीय आन्दोलन की आशातीत सफलता ने बहुत सम्भव है, हमें

अनम्र बना दिया हो, हम यह समझने लगे हों कि मुसलमानों की सहायता के बग़ैर भी हम बहुत कुछ कर सकते हैं। जो कुछ भी हो यह मानना पड़ेगा कि अभी पंथगत द्वेष की हमारे समाज में प्रधानता है और जब तक हम इस द्वेष और विरोध को मिटा न लेंगे, हम राजनीतिक क्षेत्र में क़दम नहीं बढ़ा सकते। ऐसे ही दंगे पहले सत्याग्रह आन्दोलन के बाद हुए थे। मगर दोनों में थोड़ा अन्तर है। उस वक़्त के सभी दंगों का कारण धार्मिक था, मसजिद के सामने बाजा बजाना या कुर्बानी। इस समय जो दंगे हो रहे हैं उनके कारण राजनीतिक हैं। काशी में एक विदेशी कपड़े के व्यापारी की हत्या ने बारूद में आग लगायी। कानपुर में मुसलमानों की दूकानें बन्द करवाने की चेष्टा ने पुआल में चिनगारी का काम किया। पुआल पहले से मौजूद था, केवल चिनगारी की कमी थी। हम खुद काँग्रेस मेन हैं। आज से नहीं, हमेशा से। असहयोग में हमारा विश्वास है, मगर हम कहने से बाज़ नहीं रह सकते कि काँग्रेस ने मुसलमानों को अपना सहायक बनाने की ओर उतनी कोशिश नहीं की जितनी करनी चाहिए थी। वह हिन्दू सहायता प्राप्त करके ही संतुष्ट रह गयी। भारत में हिन्दू बाईस करोड़ हैं। बाईस करोड़ अगर कोई काम करने का निश्चय कर लें तो उन्हें कौन रोक सकता है हिन्दुओं में इसी मनोवृत्ति ने प्रधानता प्राप्त कर ली। मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा की गयी अवश्य पर बेदिली के साथ। काँग्रेस ने ऐसी सम्भावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। यह उसी अदूरदर्शिता का परिणाम है। यह ठीक है कि पहले ही काँग्रेस के ज़िम्मेदार आदमियों को जेल में डाल देने से, जिनमें ऐसे मुसलमान नेताओं की संख्या काफ़ी थी, जो मुसलमानों पर असर डाल सकते थे, बहुत कुछ ज़िम्मेदारी सरकार के सिर आ पड़ती है। लेकिन यह मानते हुए भी ठंडे दल से विचार करने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काँग्रेस प्रोग्राम में वैमनस्य पैदा होने की सम्भावना होते हुए भी उसने मुस्लिम जनता का दिल हाथ में लेने का कोई उल्लेखनीय उद्योग नहीं किया और इस तरह से उसने विपक्षियों को अपना अनर्थकारी प्रोपेगेण्डा करने के लिए उपयुक्त क्षेत्र बना दिया। अपनी भूलों को स्वीकार कर लेने में हमें किसी प्रकार का संकोच न होना चाहिए क्योंकि उससे भविष्य के लिए हम सचेत हो जाते हैं। हमें यह देखकर संतोष होता है कि इन हत्याकाण्डों के बाद अब आपस में मेल-जोल की ओर लोगों का ध्यान अधिक हो गया है। यदि हम पहले से ही सचेष्ट हो जाते तो क्यों यह अनर्थ होता। जिस तरह आज लोग गली-गली और मुहल्ले-मुहल्ले चक्कर लगा-लगाकर प्रेम का संदेश सुनाते फिरते हैं, उसी भाँति यदि पहले भी यह प्रोपेगेण्डा किया जाता, तो यह नौबत क्यों आती। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि किसी पर दूकान बन्द करने के लिए दबाव डालना और समाज के एक मुख्य अंग का सहयोग प्राप्त किये बिना, पिकेटिंग करना भी वांछनीय न था। घर-घर घूमकर वही काम यदि उतनी सफलता से नहीं तो उतने खतरे के बग़ैर किया जा सकता था। यह कहना कि हमने सदैव विनय

और सौजन्य से काम लिया है, सत्य पर परदा डालना है। और ज़िद से ज़िद पैदा होती है। यह वही सब मवाद है जो इतने दिनों भीतर ही भीतर पककर अब इस रूप में प्रकट हुआ है। इस सत्य को स्वीकार कर लेने में ही हमारा उद्धार है। हमें आशा है कि अब हम ज़्यादा संयम, ज़्यादा विचार, ज़्यादा नम्रता से काम लेंगे और हिन्दू मुस्लिम मैत्री को केवल राजनीतिक आवश्यकता न समझेंगे, बल्कि उसे अपने कर्म का एक तत्व बना लेंगे। यदि ऐसा हुआ तो बुराई से भलाई पैदा हो जायगी और भविष्य में आनेवाली कठिनाइयों पर हम सदैव के लिए विजयी हो जायेंगे।

मार्च १९३१

मिर्जापुर कांफ्रेन्स में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव

मिर्जापुर ने सबसे महत्व की जो बात की, वह थी श्री यूसुफ इमाम के प्रस्ताव को स्वीकार करना। इसका अभिप्राय यह था कि काँग्रेसवालों को किसी साम्प्रदायिक कार्य में प्रमुख भाग नहीं लेना चाहिए। इसका यह आशय कदापि नहीं कि आर्य-समाज या ब्रह्म-समाज या अन्य अगणित पंथों के माननेवाले, काँग्रेस के फार्म पर हस्ताक्षर करते ही अपने-अपने धर्म को तिलांजलि दे दें। इसका आशय यह है कि साम्प्रदायिकता के रूप में जो राजनीतिक पाखंड फैलाया जाता है, उससे काँग्रेसवाले कोई सरोकार न रक्खें। उदाहरण के तौर पर देखिए—आर्य-समाज या ब्रह्म-समाज यदि काँग्रेस के मन्तव्य के विरुद्ध हिन्दू-हितों की रक्षा के लिए एक डेपुटेशन ले जायँ या कोई प्रस्ताव ही स्वीकृत करें, तो काँग्रेसवालों को उससे पृथक होना पड़ेगा। जहाँ तक शुद्ध धर्म का संबंध है, काँग्रेसवाले भी अन्य प्राणियों की भाँति स्वाधीन हैं, लेकिन ज्योंही धर्म राज-नीति के क्षेत्र में कदम रक्खे, काँग्रेसवालों को उससे नाता तोड़ लेना चाहिए। काँग्रेस में दुर्भाग्यवश हिन्दू और मुस्लिम मनोवृत्तियों का अभी तक काफी जोर है। हिन्दू सभा के सैकड़ों ही उपासक इस अन्दोलन को इस समय कमज़ोर देखकर काँग्रेस में आ मिले हैं और यहाँ भी वही ज़हरीला असर फैला रहे हैं। अगर काँग्रेस में इस मनोवृत्ति को प्रोत्साहन न मिलता, तो पंथगत द्वेष कभी इतना भीषण रूप न धारण करता। हम से अधिकांश लोग अब भी कहने को तो काँग्रेसमैन हैं, इंक़लाब की चीख मारते हैं, झंडे का गीत गला फाड़-फाड़ कर गाते हैं, लेकिन अंदर देखिए, तो राष्ट्रीयता छू नहीं गयी। कानपुर में अगर हिन्दुओं ने अधिक मुसलमानों को मारा, या मुसलमानों ने हिन्दुओं का वध करने में बाजी मारी, तो वे संतुष्ट हैं। धर्म के संकीर्ण क्षेत्र के बाहर उनकी निगाह नहीं पहुँचती ; वह या तो हिन्दू हैं, या मुसलमान ; हिन्दुस्तानीपन का भाव उनसे कोसों दूर है। वे लोग मौके की ताक में हैं, ज्योंही जनता को धर्म की ओर झुकते

देखेंगे, तुरन्त काँग्रेस से निकल भागेंगे ; क्योंकि उन्हें तो लीडरी चाहिए, चाहे काँग्रेस से मिले या हिन्दूसभा में, या मुसलिम लीग में। हिन्दूसभा की लीडरी ज्यादा मूल्यवान है, क्योंकि रुचि भी तो उधर ही है। जब तक इस दूषित मनोवृत्ति का हम अंत न कर देंगे, जब तक अपना हिन्दू या मुसलमान होना भूल न जायेंगे, जब तक हम अन्य धर्मावलम्बियों के साथ उतना ही प्रेम न करेंगे जितना निज धर्मवालों के साथ करते हैं, सारांश यह कि जब तक हम पंथजनित संकीर्णता से मुक्त न हो जायेंगे, इस बेड़ी को तोड़कर फेंक न देंगे, देश का उद्धार होना असम्भव है। कोई नहीं कहता कि आप नमाज़ न पढ़ें। नहीं, जो मनुष्य धर्म-भाव शून्य है, वह राष्ट्रीयता के भाव से भी शून्य रहेगा। पाँचों वक्त नमाज़ पढ़िए, तीसों रोज़े रखिए, देवताओं की जितनी पूजा चाहे कीजिए, जितनी संध्या चाहे कीजिए, हवन की सुगंध से देश को सुगंधित कर दीजिए ; मगर धर्म को राजनीति से गड़बड़ न कीजिए क्योंकि धर्म ईश्वर और मनुष्य के संबंध की वस्तु है। हम तो यहाँ तक कहते हैं कि अगर आपके धर्म में कुछ ऐसी बातें हैं, जो राष्ट्रीयता की परीक्षा में पूरी नहीं उतरतीं, सर्वदेशिक हितों में बाधक होती हैं, तो उन्हें त्याज्य समझिए। काफ़िर और म्लेच्छ का हमारे धर्म से नामोनिशान मिट जाना चाहिए। धर्म इतना उदार हो जाना चाहिए कि यदि हमारा पुत्र या स्त्री किसी दूसरे धर्म की अनुयायी हो जायँ, तो हमें जरा भी शोक या ताप न हो। इसकी एकता में हमारे उद्धार की शक्ति है। हम इस प्रस्ताव का हृदय से स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि काँग्रेस के साम्प्रदायिक मनोवृत्तिवाले लीडरों के दिल पर उसका अच्छा असर पड़ेगा।

शिक्षा प्रणाली में एक आवश्यक सुधार

साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का सुधार कैसे हो ? हमारे विचार में इसका एक साधन हमारे शिक्षा-पाठ्य क्रम में थोड़ी-सी तबदीली है। अभी तक हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के रीति-नीति, विचार-व्यवहार, साहित्य और दर्शन से कोरे रहते हैं और गत कई वर्षों से यह पृथकता और भी बढ़ती जाती है। अभी बहुत दिन नहीं गुज़रे कि हिन्दू बड़े शौक़ से उर्दू-फारसी पढ़ते थे। बड़े-बड़े संस्कृत के विद्वान ब्राह्मण भी अपने लड़कों को फारसी-उर्दू पढ़ाया करते थे पर गत पच्चीस-तीस वर्षों से परिस्थिति बहुत कुछ बदल गयी है। अब हिन्दू उर्दू-फारसी का नाम नहीं लेता और मुसलमानों में तो रहीम और रसखान अब कल्पनातीत हो गये। ज्यों-ज्यों यह पृथकता बढ़ती जाती है, हमारी धार्मिक कूपमंडूकता भी बढ़ती जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम एक-दूसरे का साहित्य पढ़ें, विचार समझें, उनके दृष्टिकोण को जानें। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए सबसे सुगम उपाय यह है कि हिन्दी-उर्दू नीचे से ऊँचे तक लाज़मी कर दी जाय। तीसरी कक्षा से बी० ए० तक दोनों भाषाएँ पढ़ायी जायँ। भाषा के साथ-साथ एक-

दूसरे की संस्कृति का परिचय भी छात्रों को हो जायगा और राष्ट्रीय एकता की जड़ मजबूत होगी। लिपि और शब्द-भेद का झगड़ा भी आसानी से मिट जायगा। हरेक शिक्षित मनुष्य एक-सी सरलता से हिन्दी-उर्दू दोनों ही लिख-पढ़ सकेगा। फिर आप चाहे अपनी दरख्वास्त जिस लिपि में लिखें, उसे कोई आपत्ति न होगी। 'ज़बान' की समस्या को हल करने का इसके सिवाय दूसरा उपाय नहीं है। साहित्य का मन पर कुछ न कुछ असर होता ही है, अगर अँग्रेज़ी साहित्य पढ़कर हम स्वाधीनता की दुहाई देते हुए भी अँग्रेज़ी के गुलाम हैं, तो कोई वजह नहीं कि हिन्दी-उर्दू साहित्य का हमारे दिलों पर कोई असर न पड़े। हमें विश्वास है कि इस उपाय से दोनों जातियाँ निकट तर हो जायेंगी। कुछ समय हुआ मौलवी हामिद उल्लाह अफसर ने 'लीडर' में यह प्रस्ताव उपस्थित किया था और अगर 'लीडर' में प्रकाशित पत्रों से जनता की रुचि का कुछ अनुमान किया जा सकता है, तो हम कह सकते हैं कि शिक्षित समुदाय ने इस प्रस्ताव का समर्थन भी किया था। हम नहीं कह सकते, उसका शिक्षा के अधिकारियों पर कुछ असर पड़ा या नहीं, पर हममें से हरेक का कर्तव्य है कि वह इस प्रस्ताव का समर्थन करे और यदि अभी नहीं, तो स्वराज्य काल में शिक्षा-पद्धति में, सबसे पहले यही सुधार किया जाय। कहा जा सकता है कि अँग्रेजी साहित्य पढ़कर तो हमारी अँग्रेज़ों से मैत्री नहीं हुई, फिर हिन्दी-उर्दू पढ़कर हिन्दू-मुसलमान कैसे मित्र हो जायेंगे। पंजाब में हिन्दू विशेष रूप से उर्दू पढ़ते-लिखते हैं, फिर भी मुसलमानों से उनका मेल नहीं, बल्कि वहाँ यह वैमनस्य और भी उग्र रूप धारण किये हुए है। इसके जवाब में कहा जा सकता है कि पंजाब में भी वैमनस्य उसी वक्त से बढ़ा है, जब से भाषा का भेद बढ़ा। जिस दिन लिपि की समस्या हल हो जायगी उसी दिन वैमनस्य की जड़ कट जायगी। फिर अभी तक एकतरफी मुआमला है। हिन्दू तो उर्दू पढ़ते हैं, पर मुसलमान हिन्दी नहीं पढ़ते। क्या तुलसी और सूर की मनोहर वाणी का कुछ भी असर न होगा? हिन्दू आदर्शों का कुछ भी आकर्षण न होगा? एक दूसरे की संस्कृति के गुण क्या अपना जादू न डालेंगे? हिन्दू त्याग और बलिदान, मुसलिम भ्रातृभाव और समता दिलों में कुछ भी जागृति न उत्पन्न करेगी? यों तो लड़ाई भाई-भाई और बाप-बेटे में भी होती है पर सभी बाप एक ओर और सभी बेटे दूसरी ओर खड़े होकर लट्ठम लट्ठ नहीं करते। ऐसे व्यक्तिगत झगड़े सामूहिक रूप नहीं धारण करते। भारतवर्ष में जो जातिगत द्वेष है, वह हमारी राजनीतिक पराधीनता के कारण है। उसका पूरा-पूरा दमन तो स्वराज्य से ही होगा, लेकिन जिस बीमारी ने वर्षों तक समाज को खोखला किया है, क्या उसे आप एक-दो खुराकों में दूर कर सकते हैं। साम्प्रदायिक विद्यालय जिस युग के स्मारक हैं, क्या वह युग समाप्त हो गया है? जिस तरह विद्या मूर्खता से श्रेष्ठ है, चाहे विद्वानों में एक-एक शब्द पर लट्ठे ही क्यों न चल जाय, उसी भाँति दो जातियों में परस्पर प्रेम पैदा करने का एक साधन एक दूसरे के साहित्य का पढ़ना है, चाहे

इसका अपवाद ही क्यों न नज़र आवे ।

हमारे नेताओं की बातें

कभी-कभी हमारे विचारशील नेता भी कोई मौलिक उक्ति निकालने की धुन में ऊटपटाँग बकने लगते हैं। मौलाना शौकत अली ने तो दीवाने मुल्ला का रूप धर लिया है। आपने अपने एक व्याख्यान में कहा—'मैं एक लाख गांधियों से अकेला लड़ने को तैयार हूँ। —' एक दूसरे अवसर पर आपने लाख की संख्या को करोड़ तक पहुँचा दिया। हम नहीं समझते, इस तरह के उन्मत्त प्रलाप से मौलाना का मंशा क्या है। यदि वह अपने अलौकिक बाहुबल का प्रदर्शन करना चाहते हैं तो ऐसे वाक्यों से उनकी दुर्बलता और भी प्रकट होती है। महात्मा गांधी की शक्ति उनके बाहुबल में नहीं, उनके आत्मबल में है, जिसने भारतीय सरकार तक को हिला दिया है और जो निकट भविष्य में मुसलिम लीडरी भी उनके हाथों से छीन लेगी। ज़माने का रुख कहे देता है जो लोग राष्ट्रीयता से द्रोह करेंगे उन्हें मुँह की खानी पड़ेगी। वह दिन अब लदा जा रहा है, जब पृथकता और मुसलिम हितों का सब्ज़ बाग़ दिखाकर मुसलिम जनता को ठगा गया था। अब जनता समझने लगी है कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों एक ही नाव पर सवार हैं। डूबेंगे तो दोनों साथ डूबेंगे, पार लगेंगे तो दोनों साथ पार लगेंगे। कानपुर का दंगा, हमें विश्वास है, हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य का अंतिम उच्छ्वास था। आज नेशनलिस्ट मुसलमान समस्त भारतवर्ष में संगठित हो रहे हैं और शीघ्र ही दुनिया देखेगी कि पृथकता के उपासकों में सरकार के पिट्ठुओं के सिवा और कोई नहीं है।

अगर मौलाना शौकत अली ने इस प्रलाप से अपने को हास्यास्पद बना लिया है तो सरदार पटेल ने भी गुजरात में एक दूसरे तरह के प्रलाप से अपनी अनम्रता प्रकट की है। आपने एक व्याख्यान में फ़रमाया—भारत में घोर संग्राम छिड़नेवाला है और जिन्हें अपनी जान प्यारी हो, उन्हें भारत से प्रस्थान कर जाना चाहिए। सरदार पटेल को चाहे जान प्यारी न हो, लेकिन और तो सभी मनुष्यों को अपनी जान प्यारी होती है और जिसको जान जितनी ही प्यारी होती है, वह उस व्यवस्था को लाने में उतने ही उत्साह और त्याग से योग देता है, जिसमें जीवन अधिक सुखी हो। स्वराज्य के लिए हम इसीलिए लड़ रहे हैं कि हमें अपनी जान प्यारी है और हम उसे ऐसी परिस्थिति में देखना चाहते हैं, जहाँ वह स्वच्छन्द रूप से उन्नति कर सके। जो मर जाना ही अपने लिए शुभ समझता है, वह स्वराज्य में कदापि योग नहीं दे सकता। फिर सरदार साहब को जान प्यारी नहीं है, यह कौन कह सकता है। अभी दो साल पहले वह वकालत करते थे, विलायत कानून पढ़ने गये थे, इसीलिए कि जान प्यारी थी। अगर दो साल से उन्हें विशेष जागृति हो गयी है तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जिन पर वह आज लांछन लगा रहे हैं कल उन्हें भी यही जागृति प्राप्त हो जाय। जिन

परिस्थितियों में आपका अधिकांश जीवन बीता है, उन्हीं परिस्थितियों में और बहुत से लोग आज अपना जीवन काट रहे हैं। अगर आप उनसे पहले चौंक पड़ें, तो आपको उन पर कटाक्ष करने का अधिकार नहीं है। आपको चाहिए उन्हें अपने पुरुषार्थ और तप से सचेत करें, उन पर फ़िक़रे चुस्त करके आप उनका दिल दुखाने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। फिर आप यह क्यों समझते हैं कि स्वराज्य का ठीका आपने ही लिया है। जिस तरह आप स्वराज्य के इच्छुक हैं, उसी तरह और लोग भी हैं। शायद ही कोई ऐसा अधम प्राणी हो, जो स्वराज्य का प्रेमी न हो। आप में ज्यादा शक्ति और साहस है, आप शस्त्र लेकर मैदान में आ जाते हैं, लेकिन क्या जो आदमी अनाज और गोली-बारूद और वर्दी-कपड़े से आपकी सहायता कर रहा है, वह किसी गिनती में ही नहीं? काँग्रेस ने इस संग्राम में करोड़ों खर्च किया होगा। यह रुपये सरदार पटेल के घर से नहीं निकले, यह पब्लिक ने प्रदान किये थे। इस धन के सिवा स्वराज्य का आंदोलन एक दिन भी न चल सकता। नम्रता योद्धाओं का शृंगार है। डींगें मारना और दूसरों पर आवाज़ें कसना, उनकी शान के खिलाफ़ है।

अप्रैल १९३१

राज-कर्मचारियों का पक्षपातपूर्ण व्यवहार

अनुचित पक्षपात तो सभी के लिए निंद्य है लेकिन राज-कर्मचारियों के लिए तो वह सर्वथा अक्षम्य है। अगर कोई हिन्दू अफसर व हिन्दुओं का पक्षपात करके मुसलमानों का अहित करता है, तो वह हिन्दुओं के साथ घोर अत्याचार करता है। उसी तरह कोई मुसलमान अफसर पक्षपात की धुन में हिन्दुओं का गला घोंटे, तो वह इसलाम को बदनाम करता है। यह सच है कि ऐसे अफसरों को उनके मतवाले पूजने लगते हैं, उन्हें अपनी जाति का उद्धारक समझते हैं, मगर कर्मचारियों को सदैव मत-मतांतर से ऊँचा रहना चाहिए। अनुचित पक्षपात करके वह यह सिद्ध कर रहे हैं कि अभी उनमें स्वराज्य की योग्यता नहीं आयी। हमारे विचार में तो जब कभी किसी अफसर को पक्षपात करते देखा जाय, तो समझ लेना चाहिए कि वह भेदनीति का पालन कर रहा है और उसके जाल से हमें बचना चाहिए।

अप्रैल १९३१

स्वार्थांधता की पराकाष्ठा

धर्मनिष्ठा को किस भाँति द्वेष के रूप में बदला जाता है, इसकी एक मिसाल इसी प्रान्त के एक नगर में मिली है। एक मुसलमान गुंडा कुरान शरीफ़ से एक वरक़ फाड़ और उसमें विष्ठा भरकर एक मसजिद में फेंक रहा था। सौभाग्य से रँगे हाथों ही पकड़ लिया गया और जनता ने उसकी मरम्मत भी खूब की, मगर यह संयोग की बात है कि उसका उद्देश्य पूरा न हुआ। अगर वह अपना काम कर जाता, तो निस्संदेह हिन्दुओं पर इसका इलज़ाम आता और संभव था, आपस में दंगा भी हो जाता। मुसलमान गुंडे ने क्यों यह नीचता की, इसका कारण सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इससे पता चलता है कि धार्मिक आघात पहुँचाकर किस भाँति हिन्दू-मुसलिम विरोध की आग भड़काई जाती है। यह तो कल्पना ही न की जा सकती थी कि किसी मुसलमान ने यह हरकत की होगी, हिन्दू ही पर शुबहा होता और हिन्दुओं से बदला लेने की चेष्टा की जाती। हम स्वार्थांध होकर इतने नीचे गिर सकते हैं!

अप्रैल १९३१

पृथक् और संयुक्त निर्वाचन

मुसलिम जमाअतों में समझौते की जो बातचीत देहली और भोपाल में चली थी, उसका जनाज़ा शिमला में उठ गया। शिमला क्या समझकर इस बातचीत के लिए चुना गया था, हम नहीं जानते; अगर पिछले अनुभव कुछ सिखा सकते हैं, तो शिमले की आब-हवा ऐसे प्रयत्नों के लिए अनुकूल नहीं कही जा सकती। न डाक्टर अंसारी दबे न डाक्टर इक़बाल। बातचीत अनिश्चित समय के लिए बन्द हो गयी। अब मुआमला भारत सरकार और गोलमेज के हाथ में है और उसका जो कुछ फल होगा उसके विषय में भी सफलता के साथ अनुमान किया जा सकता है। हमारे विचार में एकाध मौके ऐसे पैदा हुए जब नेशनलिस्ट मुसलिमों को दब जाना चाहिए था। मसलन् पाँच वर्ष पृथक् निर्वाचन के बाद मुसलिम जनता से निर्वाचन-विधि के विषय में आदेश लेना कोई ऐसी बात न थी, जिस पर विचार न किया जा सकता, लेकिन नेशनलिस्ट अब अपने को इतना अल्पसंख्यक नहीं समझते कि वह मुसलिम लीगवालों से दबें। दोनों को अपनी शक्ति का विश्वास है। कम से कम इतना तो सिद्ध ही हो चुका कि मुसलमानों की एक बड़ी जमात पृथक् निर्वाचन को देश के हित के लिए ही नहीं, मुसलमानों के लिए भी हानिकर समझती है। मौलाना ज़फ़रुल मुल्क ने हाल में इस समस्या को हल

करने के लिए एक सिद्धान्त सोच निकाला है। जहाँ हिन्दुओं को संख्या बहुत ज्यादा है, वहाँ मुसलमानों को उनकी संख्या के अनुसार वोट दिये जायँ। इसके उपरान्त उन्हें संयुक्त निर्वाचन में सम्मिलित होने का अधिकार भी दिया जाय। मुसलमानों का जिन सूबों में बहुमत हो, वहाँ हिन्दुओं के साथ यही बर्ताव करना चाहिए। जिन सूबों में दोनों की संख्याओं में थोड़ा ही अन्तर हो, वहाँ भी यही सिद्धान्त लागू हो सकता है। हमें इस विचार में कोई असंगति नहीं दीखती। हिन्दुओं को इस विषय में कदाचित् कोई आपत्ति न होगी लेकिन पहले हमारे मुसलिम भाई तो निश्चय कर लें।

जून १९३१

गोलमेज़-परिषद् में गोलमाल

हमारे मुसलमान भाइयों ने आख़िर वह कर ही डाला, जिसकी हमें शंका थी; पर यह समझकर कि शायद योरोप के नये वातावरण में वह कुछ उदार हो जायँ, हम उस शंका को बहलाते रहे थे। महात्मा गांधी जी भी यही समझकर गोलमेज़ में सम्मिलित हुए थे। अगर उन्हें यह मालूम होता, कि मुस्लिम मेम्बर वहाँ यह अड़ंगा लगायेंगे, तो वह जाते ही क्यों। हालाँकि अभी तक महात्मा जी निराश नहीं हुए हैं और हमारी ईश्वर से प्रार्थना है, कि उनकी आशावादिता प्रवंचना न निकले, पर हमें सन्देह अवश्य है। मुसलमानों ने बहुत दिन इस देश पर राज्य किया है और अब भी वह कई देशों में स्वराज्य कर रहे हैं, इसलिए उनकी राजनैतिक बुद्धि पर कम से कम इतना विश्वास अवश्य था कि इस अवसर पर वह मुल्क का साथ देंगे। मिस्र, तुर्की आदि देशों के नेताओं ने मुस्लिम नेताओं से जो अपीलें की थीं, उसने हमारे विश्वास को दृढ़ कर दिया था, पर अब मालूम हुआ कि हमारा विश्वास मिथ्या था। हिन्दू बहुमत में हैं। किसी हिकमत से भी उनकी संख्या घटायी नहीं जा सकती। उधर मुसलमान कोई ऐसी व्यवस्था न मंजूर करेंगे, जिसमें बहुमत से किसी हानि की सम्भावना हो। इसलिए भारत को जन्म-जन्मान्तर तक इसी पराधीनता की दशा में रहना होगा। उनकी रक्षा के लिए भारत पर अंग्रेज़ों का शासन अनिवार्य है। नहीं हिन्दू मुसलमानों से पुरानी अदावतें निकालेंगे, और भारत में उनका रहना मुश्किल कर देंगे। तो क्या हिन्दू उस वक्त तक चुपचाप बैठे रहें, जब तक उनका बहुमत घटते-घटते अल्पमत न हो जाय? इसके सिवा और कोई उपाय नहीं सूझता।

गोलमेज़ के मुस्लिम प्रतिनिधियों को हिन्दुओं पर विश्वास नहीं है, अंग्रेज़ों पर विश्वास है। जिनसे उनका चोली-दामन का साथ है, जिनके साथ उनका भाईचारा

है, उन पर उन्हें विश्वास नहीं है। अंग्रेज़ों पर उन्हें विश्वास है, जो उन पर शासन करते हैं !

यह हम कैसे कहें कि वे मुसलमान प्रतिनिधि स्वाधीनता के उतने ही इच्छुक नहीं हैं, जितने हिन्दू हैं। या वह देश का या अपनी जाति का नफ़ा-नुक़सान नहीं समझते, उनमें सभी शिक्षित हैं, विचारशील हैं। देश के दुर्भाग्य के सिवा हम इसे क्या कहें। शायद ईश्वर को यह मंजूर नहीं है कि अभी भारत स्वाधीन हो, शायद अभी भारत ने आज़ादी का वह मूल्य नहीं दिया, जो देना चाहिए, और अभी उसे और बलिदान की ज़रूरत है।

इंग्लैंड में आजकल नया निर्वाचन हो रहा है। उस निर्वाचन में कंज़रवेटिव दल के बहुमत पाने की ही सम्भावना है। मिस्टर रेमज़े मेक्डोनेल्ड के पृथक् हो जाने से मजूरदल की शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गयी है। आपस में बिखरा हुआ मजूरदल कंज़रवेटिव दल को परास्त कर सकेगा, इसमें सन्देह है। रेमज़े मेक्डोनेल्ड का भाग्य भी अब उन्हीं लोगों के हाथों में है, जो अब तक उनके विपक्षी थे और जिनके राजनैतिक विचार मेक्डोनेल्ड के विचारों से उतने ही भिन्न हैं, जितना प्रकाश अन्धकार से। मैक्डोनेल्ड साहब ने अभी जो कुलांट मारी है, इससे सिद्ध कर दिया है कि वह सिद्धांत के उतने प्रेमी नहीं, जितने समय-प्रवाह के। वह समय की गति देखकर अपने विचारों में उलट-फेर कर सकते हैं, तो क्या अब वह कंज़रवेटिव दलवालों को अप्रसन्न करने का नैतिक साहस दिखा सकेंगे ? हमें इसमें सन्देह है। उन्होंने महात्मा गांधी के यह कहने पर कि प्रतिनिधियों का चुनाव ही इस ढंग पर हुआ है कि आपस में किसी समझौते का होना संदिग्ध था, जो फटकार बतायी उससे उनके मानसिक परिवर्तन का कुछ पता चलता है। महात्मा जी ने एक सत्य बात कही थी। हाँ, वह कड़वा सत्य था। यह कौन-सा न्याय है कि जिन मुसलिम नेताओं ने राष्ट्रीय संग्राम में कोई भाग नहीं लिया, जो बराबर सरकार के भक्त बने रहे, जिनके विषय में यह कोई छिपी हुई बात न थी कि वे हिन्दुओं से विरोध रखते हैं, वह तो दर्जनों की संख्या में भेज दिये गये, और वह मुस्लिम-दल, जिसने स्वाधीनता के लिए बलिदान किये, जो हिन्दुओं पर विश्वास रखता है, जिसकी संख्या, जितनी मुस्लिम लीग के नामलेवों की है, जिसकी शाखाएँ भारत के प्रत्येक भाग में हैं, उस दल का एक आदमी भी न भेजा गया ? एक आदमी छूत छुड़ाने को भेज भी दिया गया, तो उसे बोलने का अवसर न दिया गया ! क्या यह समझने के लिए किसी सूक्ष्म बुद्धि की ज़रूरत है कि नौकरशाही ने यह चुनाव इसी इरादे से किया था कि गोलमेज़ में विघ्न पड़े और कोई बात तय न हो सके ! पर महात्मा जी ने यह कह दिया, तो सभी भन्ना उठे। सर शफी गरज़ उठे, मैक्डोनेल्ड साहब तड़प उठे, यहाँ तक कि अछूतों के प्रतिनिधि कहलानेवाले डाक्टर अम्बेदकर भी चीख पड़े। एक अमेरिकन पत्र के सम्वाददाता ने तो यहाँ तक लिखा, कि मुस्लिम और अन्य अल्प

मतों के नेता महात्मा गांधी से विरोध भी करते हैं, तो सम्मान के साथ, पर डाक्टर अम्बेडकर तो असज्जनता कर बैठते हैं। क्यों न हो ! हिन्दुओं से बदला लेने का इससे अच्छा कौन-सा अवसर आवेगा ! अंग्रेज़ जाति उनका उद्धार करने पर आमादा हो गयी है। हिन्दुओं से सारी पुरानी कसर आज ही निकाल लो। डाक्टर साहब तो विद्वान आदमी हैं, क्या वह यह नहीं जानते कि विजेताओं ने हमेशा कमज़ोरों को दबाया है, यहाँ तक कि वही अंग्रेज़ जाति जिन्हें वह अपना उद्धारक समझ रहे हैं, अपनी पराधीन जातियों पर किस प्रकार शासन कर रही है ? अफ्रीकावालों से अंग्रेज़ों की न्यायपरता की कथा पूछिए, रेडइण्डियन से पूछिए, आस्ट्रेलिया के मावरियों से पूछिए, भारतवालों से पूछिए। और यह कोई दो-चार हज़ार साल पुरानी बात नहीं है, आज भी हम ज़बरदस्त का ठेंगा अपने सिर पर देख रहे हैं। पुराने ज़माने में हिन्दुओं ने भी वही किया, तो उन्होंने वही किया जो परम्परा से होता चला आता है। लेकिन देखना यह है, कि हिन्दू नेता आज अपने अछूत भाइयों के साथ भी वही पुराना व्यवहार कर रहे हैं, या उसमें कुछ परिवर्तन हुआ है। काँग्रेस ने राष्ट्र के स्वत्वों की जो घोषणा की है, उसमें हरेक भारतीय के समान अधिकार रखे हैं। किसी दल, मत या जाति को अयोग्य नहीं ठहराया। किसी को विशेष अधिकार नहीं दिया। वोट का हक हरेक को दिया गया है। राज-पद पर भी सब का समान अधिकार माना गया है। यह कहा जा सकता है कि अछूत भाई अभी ऊँची जातियों से बराबरी नहीं कर सकते, क्योंकि वह शिक्षा और सभ्यता में बहुत पिछड़े हुए हैं, पर क्या यह बात स्वराज्य हो जाने पर नहीं कही जा सकती। उस वक्त अगर यहाँ की स्वराज्य सरकार इनके साथ अन्याय करती तो उन्हें शिकायत करने का, आन्दोलन करने का मौका था। इस वक्त तो वह पृथक्ता का राग अलापकर हमारे शत्रुओं का साथ दे रहे हैं। हिन्दू अब इतने नादान नहीं हैं, कि वह अपने ही देह के एक अंग को अपंग करके संसार में अपना अस्तित्व बनाये रखने का स्वप्न देख सकें। हज़ारों साल की ग़ुलामी ने अब उन्हें सुझा दिया है, कि अपने कुछ भाइयों को नीच बनाकर उन्होंने अपना ही जीवन संकट में डाल दिया है, और उनका उद्धार अब इसी में है, कि उन भाइयों को बराबर के अधिकार दें और उन्हें वास्तव में अपना भाई समझें। लेकिन अगर इस वक्त डाक्टर साहब ने मुसलमानों, ईसाइयों, ऐंग्लोइण्डियनों के साथ विशेष अधिकार पर ज़ोर दिया, तो यह राष्ट्र क्या होगा, लड़ैतियों का अखाड़ा होगा। भारत का उद्धार अब इसी में है कि हम राष्ट्र-धर्म के उपासक बनें, विशेष अधिकारों के लिए न लड़कर, समान अधिकारों के लिए लड़ें। हिन्दू या मुसलमान, अछूत या ईसाई बनकर नहीं, भारतीय बनकर संयुक्त उन्नति की ओर अग्रसर हों, अन्यथा हिन्दू मुसलमान, अछूत और सिक्ख सब रसातल को चले जायेंगे।

अगर सम्प्रदाय-वादियों ने और उनकी पीठ पर हाथ फेरनेवाले साम्राज्यवादी

अंग्रेज़ों ने समझा है, कि राष्ट्रीय भारत गोलमेज़ के गोलमाल से हताश हो जायगा, तो वह ग़लती पर हैं। इस पराधीनता ने भारत की आत्मा को जगा दिया है, और वह अब किसी शक्ति के रोके नहीं रुकती। धर्म का सम्बन्ध मनुष्य से और ईश्वर से है। उसके बीच में देश, जाति और राष्ट्र किसी को भी दखल देने का अधिकार नहीं। हम इस विषय में स्वाधीन हैं। हम मसजिद में जायँ या मन्दिर में हिन्दी पढ़ें या उर्दू, धोती बाँधें या पाजामा पहनें, हम स्वाधीन हैं, लेकिन धर्म के नाम पर राष्ट्र को भिन्न-भिन्न दलों में विभक्त करना, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्धों को राष्ट्रीय मामलों में घसीट लाना, राष्ट्रीय-भारत कभी गवारा न करेगा। भारत ने बहुत कुछ तो समझ लिया है और जो कसर है वह भी अब समझता है, कि सम्पूर्ण भारत का हित एक है, उसमें कोई भी विभिन्नता नहीं है। सरकारी नौकरियों के लिए अभी तक शिक्षित समाज के मन में मोह है। वही मोह, वही लोभ, इस विभिन्नता का कारण है। लेकिन अगर अभी वह समय नहीं आया तो अब उसके आने में देर नहीं है, जब वास्तविक राष्ट्र शिक्षित-समाज की संकीर्ण स्वार्थपरता के विरोध में विद्रोह करेगा। मुट्ठी भर पढ़े-लिखे आदमियों को कोई अधिकार नहीं, कि वह अपने हलुए-माँड़े के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन संकटमय बनावें। वह ज़माना आ रहा है, जब भारत के किसान, भारत के दुकानदार, भारत के मजूर, खुद अपना नफ़ा-नुक़सान समझेंगे और अपने हितों का शिक्षित समुदाय के पैरों-तले कुचला जाना गवारा न करेंगे। शिक्षितों ने जीवन के पच्छिमी, नक़ली, आडम्बरमय आदर्शों की गुलामी करके भारत को सर्वनाश के गर्त में ढकेल दिया है। भारत का एक सुशिक्षित व्यक्ति आज ज़रूरतों का ऐसा गुलाम हो गया है, कि उसे जीवित रखने के लिए कम से कम पचास मजूरों और किसानों को मरना चाहिए। इसी आडम्बरमय जीवन के निर्वाह के लिए तरह-तरह के ढोंग रचे जाते हैं, धर्म की आड़ ली जाती है, संस्कृति का रोना रोया जाया है, विशेष अधिकार का भूत खड़ा किया जाता है, भाषा और लिपि अनेक कल्पित विभिन्नताओं की दुहाई दी जाती है, केवल इसलिए कि शिक्षितों का खटमली-जीवन आनन्द से व्यतीत हो। वह बँगलों में रहें, मोटरों पर सैर करें, अँग्रेज़ों से हाथ मिलावें और योरोप की सैर करें। हाँ, वह समय अब दूर नहीं है, जब भारत इस नक़ली आदर्श से, विद्रोह करेगा और पृथक्ता के मकड़ी के से जाल को छिन्न-भिन्न कर देगा।

अक्टूबर १९३१

हिन्दू-मुस्लिम एकता

दिलों में गुबार भरा हुआ है, फिर मैल कैसे हो। मैली चीज़ पर कोई रंग नहीं

चढ़ सकता, यहाँ तक, कि जब तक दीवाल साफ़ न हो, उस पर सीमेंट का पलास्तर भी नहीं ठहरता। हम ग़लत इतिहास पढ़-पढ़ कर एक-दूसरे के प्रति तरह-तरह की ग़लतफ़हमियाँ दिल में भरे हुए हैं, और उन्हें किसी तरह दिल से नहीं निकालना चाहते, मानो उन्हीं पर हमारे जीवन का आधार हो। मुसलमानों को अगर यह शिकायत है कि हिन्दू हम से परहेज़ करते हैं, हमें अछूत समझते हैं, हमारे हाथ का पानी तक नहीं पीना चाहते, तो हिन्दुओं को यह शिकायत है, कि मुसलमानों ने हमारे मन्दिर तोड़े, हमारे तीर्थ-स्थानों को लूटा, हमारे राजाओं की लड़कियाँ अपने महल में डालीं, और जाने क्या-क्या उपद्रव किये। हिन्दू-मुसलमानों के आचार और धर्म की हँसी उड़ाते हैं, मुसलमान हिन्दुओं के आचार और धर्म की। विजयी जाति पराजितों पर जो सबसे कठोर आघात करती है, वह है, उनके इतिहास को विषैला बना देना। प्राचीन, हमारे भविष्य का पथ-प्रदर्शक हुआ करता है। प्राचीन को दूषित करके, उसमें द्वेष और भेद और कीना भरकर, भविष्य को भुलाया जा सकता है। वही भारत में हो रहा है। यह बात हमारे अन्दर ठूँस दी गयी है, कि हिन्दू और मुसलमान हमेशा से दो विरोधी दलों विभाजित रहे हैं, हालाँकि ऐसा कहना सत्य का गला घोंटना है। यह बिलकुल ग़लत है, कि इसलाम तलवार के बल से फैला। तलवार के बल से कोई धर्म नहीं फैलता, और कुछ दिनों के लिए फैल भी जाय, तो चिरजीवी नहीं हो सकता। भारत में इसलाम के फैलने का कारण, ऊँची जातिवाले हिन्दुओं का नीची जातियों पर अत्याचार था। बौद्धों ने ऊँच नीच का, भेद मिटाकर नीचों के उद्धार का प्रयास किया, और इसमें उन्हें अच्छी सफलता मिली, लेकिन जब हिन्दू धर्म ने फिर ज़ोर पकड़ा, तो नीची जातियों पर फिर वही पुराना अत्याचार शुरू हुआ, बल्कि और ज़ोरों के साथ। ऊँचों ने नीचों से उनके विद्रोह का बदला लेने की ठानी। नीचों ने बौद्ध-काल में अपना आत्मसम्मान पा लिया था। वह उच्चवर्गीय हिन्दुओं से बराबरी का दावा करने लगे थे। उस बराबरी का मज़ा चखने के बाद, अब उन्हें अपने को नीच समझना दुस्सह हो गया। यह खींच-तान हो ही रही थी कि इसलाम ने नये सिद्धान्तों के साथ पदार्पण किया। वहाँ ऊँच-नीच का भेद न था। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच की क़ैद न थी। इसलाम की दीक्षा लेते ही मनुष्य की सारी अशुद्धियाँ, सारी अयोग्यताएँ, मानो धुल जाती थीं। वह मसजिद में इमाम के पीछे खड़ा होकर नमाज़ पढ़ सकता था, बड़े से बड़े सैयद-ज़ादे के साथ एक दस्तरखान पर बैठकर भोजन कर सकता था। यहाँ तक कि उच्चवर्गीय हिन्दुओं की दृष्टि में भी उसका सम्मान बढ़ जाता था। हिन्दू अछूत से हाथ नहीं मिला सकता, पर मुसलमानों के साथ मिलने-जुलने में उसे कोई बाधा नहीं होती। वहाँ कोई नहीं पूछता, कि अमुक पुरुष कैसा, किस जाति का मुसलमान है। वहाँ तो सभी मुसलमान हैं। इसलिए नीचों ने इस नये धर्म का बड़े हर्ष से स्वागत किया, और गाँव के गाँव मुसलमान हो गये। जहाँ वर्गीय हिन्दुओं का अत्याचार जितना ही ज़्यादा था, वहाँ

यह विरोधाग्नि भी उतनी ही प्रचण्ड थी, और वहीं इसलाम की तबलीग़ भी खूब हुई। कश्मीर, आसाम, पूर्वी बंगाल आदि इसके उदाहरण हैं। आज भी नीची जातियों में ग़ाज़ी मियाँ और ताज़ियों की पूजा बड़ी श्रद्धा के साथ की जाती है। उनकी दृष्टि में इसलाम विजयी शत्रु नहीं, उद्धारक था। यह है इसलाम के फैलने का इतिहास, और आज भी वर्गीय हिन्दू अपने पुराने संस्कारों को नहीं बदल सके हैं। आज भी छूत-छात और भेद-भाव को मानते आते हैं। आज भी मन्दिरों में, कुओं पर, संस्थाओं में, बड़ी रोक-टोक है। महात्मा गांधी ने अपने जीवन में सबसे बड़ा जो काम किया है, वह इस भेद-भाव पर कुठाराघात है। वर्गीय हिन्दुओं में जो एक सूक्ष्म-सी ऊपरी जागृति नज़र आती है, इसका श्रेय महात्मा जी को है।

तो इसलाम तलवार के बल से नहीं, बल्कि अपने धर्म-तत्वों की व्यापकता के बल से फैला। इसलिए फैला, कि उसके यहाँ मनुष्यमात्र के अधिकार समान हैं। अब रही संस्कृति। हमें तो हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में कोई ऐसा मौलिक भेद नहीं नज़र आता। अगर मुसलमान पाजामा पहनता है, तो पंजाब और सीमा प्रान्त के सारे हिन्दू स्त्री-पुरुष पाजामा पहनते हैं। अचकन में भी मुसलमानी नहीं रही। रहा चौका-चूल्हा। पंजाब में चौके-चूल्हे का झगड़ा, हिन्दुओं में भी नहीं है, और शिक्षित समाज तो कहीं भी चौके-चूल्हे का कायल नहीं। मध्यप्रान्त के मुसलमान भी हिन्दुओं की ही भाँति चौके-चूल्हे की नीति का व्यवहार करते हैं। हिन्दू-मुस्लिम भेद के लिए, यहाँ भी कोई टिकाव नहीं मिलता। हमारे देवता अलग हैं, उनके देवता अलग। पुराणों में देवता को चाहे कुछ कहा जाय, हम तो प्रतिमा को ही देवता मानते हैं। शिव और राम, और कृष्ण और विष्णु जैसे हमारे देवता हैं, वैसे ही मुहम्मद, अली और हुसैन आदि मुसलमानों के देवता या पूज्य पुरुष हैं। हमारे देवता जैसे त्याग, आत्मज्ञान, वीरता और संयम के लिए आदरणीय हैं, उसी भाँति मुस्लिम देवता भी हैं। अगर हम श्री रामचन्द्र को स्मरणीय समझ सकते हैं, तो कोई कारण नहीं, कि हुसैन को उतना ही आदरणीय न समझें। हम मन्दिरों में पूजा करने जाते हैं, मुसलमान मसजिदों में, ईसाई गिरिजाघरों में। मगर कोई जैनी या आर्य-समाजी मन्दिर में पूजा करने नहीं जाता। क्या इसलिए हम जैनियों या आर्य-समाजियों को अपने से पृथक् समझते हैं? सिख भी हमारे मन्दिरों में नहीं जाते। उनके गुरुद्वारे अलग हैं, पर इसलिए हम सिक्खों से लड़ने नहीं जाते। यों तो हिन्दू-हिन्दू में, जाति-जाति में, वर्ग-वर्ग में भेद है और उन भेदों पर हम लड़ने लगें जायँ, तो जीवन नरक-तुल्य हो जाय। तो जब हम इन भेदों को भूल जाते हैं, तो मसजिद में नमाज़ पढ़ना क्यों आपत्ति की बात समझी जाय। महात्मा गांधी तो गिरजा में भी प्रार्थना कर लेते हैं। यहाँ भी हमें हिन्दू-मुस्लिम भेद के लिए कोई आधार नहीं मिलता। तो क्या वह गऊ हत्या में है? या शिखा में? या जनेऊ में? जनेऊ तो आज कम से कम अस्सी फ़ीसदी हिन्दू नहीं पहनते, और शिखा भी

अब उतनी व्यापक वस्तु नहीं है। हम किसी हिन्दू को इसलिए अहिन्दू नहीं कह सकते, कि वह शिखाधारी नहीं है। बंगाल में शिखा का प्रचार नहीं। रही गऊ-हत्या। यह तो मालूम ही है कि अरब में गायें नहीं होतीं। वहाँ तो ऊँट और घोड़े ही पाये जाते हैं। भारत खेती का देश है, और यहाँ गाय को जितना महत्व दिया जाय उतना थोड़ा है। लेकिन आज क़ौल-क़सम लिया जाय तो शायद ऐसे बहुत कम राजे-महराजे या विदेश में शिक्षा प्राप्त करनेवाले हिन्दू निकलेंगे जो गौमांस न खा चुके हों। और उनमें से कितने ही आज हमारे नेता हैं, और हम उनके नामों पर जयघोष करते हैं। अछूत जातियाँ भी गौमांस खाती हैं, और आज हम उनके उत्थान के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। हमने उनके मन्दिरों में प्रवेश के निमित कोई शर्त नहीं लगायी और न लगानी चाहिए। हमें अख्तियार है, हम गऊ की पूजा करें, लेकिन हमें यह अख्तियार नहीं है, कि हम दूसरों को गऊ-पूजा के लिए बाध्य कर सकें। हम ज़्यादा से ज़्यादा यही कर सकते हैं, कि गौमांस-भक्षियों की न्यायबुद्धि को स्पर्श करें। फिर मुसलमानों में अधिकतर गौमांस वही लोग खाते हैं, जो ग़रीब हैं, और ग़रीब अधिकतर वही लोग हैं, जो किसी ज़माने में हिन्दुओं से तंग आकर मुसलमान हो गये थे। वे हिन्दू-समाज से जले हुए थे और उसे जलाना और चिढ़ाना चाहते थे। वही प्रवृत्ति उनमें अब तक चली आती है। जो मुसलमान हिन्दुओं के पड़ोस में देहातों में रहते हैं, वे प्रायः गौमांस से उतनी ही घृणा करते हैं जितनी साधारण हिन्दू। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि मुसलमान भी गौभक्त हों, तो उसका उपाय यही है कि हमारे और उनके बीच में घनिष्ठता-हो, परस्पर ऐक्य हो। तभी वे हमारे धार्मिक मनोभावों का आदर करेंगे। बहरहाल इस जाति-द्वेष का कारण गौहत्या नहीं है। और उर्दू-हिन्दी का झगड़ा तो थोड़े-से शिक्षितों तक ही महदूद है। अन्य प्रान्तों के मुसलमान उर्दू के भक्त नहीं और न हिन्दी के विरोधी हैं। वे जिस प्रान्त में रहते हैं, उसी की भाषा का व्यवहार करते हैं। सारांश यह, कि हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का कोई यथार्थ कारण नहीं नज़र आता। फिर भी वैमनस्य है और इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि हममें बहुत कम ऐसे महानुभाव हैं, जो इस वैमनस्य के ऊपर उठ सकें। खेद तो यह है, कि हमारे राष्ट्रीय नेता भी इस प्रवृत्ति से खाली नहीं हैं। और यही कारण है, कि हम एकता-एकता चिल्लाने पर भी, उस एकता से उतने ही दूर हैं। जरूरत यह है कि, जैसा हम पहले कह चुके हैं, कि हम ग़लत इतिहास को दिल से निकाल डालें और देश-काल को भली भाँति विचार करके अपनी धारणाएँ स्थिर करें। तब हम देखेंगे, कि जिन्हें हम अपना शत्रु समझते थे, उन्होंने वास्तव में दलितों का उद्धार किया है। हमारे जात-पाँत के कठोर बन्धनों को सरल किया है, और हमारी सभ्यता के विकास में सहायक हुए हैं। यह कोई छोटी और महत्वहीन बात नहीं है कि १८५७ के विद्रोह में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही ने जिसे अपना नेता बनाया, वह दिल्ली का शक्तिहीन बादशाह था। हिन्दू-मुसलमान नृपतियों

में पहले भी लड़ाइयाँ हुई हैं, पर वह लड़ाइयाँ धार्मिक द्वेष के कारण नहीं, स्पर्धा के कारण थीं, उसी तरह जैसे हिन्दू राजे आपस में लड़ा करते हैं। उन हिन्दू-मुस्लिम लड़ाइयों में हिन्दू सिपाही मुसलमानों की ओर होते थे, और मुसलमान सिपाही हिन्दुओं की ओर।

प्रोफेसर मुहम्मद हबीब ऑक्सन ने अपने 'मध्यकाल में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध' नाम से इस विषय पर एक विद्वतापूर्ण लेख लिखा है, जिसका एक अंश हम नकल करते हैं—

'कहा जाता है, कि हिन्दुओं को घोड़े पर सवार होने, तीर चलाने और जुलूस निकालने तथा स्नान और पूजा-पाठ का निषेध था, पर यह किम्वदन्तियाँ मौलिक प्रमाणों के ग़लत मुताला (अध्ययन) से पैदा हुई हैं। उस ज़माने का हिन्दू मज़हब संगठित और शक्तिशाली था। उसके साथ मुसलमान बादशाह इसलिए रवादारी बरतते थे, कि इसके सिवा दूसरी राह न थी।....उनके लिए साम्प्रदायिक संघर्ष का फल तबाही के सिवा और कुछ न होता। यह विचित्र बात है, कि मध्यकालीन इतिहास के राजनैतिक या ऐतिहासिक साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व का कोई छोटे से छोटा प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन इसका कारण यह नहीं है, कि हिन्दू इसके लिए तैयार न थे। नहीं! वह तो अपनी रण प्रियता के लिए बदनाम थे। लेकिन उस काल की किसी लड़ाई में भी हम सेनाओं को साम्प्रदायिक आधार पर लड़ते नहीं पाते। अफ़ग़ानी सिपाहियों का एक दस्ता तराइन की लड़ाई में राय पिथौरा के नीचे लड़ा था। मुसलमानों की एक पैदल सेना ने पानीपत की लड़ाई में मराठों की मदद की थी। असली हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई तो वास्तव में कभी हुई ही नहीं।'

नवम्बर १९३१

साम्प्रदायिक मताधिकार की घोषणा

कंजरवेटिव गवर्नमेन्ट की साम्प्रदायिक मताधिकार विषयक विज्ञप्ति ने हिन्दुओं को बहुत असन्तुष्ट कर दिया है और पंजाब के सिक्ख लोग तो सत्याग्रह करने का विचार कर रहे हैं। ऐसा कोई विख्यात हिन्दू या सिक्ख नेता नहीं है, जिसने अपना रोष न प्रकट किया हो। इसका कारण यही है कि इन महानुभावों ने अपने-अपने हिस्से के विषय में जो आशाएँ बाँध रखी थीं, वह विफल हो गयीं। विफल आशाएँ ही असन्तोष उत्पन्न किया करती हैं। वास्तव में वही हुआ, जिसका एक तरह से हमें विश्वास था। गवर्नमेंट के लिए इसके सिवा और क्या साधन था कि वह अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए किसी एक प्रमुख दल की शरण ले। सिक्ख इतने शक्तिशाली नहीं हैं, हिन्दू

इतने लचीले नहीं हैं। ऐसी दशा में मुसलमानों के सिवा और किस पर गवर्नमेन्ट की निगाह पड़ती।

× × ×

सरकार की दशा उस हारे हुए योधा की-सी है, जो एक खाई से दूसरी खाई में पीछे हटता हुआ अन्त को अन्तिम खाई में पहुँच जाता है। उस खाई के बाद सपाट मैदान है। या तो वह शत्रु को इस खाई में गिरा दे, या स्वयं अपने प्राण दे दे। इस अवस्था में वह विवश होकर अपने टूटे-फूटे शस्त्रों का प्रहार करता है। गवर्नमेंट किसी नीति से हमें हमारे अधिकारों से वंचित नहीं रख सकती थी, अतएव उसने अपना वही टूटा-फूटा शस्त्र निकाल लिया है, जिसका नाम है—डिवाइड एण्ड रूल।

× × ×

पर विजयी शत्रु पर शस्त्र का कोई असर न होगा। मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रांत, सी० पी० और आसाम में मुसलमानों को ज्यादा मताधिकार मिल जाने से परिस्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। मुसलमानों का अल्पमत बहुमत न बन सका, लेकिन न्याय दृष्टि से देखिए, तो इन दोनों प्रान्तों में बहुमत मुसलमानों ही को मिलना चाहिए। मुसलमान काफी संगठित हैं। यदि उन्हें बहुमत न दिया जाता, तब भी अपनी संख्या के कारण उन्हें बहुमत मिल जाता। पंजाब में सिक्खों और हिन्दुओं को मिलाकर भी मुसलमानों की संख्या अधिक है। अगर मुसलमानों में इतनी कमज़ोरी है कि वे जनरल निर्वाचन से डरते हैं, तो वे दया के पात्र हैं। हमारा उन पर रोष करना व्यर्थ के लिए मनो-मालिन्य बढ़ाना है। अन्य प्रान्तों में मुसलमानों को जो वेटेज (अतिरिक्त अधिकार) दिया गया है इससे बहुमत पर कोई असर नहीं पड़ता। पंजाब में हिन्दुओं और सिक्खों को वेटेज देने से मुसलमानों की प्रधानता ग़ायब हो जाती है। ऐसी दशा में हम उनके सिर कोई इलज़ाम नहीं रख सकते।

× × ×

फिर यह क्यों समझ लिया जाय कि मुसलमानों में बहुमत से हिन्दू या सिक्खों के हितों की हानि होगी। मुसलमानों का भारत पर कई सदियों तक राज रहा है। अगर मुसलमान उस ज़माने में हिन्दुओं को न कुचल सके, तो अब इसकी कोई संभावना नहीं रही। मुसलिम काल में इसकी काफी मिसालें मिलती हैं कि मुसलमानों के साथ हिन्दुओं ने सहयोग किया है। आज भी हिन्दू रियासतों में मुसलमान बड़े-बड़े पदों पर हैं। यह मिथ्या भ्रम है और इसे मन से निकाल डालने ही में देश का कल्याण है।

× × ×

इस वक्त हमारा कर्तव्य है कि मुसलमानों की सफलता पर उन्हें बधाई दें। मनोमालिन्य और द्वेष बढ़ाने से किसी की भी भलाई नहीं हो सकती। प्रतियोगिता में एक खिलाड़ी के जीतने पर शेष खिलाड़ियों का कर्तव्य यही होती है कि वे खुद हारते

हुए भी जीतनेवाले को मुबारकबाद दें और फिर उससे दूसरे मुकाबले में जीतने का उद्योग करते रहें। जीतनेवाला इसलिए क्यों बुरा समझा जाय कि वह जीत गया। इस मनोवृति में सिक्ख या हिन्दू भी वेटेज पाकर मुसलमानों में वही भय पैदा करेंगे, जो इस समय स्वयं उनके अन्दर है। अविश्वास से विश्वास नहीं पैदा हो सकता। हमारी लड़ाई मुसलमान भाइयों से नहीं है, गवर्नमेंट से है। आपस में लड़ने से गवर्नमेंट की जीत होगी। उसकी हार इसी में है कि हम डिवाइड एण्ड रूलवाली नीति को सफल न होने दें।

× × ×

साम्प्रदायिक भेद की नीति ही आपत्तिजनक है। गवर्नमेंट भारत को राष्ट्र नहीं समझती। हम अपने व्यवहार से उसे ऐसा समझने का अवसर भी नहीं देते। वह भारत को सम्प्रदायों की दृष्टि से देखती है। अतएव साम्प्रदायिक मताधिकार के लिए हम इतने इच्छुक हों, यह तो गवर्नमेंट की ही दृष्टि का समर्थन है। हमें यह दिखाना है—कि तुम चाहे हमें कितने ही टुकड़ों में बाँटो, हम परवाह नहीं करते। हम एक राष्ट्र हैं। इस भेद-नीति से हमारी राष्ट्रीयता को कुचलना संभव नहीं है।

२२ अगस्त १६३२

अब हमें क्या करना है

मताधिकार-सम्बन्धी सरकारी घोषणा निकल गयी। सरकार ने यह भी स्पष्ट कह दिया कि अब वह उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन करने को तैयार नहीं। हाँ, यदि भारतवाले आपस में कोई समझौता करके इस घोषणा के विरुद्ध कोई बात तय कर लेंगे, तो सरकार को उसके मानने में आपत्ति न होगी, लेकिन इस घोषणा से राष्ट्र के भिन्न-भिन्न दलों और संप्रदायों में जो परस्पर विरोधी भावनाएँ पैदा हो रही हैं, उनसे हमें भय हो रहा है कि कहीं इतिहास अपने को फिर न दुहरावे और वही १६२६-२७ वाली परिस्थिति न उत्पन्न हो जावे। यदि ऐसा हुआ, तो राष्ट्र के लिए अभूतपूर्व संकट का सामना होगा। हम मुँह से चाहे कितना ही कहे जायँ, कि हमें मुसलमानों और अपने दलित भाइयों से कोई शिकायत नहीं है, लेकिन जब हिन्दू और सिक्ख दोनों ही अपनी पूरी शक्ति से इस घोषणा की निन्दा और विरोध करेंगे तो स्वभावतः मुसलमानों और अन्य दलों को जिनके साथ कुछ रिआयत की गयी है, बुरा लगेगा और वे भी अपने नव प्राप्त अधिकार को स्वरक्षित रखने के लिए जी जान से उद्योग करेंगे। नतीजा यह होगा, कि देश दो भागों में विभक्त हो जायगा। एक ओर सरकार और मुसलमानों तथा अछूतों का बड़ा हिस्सा होगा, दूसरी ओर हिन्दू और सिक्खों का सम्पूर्ण भाग। इस नये

संघर्ष का अन्त क्या होगा, यह तो कोई ज्योतिषी ही जाने, पर देश में जो भीषण परि-स्थिति उत्पन्न होगी, उसका अनुमान करने के लिए विशेष कल्पना की जरूरत नहीं। कानपुर और बम्बई में हम उसका नमूना देख चुके हैं।

इसलिए इस समय हमें बड़ी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता से काम लेना पड़ेगा। दुनिया की निगाहें हमारी तरफ़ लगी हुई हैं। यदि हमने मताधिकारों के लिए आपस में लड़ाई ठान ली, तो मानों हम प्रत्यक्ष रूप से सरकार की इस दलील का समर्थन करेंगे, कि भारत में राष्ट्रीयता का भाव नहीं है। जहाँ एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय से इतना सशंक है, वहाँ राष्ट्रीयता कहाँ। सरकार हमें भिन्न संप्रदायों के रूप में देखती है। हम क्यों अपने को उस रूप में देखें। स्वराज्य से हमारा उद्देश्य यही तो है कि भारत का शासन भारतवासियों के हित की दृष्टि से किया जाय। जब मुसलमानों को कुछ अधिकार अधिक मिल जाते हैं, तो हमें क्यों तुरंत यह विचार होता है कि हमारे साथ अन्याय हुआ। कारण यही है, कि हम मुँह से चाहे राष्ट्रीयता की दुहाई दें, दिल में हम सभी संप्रदाय-वादी हैं और हरेक बात को संप्रदाय की आँखों से देखते हैं। क्या यह सत्य नहीं है, कि जब कोई साम्प्रदायिक दंगा हो जाता है, तो हम तुरन्त यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि उस दंगे में कितने हिन्दू हताहत हुए और कितने मुसलमान। अगर हिन्दुओं को संख्या अधिक होती है, तो हम कितने उत्तेजित हो जाते हैं ! इसके विपरीत अगर मुसलमानों की संख्या अधिक होती, तो हम आराम की साँस लेते हैं। यह मनोवृत्ति राष्ट्रीयता का गला घोटनेवाली है। हमें इस मनोवृत्ति का मूलोच्छेद करना पड़ेगा, अन्यथा हमारा राष्ट्र मधुर स्वप्न ही रहेगा। जब हम सांप्रदायिक भावों पर विजय नहीं पा सके, तो हम मुसलमानों से क्यों आशा रखते हैं, कि वे ज्यादा उदार हो जायँ। यह वही सांप्रदायिक मनोवृत्ति है, जो इस समय देश के इस सिरे से उस सिरे तक नंगा नाच कर रही है और विदेश में हमें हास्यास्पद बना रही है और मजा यह है, कि अभी किसी के फ़रिश्तों को खबर नहीं कि कौंसिलों को अधिकार मिलेंगे—अभी तो केवल जगहों की संख्या का मामला है !

हम यह क्यों भूल जाते हैं कि व्यवहारिक शासन में सांप्रदायिक प्रश्न बहुत कम आते हैं। कुरबानी और बाजे के झगड़े, अथवा हिन्दी-उर्दू का मामला ही शासन के मुख्य अंग नहीं हैं। शासन के अस्सी फ़ी सदी काम ऐसे हैं, जिनमें हिन्दू-मुसलिम सवाल पैदा ही नहीं होता। वह अधिकांश सामाजिक और आर्थिक होते हैं। फिर यह भी मनो-वैज्ञानिक सत्य है, कि जिम्मेदारी न रहने की दशा में हम जिन बातों का विरोध करते हैं, उन्हीं बातों का, जिम्मेदारी आ जाने पर समर्थन करने लगते हैं। हमें आशा रखनी चाहिए कि मुसलिम दल ने जिन सांप्रदायिक माँगों के लिए अब तक जोर दिया है, उनके लिए अब वे आग्रह न करेंगे।

यह हम नहीं कहते, सरकार की घोषणा निर्दोष है। उसका सांप्रदायिक आधार

ही आपत्तिजनक है। उसमें कतर-ब्योंत करके हम उसका रूप नहीं बदल सकते। हिन्दुओं और सिक्खों को दस-पाँच जगह और मिल जाने से वह कम आपत्ति जनक न रहेगा, लेकिन उसका संप्रदायित्व कैसे मिटेगा? क्या हिन्दू अथवा सिक्ख आंदोलन से? इससे तो परस्पर द्वेष की आग और भी भड़केगी और राष्ट्र घातक भावनाएँ और भी प्रबल होंगी। इसका केवल एक ही उपाय है—सांप्रदायिक मनोवृत्ति का शमन। जिस दिन हम इस मनोवृत्ति को त्याग देंगे, उसी दिन मुसलमानों में भी उसका ह्रास हो जायगा। अब आनेवाले बरसों में इसी सांप्रदायिकता से संग्राम करना है—सहिष्णुता, विश्वास, धैर्य और सेवा के शस्त्रों से। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।

२६ अगस्त १६३२

हिन्दू सभा की निष्क्रियता

हिन्दू-सभा का अधिवेशन दिल्ली में हुआ अवश्य, पर उसका होना न होना दोनों बराबर। अधिवेशन क्या हुआ, केवल रस्म निभाई गयी। कार्यकर्ताओं ही में उत्साह न था, तो जनता में कहाँ से होता। कुछ इस तरह का तमाशा-सा हुआ जैसे कोई देहातियों के सामने अँग्रेजी में बात करे। जनता हिन्दू-सभा को केवल नाम से जानती है। उसका कोई काम उसने नहीं देखा। दो एक बार सभा ने कुछ कर दिखाने का इरादा भी किया, पर सामने खतरा देखकर बैठ रही। ऐसी संस्था के लिए जो केवल काउंसिलों में जगहों के लिए झगड़ती रहे, जनता के हृदय में कोई स्थान नहीं। अब वह किसी संस्था की दृढ़ता और सत्यता की परीक्षा उसके नेताओं के त्याग से करती है। जहाँ त्याग नहीं, वहाँ कुछ नहीं। ऐसी निर्जीव संस्थाओं से वह कोई आशा नहीं रखती और न उसमें सम्मिलित होती है। हाँ, थोड़ा-बहुत चंदा भले ही दे देगी। देश के सामने इस समय सबसे बड़ा प्रश्न समाज से ऊँच-नीच, छूत-अछूत के भेद को मिटाना है। आज आवेश में कुछ मंदिर खोल दिये गये, और दो एक जगह भेद-रहित भोज कर दिये गये, इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि यह भाव हिन्दू समाज से निकल गया। अभी तो केवल बीज पड़ा है। फल-फूल लगने तक बड़े-बड़े साधन करने पड़ेंगे, गोड़ना, सींचना, जानवरों से बचाना यह सभी क्रियाएँ पड़ी हुई हैं। ज़रा भी बेपरवाई या असावधानी हुई और पौधा सूखा। हिन्दू-सभा ने इस महत्वपूर्ण विषय को स्पर्श तक न किया। प्रस्तावों से काम चलता तो अब तक भारतवर्ष स्वर्ग बन चुका होता। प्रस्तावों का मूल्य तब है, जब उसके पीछे क्रिया शक्ति हो। हिन्दू-सभा ने इस शक्ति का कोई परिचय नहीं दिया। हिन्दू जाति के सामने उसने कोई आदेश, कोई प्रोग्राम असली सूरत में नहीं रखा। संभव है कि उसके नेताओं के मन में कुछ और हो पर वहाँ तो "चुप, चुप" की पालिसी की दुहाई फिर

रही थी। वह ज़माना गया, जब "चुप-चुप" की नीति से जनता सन्तुष्ट हो जाती थी। अब तो वही संस्था जीवित रह सकती है, जो त्याग और बलिदान की भावना लिये क्षेत्र में आये। जिनमें यह भावना नहीं, उन्हें खामखाह सभाएँ करने की कोई ज़रूरत नहीं। "शेर गुफतन चे ज़रूर ?"

५ अक्टूबर १६३२

मौलाना शौकतअली की गहरी सूझ

मौलाना शौकतअली ने हाल में एक बड़े मारके की बात कही है, जैसा वह अकसर कहा करते हैं। आप फरमाते हैं कि यदि हिन्दूजाति से जात-पाँत का भेद-भाव मिट जाय और नौ अरब का राष्ट्र-ऋण चुका दिया जाय, तो वह पृथक् निर्वाचन से दस्तबरदार हो जायँगे। इन दोनों बातों का पृथक् निर्वाचन से क्या संबंध है, यह हमारी समझ में नहीं आता। यह तो ऐसा ही है कि यदि हिन्दू मूर्ति-पूजा छोड़ दें और रसूल पर ईमान लावें, तो वह पृथक् निर्वाचन छोड़ देंगे। जात-पाँत का भेद, तो खैर एक ऐसा प्रश्न है, जिसे हिन्दू जाति खुद तय कर सकती है, लेकिन यह नौ अरब का ऋण कौन चुकावे ! क्या यह भी हिन्दुओं ही को चुकाना चाहिए ? ऋण सरकार ने लिया था, सरकार ने खर्च किया। सरकार उसे अदा करेगी। इसका अभी फैसला होना बाक़ी है कि इसका कौन-सा भाग भारत की भावी सरकार को स्वीकार करना पड़ेगा और कौन-सा भाग ब्रिटिश-सरकार को। लेकिन मौलाना साहब का फरमान है कि हिन्दू यह क़र्ज़ा चुका दें। इन दामों तो सम्मिलित निर्वाचन लेना शायद ही हिन्दू-जाति को मंजूर हो। पृथक् निर्वाचन को मुसलिम भाई चाहे अभी कई साल अपने लिए अक्सीर समझते रहें, लेकिन एक दिन आवेगा, जब वह देखेंगे कि इस पृथक्ता से उन्हें लाभ नहीं, बहुत हानि हो रही है। अल्पमतवाला समुदाय बहुमत में सम्मिलित रहकर सारे बहुमत को अपनी मुट्ठी में कर सकता है। वह अपना संगठित दबाव डालकर बहुमत को जिस तरफ चाहे घुमा सकता है, नचा सकता है, पृथक हो जाने से उसके प्रभाव का क्षेत्र बहुत तंग हो जाता है। हिन्दुओं में जैसी फूट और प्रतिद्वंद्विता है, उससे मुसलिम जाति बहुत बड़ा फ़ायदा उठा सकती थी। हिन्दू कभी इतने संगठित हो सकेंगे कि एकमत होकर मुसलमानों का बहिष्कार कर दें, यह असम्भव है। भिन्न-भिन्न राजनैतिक-दल रहेंगे ही। मुसलमान उनके अन्दर रहकर जो कुछ चाहते, लेते, जो कुछ चाहते करा सकते। अलग जाकर उन्होंने यह सुनहरा अवसर खो दिया है और इसके लिए उन्हें पछताना पड़ेगा। अगर यह समझा जाता हो कि हिन्दू अपने स्वार्थ से पृथक् निर्वाचन को हटाना चाहते हैं, तो उन पर अन्याय है। हिन्दू जानते हैं कि मुसलमानों से

मिलने में उनकी सरासर हानि है। फिर भी वह मिलना चाहते हैं। किसलिए? केवल इसीलिए कि वह भारत को संयुक्त राष्ट्र बनाना चाहते हैं और उस एकता के लिए अपने को मिटा देने पर भी तैयार हैं।

५ अक्टूबर १९३२

मुसलिम सर्व-दल-सम्मेलन

जिस वक्त यह पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, लखनऊ में वह महत्वपूर्ण मुसलिम-सर्व-दल सम्मेलन हो रहा है, जिसकी सफलता भारत के राष्ट्रीय जीवन में प्रेम की स्फूर्ति डाल देगी। राष्ट्र-विच्छेद की जो क्रिया गोलमेज सभा में शुरू हुई थी और जिसे प्रधान मंत्री मि० रैमज़े मैकडोनल्ड के बँटवारे ने पूरा कर दिया था, वह भारत-प्राण गांधी के तप के वरदान से इस तरह छिन्न-भिन हो गयी, जैसे रवि-ज्योति से कुहरे के बादल फट जाते हैं। उसी पावन तप का यह वरदान है कि हिन्दू-समाज की नसों में समाया हुआ भेद-भाव और उसके प्राणों में घुसी हुई अस्पृश्यता अब अंध-विश्वास और मूर्खता का आश्रय खोजती फिरती है। यह सत्य है कि जन्म-जन्मान्तरों का कोढ़ एक बार के गंगा-स्नान से नहीं मिट सकता लेकिन जिस वेग से परिष्कार की धारा चल रही है, वह बहुत ही आशा-जनक है। आज हम हिन्दूधर्म के आचार्यों को राष्ट्रीयता के इस अदम्य प्रवाह में बहते देख रहे हैं, वह अपने सामने सारी विघ्न-बाधाओं को बहाये लिये जाता है। यह उस तप का पहला वरदान था। उसका दूसरा वरदान जो पहले से कहीं व्यापक और युगांतर उत्पन्न करनेवाला है, यही मुसलिम सम्मेलन है। वह मौलाना शौकतअली, जो गत पाँच-छह साल से हिन्दू जाति के सामने आस्तीनें चढ़ाये खड़े थे, आज उस वरदान के प्रताप से राष्ट्रीयता के उपासक बने नजर आते हैं। वह भी भारत का सर्वदल सम्मेलन हो था, जिससे असंतुष्ट होकर मौलाना विरोधियों के कैम्प में चले गये थे। वह सम्मेलन भी लखनऊ में ही हुआ था। इतने दिनों तक प्रतिकूल वातावरण के अनुभव के बाद हमारा वह मुसलिम नेता फिर हमारी ओर प्रेम से हाथ बढ़ा रहा है। कई साल पहले का वह मंगलमय दृश्य हमारे सामने आ रहा है, जब महात्मा गांधी और दोनों अली भाई एक ही प्लेट-फार्म पर खड़े नज़र आते थे। आज स्वर्गीय मौलाना मुहम्मदअली की आत्मा स्वर्ग में बैठी हुई बिछुड़े भाइयों के इस मिलन पर खुश हो रही होगी। वह अमर शब्द किसे भूल सकते हैं, जो गोलमेज़ सभा के अवसर पर उनके मुख से निकले थे—

"या तो मैं स्वराज्य लेकर जाऊँगा, या यहीं मेरी कब्र बनेगी।"

इन शब्दों में स्वदेश-प्रेम का कितना ऊँचा आदर्श था और वह प्रतिज्ञा कितनी

सच्ची निकली। ऐसी वीर आत्माओं के लिए अधिकार-लोलुप मुसलिम सम्प्रदाय-वादियों में क्या आकर्षण हो सकता था। आश्चर्य यही है कि इतने दिनों मौलाना कैसे उनके बीच में रहे। यहाँ हमें भीष्मपितामह का वह कथन याद आता है, जो उन्होंने दुर्योधन के पक्ष में लड़ते समय अपनी सफ़ाई देते हुए कहा था। वीर आत्माएँ कुछ दिनों के लिए चाहे विचलित हो जायँ, लेकिन उनकी अन्तःप्रेरणा एक न एक दिन अवश्य उन पर काबू पा लेती है और उन्हें पुराने कार्य-क्षेत्र की ओर घसीट लाती है। जमैयतुलउलेमा और मुसलिम राष्ट्रीय दल तो पहले ही एकता का हामी था, अब मौलाना शौकतअली के सहयोग से खिलाफ़त पार्टी का सहयोग भी मिल गया, जो इन दोनों दलों से ज्यादा प्रभावशाली है। अब केवल मुसलिम कान्फ्रेंस दल इस सम्मेलन से अलग है, जिसके नेता डा० सर इक़बाल, डा० शफाअत अहमद खाँ आदि हैं। इस दल ने सम्मेलन में शरीक होने से इंकार कर दिया है। वह कहते हैं हिन्दुओं की ओर से शुरूआत होना चाहिए। इससे उनका क्या आशय है, यह तो वही जानें। हिन्दुओं ने तो केवल बचनों से ही नहीं, कर्म से सिद्ध कर दिया कि वह राष्ट्रीयता के हितार्थ हरेक समझौते के लिए तैयार हैं। क्या विश्व कवि डा० ठाकुर, पं० मदन मोहन मालवीय, डाक्टर सर तेजबहादुर सप्रू आदि ने बिना किसी आधार के ही बातचीत शुरू की थी? मगर उस दल के इंकार का रहस्य वाइसराय के उस तार में है, जो उन्होंने मौलाना शौकतअली के तार के जवाब में दिया था। या उस पैग़ाम में जो सर आग़ाखाँ ने मुसलिम कान्फ्रेंस के नेताओं के नाम फ्रांस से भेजा था। इस दल का विश्वास साम्प्र-दायिक नीति है। राष्ट्रीयता को वह अभी तक सतर्क आँखों से देखता है और एकता के हरेक आयोजन की उपेक्षा करता है। मौलाना शौकतअली ने लखनऊ पहुँचने पर उस दल के नेताओं को जो खरी-खरी बातें सुनायी हैं, वह उनके स्वभावानुसार ही हैं। वह अपने मनोभाव नीतिज्ञों की भाषा में नहीं व्यक्त करते। उनकी भाषा और भाव दोनों ही उनके डील-डौल की तरह तेज और ललकार से भरे होते हैं—

"मुसलिम जनता शांति चाहती है। वह समझौता करने की इच्छुक है। वह कुछकर दिखाना चाहती है। इस समय मुसलमानों में तीन दल हैं—एक वह जो, काँग्रेस और हिन्दुओं का मुँह देखता है, दूसरा वह, जो शिमला के इशारे पर नाचता है। इन दोनों के बीच में मुसलमानों की बहुत बड़ी संख्या उनकी है, जो सम्मान के साथ समझौता चाहते हैं। उनके लिए एकता बड़े महत्व की चीज़ है और इस सम्मेलन का यही उद्देश्य है। मैं न काँग्रेसी हूँ, न मुसलिम राष्ट्रीय दल का मेम्बर हूँ। मैं तो केवल सेवक हूँ। वे सज्जन भी, जिनका मुझसे मतभेद है, यह स्वीकार करेंगे कि मैंने और मेरे सहकारियों ने मुसलिम हितों के लिए मुसलिम कान्फ्रेंस से कहीं अधिक सेवाएं की हैं। मुसलिम लीग का तो कहना ही क्या जो मर चुकी है, और सर मुहम्मद याकूब चाहे कितने ही शोबदे करें, उसमें जान नहीं डाल सकते। मैं मुसलमानों को काँग्रेस या शिमला का

मुँह ताकते नहीं देख सकता । हम मुसलमानों में सच्चा नागरिक जीवन चाहते हैं, और यह भी चाहते हैं कि हम गवर्नमेंट और हिन्दूजाति, दोनों के साथ न्याय और आदर का व्यवहार करें।"

लेकिन वाइसराय ने कह दिया है कि जब तक मुसलमान एकमत होकर आपस में कुछ निश्चय न करेंगे, वह प्रधानमंत्री के निर्णय में कोई परिवर्तन नहीं कर सकते।

अब देखना यह है कि दस-पाँच व्यक्तियों के न आने से ही कांफ्रेंस का महत्व कम हो जाता है, या उसमें हरेक प्रान्त और दल के मुसलिम प्रतिनिधि इतनी कसरत से आते हैं कि थोड़े से व्यक्तियों के न आने से उसके महत्व में कोई कमी नहीं आती। शिया पार्टी संयुक्त निर्वाचन के पक्ष में अपना मत दे चुकी है । राष्ट्रवादी मुसलमान, जमैयतुल उलेमा, खिलाफत पार्टी, यदि यह सभी पार्टियाँ एक बात निश्चित कर दें, तो अवश्य ही जनमत का दबाव इतना अधिक हो जायगा कि थोड़े से व्यक्तियों की उपेक्षा की जा सकेगी। फिर जिस मुसलिम कान्फ्रेंस दल के प्रधान डा० सर इकबाल हैं, उसी के उपप्रधान मौलाना शौकतअली और राजा साहब सलेमपुर हैं, जो इस सम्मेलन के पक्ष में हैं। बात यह है कि मुसलिम-कान्फ्रेंस-दल में पंजाबी मुसलमानों का बहुमत है और पंजाबी मुसलमानों को इस बटवारे में जो बहुमत प्राप्त हो गया है, उसे वे लोग छोड़ना नहीं चाहते।

समझौते के लिए अब तक कई विधान उपस्थित किये गये हैं, पर हमारी समझ में स्थायी विधान वही है, जिसका आधार प्रत्येक प्रान्त की संख्या पर हो। वेटेज अर्थात् संख्या से अधिक वोट का मिलना बिलकुल बन्द कर दिया जाय और वोट का अधिकार हरेक बालिग़ मर्द-औरत को दे दिया जाय। इस तरह हरेक प्रान्त में संप्रदायों की वोट-संख्या उसकी आबादी के अनुसार ही होगी । इस तरह पंजाब के छप्पन फी सदी मुसलमानों को छप्पन फ़ीसदी मेम्बरियाँ मिल जायँगी और चूँकि किसी प्रान्त में वेटेज का नियम न रहेगा, पंजाब के हिन्दू या सिक्ख, मुसलिम बहुमत को स्वीकार करेंगे। बंगाल और पंजाब में मुसलमानों की दो तिहाई संख्या रहती है। अन्य प्रान्तों में केवल एक तिहाई । जब वेटेज के परित्याग से दो तिहाई मुसलमानों का हित हो सकता है, तो केवल एक तिहाई के हित के लिए दो तिहाई के सिर वेटेज क्यों लाद दिया जाय? हमें आशा है, इन प्रश्नों पर यह सम्मेलन साफ़-साफ़ निर्णय कर सकेगा। तभी वह कोई स्कीम सर्व-सम्मति से हिन्दुओं के सामने रख सकेगा। जब तक मुसलमान खुद किसी एक बात पर एकमत नहीं हैं, हिन्दुओं के सामने कोई प्रस्ताव रखना समय का अपव्यय ही है।

नोट—यह लिखा जा चुका था कि ख़बर आयी, लखनऊ में सम्मेलन न होगा, क्योंकि उपस्थित नेताओं ने संयुक्त निर्वाचन स्वीकार कर लिया, और हिन्दुओं से बातचीत करने के लिए एक कमेटी बनायी गयी है। सम्मेलन ने मि० जिन्ना की शेष तेरह शर्तें बहुमत से स्वीकार कीं। —सम्पादक

१६ अक्टूबर १९३२

राष्ट्रीयता की विजय

लखनऊ के मुसलिम सम्मेलन ने एक मत से संयुक्त निर्वाचन स्वीकार कर लिया। बहुमत से नहीं, एकमत से। एकता की इच्छा सभी उपस्थित नेताओं में इतनी प्रबल थी कि इसका निर्णय करने के लिए सम्मेलन का बाक़ायदा जलसा करने की ज़रुरत ही न पड़ी। गांधी के तप में कितनी महान् शक्ति है। प्रधान मंत्री के बँटवारे ने समस्त राष्ट्र में निराशा फैला दी थी। ऐसा मालूम होने लगा था, कि अब दस-बारह बरस साम्प्रदायिकता का राज रहेगा। साम्प्रदायिकता अपने मोरचे से पीछे हटना तो दर किनार, और आगे क़दम बढ़ाती चली आती थी और अंत में उसने हिन्दू-समाज के उस क़िले पर छापा मारा, जो आज हज़ारों साल से आँधी और तूफान का सामना करता चला आता है। ऐसा जान पड़ता था, कि पुरानी फ़सलें इस नये युग के शस्त्रों के सामने खड़ी न रह सकेंगी। जब एक जगह दीवार टूट गयी, तो फिर शत्रुओं के घुस आने में क्या देर लगती है। शत्रु ने लक्ष्य भी उसी स्थान पर किया था, जो सबसे कमज़ोर है, लेकिन गांधी की तपस्या ने पाँसा पलट दिया और न-जाने कितनी दैवी-शक्ति लेकर सामने आ खड़ी हुई। देखते-देखते हवा बदल गयी और आज शत्रुओं से घिरी हुई राष्ट्रीयता अपने मोरचे से निकल कर साम्प्रदायिकता का संहार कर रही है। पूना में उसने पहली विजय पायी, मगर लखनऊ में उसने जो विजय प्राप्त की है, उसमें तो साम्प्रदायिकता के नीचे जैसे सुरंग लगाकर उसे उड़ा ही दिया। हिन्दुओं की ओर से मुसलमानों की जो शंका थी, उसे पूना के समझौते ने निर्मूल सिद्ध कर दिया। मुसलमानों ने देखा हिन्दू एकता के लिए कहाँ तक उत्सर्ग करने पर तैयार हैं। उन्होंने देखा कि हिन्दू जाति राष्ट्रीयता की आड़ में अपना अधिकार और प्रभुत्व बढ़ाने की इच्छुक नहीं है, बल्कि सच्ची लगन और पवित्र संकल्प से उसका आवाहन कर रही है। पूना का समझौता उनकी नेकनियती और न्याय-परता का ज्वलंत प्रमाण था, जिसके सुदृढ़ आधार पर ही राष्ट्रीयता निर्माण की जा सकती है। इस प्रमाण ने अविश्वास और सन्देह को दूर कर दिया, विश्वास उत्पन्न हुआ और आज हम देख रहे हैं कि मौलाना शौकतअली, डाक्टर जियाउद्दीन, हाफ़िज़ हिदायत हुसेन, राजा सलेमपुर आदि नेता, जो भेद-भाव के स्तम्भ समझे जाते थे, आज राष्ट्रीयता का स्वागत करने के लिए खड़े हैं। अब हमें ज्ञात हुआ कि मुसलिम नेता केवल हलके स्वार्थवश, या व्यक्तिगत दुर्भाव के कारण हम से पृथक् न थे, बल्कि उनमें भी राष्ट्रीयता की उतनी ही सच्ची लगन थी, उनकी नीयत भी उतनी साफ़ थी, केवल उन्हें हमारी नेकनीयती पर विश्वास न था, केवल वे राष्ट्रीयता को हिन्दुओं के अधिकार प्रेम का परदा समझते थे। अब यह परदा हट गया और दुनिया ने देख लिया कि भारत एक राष्ट्र है, अन्य राष्ट्रों की ही भाँति अनेक भेदों के होते हुए भी एक राष्ट्र है। धर्म और संस्कृति के अलग होने पर भी एक राष्ट्र है। मौलाना

शौकतअली ने विजय के उल्लास में एक वक्तव्य में कहा है—'हम पन्द्रह दिनों में भारत को संयुक्त राष्ट्र देखेंगे।' और हमें विश्वास है, उनकी यह पेशगोई सच्ची निकलेगी।

अब तक साम्प्रदायिक मुसलिम पार्टी का यह दावा था कि राष्ट्रवादी मुसलमान संख्या में बहुत थोड़े हैं, आम मुसलमान उनके साथ नहीं हैं। लखनऊ सम्मेलन ने उस दावे को बातिल सिद्ध कर दिया। ऐसी कोई मुसलिम संस्था नहीं है, जिसके प्रतिनिधि इस सम्मेलन में न शरीक हुए हों, यहाँ तक कि जिस मुसलिम कांफ्रेंस को मुसलमानों का सोलह आने प्रतिनिधि कहा जाता है, उसके तीन पिछले सभापति, वर्तमान उपसभापति और मंत्री तक आये थे। जमैयतुल उलमा, राष्ट्रीय मुसलिम दल और अहरार दल का तो कहना ही क्या। यह तो पहले ही से संयुक्त निर्वाचन के समर्थक हैं। इसलिए अब यह कहना कि मुसलिम बहुमत पृथक् निर्वाचन के पक्ष में हैं, सत्य की आँखों में धूल झोंकना है। फिर भी शिमला-पार्टी या इक़बाल-पार्टी के गिने-गिनाये नेता अपनी खिसियाहट को मिटाने के लिए इस सम्मेलन के प्रतिनिधित्व को स्वीकार नहीं करते। इक़बाल-पार्टी के एक प्रमुख नेता डा० शफ़ाअत अहमदखाँ ने फ़रमाया है—इस सम्मेलन में अधिकांश मुसलिम संस्थाओं के प्रतिनिधि नहीं शरीक थे। डाक्टर ने उन संस्थाओं के नाम बताने की कृपा नहीं की, जिनके प्रतिनिधि इस सम्मेलन में न आये हों, वास्तव में ऐसी संस्थाओं का अस्तित्व उनके कल्पना-जगत से बाहर और कहीं नहीं है। हाँ, यह बहुत संभव है, अपनी लाज रखने के लिए इस अवसर पर ऐसी संस्थाएँ खड़ी कर दी जायँ। ऐसा पहले भी किया गया है और अब भी किया जायगा, लेकिन इन चालों से भारत के राष्ट्रीय प्रवाह को नहीं रोका जा सकता। इक़बाल-पार्टी को बहुत जल्द मालूम हो जायगा कि अब उसकी पुश्त पर कोई शक्ति नहीं है। उसकी क़लई खुलते ही सरकार भी उससे मुँह फेर लेगी, यह निश्चित है। इस पार्टी को उस दिन के लिए तैयार रहना चाहिए। मुसलिम जनता को उन्होंने बहुत सब्ज़ बाग दिखाये हैं, पर वह जनता अब उनके चकमे में न आयेगी।

सम्मेलन ने स्व० मौलाना मुहम्मदअली के सिद्धांत को हिन्दुओं से समझौते का आधार माना है। इस सिद्धांत का तत्व यह है कि संयुक्त निर्वाचन में मुसलमानों की जगहें स्वरक्षित कर दी जायँ और हरेक हिन्दू या मुसलमान उम्मेदवार के लिए दूसरे सम्प्रदाय के कुछ वोट अनिवार्य कर दिये जायँ। ऐसी दशा में वही हिन्दू मेम्बर प्रतिनिधि चुना जा सकेगा, जिस पर मुसलमानों को भी विश्वास हो। इसी तरह वही मुसलमान उम्मेदवार चुना जायगा, जो हिन्दुओं का विश्वासपात्र होगा। हिन्दू-द्रोही मुसलमान या मुसलिम-द्रोही हिन्दुओं के लिए तब व्यवस्थापक सभाओं में एक दूसरे के विरुद्ध ज़हर उगलने का कोई प्रलोभन न रह जायगा और सच्चे राष्ट्रवादी हिन्दू और मुसलमान मेम्बर ही राष्ट्र के प्रतिनिधि हो सकेंगे। हमें आशा है, आनेवाले हिन्दू-मुसलिम सम्मेलन

में इस सिद्धांत को एक मत से स्वीकार कर लिया जायगा। आपस के अविश्वास को मिटाने के लिए इससे उत्तम दूसरा उपाय नहीं है। इसी व्यवस्था की सफलता पर अवैध संयुक्त निर्वाचन का दार-मदार है, जो राष्ट्रीयता का ध्येय है।

सम्मेलन ने मि० जिन्ना की चौदह शर्तों में पृथक् निर्वाचन के सिवा और तेरह शर्तों को भी हिन्दू-मुसलिम समझौते का आधार माना है। मि० जिन्ना की वह शर्तें केवल आपस के अविश्वास के कारण पेश की गयी थीं। ज्योंही यह अविश्वास दूर हो गया, उनकी कोई ज़रूरत न रह जायगी। सिंध को पृथक् सूबा बनाने की माँग का कारण केवल अविश्वास है। लेकिन जब सिंध की आमदनी ही इतनी नहीं है कि वह अपना ख़र्च सँभाल सके, तो हमारे विचार में उसको पृथक् होने का कोई हक़ नहीं है। दूसरे प्रान्तों की सहायता के भरोसे अलग होना तो वैसा ही है, जैसे एक भाई अपने दूसरे भाइयों से अलग तो हो जाय, पर खाना खाते समय उन्हीं के साथ जा बैठे। नौकरियों के लिए भी जाति या संप्रदाय की क़ैद नीति के विरुद्ध है। यहाँ तो योग्यता ही को प्रधानता मिलनी चाहिए। सरहदी सूबे में मुसलिम बहुमत ने अभी हाल में योग्यता की शर्त को स्वीकार करके अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। कोई वजह नहीं है कि सम्पूर्ण राष्ट्र में यही नीति क्यों न स्वीकार कर ली जाय। फिर इस वक्त जो सरकारी नौकरियों पर लोग इतना टूट रहे हैं, इसका एकमात्र कारण है कि सरकारी पदों का वेतन बहुत बढ़ गया है। उसी लियाक़त का आदमी कोई दूसरा काम करके इतने रुपये नहीं कमा सकता। जब देश में जिम्मेदार हुकूमत होगी, तो यह लूट न रहेगी, और लोग दूसरे काम करके उतना ही धन कमा सकेंगे, जितना सरकारी नौकरी में। तब पदों के लिए इतनी छीना-झपटी न होगी। हमें आशा है कि आनेवाले हिन्दू-मुसलिम सम्मेलन में दोनों तरफ़ से सद्भाव और शुभ कामना की स्पिरिट दिखायी जायगी और किसी बात पर इतना न अड़ा जायगा कि आपस में रंजिश हो जाय।

ईश्वर से हमारी यही कामना है कि हिन्दू मुसलिम समझौता सफल हो और भारत एक राष्ट्र और एकात्मा होकर अपने अभ्युदय के पथ पर अग्रसर हो।

२६ अक्टूबर १९३२

स्वर्गीय मौलाना मुहम्मदअली का फ़ारमूला

लखनऊ की कान्फ्रेन्स तथा वर्तमान हिन्दू-मुसलिम संधि चर्चा में स्व० मौलाना मुहम्मदअली के प्रस्ताव तथा मुसलिम कान्फ्रेन्स की तेरह शर्तों का ज़िक्र बार-बार हुआ है। मौलाना मुहम्मदअली के प्रस्तावों के अनुसार कौंसिलों या एसेम्बली के किसी भी उम्मेदवार के लिए दो आवश्यक शर्तें होंगी—

१— वह दूसरे सम्प्रदाय (मुसलमान के लिए हिन्दू जाति) के कम से कम दस फीसदी मत प्राप्त करें।

२— अपने सम्प्रदाय के कम से कम चालीस फ़ी सदी मत प्राप्त करें।

३— यदि कोई उम्मीदवार सजातीय निर्वाचकों का चालीस फीसदी मत प्राप्त न कर सके, तो निर्णय बहुमत के अनुसार हो।

मि० जिन्ना की प्रस्तावित मुसलमानों की तेरह माँगें निम्नलिखित हैं—

१— सरकार का भावी शासन फेडरल होना चाहिए।

२— अवशिष्ट अधिकार प्रान्तों को मिलने चाहिए।

३— बिलोचिस्तान में सुधारों को चालू किया जाय।

४— संधि का विच्छेद।

५— सीमा प्रान्त को समान अधिकार।

६— पंजाब और बंगाल में मुसलमानों का स्थिर बहुमत।

७— फेडरल एसेम्बली में मुसलमानों का एक तिहाई प्रतिनिधित्व।

८— मुसलिम अल्पसंख्यकों का आबादी के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व।

९— व्यवस्थापिका सभाओं में कोई एक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखनेवाला ऐसा बिल पेश न हो और प्रस्ताव पास न किया जाय, जिसके विरोध में उस समुदाय के तीन चौथाई सदस्य हों।

१०— धार्मिक और संस्कृति सम्बन्धी स्वतन्त्रता की रक्षा।

११— प्रान्तीय या संघ सरकार के मंत्रिमन्डल में दो तिहाई मन्त्री मुसलमान हों।

१२— सरकारी नौकरियों में योग्यता को देखते हुए मुसलमानों को नौकरियों का कम से कम अनुपात नियत कर दिया जाय। और

१३— शासन विधान में कोई भी परिवर्तन तब तक न किया जाय, जब तक फेडरेशन को बनानेवाले सब दलों की सहमति न हो।

इन्हीं शर्तों को जनवरी १९२९ में आगा खाँ की अध्यक्षता में आल इंडिया मुस्लिम कान्फ्रेंस ने पास किया था। इन्हीं शर्तों को लखनऊ कान्फ्रेंस ने स्वीकृत किया है।

२६ अक्टूबर १९३२

एकता-सम्मेलन

प्रयाग में एकता-सम्मेलन की तैयारियाँ हो रही हैं। मौलाना शौकतअली प्रयाग आकर महामना मालवीय जी से कुछ आवश्यक बातचीत करके बम्बई गये हैं और

वहाँ से सम्मेलन में शरीक होने के लिए जल्द लौटेंगे। नेताओं के पास बुलावे भेजे जा चुके हैं। कई नेता दूर प्रान्तों से सम्मेलन के लिए रवाना भी हो चुके हैं। ऐसे अवसर पर महात्मा जी का प्रयाग में मौजूद होना अनिवार्य था। एकता के सबसे बड़े मित्र महात्मा जी हैं। महात्मा जी ही वह व्यक्ति हैं, जिन पर हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, सभी जाति वालों का विश्वास है। इस सम्मेलन में महात्मा जी का होना महत्व की बात ही नहीं, अनिवार्य है। यदि यह सम्मेलन महात्मा जी के सभापतित्व में होता, तो इसकी सफलता की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ जातीं। यही सोचकर मौलाना शौकतअली ने वाइसराय से महात्मा जी को छोड़ देने की प्रार्थना की थी, लेकिन वाइसराय ने उन्हें भी वही जवाब दिया, जो पहले सर शिव स्वामी ऐयर को दे चुके हैं। वह इसके सिवा और कुछ नहीं है, कि जब तक महात्मा गांधी आन्दोलन न बन्द कर देंगे, तब तक उन्हें नहीं छोड़ा जा सकता। अतएव हमें महात्मा जी की अनुपस्थिति में सम्मेलन के असफल होने का सन्देह हो रहा है और ऐसे समय पर जबकि देश एकता के लिए जोर मार रहा है, वाइसराय का यह जवाब बहुत ही निराशाजनक है। जिस समय लार्ड विलिंग्डन कैनाडा के गवर्नर जनरल थे, उन्होंने कैनेडियन क्लब में एक स्पीच देते हुए कहा था —

"यदि हम भारत को अपने मामलों को तय करने का अधिकार प्राप्त करने और भारतवासियों को अपने घर का स्वामी होने में सहायता देने की सच्ची इच्छा प्रकट करें, तो भारत बहुत बरसों तक यह इच्छा करेगा, कि हम वहाँ रहें, लेकिन याद रखना चाहिए, कि पूर्व बड़े वेग से बदल रहा है और भारत ने बराबरी का दरजा हासिल करने का निश्चय कर लिया है।"

जब हम लार्ड विलिंग्डन के श्रीमुख से निकले हुए इन शब्दों पर विचार करते हैं, तो इनके इस इंकार पर दुःख होता है।

लेकिन एक ओर तो एकता के सफल होने में यह बाधाएँ खड़ी हैं, उधर साम्प्रदायिकता के पक्षपाती पत्रों का पेट फूल रहा है कि कहीं सचमुच दोनों जातियों में मेल न हो जाय। दोनों सम्प्रदायों के लड़ते रहने में ही उनका मान और प्रभाव है। सम्भव है वे सच्चे दिल से एकता में हानियाँ ही हानियाँ देख रहे हों। यह भी सम्भव है कि उनकी शंकाएँ ठीक हों, लेकिन यह तो सभी को मानना पड़ेगा, कि मेल फूट से कहीं मंगलकारी है, और इस अवसर पर जब मेल के आयोजन किये जा रहे हैं, किसी की ज़बान या क़लम से ऐसी कोई बात न निकलनी चाहिए, जो सत्‌भाव की जगह द्वेष और विश्वास की जगह अविश्वास उत्पन्न करे। यहाँ हम सहयोगी उर्दू "कर्मवीर" के एक सम्पादकीय-लेख का यह अंश नकल करके दिखायेंगे कि साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को किस तरह उत्तेजित किया जा रहा है—

"यह क्या हो रहा है? हमारी आँखें बेकारी के ज़माने में क्या देख रही हैं। क्या पुराना इतिहास अपने-आप को दोहरा तो नहीं रहा है? क्या पहले लखनऊ-पैक्ट

ने हिन्दुस्तन की मिट्टी पलीद नहीं कर रक्खी, जो अब उस इतिहास को दोबारा हराने की ज़रूरत है। कहते हैं मौलाना शौकत अली ने हिन्दू लीडरों से कहा कि लड़-भिड़कर भी देख लिया, कुछ बनता नज़र नहीं आता, इसलिए हिन्दू-मुसलिम एकता ही करनी चाहिए। ज़माने का करिश्मा देखो, जो चन्द माह पहले बम्बई-जैसे खूबसूरत नगर को अपने स्वदेशवासियों के रक्त से रंजित देखना चाहते थे और लज्जित न थे, अब इतना उछल रहे हैं।"

सहयोगी यह दिखाने की असफल चेष्टा कर रहा है कि मालवीय जी, सर तेजबहादुर सप्रू, महात्मा गान्धी आदि पथ-भ्रष्ट हो गये हैं और केवल वही भारत को सच्चे रास्ते पर ले जा रहा है। दो भाई यदि आपस में लड़ने-भिड़ने और मुक़दमेबाजी करने के बाद चेत जाँय और आपस में समझौता करने का इरादा कर लें, तो क्या गड़े मुरदे उखाड़कर उनमें मेल न होने देना किसी ऊँची मनोवृत्ति का पता देता है? समझौता करते समय हमें पिछली बातों को भुला देना पड़ता है, गुस्से में हमारे मुँह से क्या-क्या अनाप-शनाप बातें निकल गयीं, हमने किस तरह एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा की, यह सारी कटुताएँ विस्मृत कर देनी पड़ती हैं। हम सदिच्छा के साथ, ईश्वर पर भरोसा करके प्रेम का हाथ फैलाते हैं। समझौते की यही एक सूरत है। यदि हम अविश्वास करते रहेंगे, तो दूसरा पक्ष भी हमारे ऊपर अविश्वास करता रहेगा। ऐसी दशा में मेल कहाँ से आयेगा।

सहयोगी आगे लिखता है—

"हमारे लिए तो पहले ही सम्प्रदायवादी और राष्ट्रवादी मुसलमानों में कोई अन्तर न था। केवल आँखों का धोखा था। अब यह धोखा खुलकर सामने आ गया.... लखनऊ-सम्मेलन इसी मानी में तो कामयाब कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता का दम भरनेवाले मुसलमान भी साम्प्रदायिकता की गंदी नाली में बह गये, लेकिन हिन्दुस्तानी दृष्टिकोण से लखनऊ-सम्मेलन असफल ही नहीं रहा, बल्कि उसने साम्प्रदायिकता की जड़ों को और मज़बूत कर दिया है। निस्संदेह यह सम्मेलन राष्ट्रवादी मुसलिम दल की मौत थी। उसे लखनऊ ही में दफन कर दिया जाय, तो अच्छा है।"

जब कुछ हिन्दू समाचार-पत्र इस तरह जहर उगल रहे हैं, तो एकता सम्मेलन की सफलता के विषय में हमें सन्देह है।

३१ अक्टूबर १९३२

आशा का केन्द्र

प्रयाग का एकता-सम्मेलन इस समय हमारी राष्ट्रीय आशा का केन्द्र बना हुआ

हैं। सम्पूर्ण भारत ही नहीं, सम्पूर्ण संसार उसकी तरफ़ आशा तथा भय की निगाहों से देख रहा है। उसके सामने बड़े महत्व के प्रश्न हैं—ऐसे प्रश्न, जिन्हें महात्मा गान्धी भी नहीं सुलझा सके, जिन्होंने कितने दिनों से भारत के भाग्य को संकट में डाल रखा है। भारत का भविष्य उन्हीं प्रश्नों के साहस-पूर्ण निर्णय पर मुनहसर है। अब देखना है कि हमारे नेता राजनैतिक बुद्धिमत्ता से काम लेकर उसे सुलझाने में सफल होते हैं या संकीर्णता और अविश्वास के अन्धकार में पड़कर पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। जिस उद्देश्य के सामने महात्मा जी को भी हार माननी पड़ी, उसको प्राप्त करना आसान नहीं है। भारत इस परीक्षाग्नि से निकल कर ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इतनी बड़ी जिम्मेदारी की कल्पना ही दिल को कमज़ोर कर देती है। आपस में अभी तक एक को दूसरे पर जो अविश्वास है, अभी तक दिलों में जो स्वार्थ घुसा हुआ है, अभी तक जो अभिमान समाया हुआ है, उसे देखकर हम कभी-कभी निराश हो जाते हैं। लेकिन यह सोचकर कि राष्ट्र के प्रति जिस जिम्मेदारी को हम जैसे अनाड़ी भी महसूस करते हैं, क्या उसे हमारे नेता उससे कहीं ज्यादा गहराई के साथ न महसूस करते होंगे, हमारी हिम्मत बँध जाती है।

वास्तव में जो कुछ मत-भेद है, वह केवल शिक्षित समुदाय के अधिकार और स्वार्थ का है। राष्ट्र के सामने जो समस्या है, उसका सम्बन्ध हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी से है। बेकारी से सभी दुखी हैं। दरिद्रता सभी का गला दबाये हुए है। नित नयी-नयी बीमारियाँ पैदा होती जा रही हैं। उसका वार सभी सम्प्रदायों पर समान रूप से होता है। क़र्ज़ की इल्लत में सभी गिरफ्तार हैं। ऐसी कोई सामाजिक, आर्थिक, या राजनैतिक दुरवस्था नहीं है, जिससे राष्ट्र के सभी अंग पीड़ित न हों। दरिद्रता, बीमारी, अशिक्षा, बेकारी, हिन्दू और मुसलमान का विचार नहीं करती। हमारे किसानों के सामने जो बाधाएँ हैं, उनसे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पीड़ित हैं। राष्ट्र का उद्धार इन समस्याओं के हल करने से होगा। कितने मेम्बर हिन्दू हैं, कितने मुसलमान, कितने ईसाई, कितने सिक्ख—किस पद पर मुसलमान पहुँच गया है, किस पर हिन्दू, किस पर सिक्ख, यह तो बिलकुल गौण बातें हैं, लेकिन इन्हीं गौण बातों को प्रधान समझा जा रहा है और थोड़े से व्यक्तियों के हित पर राष्ट्र का बलिदान किया जा रहा है। हमें अधिकार की इसलिए जरूरत नहीं है कि थोड़े से शिक्षित आदमियों को मोटी-मोटी असामियाँ मिलें और वह शान से जीवन व्यतीत करें, बल्कि इसलिए और केवल इसलिए कि हम राष्ट्र को सुखी और सन्तुष्ट कर सकें, शिक्षा का प्रचार कर सकें, कृषकों की हालत सुधार सकें, बेकारी की बला दूर कर सकें। देश में ऐसा वातावरण पैदा कर सकें कि छोटे से छोटे आदमी को भी रहने को झोंपड़े और भोजन के लिए रोटी की कमी न रहे, बड़े से बड़े आदमी छोटे से छोटे आदमी पर भी अत्याचार करके बेदाग़ न बच सकें, सूद के नाम से ग़रीबों को लूटा न जा सके, अदालतों में न्याय

अधिक मँहगा और संदिग्ध न हो, पूँजीपति मजूरों का रक्त चूसकर मोटे न हो सकें, जमींदार अपने असामियों पर मनमानी न कर सकें, राज कर्मचारी रिश्वत का बाजार न गर्म कर सकें, तरह-तरह के नये व्यवसाय खोले जाँय। हम अधिकार चाहते हैं—राष्ट्र-सेवा के लिए। अगर हमारे सामने यह आदर्श है, तो आपस में समझौता होने में कोई रुकावट नहीं हो सकती। अधिकार जहाँ सेवा की जगह हुकूमत और भोग का रूप धारण कर लेता है, वहीं अविश्वास और भ्रम उत्पन्न होता है।

हमें यह न भूलना चाहिए कि यह बीसवीं सदी है। साम्प्रदायिकता बहुत थोड़े दिनों की मेहमान है। भारत के सिवा कदाचित् संसार में उसे और कहीं शरण नहीं मिल सकती, इसीलिए वह निराशाजनित शक्ति के साथ इस आधार को पकड़े हुए है। आनेवाला युग आर्थिक संग्राम का युग होगा। हिन्दू कौन है, मुसलमान कौन है, इसे कोई पूछेगा भी नहीं। पूछ उन्हीं की होगी, जिनमें चरित्र है, साहस है, सेवा-भाव है, अध्यवसाय है। इस धँसती हुई जीर्ण दीवार को हम थूनियों से नहीं बचा सकते। उसके दिन पूरे हो चुके। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को हमें इच्छा के बल से दबाना पड़ेगा। धन्य हैं वह आत्माएँ, जो समय के अनुकूल चलती हैं। पंडित मदनमोहन मालवीय के नाम से मुसलमान का बच्चा-बच्चा जलता था। मौ० शौकतअली हिन्दू-मात्र के जानी दुश्मन समझे जाते थे, लेकिन आज मालवीय जी हिन्दू मुसलिम एकता के उपासक हैं और मौलाना साहब इत्तहाद के अलमबरदार। क्या हम हवा का रुख भी नहीं देख सकते? स्व० सर अलीइमाम मुसलिम लीग के जन्म-दाताओं में थे, जिसने पहले-पहल पृथक्ता का बीज बोया। उन्हीं सर अलीइमाम ने राष्ट्रीय मुसलिम सम्मेलन की सदारत की और संयुक्त निर्वाचन का समर्थन किया। मालवीय जी हिन्दू-सभा के जन्मदाता हैं। यही वह संस्था है, जिससे मुसलमान आतंकित हैं, पर आज वही मालवीय जी इस एकता-सम्मेलन की आत्मा हैं। केवल इसलिए कि इन महानुभावों ने समय की गति को पहचाना और अन्त में अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति पर विजय पायी।

हमारा हमेशा से यह खयाल रहा है, कि एकता के विषय में पहले हिन्दुओं को हाथ बढ़ाना होगा। वह संख्या में, धन में, शिक्षा में, मुसलमानों से बढ़े हुए हैं। मुसलमान अल्प संख्यक हैं। उन्हें हिन्दुओं से आशंकित होने के लिए आधार हो सकते हैं। उन्हें यह सुबहा हो सकता है, कि हिन्दू संगठित होकर उनको हानि पहुँचा सकते हैं। हिन्दुओं के लिए ऐसी शंका करने का कोई कारण नहीं है। यदि इस दिशा में भी उन्हें मुसलमानों से दबाये जाने की शंका है, तो यह उनकी बहुत बड़ी दुर्बलता है। इस भय को दिल से निकाल डालना होगा। यह समझना अन्याय है, कि कर्तव्य, नीति और विचार पर हिन्दुओं ही का ठीका है और जिन प्रान्तों में हिन्दू कम हैं, वहाँ मुसलमान उन पर जुल्म करेंगे। सीमा प्रान्त में मुसलमानों ने जिस राष्ट्रीय आदर्श का परिचय दिया है, वह ऐसी शंकाओं को शान्त करने के लिए काफ़ी है। अभी हाल में सीमाप्रान्त

की व्यवस्थापक सभा ने, जिसमें अधिकांश साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के मुसलमान ही हैं, यह निश्चय किया है, कि राजपद के लिए योग्यता ही एक शर्त है, हिन्दू और मुसलमान की कोई क़ैद नहीं।

मुसलमान भाइयों से हमारा यही निवेदन है, कि आप तेरह-चौदह शर्तों के गुलाम न बनिये। सिंध प्रान्त को अलग करने की माँग न तो दूरदर्शिता है, न नीति-कुशलता। बेशक अलग हो जाने पर वहाँ आपका बहुमत हो जायगा, लेकिन इसके लिए आपको कितना भारी मूल्य देना पड़ेगा! केवल साम्प्रदायिक भावुकता को प्रसन्न करने के लिए आप प्रान्त पर डेढ़ करोड़ का बोझ लाद रहे हैं। आप उस प्रान्त में से इतना धन केवल टैक्स लगाकर ही निकाल सकते हैं और टैक्स का भार अधिकतर मुसलमानों ही पर पड़ेगा, क्योंकि मुसलमानों की आबादी ज्यादा है। फिर नये प्रान्त में आपको वह अधिकार अभी न मिल सकेंगे जिन्हें बंबई प्रान्त के साथ रहकर आप भोग रहे हैं। धनाभाव के कारण शासन का खर्च भी पूरा न कर सकेंगे, तो उन विभागों के लिए धन कहाँ से आयेगा, जिन पर जनता की सुख-शान्ति का दारमदार है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सहयोगिता, कृषि-सुधार, आदि विभाग मर मिटेंगे। पंजाब और बंगाल की समस्या को हल करने का एक-मात्र यही उपाय है, कि अन्य प्रान्तों में आप Weightage से दस्तबरदार हो जायँ। यदि आप उन प्रान्तों में, जहाँ आपकी संख्या कम है, Weightage लेंगे, तो आपको उसी नीति से पंजाब और बंगाल में अल्पसंख्यक जातियों को ज़ायद निर्वाचनाधिकार देने पड़ेंगे। आप उससे किसी दलील से नहीं बच सकते। वेटेज को छोड़ने से आपकी किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। अल्पमत थोड़ी संख्या से हो, या कुछ बड़ी संख्या से हो, अल्पमत ही रहता है। हाँ, उससे पंजाब और बंगाल की समस्या हल हो जायगी। वहाँ की अल्पसंख्यक जातियाँ फिर ज़ायद निर्वाचन माँगने का साहस न कर सकेंगी।

हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना है, कि वह हमें सन्मार्ग दिखाये और हम साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो सकें।

७ नवम्बर १९३२

एकता-सम्मेलन

यद्यपि मौलना शौकतअली और कई अन्य नेता प्रयाग से चले गये हैं, पर एकता सम्मेलन बराबर जारी है। बंगाल, पंजाब और सिंध यह तीन समस्याएँ लोहे के चने थीं। बंगाल की समस्या तो क़रीब-क़रीब हल हो चुकी है, केवल पंजाब और सिंध

की समस्याओं का हल होना बाकी है। एक दिन पहले ऐसा भय होता था कि सिंध की चट्टान पर सम्मेलन की नाव टकराकर टूट जायगी, पर सिंध के हिन्दुओं ने इस अवसर पर जिस दूरदर्शिता और राष्ट्र प्रेम का परिचय दिया है, वह प्रशंसातीत है। हिन्दू नेताओं ने सिन्ध का अलग होना स्वीकार कर लिया है, अगर सम्मिलित निर्वाचन मुसलमानों-द्वारा स्वीकृत हो जाय और हिन्दुओं के लिए वही रिआयतें दे दी जाँय, जो मुसलमानों को हिन्दू प्रधान सूबों में प्राप्त है। सिन्ध अपना खर्च आप नहीं निकाल सकता। इसका हल यों किया गया है, कि सरकार से सहायता लेकर इस कमी को पूरा किया जाय। सालाना कमी अस्सी लाख की होगी। जब सरकार पचास करोड़ के लगभग सेना पर खर्च करती है, तो उसे सिन्ध के लिए अस्सी लाख की सहायता देने में ऐसी कोई बड़ी अड़चन न पड़ेगी। अब केवल पंजाब का मामला शेष है। हम आशा करते हैं, इस विषय में भी इसी दूरदर्शिता से काम लिया जायगा।

१४ नवम्बर १९३२

कराची महिला सम्मेलन : लेडी अब्दुलकादिर का भाषण

यह देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है, कि साम्प्रदायिकता की हवा ने हमारी महिलाओं पर बहुत कम असर किया है। प्रयागस्थ एकता-सम्मेलन के नेताओं को कई महिला-संस्थाओं ने साम्प्रदायिकता को मिटा देने का आदेश दिया था। उसी तरह के भाव कराची-महिला सम्मेलन में लेडी अब्दुलकादिर ने प्रकट किये हैं। आप बुड्ढों से तो इतनी उदारता की आशा नहीं रखतीं, इनके लिए अब किसी नयी बात को सीखना उतना ही कठिन है, जितना किसी पुरानी बात को भुलाना, लेकिन आनेवाली सन्तान को इस छूत से बचाना होगा, अतएव आपने अपनी बहनों को सलाह दी है, कि अपने बच्चों में राष्ट्रीय भावनाओं ही का संचार करें और किसी तरह के भेद-भाव उनमें न पैदा होने दें। हमें आशा है, हमारी माताएँ और बहनें इस आदेश को उसके सच्चे अर्थ में ग्रहण करेंगी और उनके द्वारा सच्चे भारतीय राष्ट्र का जन्म होगा।

१४ नवम्बर १९३२

सिंध का समझौता

प्रयाग के एकता-सम्मेलन के विषय में आशा और निराशा बँधती तथा नष्ट

होती रहती है। एक ओर सम्मेलन हो रहा है, महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, शेख अब्दुलमजीद तथा श्री विजयराघवाचारियर रोज पन्द्रह बीस घण्टे तक लगातार परिश्रम कर समझौते का मस्विदा तैयार करना चाहते हैं। दूसरी ओर कलकत्ते में मि० चैटर्जी तथा दिल्ली से एसेम्बली के सदस्य मि० बी० दास सम्मेलन सम्बन्धी अपनी असामयिक घोषणाओं से तथा सर मुहम्मद इक़बाल और मि० गज़नवी ऐसे "साम्प्रदायिकता की दीवाल पर चढ़कर ऊँचे उठनेवाले" राजनीतिज्ञों की प्रार्थनाओं से उसकी विफलता की भी गुंजाइश दीखती है, किन्तु भारत की राजनैतिक परिस्थिति इस समय इतनी डाँवाडोल है, तथा उसके सामने समस्याओं की इतनी भरमार है, कि यदि वह इसी प्रकार सम्मेलन करता और असफल होता जावेगा, तो उसका सर्वनाश विशेष दूर नहीं है। एसेम्बली में मि० दास की सेवाओं की सराहना करते हुए भी, हम अपने सामने के सबसे ताजे पत्रों में, सम्मेलन के प्रति उनकी निन्दात्मक तथा इलाहाबाद के बाद पुनः दिल्ली में एकता-सम्मेलन करने की सलाह की भर्त्सना किये बिना नहीं रह सकते। यह तो किसी बात को न होने देने का उपाय है। सम्मेलनों में प्रत्येक दल अपने स्वार्थ को उग्रतम रूप में पेश करता है, जितनी माँगें पेश की जाती हैं, उनका अर्धांश भी तो नहीं मिलता। फिर, माँग पेश करते ही नाउम्मेद हो जाना, निरी जल्द-बाज़ी है। एकता-सम्मेलन की जो थोड़ी बहुत रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं तथा हमें स्वयं इस विषय में जो निजी बातें ज्ञात हैं, उनसे यह स्पष्ट है, कि हिन्दुओं ने अपनी ओर से और मुसलमानों ने भी अपनी ओर से अधिक से अधिक खींचातानी करने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी, किन्तु इसके लिए किसी की निन्दा करना तब संभव था, जब किसी की ज़िद्द से समझौते की दीवाल चकनाचूर हो जाती, पर अभी तक के समाचारों से यह प्रकट है, कि उभयपक्ष ने अधिक से अधिक सहूलियत से काम लिया है और इसी प्रकार की प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप अन्त में सिन्ध के प्रश्न पर काम-चलाऊ समझौता हो ही गया, इसलिए, समूचा राष्ट्र इन निस्पृह तथा असीम साहस से परामर्श करनेवाले सम्मेलन-सदस्यों के प्रति कृतज्ञता से विनयावनत है, बधाई देता है।

सिन्ध का समझौता काम चलाऊ है, यह लिखते भी हमको संकोच नहीं होता। समझौता करनेवालों ने ही इसे दस वर्ष के लिए प्रयोगात्मक बनाया है तथा आर्थिक कमी को पूरा करने के लिए, निर्वाचन आदि के विषय में विचार करने के लिए, इस माह के अन्त में सिन्ध में ही सम्मेलन कर, निर्णय करने का निश्चय किया गया है, किन्तु इस द्वितीय सम्मेलन में कोई ऐसा प्रश्न विचारार्थ नहीं रखा गया है, जिससे समझौते की मूल बातों पर आघात हो सके। किस प्रकार से खर्च की कमी पूरी की जाय, यह कार्यक्रम तथा योजना बनाने की बात है, पर यह तय कर लेना कि निर्वाचन संयुक्त होगा, निर्वाचकों की योग्यता दोनों धर्मवालों के लिए समान होगी, मंत्रि-मंडल में कम से कम एक हिन्दू रहेगा, धर्म, तथा समाज की एकता तथा समानता, पहले ही स्वीकार

कर ली जावेगी, कौन्सिल में सैंतीस प्रतिशत हिन्दू मेम्बर होंगे, एक तिहाई सरकारी नौकरियाँ हिन्दुओं के लिए सुरक्षित रहेंगी तथा साठ प्रतिशत नौकरियों पर नियुक्त प्रतिस्पर्धा की परीक्षाओं द्वारा होगी, बहुत बड़ी बात है। यहाँ समूची योजना देने की जरूरत नहीं है। इतनी ही बातें बतला देने से पाठकों को यह स्पष्टतया मालूम हो जायेगा कि हिन्दू-हितों की रक्षा के लिए इतनी गुंजाइशें काफी हैं। बहुत-सी बातें केवल कोरे कागज़ से ही, समझौता करने से तय नहीं हो सकतीं। यदि अविश्वास का भूत ही मँडराता रहा, तो हरेक को एक दूसरे के काम में खराबी और नीयत में शुबहा मालूम होगा, पर जब दो समुदाय एक साथ ही एक देश के सुखदुःख के जिम्मेदार होंगे, जब दोनों का हित उस प्रान्त की समृद्धि तथा प्रगति के साथ जुड़ा रहेगा, तब पारस्परिक विरोध उतना कभी नहीं रह सकता और इस समय सिन्ध के समझौते में जो अधूरापन मालूम होता है, वह क्रियात्मक रूप में शासन-विधान को काम में लाने से दूर हो जावेगा।

यह अच्छा होता—शायद सरल होता—यदि हमारे पारस्परिक समझौते को प्रशस्त बनाने के लिए सरकार यह ऐलान कर देती कि वह केन्द्रीय शासन में जिम्मेदारी देगी, या कहाँ तक देगी, हमें अधिकार कहाँ तक या किस सीमा तक मिलेगा—यह न मालूम रहने के कारण ही आज इतनी गड़बड़ मची हुई है। एक प्रकार से हम अन्धकार में ही पैंतरे बदल रहे हैं। इसीलिए, द्वितीय गोलमेज़ के अवसर पर महात्मा जी ने साफ़ कहा था कि यदि सरकार हमारा हित चाहती है, तो पहले बतला दे कि वह कहाँ तक हमें अधिकार देगी, पर सरकार की ओर से केवल बुझौवल बुझायी जा रही है। सिन्ध का मसला अभी तक एकता-सम्मेलन में इसीलिए नहीं तय हो रहा था कि सिन्धी हिन्दू चाहते थे—हमें तभी बम्बई से पृथक् किया जावे, जब केन्द्रीय सरकार में जिम्मेदार शासन मिल जावे। मुसलमान किसी प्रकार की शर्त नहीं चाहते थे।

किन्तु, ईश्वर की कृपा से यह बाधा दूर हो गयी और समझौता हो गया। अब, आशा है कि पंजाब तथा बंगाल का भी प्रश्न हल हो जावेगा। इसी के साथ ही, क्या सम्मेलन उड़ीसा की समस्या को भी निपटा देगा? यह प्रायः पूर्णतः न्याय संगत है कि जब बम्बई से सिन्ध को अलग किया जा रहा है, तो बिहार से उड़ीसा को भी पृथक कर एक प्रान्त बना दिया जावे तथा उसको भी अलग कौंसिल प्राप्त हो जावे। सिन्ध के शासन में खर्च की जितनी कमी है, उतनी उड़ीसा के लिए नहीं। उड़ीसा की जन-संख्या बहुत समय से अपने पृथक्त्व की चेष्टा कर रही है तथा अभी तक बिहार के साथ रहने से उसकी उन्नति में जो बाधा पहुँची है, वह इसी प्रकार दूर हो सकती है।

आशा है, हमारा अगला अंक प्रकाशित होने तक एकता-सम्मेलन पूर्णतः सफल होगा।

२१ नवम्बर १९३२

एकता के विरुद्ध सम्प्रदायवादियों का शोर-गुल

यह तो मालूम ही था कि एकता-सम्मेलन के निर्णय को, भेद-भाव के आश्रय में पलनेवाले लोग पसन्द न करेंगे। उधर तो एकता-सम्मेलन हो रहा था, इधर टोडियों में दौड़-धूप मची हुई थी कि किस तरह जल्द से जल्द उसका विरोध करके खुशनूदी का सेहरा सिर बाँध लिया जाय। लेकिन इस सबसे ज्यादा खेदजनक पृथकतावादी मुसलमानों का वह षड्यंत्र है, जिसे हमारे राष्ट्रीय मुसलिम सहयोगी "हक़ीक़त" ने खोला है। सहयोगी लिखता है—

"मालूम हुआ है कि प्रयाग-एकता-सम्मेलन के बाद से दलबन्द मुसलमानों में गहरी साज़िश हो रही है कि सम्मेलन के फ़ैसलों के विरुद्ध मुसलमानों में आंदोलन शुरू किया जाय। इन्हीं महानुभावों की दौड़ धूप और प्रयास से मौलाना शौकतअली को महात्मा जी से यरवदा जेल में मिलने की अनुमति नहीं दी गयी थी। इस काम के लिए तीन चार मुसलिम समाचार-पत्रों को मिला लिया गया है। मुसलमानों को इस साज़िश से होशियार रहना चाहिए। ये लोग न मुल्क के दोस्त हैं, न अपनी कौम के। केवल स्वार्थ के बन्दे हैं, चाहे राष्ट्र सम्मान को कितना ही बड़ा आघात पहुँच जाय।"

इसके बाद की खबर है कि मुसलिम लीग और मुसलिम कान्फ्रेंस तथा जमैयतुल उलमा कानपुर के पचास सभासदों ने दिल्ली में जमा होकर प्रयाग के निर्णय का विरोध किया और शेख अब्दुल मजीद तथा अन्य राष्ट्रीय मुसलमानों ने इस सभा में सम्मिलित होना उचित न समझा, क्योंकि यहाँ लोग पहले से प्रयाग का विरोध करने का फैसला कर चुके थे। प्रयाग में हिन्दुओं की यह शिकायत है कि मुसलमानों के साथ तरफ़दारी की गयी, और वहाँ मुसलमानों का दूसरा दल कह रहा है कि उसकी माँगें पूरी ही नहीं हुईं। देखें लखनऊ के मुसलिम सर्व दल सम्मेलन में क्या फैसला होता है। एकता के शत्रु तुले बैठे हुए हैं कि एकता का अन्त कर दिया जाय। देखना यह है कि मुसलिम जनता क्या कहती है। खेद यही है कि ऐसे नाजुक मौके पर मौलाना शौकत अली नहीं हैं।

२८ नवम्बर १९३२

एकता

एकता बड़ा मधुर शब्द है। इसके प्रत्येक अक्षर में वह जादू है, जो कवि की कल्पना अथवा अन्वेषक की बुद्धि से परे है। एकता अथवा एकरूपता में कोई अन्तर नहीं है। यह समूची सृष्टि उस परमात्मा की इच्छा के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई है। उसने कल्पना की कि वह अनेक हो जावे और उसी कल्पना के विकार से यह माया-जाल

बना, पर सृष्टि की प्रत्येक रचना में, परमात्मा के साथ साम्य तथा सद्रुपता का अन्तर्निहित आभास रहता है। प्राणी विवेक की शरण लेकर अविवेक से निरन्तर युद्ध करता रहता है। सबके साथ अपनी सत्ता को मिलाने की चेष्टा उसी एक विश्वात्मा में सम्मिलित कर लिये जाने का प्रयास है, जिससे विलग हो जाने से यह भेद-भाव प्राप्त हुआ था।

पृथ्वी की धूल से उत्पन्न गर्द हवा से ऊपर उड़ जाती है, पर वह चेष्टा नीचे ही गिरने की करती है। बीज से उत्पन्न फल पुनः पृथ्वी पर गिरकर बीज रूप हो जाना चाहता है। समुद्र से प्राप्त वर्षा जल से प्रवाहित सरिता पुनः समुद्र के साथ साकार होना चाहती है। सिंह तथा सिंहनी की सन्तान भी, कुछ समय तक अपने भोज्य जीवों के साथ खेलकर उनके साथ अपने साम्य का सुख लूटकर उन्हें खा जाते हैं। पेट तो भरना ही होगा, चाहे वह अपने सम्बन्धी को ही खाकर क्यों न भरें।

तब मनुष्य की एकता के प्रति अनुरक्ति के लिए क्या कहा जावे। आज जो लड़ रहा है, जो झगड़ रहा है, जो आपस में एक टुकड़े के लिए कपट-जाल कर दूसरे के सत्यानाश पर तुला हुआ है, वह भी अपनी इस तृप्ति से सुखी नहीं है। लड़ना किससे और क्यों, झगड़ा किससे और क्यों? जब सब एक हैं, जब सब एक दूसरे के सुख-दुख के ज़िम्मेदार हैं, जब एक के पैर में काँटा चुभने से दूसरे के जी में कसक पैदा हो जाती है, जब एक की वेदना दूसरे के सुख के स्वर को भंग कर सकती है, तब विरोध किसका? जो बाल-बच्चेवाला है, वह दूसरे के बच्चे के दुःख को कैसे नहीं समझेगा? जिसके घर-द्वार है वह दूसरे के घर को फूंक कर कब तक सुखी हो सकेगा? असल में जो दुःख है वह हमारी नियत में नहीं, हमारे अविवेक में है। हमको किसी ने बहका रखा है, कि दूसरे का अपहरण तुम्हारा सुख है, दूसरे का अभाव तुम्हारी विजय! पर इस प्रकार उमँग के दास हो जाने से, कितने दिन, किस प्रकार हम अपना कल्याण कर सकते हैं? असल में हम शान्ति चाहते हैं, सुख चाहते हैं, प्रेम चाहते हैं, पर जब हमारे स्वार्थ को ज़रा भी ठेस लगती है, जब हमारे हित को ज़रा भी आँच लगती है, हम व्याकुल हो उठते हैं और लड़ने लगते हैं, पर यह युग इस प्रकार लड़ने से हमें सर्व सुखी नहीं कर सकता। योरोप तथा अमेरिकावालों के पास अपना झगड़ा इतना नहीं है। एक प्रकार से वह परम सुखी हैं, पर भरे पेट में शरारत सूझती है और अब वे पराये के झगड़े को अपना बनाकर रात-दिन का कलह पैदा कर लेते हैं, इसलिए एकता का प्रश्न एक दैवी प्रश्न है और जिसे सुख की चाह हो, यदि वह सर्वस्व प्राप्त करके एकता प्राप्त करने की लालसा करेगा, तो वह उसे कभी प्राप्त न होगी। दैवी वस्तुओं में दैवी वृत्ति चाहिए। यदि हिन्दू मुसलमान से एकता प्राप्त करना चाहता है, तो उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि न तो वह मुसलमान से जो चाहता है वह पूरा पा सकता है और न मुसलमान जितने की आशा करता था, वह कभी पूरी होगी।

यदि हम भारतीय वास्तव में एकता के प्रेमी हैं, तो हमको इस महान् सत्य को ध्यान में रखना होगा। प्रयाग में एकता-सम्मेलन हो गया। मालवीय जी ने अपने जीवन की बाजी लगाकर इसे सफल बना दिया। जिस प्रकार नेहरू-रिपोर्ट पंडित मोती लाल नेहरू के जीवन का सबसे बड़ा कार्य था, उसी प्रकार प्रयाग का एकता सम्मेलन मालवीय जी के जीवन की सबसे बड़ी विजय है। इस सम्मेलन में क्या बातें तय हो गयीं, उन्हें दुहराने की ज़रूरत नहीं है। जो हुआ, सो हुआ, जहाँ तक हो गया, इस समय की अवस्था को देखते हुए काफ़ी और अच्छा है। शिकायत की गुंजाइशें हैं, और दोनों तरफ से हैं, पर यदि एकता करनी है, तो वह "दे-ले" कर ही हो सकती है। वह बड़ी मँहगी चीज है, तपस्या से प्राप्त होती है। तपस्या के लिए त्याग चाहिए। इसीलिए प्रयाग की इस सफलता को त्याग की ही सफलता समझनी चाहिए। ऐसे अवसर पर हिन्दू तथा मुसलमानों की ओर से, स्वयं डा० मुंजे ऐसे बड़े नेताओं द्वारा भी, प्रयाग के निर्णय के विरुद्ध प्रचार देखकर हमें बड़ा खेद और आश्चर्य होता है। यदि उन्हें एकता करनी नहीं है, तो और ही बात है। यदि करनी है, तो इसका क्या तात्पर्य कि एक महान् कार्य के महान् प्रसाद को चूर्ण-विचूर्ण किया जावे।

अभी, गोलमेज़ का ताज़ा समाचार है कि मुसलिम प्रतिनिधियों ने यह निश्चय किया है कि वे हिज़ हाइनेस सर आगाखाँ की अधीनता में मिलकर, एक साथ और एक सम्मति से कार्य करेंगे। तीसरी गोलमेज़ में सरकार ने चुन-चुनकर एकता-विरोधी मुसलिम प्रतिनिधि बुलाये हैं। भारत से रवाना होने के पहले ये प्रतिनिधि खुले शब्दों में प्रयाग-सम्मेलन की दिल्लगी उड़ाकर गये हैं। अब जब वे यह देखेंगे कि यहाँ एकता सचमुच हो गयी, तो उनकी आत्मा को कितनी ठेस लगेगी, पर जब वे यह देखेंगे कि उस एकता के समर्थक केवल वही हैं, जो प्रयाग में उस समय मौजूद थे, तो उनको कितना आनन्द प्राप्त होगा? हिन्दू महासभा की बैठक के समय हमने देखा था कि उसके सभापति श्री केलकर केवल डा० मुन्जे के राग में राग मिला कर अपने व्यक्तित्व को कुछ भी कष्ट न देते थे। वही मि० केलकर इस समय लन्दन में गोलमेज़ियों में हैं। यदि डा० मुन्जे की आवाज़ उनके कानों तक पहुँच गयी और उन्होंने अपना मत प्रयाग के निर्णय के विरुद्ध दे दिया, तब एक ओर होंगे उनके खिलाफ़ श्री केलकर, दूसरी ओर होंगे सर मुहम्मद इकबाल। तब तो खूब प्रयाग का निर्णय कार्यान्वित होगा।

यदि सरकार वास्तव में भारत का हित चाहती है, तो उसे तुरत प्रयाग के निर्णय को स्वीकार कर लेना चाहिए, जिस प्रकार उसने पूना-पैक्ट को मान लिया था। उस समय पूनापैक्ट के विरोधी भी थे, पर उसने उनकी परवाह न की थी। इसी प्रकार इस समय भी उसकी नेकनीयती की परीक्षा है, यदि वह परीक्षा में पास हो गयी तो उसने आगामी पचास वर्षों के लिए भारतीय वैभव पर पुनः अधिकार दृढ़ करने का रास्ता पार कर लिया।

हमें तो सबसे पहले अपने भाइयों से विनय करना है। इस समय प्रयाग में जो हो गया, वही ग़नीमत है। एकता के मनोरम-स्वरूप को देखने के लिए आइये, हम लोग प्रयाग से प्राप्त देवी "एकता" के चरणों में सिर झुकायें।

२८ नवम्बर १९३२

समझौता या हार

प्रयाग के एकता-सम्मेलन में जो कुछ तय हुआ है उस पर हम में से बहुतों में मतभेद है। मुसलमानों में कुछ संस्थाएँ उसे मुसलमानों की हार बतलाती हैं। उसी तरह हिन्दुओं में जो लोग साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के मनुष्य हैं वह इसे हिन्दुओं की शिकस्त कहते हैं। और दोनों ही अपनी-अपनी जगह पर ठीक ही कहते हैं। समझौता वास्तव में हार है, मगर वह हार जिसमें दोनों तरफ की हार होती है। और दोनों तरफ की हार को हम दोनों तरफ़ की जीत कहें तो किसी का कोई नुकसान नहीं। हार सापेक्षिक है। जहाँ जीत का आनंद नहीं वहाँ हार का दुख कहाँ ?

एकता सम्मेलन के प्रतिनिधि खूब समझते थे कि देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जिन्हें उनका कार्यक्रम संतुष्ट न कर सकेगा। यह जानते हुए उन्होंने इस सम्मेलन का आयोजन किया था, लेकिन साम्प्रदायिकता पर विजय पाने का उनके पास समझौते के सिवा और क्या साधन था ? जो लोग इस समझौते से असंतुष्ट हैं, वे भी तो इस गुत्थी के सुलझने की दूसरी विधि नहीं बता सकते। सम्मेलन में ऐसे-ऐसे लोग शामिल थे जिन्होंने राष्ट्रीयता के नाम पर बड़े-बड़े बलिदान किये हैं, बड़े-बड़े कष्ट झेले हैं, बल्कि यों कहना चाहिए कि अपने आप को मिटा दिया है। उन पर आप चाहे जो इल्ज़ाम लगायें, साम्प्रदायिकता या भेद भाव का इलज़ाम नहीं लगा सकते। ऐसे लोग जब सम्मेलन में एक निश्चय कर चुके तो आराम कुरसीवाले राजनीतिज्ञों का उन पर आक्षेप करना जले पर नमक छिड़कना है।

भेदभाव राष्ट्र के लिए अहितकर है। यह हम भी उतना ही समझते हैं जितना ये आलोचक। अगर हम इस भेदभाव को जड़ से मिटा सकते तो कहना ही क्या था। लेकिन जब अपनी पूरी शक्ति लगाकर देख लिया कि इस दुश्मन को हम उखाड़ नहीं सकते तो हमारे पास इसके सिवा और क्या साधन था कि इससे समझौता किया जाय।

बहुत दिनों का जीर्ण रोगी बिस्तर पर पड़ा कराह रहा है। अगर वह आशा करे कि कोई धनवंतरी आकर छू मंतर से उसे एक क्षण या एक दिन में चंगा कर देगा और वह पूरी तरह स्वस्थ हो जायगा तो यह समझ लेना चाहिए कि उस रोगी के जीवन

की घड़ियाँ गिनी हुई हैं। अगर उसे स्वास्थ्य लाभ करना है तो उसे एक-एक खुराक दवा खानी पड़ेगी, पूरे पथ्य से रहना पड़ेगा। तब कहीं महीनों में जाकर वह इस काबिल होगा कि चल फिर सके। एकता सम्मेलन का समझौता वही दवा है। वही आपदधर्म है। इसे किसी और रूप में देखना हमारा भ्रम है।

चिकित्सा के दो भेद हैं, एक इलाज बिल-मिस्ल, दूसरा इलाज बिलज़िद। गर्मी को गर्म हवाओं से जीतना पहली रीति है। गर्मी को ठंडी दवाओं से जीतना दूसरी रीति है। एकता सम्मेलन का समझौता वही इलाज बिल-मिस्ल है। प्रचंड साम्प्रदायिकता को उसने हलकी साम्प्रदायिकता से जीतने की चेष्टा की है। अब तक हमने इलाज बिल-ज़िद का व्यवहार किया था। उसमें हमें सफलता नहीं हुई।

हम यह नहीं कहते कि इस उपचार से लाभ ही होगा। कोई धनवंतरी निश्चय के साथ नहीं कह सकता कि अमुक दवा से ज़रूर फायदा होगा। हमें इस औषधि के पथ्यापथ्य का विचार करके सेवन करना चाहिए। अगर इससे फायदा हुआ तो वाह-वाह नहीं दस या पाँच साल के बाद हमें पूरा अधिकार होगा कि किसी दूसरी चिकित्सा की परीक्षा करें।

सम्मिलित निर्वाचन स्वयं एक चीज़ है जिससे बहुत कुछ मनोमालिन्य और ग़लतफ़हमियाँ दूर हो जायेंगी। इस निर्वाचन में वही सज्जन उत्तीर्ण होंगे जो हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ही के विश्वासपात्र होंगे। हिन्दू किसी ऐसे मुसलमान को वोट न देगा जिस पर उसे विश्वास न हो। इसी तरह संयुक्त राष्ट्र का निर्माण होगा। जब दोनों सम्प्रदायों के आदमी एक दूसरे पर विश्वास करना सीख जायेंगे तो संयुक्त निर्वाचन का व्यवहार होने लगेगा।

हम मानते हैं सिंध और सरहद के हिन्दू अल्पमत में हैं। तो क्या मद्रास और सी० पी० और संयुक्त प्रदेश के मुसलमान अल्प संख्या में नहीं हैं? आप मुसलमानों को जो संरक्षण हिन्दू प्रधान प्रान्तों में दे रहे हैं, यदि वही संरक्षण आप को मुसलिम प्रधान प्रान्तों में मिल रहा है तो हम नहीं समझते इसमें हाय-हाय करने की क्या बात है।

फिर, क्या साम्प्रदायिकता उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो। वह भी तो साम्प्रदायिकता ही है जो राजनैतिक सिद्धांतों पर आधारित होती है। अगर हिन्दू मुसलमान एक दूसरे से लड़ते हैं तो क्या सोशलिस्ट और डिमाक्रेट एक दूसरे की पूजा करते हैं। उनकी आपस की लड़ाइयाँ भी उतनी भयंकर, उतनी ही रक्तमय होती हैं। बल्कि उससे कुछ ज़्यादा। यह विभिन्नता तो किसी न किसी रूप में उस समय तक रहेगी जब तक एक नये युग का उदय न होगा, जब सब एक दूसरे को भाई समझेंगे, स्वार्थ और भेद का अन्त हो जायगा। वह समय निकट भविष्य में आता नज़र नहीं आता। अभी तो आपके सामने कढ़ाव से निकल कर चूल्हे में ही गिरने की संभावना है। वर्तमान साम्प्रदायिकता के बाद उस साम्प्रदायिकता का युग आनेवाला है जो राजनीति

प्रधान होगी, जब श्रम और पूजा का भीषण संग्राम छिड़ेगा। इस साम्प्रदायिकता में तो कुछ सहिष्णुता है। वह साम्प्रदायिकता तो सामूहिक स्वार्थ की उपज होगी और यह मानना पड़ेगा कि स्वार्थ धर्म से कम घातक नहीं है।

यह सारी लड़ाई मुट्ठी भर शिक्षित आदमियों की है जो ओहदे और मेम्बरियों के लिए एक दूसरे को नोच रहे हैं। इस समुदाय से अलग जो राष्ट्र हैं वहाँ न कोई हिन्दू है न मुसलमान। वहाँ सब किसान हैं, या मजदूर जो एक-से दरिद्र, एक-से पिसे हुए, एक-से दलित हैं। आर्ती और नमाज, हिन्दी और उर्दू की समस्याएँ वहाँ हैं ही नहीं। अगर दो चार हिन्दू या मुसलमान ओहदेदार कम या ज्यादा हो गये तो इससे राष्ट्र पर कोई असर नहीं पड़ता। कोई राजपद्धति साम्प्रदायिक हितों के सामने चल कर इस बीसवीं सदी में सफल नहीं हो सकती। यह शंका करना हिमाकत है कि जिन प्रान्तों में मुसलिम बहुमत होगा वहाँ बड़े जोर शोर से गऊ हत्या होने लगेगी, या मन्दिर तोड़ दिये जायेंगे, या हिन्दुओं की चोटी रखने की मुमानियत कर दी जायगी, या उनके जनेऊ तोड़ डाले जायेंगे। या हिन्दू किसानों से ज्यादा लगान लिया जायगा, मुसलिम किसानों से कम, या हिन्दू मजूरों को कम मजूरी दी जायगी, मुसलिम मजूरों को ज्यादा, या हिन्दुओं के लिए शिक्षा का द्वार बन्द कर दिया जायगा। न यही होगा कि मुसलमानों को अस्पताल में दवा मिले, और हिन्दुओं को दुत्कार दिया जाय। आज भी हम देखते हैं कि हिन्दुओं के नौकर मुसलमान हैं, मुसलमानों के नौकर हिन्दू हैं। सिक्खों के राज में भी बड़े-बड़े ओहदों पर मुसलमान थे, मुसलमानों के राज में बड़े-बड़े ओहदों पर अक्सर हिन्दू। इसलिए जो सज्जन एकता सम्मेलन को हिन्दुओं की पूरी हार कहते हैं, इसे Abrect Surrender कह कर निन्दनीय बताते हैं, उनसे हमारा यही निवेदन है कि अगर आपके पास एकता का सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों से कोई बेहतर प्रस्ताव हो तो उसे पेश कीजिए। और अगर नहीं है तो चुपके से बैठिये। जो काम आप से नहीं हो सकता उसे जब दूसरे अपने ढंग पर करते हैं तो उन्हें बदनाम न कीजिए, व्यर्थ की फिलासोफ़ी न बघारिये। इसे सब स्वीकार करते हैं कि साम्प्रदायिकता को मिटाना है। इसकी युक्ति सोचिए। अब तक राष्ट्र के सामने एकता के जितने प्रस्ताव आये, उनमें सबसे ज्यादा जनमत इसी समझौते को मिला है, और हम अपनी पूरी शक्ति से उसकी रक्षा करेंगे।

५ दिसम्बर १९३२

प्रयाग सम्मेलन

प्रयाग के एकता सम्मेलन में बंगाल के प्रश्न ने बड़ी रुकावट डाल दी है।

सिन्ध, पंजाब और संयुक्त निर्वाचन आदि जटिल प्रश्न तो किसी तरह तय हुए, लेकिन बंगाल के हिन्दू अब ज्यादा दबना नहीं चाहते। बंगाल में मुसलमानों का बहुमत है। मुसलमान अपनी इक्यावन फीसदी जगहें सुरक्षित रखना चाहते हैं। बंगाल में अंग्रेज़ों और अर्धगोरों को उनकी जन संख्या से कहीं ज्यादा वोट दे दिये गये हैं। हिन्दू-मुसलिम समझौते में अंग्रेज़ों की जगहें घटाकर मुसलमानों तथा हिन्दुओं की जगहें बढ़ा दी गयी थीं, पर अब ऐसा मालूम हुआ है कि अंग्रेज़ अपनी एक भी जगह नहीं छोड़ना चाहते। इसलिए मुसलमानों की इक्यावन फीसदी पूरी करने के लिए बंगाल के हिन्दुओं को अपने हिस्से से दो जगहें देने का प्रश्न उठा है। बंगाली हिन्दू भी अड़े हुए हैं, पर हमें आशा है कि वह एक ज़रा-सी बात के लिए एकता सम्मेलन का जीवन संकट में न डालेंगे और सम्मेलन के शत्रुओं को बगलें बजाने का अवसर न देंगे। अल्पमतवालों के लिए चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, बहुमत पर विश्वास रखने और उनसे सहयोग करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। इस सहयोग की नीति से, वह बहुमत पर उससे कहीं ज्यादा प्रभाव डाल सकते हैं, जितना वह अपनी संख्या में दो एक जगहें बढ़ाकर कर सकते हैं।

दिसम्बर १९३२

मुस्लिम जनता में एकता सम्मेलन का समर्थन

मुसलिम सम्प्रदायवादियों को एकता से विरोध होना चाहिए था और हो रहा है पर अब मुसलिम जनता उनके पीछे नहीं चलना चाहती। दिल्ली के कुछ सरकारी वज़ीरों और ख़ान बहादुरों और खान बहादुरी के उम्मेदवारों ने आपस में मिलकर चुपके से इस आशय का एक प्रस्ताव पास कर दिया था कि उन्हें एकता सम्मेलन के फैसले अस्वीकार हैं पर उसी दिल्ली के उत्साही मुसलिम युवकों ने उस जलसे की कार्यवाही पर यह प्रस्ताव स्वीकार किया है—

"प्रयाग एकता सम्मेलन का फैसला मुसलमानों के लिए प्रधानमंत्री के नादिरशाही फैसले से कहीं बढ़कर है। नामनिहाद मुसलिम कांफ्रेंस, मुरदा लीग ने जिसके साथ कानपुरी जम्मैयत का दुमछल्ला लगा हुआ है, मुसलमानों के नाम पर एकता का जो विरोध किया है और अपने एक जलसे में जो प्रस्ताव स्वीकार किया है, वह किसी तरह भी मुसलमानों के लिए मान्य नहीं है। इन थोड़े से स्वार्थ सेवियों की यह नीति मुसलिम युवकों की दृष्टि में देश-द्रोह है।"

राष्ट्र की भावी आशा हमारे युवक ही हैं, और हमारे लिए परम संतोष की बात है, कि प्रायः हरेक अवसर पर मुसलिम युवकों ने साम्प्रदायिकता की उपेक्षा कर के राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। इस सद्भावना की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

पटना में भी मौलाना शफ़ी दाऊदी ने एक जलसे में एकता सम्मेलन के विरोध में मुसलिम जनता को संगठित करने की चेष्टा की, पर वहाँ भी उन्हें मुँह की खानी पड़ी और जलसे में बहुमत से सम्मेलन के समर्थन का प्रस्ताव मंजूर हो गया। हमें आशा है, अब एकता के विरोधियों को मालूम हो गया होगा, कि मुसलिम जनता उनके साथ नहीं है। मौलाना शौकतअली ही को वह अपना नेता समझती है और अब उसे इस रास्ते से नहीं हटाया जा सकता। उन्हें अब अपनी तक़दीर ठोंक लेनी चाहिए और जिस लीडरी का अब तक वे स्वप्न देख रहे हैं, उसके नाम को रो लेना अब मुनासिब है।

१२ दिसम्बर १९३२

मिर्ज़ापुर का दंगा

आज के दो वर्ष पहले, मिर्ज़ापुर ज़िले के रैया नामक ग्राम में हिन्दू-मुसलिम दंगा होने के समाचार मिले थे। कहा गया था कि मुसलमान ज़मींदार के एक बछवा मार देने के कारण बात बढ़ी थी और दंगा हो गया था। जो हो, पुलिस ने लगभग एक सौ आदमियों की चालान कर दी थी और दो वर्ष तक बनारस जिला जेल में वे सड़ते रहे। दौरा जज मि० मेडले की इजलास में मुक़द्दमा होता रहा और एक अपराधी जेल के भीतर ही मर गया। बहुत से छोड़ दिये गये और सात को फाँसी तथा तेइस को कालेपानी की सजा दी गयी। इन अभागों ने इलाहाबाद हाईकोर्ट के सामने जो अपील की थी, उसका फैसला २३ जनवरी को सुना दिया गया। यह फ़ैसला कई दृष्टियों से इतना महत्वपूर्ण है कि निस्संकोच यह कहना पड़ता है कि इलाहाबाद हाईकोर्ट के इतिहास के बहुत ही महत्वपूर्ण फैसलों में इसकी गणना होगी। विद्वान तथा आदरणीय न्यायाधीशों ने सभी अभियुक्तों को निरपराध कहकर छोड़ दिया और न्याय की ज़रा-सी भूल से जो व्यक्ति मृत्यु के द्वार पर पहुँच चुके थे, वे बच गये। हाईकोर्ट के इस फ़ैसले से हमको उसकी निष्पक्षता के प्रति श्रद्धा हो गयी है।

फ़ैसले में कई बातें विचारणीय हैं। आदरणीय न्यायाधीशों ने इस विषय में तीन मुख्य बातों का पता लगाया है—१—सरकारी गवाहों ने शपथ लेकर झूठी गवाही दी है, अतः वे दरोग़हल्फ़ी के अपराधी हैं। २—पुलिस ने मुक़द्दमा बनाने की ही चेष्टा की, सत्य की तह में पैठने, तथ्यातथ्य के जाँच की नहीं। ३—जिस न्यायाधीश ने सज़ा दी उसको उदारता पूर्वक मामले की जाँच करनी चाहिए थी क्योंकि दंगों के मामले में बहुत से निरपराध तथा निर्दोष भी अक्सर फँस जाया करते हैं। इन बातों के अतिरिक्त मुक़द्दमे में कई रोचक बातों की विचित्रता की ओर आदरणीय न्यायाधीशों ने ध्यान

आकृष्ट किया है। एक तो यह कि पुलिस ने जिन लोगों की चालान की तथा जिनके पास लाठियाँ—हथियार पाये गये, उनके मालिकों का, हथियार के असली मालिकों का पता नहीं लगाया। घटना के प्रत्यक्षदर्शियों ने जितने लोगों की शिनाख्त की तथा उनको दंगे में भाग लेते देखा था उनकी संख्या नबे तक है। एक आदमी का नबे आदमियों को पहचानना—बलवे के समय—असंभव है। इसके अलावा यह फेहरिस्त घटना के दो दिन बाद गवाह ने दी थी।

तीसरी बात यह कि बलवे का जो नेता बतलाया जाता है वह "शुकुल" अभागा सत्तर वर्ष का एक ऐसा बूढ़ा है, जिसके विषय में सिविल सर्जन की रिपोर्ट बड़ी करुण है। अस्तु इस विषय में हम अपनी कोई सम्मति न देकर न्यायाधीश महोदयों द्वारा बतलायी गयी उन तीन बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जिनको यदि हम कभी अपने आप कहते तो क़ानूनी-अड़चन में पड़ जाते, पर अब उनका महत्व बहुत अधिक हो गया है और हमारा प्रान्तीय सरकार से तथा वाइसराय महोदय से और उनकी सरकार से अनुरोध है कि इस पर विशेष ध्यान दिया जावे तथा शीघ्र ही उसी के आधार पर काम हो। न्यायाधीश महोदयों की सलाह है—

१—पुलिसवालों को चाहिए कि सिर्फ़ अपना मुकद्दमा बनाने के लिए ही प्रमाण इकट्ठा न किया करें, बल्कि सत्यासत्य की पूरी छानबीन किया करें।

२—सरकारी वकील को चाहिए कि उनके पास जितने प्रमाण हों, चाहे वे कथित अपराधी के हित के ही क्यों न हों, अदालत के सामने रखें, चाहे उनके रखने से अपराधी छूट भी जावे।

३—मुकद्दमा करनेवाले मैजिस्ट्रेट को अपराधियों के लिए भी चिन्ताशील होना चाहिए इत्यादि।

आशा है जिनके लिए यह सलाह दी गयी है, वे उसका आदर करेंगे और इस बात को न भूलेंगे कि पुलिस का काम किसी पक्ष को लेकर लड़ना नहीं है। पर उसे निष्पक्ष होकर तथ्यातथ्य का निर्णय करना चाहिए। सरकारी वकील भी शायद अपने को एक पक्ष का आदमी समझते हैं, और उनको चिन्ता होती है कि यदि अपराधी छूट जावेगा तो उनकी बदनामी होगी, नौकरी पर आ बनेगी। मुक़द्दमा करनेवाले मजिस्ट्रेट के लिए हम कुछ नहीं लिखना चाहते। पर यह अवश्य है कि हाईकोर्ट के न्यायाधीश से अपना कर्तव्य जानकर, अब वे और भी दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

आदरणीय न्यायाधीशों ने एक और विशेष बात बतलायी है। उनका कहना है, कि भारतीयों की "शपथ" के प्रति श्रद्धा उठती जा रही है और वे अदालत में झूठी शपथ लेते हैं और यहाँ तक तो कह ही देते हैं, कि "अरे सच बोलो, क्या अदालत में हो।" अदालत इस विषय में अत्यधिक कार्य के कारण दरोग़ हल्फ़ी के पर्याप्त मुक़द्दमे

भी नहीं चला पाती। इस समस्या का न्यायाधीश महोदय कोई ठीक निदान नहीं बतला सकते हैं, पर हम यह जानना चाहते हैं, कि इस प्रकार शपथ को भ्रष्ट करने का दोष क्या किसी तीसरे को नहीं है? यदि दंगे के मामले में बहुत से सरकारी गवाह इसके अपराधी थे तो पुलिस की इसमें कुछ ज़िम्मेदारी है या नहीं? अदालत को छोड़ यदि इस मुहक़मे के अधिकारी इस ओर ध्यान दें तो कुछ विशेष लाभ हो।

३० जनवरी १९३३

पंजाब के हिन्दू मुसलमानों में समझौता

हमें समाचारों में यह खबर पढ़कर बड़ा हर्ष हुआ कि पंजाब के हिन्दू-मुसलमानों में अब समझौते की सूरतें पैदा हो गयी हैं और संयुक्त निर्वाचन के आधार पर समझौते की शर्तें तय हो गयी हैं। हाँ, अभी हरेक जाति की जगहें उसकी जनसंख्या के अनुसार, स्वरक्षित रहेंगी। हम तो जगहों का धार्मिक आधार पर स्वरक्षित किया जाना ठीक नहीं समझते। लेकिन जब हम देखते हैं कि अन्य राष्ट्रों में धर्म का विरोध न होने पर भी राजनैतिक दलबन्दियों में किसी तरह की कमी नहीं हुई और आपस में दंगे होते रहते हैं, तो हम समझते हैं धर्म के आधार पर जगहों का स्वरक्षित हो जाना भी क्यों न स्वीकार कर लिया जाय। संतोष की बात है कि इस समझौते में सर फ़ज़ले हुसेन का मुख्य हाथ है; इसलिए उसे मुसलमान बड़ी खुशी से मंजूर कर लेंगे। हम तो संयुक्त निर्वाचन का मंजूर हो जाना ही शुभ समझते हैं।

८ मई १९३३

कानपुर-दंगा-रिपोर्ट

डा० भगवानदास आजकल वानप्रस्थ-जीवन बिता रहे हैं। उन्होंने अपना समूचा जीवन प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन, वास्तविक भारतीयता के विकास तथा प्राचीन भारतीय पाण्डित्य का ज्ञान कराने में बिताया है। वे बड़े नर्म विचार के साधु हैं; किंतु भारतीय नौकरशाही की उच्छृङ्खलता के कारण वे कांग्रेस में शामिल हो गये और युक्तप्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सभापति भी रह चुके हैं। उन्होंने जेल-यात्रा भी की है। इसी प्रकार पं० सुन्दरलाल उन ब्रह्मचारी तथा दृढ़व्रती पुरुषों में से हैं, जो केवल अध्ययन को अपना सर्वस्व मानते हैं, जो अध्ययन करना ही अपने जीवन का

उद्देश्य समझते हैं ; किन्तु जिन्होंने यह भी देख लिया कि दासता की दशा में अध्ययन भी स्वतंत्रतापूर्वक नहीं हो सकता । अतएव वे कांग्रेस के झण्डे के नीचे केवल दासता से 'बचने' के लिए चले आये ।

डा० भगवानदास कानपुर-दंगा-समिति के सभापति तथा पं० सुन्दरलाल मन्त्री थे । इस समिति के विषय में समाचार-पत्रों में काफी लिखा जा चुका है । इसका उद्देश्य भी हमें मालूम है । और यह भी मालूम है कि इसकी छह सौ पन्ने की मोटी रिपोर्ट को युक्त-प्रान्तीय सरकार ने 'अनधिकारपूर्ण-समाचारपत्र' कहकर 'ज़ब्त' कर लिया है । रिपोर्ट में वास्तव में क्या 'खुराफ़ात' है, यह हम नहीं कह सकते । हमने रिपोर्ट का कुछ अंश कानपुर के 'प्रताप' तथा 'वर्तमान' में छपा देखा था । जिस समिति के अध्यक्ष तथा मंत्री उपर्युक्त व्यक्ति हों, उस समिति की रिपोर्ट वास्तव में बहुत ही सूचनापूर्ण और 'ठण्डे मस्तिष्क' की उपज होगी, इसमें हमें सन्देह नहीं था ; पर रिपोर्ट का प्रकाशित अंश देखकर हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया कि वास्तव में यह बड़ी सुन्दर चीज़ है, सरस है, सूचनापूर्ण है, उपदेश-प्रद है !

पर, ऐसी अच्छी वस्तु को हम देख भी न सके और सरकार ने एक अजीब कानून का पुछल्ला लगाकर रिपोर्ट दबा दी ! इस विषय में डा० भगवानदास की जो अपील हमारे प्रान्त के भारतीय गवर्नर तथा होम मेम्बर के नाम प्रकाशित हुई है, उसमें हम भी अपने को शामिल करते हैं और ब्रिटिश राज्य, भारत और हिन्दू-मुसलिम हित के नाते ही उनसे प्रार्थना करते हैं कि तुरन्त रिपोर्ट पर से बन्धन हटा लें, अन्यथा 'नौकरशाही की जड़ता' और भी प्रकट हो जायगी तथा यह प्रकट हो जायगा कि सरकार क्या चाहती है ?

१४ मई १९३३

पाकिस्तान की नया उपज

डा० सर मुहम्मद इक़बाल पच्छिम में मुसलिम राज्य का स्वप्न देख रहे हैं । अब उनके भी एक उस्ताद निकल आये हैं । वह 'पाकिस्तान' के नाम से एक मुसलिम साम्राज्य का स्वप्न देख रहे हैं । इस पाकिस्तान में कश्मीर, पंजाब, बलोचिस्तान, सीमाप्रान्त और अफ़ग़ानिस्तान आदि सम्मिलित होंगे और वह भारतवर्ष से बिलकुल पृथक् होगा । आविष्कारक महोदय का कथन है, कि इन प्रान्तों में तीन करोड़ मुसलमान आबाद हैं, जो हालैन्ड, स्पेन, बेलजियम आदि देशों से अधिक हैं । उधर ईरान, तुर्किस्तान, शाम, इराक़, मिस्र, तुर्की मुसलिम रियासतें पहले ही से हैं । यह पाकिस्तान

सूबा उनके साथ मिल गया, तो एक महान मुसलिम साम्राज्य का उदय हो जायगा और इसलाम के इतिहास में जो बात पहले कभी न हुई थी, वह हो जायगी ! बात तो बहुत अच्छी है ; पर कुछ कारण ही तो हैं कि अभी तक तुर्की और ईरान में मेल नहीं हो सका। मेल का जिक्र ही क्या, अभी थोड़े दिन पहले वैमनस्य हो गया था। फिर अफ़ग़ानिस्तान क्यों नहीं तुर्की से जा मिलता ! और तुर्किस्तान को अफ़ग़ानिस्तान से मिलने में कौन बाधक हो रहा है ! अगर धर्म ही राष्ट्रों को मिला दिया करता तो जर्मनी और फ्रांस और इटली आदि राष्ट्र कब के मिल चुके होते। भारत के पत्रों में इस बात पर बड़ी हलचल मच गयी है। हम समझते हैं कि जब तक पाकिस्तान का जन्म होगा, दुनिया का रुख और हो चुका होगा।

१४ मई १९३३

तपस्वी और महात्मा

हम भारतीयों की प्राचीन परम्परा के अनुसार तप के बिना कोई महात्मा नहीं होता और महात्मा हुए बिना कोई तपस्वी नहीं होता। एक प्रकार से ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। इसीलिए जब महात्मा गांधी को भारतीयों ने 'महात्मा' की उपाधि दी थी, उसी समय तैंतीस करोड़ भारतीयों ने उनकी महत्ता का अनुमान लगा लिया था। अतएव गांधी जी का अद्भुत साहस के साथ इतना बड़ा उपवास निभा ले जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इन पंक्तियों के छपने तक उनके उपवास के ग्यारह दिन सकुशल पूरे हो जायेंगे। ईश्वर की कृपा से शेष दिन सकुशल बीत जावेंगे। और तब, नवीन-भारत की नव-आशा गांधी के सम्मुख देश की सबसे पहली समस्या होगी—देश की राजनैतिक-प्रतिष्ठा तथा काँग्रेस की महत्ता को प्रतिपादित करना ! ईश्वर करे गांधी जी इस दिशा में अपने उपवास की तरह ही सफल होवें।

इसी अवसर पर हम मौलाना शौकत अली को उनके ऐक्य-स्थापन के प्रयास तथा मालवीय जी इत्यादि काँग्रेसी नेताओं से परामर्श कर सरकार से सुलह कराने के प्रयास के लिए बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि मौलाना सफल होंगे और एक दिन ऐसा भी आवेगा जब वे बड़ी सफलतापूर्वक यह कह सकेंगे कि 'यदि मैंने घोर साम्प्रदायिक बनकर जनता का आदर खो दिया था, तो उसे फिर से प्राप्त भी कर लिया था।'

२२ मई १९३३

हज़रत मुहम्मद की पुण्य-स्मृति

गत शुक्रवार ता० ७ जुलाई को काशी के टाउनहाल में इसलाम-धर्म के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद के जन्मोत्सव के उपलक्ष में जो जलसा हुआ, वह एक यादगार जलसा था। काश ऐसे अवसर और सुलभ होते। उपस्थित जनता में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे। सभापति का आसन श्री डा० अब्दुलकरीम ने लिया था। बोलनेवालों में मौलाना आज़ाद सुभानी, पंडित सुन्दरलाल जी और काशी के मौलाना अब्दुलखैर साहब थे, पर मुख्य वक्तृता पंडित सुन्दरलाल जी की थी। आपके व्याख्यान में विद्वत्ता के साथ इतनी शिष्टता, इतनी श्रद्धा और इतनी सच्चाई भरी हुई थी कि मुसलमानों का तो कहना ही क्या, हिन्दू-जनता भी मुग्ध हो गयी। इतनी सदियों तक एक साथ, पड़ोस में रहने पर भी, हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के धार्मिक-सिद्धान्तों और सच्चाई से इतने अपरिचित हैं कि सुन्दरलाल जी के कथन ने बहुतेरे हिन्दुओं को चकित कर दिया होगा। जिस तरह अब तक मुसलमानों ने हिन्दुओं को काफ़िर समझ कर उनके विषय में अब और ज्यादा जानने की जरूरत न समझी, उसी भाँति हिन्दुओं ने भी इसलाम के विषय में कुछ गलत धारणाएँ बना ली हैं, और "रंगीलारसूल" के ढंग की पुस्तकें पढ़ने से ये गलत धारणाएँ और भी पत्थर की लकीर हो गयी हैं। इन सभी मिथ्या धारणाओं का पंडित जी ने इतने प्रभावोत्पादक शब्दों में निराकरण किया कि बहुतों के हृदय से वे धारणाएँ निकल गयी होंगी। यह आम तौर पर कहा जाता है कि इसलाम धर्म तलवार के ज़ोर से फैला और यह कि हज़रत मुहम्मद ने अपने सम्प्रदाय को आज्ञा दी है कि काफ़िरों को क़त्ल करना ही स्वर्ग की कुंजी है, पर पंडित जी ने बताया कि यह बातें कितनी गलत और द्वेष पैदा करनेवाली हैं। हज़रत मुहम्मद ने कभी किसी पर हमला नहीं किया। उनके जीवन में ऐसी एक मिसाल भी नहीं मिलती, कि उन्होंने प्रचार के लिए या विजय के लिए किसी पर फौजकशी की हो। जब भी कभी उन्होंने तलवार उठायी तो शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए और वह भी उस हालत में जब और किसी तरह शत्रु अपने अन्याय से बाज़ न आया। क़त्ल करने की जगह उन्होंने सदैव क्षमा की। यह कहा जा सकता है कि क्षमा उनके जीवन का मुख्य तत्व था। मक्कावालों के ज़ुल्म से तंग आकर वे मदीना चले गये थे। जब तेरह वर्ष बाद उन्होंने फिर मक्का पर विजय पायी तो सारा मक्का भय से काँप रहा था कि न जाने कितनी बड़ी आफत आनेवाली है, पर हज़रत ने सबको क्षमा कर दिया, हालाँकि वे चाहते, तो मक्का में क़तले आम करा सकते थे। यहूदियों, ईसाइयों सभी के साथ उनका यही व्यवहार रहा। वे बराबर यही कहा करते थे कि मैं खुदा की तरफ से उसकी दया और प्रेम का पैग़ाम लेकर आया हूँ, क़त्ल करने नहीं। यही शब्द हज़रत ईसा ने भी कहे थे। मगर ऐसे दया और क्षमा की मूर्ति पर लोगों ने किस बुरी तरह कालिमा पोतने

की चेष्टा की है। द्वेष फैलानेवाले यहाँ तक कहते हैं कि हज़रत मुहम्मद बड़े विलासी थे, हालाँकि सत्य यह है कि उनका जीवन सच्ची साधना और तप का जीवन था। उनके जीवन काल में ही इसलाम ने वैभव प्राप्त कर लिया था और हज़रत जितना भोग-विलास चाहते, कर सकते थे, पर उन्होंने प्रजा के धन को हमेशा अपने परिवार के लिए त्याज्य समझा। वे अपने हाथों अपने कपड़े सीते थे, अपने जूते गाँठते थे और कभी-कभी अभाव के कारण यहाँ तक नौबत आ जाती थी कि आपको पेट में पत्थर बाँध लेना पड़ता था, जिसमें क्षुधा के कारण पेट में दर्द न होने लगे। इसी सम्बन्ध में हज़रत मुहम्मद की ग्यारह स्त्रियों का जिक्र किया जाता है और कहा जाता है कि हज़रत कितने विलासी थे। और भोले-भाले हिन्दू अज्ञान के कारण उन लोगों के भुलावे में आकर, जिनकी रोटियाँ साम्प्रदायिक वैमनस्य पर चलती हैं, इसी महान् अनर्थ को सत्य मान लेते हैं। पच्चीस वर्ष की अवस्था तक हज़रत अविवाहित रहे, हालाँकि उस समय आप व्यापार में कुशल हो चुके थे और किसी सुन्दरी के साथ विवाह कर सकते थे। पच्चीस वर्ष की अवस्था में आपने खुदैजा से विवाह किया, जिनके वह सेवक थे। हज़रत खुदैजा की उम्र उस वक्त पैंतालीस वर्ष की थी और वह विधवा थीं। अगर यह कहा जाय कि हज़रत ने खुदैजा से केवल धन के लोभ से विवाह किया, तो यह सरासर अन्याय है। धन का लोभ केवल धन के लिए नहीं, उससे भोग करने के लिए होता है। यदि हजरत खुदैजा के धन से हज़रत मुहम्मद को भोग की इच्छा होती, तो वे साल दो साल बाद ही नयी-नयी शादियाँ करने लगते। मगर हज़रत ने पच्चीस वर्ष तक खुदैजा के साथ एक पत्नीव्रत का पूर्णरूप से पालन किया। पचास वर्ष की अवस्था के बाद ही उनकी दूसरी शादियाँ हुईं। ऐसे महात्यागी के विषय में, जिसने पच्चीस वर्ष की अवस्था में पैंतालीस की अधेड़ स्त्री से विवाह किया और पच्चीस वर्ष तक उसके साथ सच्चे पत्नीव्रत का पालन किया, अन्याय और धार्मिक द्वेष की पराकाष्ठा है। पचास वर्ष की अवस्था के बाद अवश्य हज़रत ने कई शादियाँ कीं, पर हरेक शादी किसी न किसी धार्मिक या सामाजिक या राजनैतिक कर्त्तव्य के अधीन हुई। उस समय जब दो क़बीलों में झगड़ा हो जाता था, तो संधि के समय जीते हुए दल को हारे हुए दल की कन्या से विवाह करके संधि की मजबूती का विश्वास दिलाना पड़ता था। जीता हुआ व्यक्ति यदि विवाह से इंकार करे, तो हारनेवाले को उसकी नीयत की सफ़ाई पर विश्वास ही नहीं आता था। एक महिला के विषय में यही बात हुई। जब हारे हुए दल ने अपनी कन्या से विवाह का प्रस्ताव किया, तो हज़रत ने अपने सहाबा में हरेक से उस कन्या के साथ विवाह करने का आग्रह किया, पर जब कन्या के कुरूपा होने कारण कोई राजी न हुआ, तो मजबूर होकर हज़रत ने उस कन्या को खुद अपना महल बना लिया। क्या यह भोग लिप्सा है? यह उस ज़माने की एक प्रथा का पालन है, और कुछ नहीं।

ज़रा उन कठिनाइयों का अनुमान कीजिए, जिनके अन्दर हज़रत को अपने जीवन

का महान् उद्देश्य पूरा करना पड़ा। कुरैश अरबों का एक शक्तिशाली क़बीला था, पर अरब में जो सामाजिक बुराइयाँ मौजूद थीं, वह सब इस क़बीले मे भी थीं। जहाँ बात-बात पर खून की नदी बह जाती थी, जहाँ लड़कियाँ जन्म के समय ही मार डाली जाती थीं, जहाँ मूर्तियों के सामने मनुष्य तक का बलिदान होता था, जहाँ शराब पानी की तरह पी जाती थी, जहाँ हर घर का अलग देवता था और जब दो खानदानों में लड़ाई होती थी, तो जीतनेवाला-दल हारनेवाले के देवताओं को भी उठा ले जाता था और उसे तोड़-फोड़ डालता था, हारनेवाले दल के लोग गुलाम बनाकर बेच दिये जाते थे और उनकी स्त्रियाँ जीतनेवालों के लूट का माल समझी जाती थीं, ऐसी सामाजिक परि-स्थितियों में हज़रत का जन्म हुआ। राजनैतिक दशा यह थी कि अरब के एक तरफ़ ईरान का अधिकार था, दूसरी तरफ़ रूस के ईसाई बादशाह का, और तीसरी तरफ़ हब्श के ईसाई बादशाह का, केवल बीच का भाग स्वाधीन था। और इस स्वाधीन भाग की वह दशा थी, जो हमने ऊपर बयान किया है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में सत्य का प्रचार करना और अन्त को उसी फक्कड़ जाति से एक बलशाली धर्मसंख्या और साम्राज्य का निर्माण करना क्या कोई साधारण काम था ? और क्या यह काम किसी विलासी, अर्थ-लोलुप मनुष्य द्वारा हो सकता था ? महान् काम महान् पुरुषों द्वारा ही होते हैं। छोटे-छोटे व्यक्ति तो छोटे-छोटे काम ही कर सकते हैं।

यह भी ध्यान रखने की बात है कि हज़रत मुहम्मद ने कहीं भी नये धर्म के प्रवर्तन का दावा नहीं किया। उन्होंने बार-बार कहा है कि मैं प्राचीन नबियों के धर्म को ही पुनर्जीवित करने आया हूँ। उन्होंने बार-बार कहा है कि हरेक धर्म का सम्मान करो, क्योंकि सब धर्मों की तह में केवल एक सच्चाई है। किसी धर्म की उन्होंने निन्दा नहीं की। जब हज़रत एक राज्य के अधिकारी हो गये और वह तलवार के ज़ोर से जनता को मुसलमान बना सकते थे, तब भी उन्होंने हरेक धर्म को अपने मतानुसार उपासना करने की स्वाधीनता दे दी थी। यहाँ तक कि मूर्ति-पूजकों पर भी कोई बन्धन न था और हरेक धर्म के पवित्र स्थानों की रक्षा करना मुसलिम सरकार अपना कर्तव्य समझती थी।

यह है उस ऋषि की जीवन कथा, जिसके नाम पर आज आधी दुनिया सिर झुकाती है। उसके त्याग की कथा अद्भुत है। जो एक राज्य का स्वामी था, वह खजूर की चटाई पर सोता था। एक बार उनको पीठ पर बोरिये का निशान देखकर किसी ने आज्ञा माँगी कि वहाँ एक गद्दा बिछा दिया जाय। हज़रत ने यह कह कर इन्कार कर दिया कि मैं आराम करने के लिए नहीं पैदा हुआ हूँ। संचय का यह हाल था कि अन्तिम संस्कार के समय हज़रत की ज़िरह पौने दो मन जौ पर गिरो रक्खी गयी थी। जिस पुरुष का सारा जीवन इस तरह की तपस्या में गुज़रा हो, और जिसने सामर्थ्य होने पर भी उस तपस्या में अन्तर न पड़ने दिया हो, उसके प्रति हमें श्रद्धा और प्रेम होना

चाहिए। कितने खेद की बात है कि ऐसे महापुरुष पर झूठे आक्षेप लगाकर हम द्वेष बढ़ाते हैं।

यह है उस व्याख्यान का सारांश, जो पं० सुन्दरलाल जी ने उस दिन इस इसलामी प्लेटफ़ार्म से दिया। हमारा ख्याल है कि ऐसे सम्मेलनों और जलसों से, जिसमें हमारे पूज्यों के विषय में आदर और प्रेम के भाव प्रदर्शित किये जाँय, इससे दोनों जातियों में प्रेम और सहिष्णुता की स्पिरिट पैदा हो सकती है और उसका यही एक मार्ग है। इस वक्त हमारे सामने इसी धर्म के द्वेष को मिटाना सबसे बड़ा काम है।

१७ जुलाई १९३३

इसलाम का विष-वृक्ष

अभी हाल में इस नाम की एक पुस्तक साहित्य-मण्डल देहली ने प्रकाशित की है। इसके लेखक हैं, श्री चतुरसेन जी शास्त्री। शास्त्री जी यशस्वी लेखक हैं, उनकी शैली में ओज है, आकर्षण है, तेज है, पर दुर्भाग्यवश वह कभी-कभी इन गुणों का दुरुपयोग किया करते हैं। थोड़े से धन और थोड़े से यश के लोभ से ऐसी रचनाएँ कर डालते हैं, जिनसे सनसनी के साथ देश में साम्प्रदायिक द्वेष को उत्तेजित करने की मनोवृत्ति साफ झलकती है। ऐसी जहरीली पुस्तकें बिकती ज्यादा हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। मुसलमानों ने हिन्दुओं पर जो अत्याचार किये, उसका विषद और एकांगी विस्तार दिखाकर साम्प्रदायिक मनोवृत्तिवाली हिन्दूजनता में मुसलमानों के प्रति द्वेष बढ़ाया जा सकता है। यह ऐसा मुशकिल काम नहीं, लेकिन क्या इस द्वेष को भड़काना एक यशस्वी और जिम्मेदार लेखक की मर्यादा के अनुकूल है? दोष सभी धर्मों में निकाले जा सकते हैं। क्या हिन्दू-धर्म दोषों से खाली है? अपने-अपने समय में प्रभुता पाकर अत्याचार भी सभी जातियों ने किये हैं, लेकिन उन गयी बीती बातों को कीने की तरह पालना और उनका प्रचार करके जनता में द्वेष फैलाना, राष्ट्र को सर्वनाश की ओर ले जाना है। "रंगीला रसूल" के ढंग की पुस्तकों से देश का क्या कल्याण हो सकता है? "इसलाम का विष-वृक्ष" के पृष्ठ तैंतालीस पर कुरान में लिखी हुई बातों के विषय में कहा गया है कि कुरान के अनुसार—

(१) खुदा आदमी को बहकाता है।

(२) खुदा सबसे बड़ा कपटी है।

(३) खुदा ने प्रत्येक शहर में पापियों के सरदार छोड़ रखे हैं, ताकि वे लोगों को बहकाते और धोखा देते रहें।

(४) खुदा घात में लगा रहता है।

(५) बिहिश्त में शराब पीने को माँस खाने को, तथा सत्तर हूरें और लौंडे मौज करने को मिलेंगे ।

हम नहीं समझते कि इस तरह की लचर, बेबुनियाद, धोखे में डालनेवाली बातों के प्रचार का इसके सिवा और क्या उद्देश्य है कि हिन्दुओं में इसलाम और मुसलमानों के प्रति घृणा और द्वेष पैदा किया जाय। ऐसी मनोवृत्तिवालों से ईश्वर इस देश की रक्षा करे !

इसके आगे चल कर शास्त्री जी ने इर्विन, एलफ़िस्टन आदि योरोपियन लेखकों की रचनाओं के उद्धरण देकर इस मत का समर्थन करने की चेष्टा की है कि मुहम्मद मनुष्य जाति का भयानक शत्रु था और यह कि क़ुरान में मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं है । योरोप के इतिहासकारों ने इसलाम को इसलिए कलंकित किया कि वे यूनान और बलक़ान आदि देशों से तुर्कों को निकालना चाहते थे । इसलाम का प्रभुत्व उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता था । उनके कथन को प्रमाण मानकर, यहाँ नकल करना किसी तरह भी स्तुत्य नहीं कहा जा सकता । हम स्वयं सम्प्रदायों के वकील नहीं हैं । धार्मिक कट्टरता से भूमंडल को जितनी यातनाएँ भोगनी पड़ी हैं, उनसे इतिहास के पोथे भरे पड़े हैं । इस लिहाज़ से क्या ईसाई, क्या बौद्ध, क्या हिन्दू सभी समान रीति से अपराधी हैं । उनमें से किसी एक धर्म को छाँट लेना और सारी बुराइयाँ उसी में दिखाना, अस्वस्थ और पक्षपात-पूर्ण मन का परिचय देता है । यह पुस्तक इसलाम का इतिहास है । किसी जाति या धर्म का इतिहास लिखना बुरा नहीं, यदि निष्पक्ष होकर, पूरे अध्ययन और खोज से, सत्यासत्य पर पूरा विचार करने और उसके साथ सौजन्य का पालन करते हुए लिखा जाय । इस पुस्तक का नाम ही बतला रहा है कि इसकी रचना किस भाव की प्रेरणा से हुई है, और पुस्तक के कवर पर जो रंगीन चित्र दिया है, वह तो लेखक के विषैले मनोभाव की नंगी तस्वीर है । यह इसलाम का विषवृक्ष रूपी मन है । इस पुस्तक में अधिकांश उन्हीं अंग्रेजी इतिहासों से नकल किया गया है, जिनमें मुसलमानों के प्रति काफ़ी द्वेष और ईर्ष्या का भाव भरा हुआ है, जैसे "बर्नियर" और मनूची आदि । वही बादशाहों के महल के अंदर की बातें, मीनाबाज़ार के कपोलकल्पित क़िस्से, इस पुस्तक के आधार हैं । न जाने किस प्रमाण से पृष्ठ एक सौ तीन पर लिखा गया है कि मुग़ल बादशाह साँप पालते थे, और जिस सरदार से उन्हें शंका होती थी, उसे साँप से डसवा देते थे, या ज़हरीले कपड़े पहना कर उसकी जीवन-लीला समाप्त कर देते थे । हम कहते हैं मान लो यह ठीक भी है, तो इससे क्या ? उस मध्य-काल की धार्मिक कट्टरता या एकाधिपत्य में क्या नहीं होता था ? हिन्दुओं के राजा भी तो विष कन्याएँ रखते थे और उनके द्वारा अपने शत्रुओं को यमराज के घर भेज देते थे । आज उन बातों पर आक्षेप करने का क्या अर्थ है ?

श्रीचतुरसेन जी हमारे मित्र हैं । वह विद्वान हैं, मनस्वी हैं, उदार हैं, हम उनसे

प्रार्थना करते हैं कि ऐसी जटल और द्रोहभरी रचनाएँ लिखकर, अपनी प्रतिभा को और हिन्दी भाषा को कलंकित न करें और राष्ट्र में जो द्रोह और द्वेष पहले से ही फैला हुआ है, उस बारूद में आग न लगावें।

२४ जुलाई १९३३

संयुक्त पार्लमिंटरी कमेटी के सामने भाई परमानन्द का बयान

भाई परमानन्द ने जाइंट पार्लमिंटरी कमेटी के सामने जो जोरदार बयान दिया और सरकार की साम्प्रदायिक नीति का जितने स्पष्ट शब्दों में प्रतिवाद किया, उससे किसी भी हिन्दू या मुसलमान राष्ट्रभक्त को असन्तुष्ट न होना चाहिए। जहाँ दो ही मुख्य जातियाँ हैं, वहाँ अगर एक के साथ जरा भी पक्षपात किया जाता है, तो दूसरी जाति को उसकी कसर पूरी करनी पड़ती है। सर जान साइमन और फ्रेंचायज़ कमेटी और मि० रामजे मैकडोनाल्ड सभी ने खुले शब्दों में साम्प्रदायिकता की निन्दा की, पर यह सब कुछ होते हुए भी सारी व्यवस्था साम्प्रदायिकता के आधार पर कर डाली गयी। जो लोग अपने लिए पृथक् निर्वाचन न चाहते थे, उन्हें भी पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया गया। उस वक्त तो सरकार जैसे साम्प्रदायिकता को खोज-खोजकर पुरस्कृत करने पर तुली हुई थी। नतीजा यह हुआ कि हिन्दुओं का पचहत्तर फीसदी बहुमत बयालीस फी-सदी का अल्पमत बना डाला गया। यह राजनीति का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि किसी राष्ट्र की व्यवस्था ऐसी न होनी चाहिए कि उसका बहुमत अल्पमत की अवस्था को पहुँच जाय। इसी सिद्धान्त पर पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं को अल्प-संख्या में होने पर भी वह रिआयत नहीं दी गयी, जो अन्य प्रान्तों में अल्पसंख्यक मुसलमानों को दी गयी, इसलिए कि उन दोनों प्रान्तों में हिन्दुओं के साथ थोड़ी-सी रिआयत भी मुसलमानों को अल्पमत कर देती थी, पर हिन्दू-प्रधान प्रान्तों में मुसलमानों को कुछ अधिक मताधिकार देने पर भी हिन्दू बहुमत में बाधा नहीं पड़ती थी, लेकिन फेडरल एसेम्बली में इस सिद्धांत का जरा भी सम्मान न किया गया और हिन्दू बहुमत इतने अल्पमत में कर दिया गया कि वह बिलकुल पंगु हो गया है। मुसलमानों की जन-संख्या का भारतीय औसत १।५ से कुछ ही अधिक है, पर काँग्रेस ने उन्हें तीस फी-सदी जगहें देना स्वीकार कर लिया, हालाँकि वह पृथक् निर्वाचन को स्वीकार न करती थी और आज तक वह सम्मिलित निर्वाचन के सिद्धांत पर जमी हुई है। मुसलमानों के लिए यह बड़ी भारी विजय थी, और जब सरकार ने देखा, कि काँग्रेस मुसलमानों को तीस फीसदी मताधिकार देकर उनका सहयोग प्राप्त कर लेना चाहती है, तो उसने तीस को बढ़ा कर तेतीस फी-सदी कर दिया। इस तरह इस नीलाम की बोली में मुसलमानों का मूल्य बढ़ता गया। हिन्दुओं

ने राष्ट्रीयता के ऊँचे आदर्श पर, एक सम्मिलित और समुन्नत भारत देखने की उत्कट इच्छा से इस फैसले का बिलकुल विरोध न किया। यहाँ तक कि पंडित जवाहरलाल नेहरू और महात्मा गांधी ने तो मुसलमानों को सादा चेक दे देने की बात कही थी, लेकिन उस वक्त भी हिन्दू यह न समझते थे, कि वे इतने अल्पमत में रख दिये जायेंगे। शायद कुछ आशा भी बनी हुई थी, कि सरकार काँग्रेस से कुछ समझौता कर लेगी और सम्मिलित निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जायगा, या व्यवस्था में कुछ ऐसी शर्तें रख दी जायेंगी कि दस या बीस वर्ष बाद स्वायत रीति से पृथक् निर्वाचन की जगह सम्मिलित निर्वाचन का बर्ताव होने लगेगा।

लेकिन इसी बीच में राजनीति ने पलटा खाया और असहयोग आन्दोलन फिर जारी हो गया। सुफेद कागज़ ने पृथक् निर्वाचन को स्थायी मानकर हिन्दुओं को पचहत्तर फीसदी से गिराते-गिराते बयालीस फीसदी तक पहुँचा दिया। और इस अनुपात का व्यवहार धीरे-धीरे राजपदों में प्रवेश करता हुआ म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों में भी अपना आसन जमा लेना चाहता है। शायद कोई मुसलमान यह बर्दाश्त न करेगा कि खुले मुक़ाबले के इम्तहानों में प्रथम श्रेणी के मुसलमानों को पीछे डालकर दूसरे और तीसरे दर्जे के हिन्दुओं को जगहें दी जाय, लेकिन वास्तव में यही हो रहा है और आये दिन हिन्दू उम्मेदवारों को अपने हिन्दू होने का तावान देना पड़ रहा है। हमारा खयाल है कि हिन्दुओं के प्रति सरकार की जो वक्र-दृष्टि है उससे फ़ायदा उठाकर वैमनस्य को और मज़बूत किया जा रहा है। और हमें आशा है, मुसलिम-नेता इस नीति को हिन्दुओं को उनके जायज़ हक से वंचित करने के लिए काम में न लायेंगे।

हम स्वयं साम्प्रदायिकता के समर्थक नहीं हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि ज्यों-ज्यों हमारा राजनैतिक विकास होगा, साम्प्रदायिकता मिटती जायगी और आर्थिक समस्याएँ उसका स्थान लेती जायेंगी। तब देश का संगठन राजनैतिक और नागरिक आधारों पर होना निश्चित है। लेकिन इस बीसवीं सदी में भी वंश और जाति-भेद मिटा नहीं है, और किसी दिन भी बरसात में सूखी जमीन से निकल आनेवाले मेढकों की भाँति गति और ध्वनि प्राप्त कर सकता है। अतएव इस साम्प्रदायिक नीति को छौंछड़े खिला-खिलाकर मोटा करने में हम मंगलमय भविष्य का निर्माण नहीं कर रहे हैं। अगर हिन्दू मुसलमानों को असन्तुष्ट रखकर शासन को नहीं चला सकते, तो यह भी मानना पड़ेगा कि मुसलमान भी हिन्दुओं को अप्रसन्न रखकर और उनके आत्माभिमान को दलित करके शासन नहीं चला सकते। दस-पाँच अच्छी-अच्छी जगहें पा जाने से किसी जाति का उद्धार नहीं हो जाता, लेकिन जब यह जगह एक अंग से छीनकर दूसरे अंग को दे दी जाती है तो इससे सम्पूर्ण जाति में असन्तोष और विद्रोह और ईर्ष्या फैलती है वह बड़ी भयंकर होती है। दुर्भाग्य से जैसे मुसलमानों की बड़ी संख्या अपना मुसलमान होना नहीं भूल सकती, उसी भाँति हिन्दुओं में भी ऐसे आदमियों की कमी

नहीं है जिन्हें अपना हिन्दूपन उतना ही प्यारा है। हिन्दुओं ने अभी तक काँग्रेस के प्रभाव से साम्प्रदायिक नेताओं की बातें नहीं सुनी हैं, लेकिन जब एक साम्प्रदायिक नेता अकाट्य दलीलों और प्रमाणों से हिन्दू जनता को यह दिखाता है कि तुम्हारे स्वार्थों का खून किया जा रहा है, तो राष्ट्रीय विचारवाले भी उसकी बातें सुनने और उन पर विचार करने पर मजबूर हो जाते हैं। हम भाई जी के इन शब्दों को दोहराना चाहते हैं कि 'सरकार ने भारत में साम्प्रदायिकता का बीज बो दिया है और किसी दिन इस वृक्ष का फल भारत और भारतीय सरकार दोनों ही के लिए घातक होगा।'

४ सितम्बर १९३३

कुरान में धार्मिक ऐक्य का तत्व

इन साम्प्रदायिक उन्माद के दिनों में धार्मिक लड़ाइयाँ केवल धर्मग्रन्थों का ठीक-ठीक अर्थ न समझने ही के कारण बहुधा हो जाया करती हैं। और अकसर यह होता है कि हम अपने ही धर्मग्रंथों के अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। गीता पर पचासों ही टीकाएँ छपी हैं। सबों में कुछ न कुछ मतभेद है। इसी तरह कुरान की भी कितनी ही तफ़सीरें मौजूद हैं। सर सैयद अहमद ने जब कुरान की तफ़सीर की, तब मौलवियों के कट्टर समुदाय में बड़ी हल-चल मची और सर सैयद को काफ़िर कहा गया। मौलवी और पंडित साम्प्रदायिक वातावरण में रहने के कारण कुछ तंग ख़याल हो जाते हैं, और धर्म के वाह्य लक्षणों और गौण बातों को तात्विक प्रश्नों से बढ़ा देते हैं। एक कट्टर पंडित की दृष्टि में ठाकुर जी को प्रातःकाल जल चढ़ाना या गंगा स्नान करना किसी बीमार को अस्पताल पहुँचा देने से कहीं अधिक महत्व की बात है। इसी तरह मौलवियों की निगाह में भी रोज़ा और नमाज़ आदमियों की ख़िदमत से कहीं बढ़कर है। इसका नतीजा यह है कि आज सम्प्रदायों में आपस में घोर संग्राम छिड़ा हुआ है जो अकसर दंगों के रूप में प्रकट हो जाता है। हालाँकि वास्तव में धार्मिक तत्व सभी धर्मों में एक है। कुरान पर तरह-तरह के आक्षेप किये जाते हैं। कहा जाता है, उसमें गैर मुसलिमों को क़त्ल करने की तालीम दी गयी है। इसके प्रमाण में आयतें पेश की जाती हैं। मगर जब कोई विद्वान, शुद्ध भाव से साम्प्रदायिकता से ऊँचा उठकर उन्हीं आयतों का विवेचन करता है तो हमें मालूम होता है कि हम कितनी गलती पर थे। इसी तरह की एक तफ़सीर मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने की थी। मौलाना आज़ाद किस कोटि के विद्वान् हैं, यह कहने की जरूरत नहीं। समस्त संसार के मुसलमान उनकी विद्वता के कायल हैं और लाखों ही उन्हें अपना पीर मानते हैं। उसी तफ़सीर के एक अंश का अनुवाद हिन्दी में हुआ है, जिसे महामना बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी ने अपनी निगरानी में

प्रकाशित कराया है। उस अनुवाद को पढ़कर हमारा जो सर्व धर्मों की एकता का पुराना विश्वास था वह पक्का हो गया। उस परिच्छेद का एक अंश हम यहाँ नकल करते हैं जिससे प्रकट हो जायगा कि कुरान पर किये आक्षेप कितने भ्रम-पूर्ण हैं—

"यह महान् तत्व (धार्मिक ऐक्य) कुरान के संदेश की सबसे पहली बुनियाद है। कुरान जो कुछ बतलाना और सिखलाना चाहता है, सब इसी पर अवलम्बित है। अगर इस तत्व से नज़र फेर ली जाय तो कुरान के संदेश का सारा ढाँचा छिन्न-भिन्न हो जाता है, परन्तु संसार के इतिहास की आश्चर्यजनक प्रगति में यह भी एक विचित्र घटना है कि कुरान ने तत्व पर जितना अधिक जोर दिया था, उतनी ही संसार की दृष्टि इससे फिरी रही। यहाँ तक कि आज कुरान की कोई भी बात संसार की दृष्टि से इस दर्जे छिपी हुई नहीं है जितना यह महान् तत्व। यदि कोई व्यक्ति हर प्रकार के बाहरी प्रभाव से अलग होकर कुरान को पढ़े और उसके पृष्ठों में स्थान-स्थान पर इस महान तत्व के अकाट्य और स्पष्ट एलान देखे और फिर संसार की ओर दृष्टि डाले, जिसने यह समझ रक्खा है कि कुरान भी अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की तरह एक सम्प्रदाय मात्र है तो वह अवश्य हैरान होकर पुकार उठेगा कि या तो मेरी निगाह मुझको धोखा दे रही है या संसार सदा बिना आँखें खोले ही अपने फैसले दे दिया करता है।"

इस भूमिका के बाद कुरान की वही आयतें और अनुवाद दिये गये हैं जिनसे इस कथन की पुष्टि होती है। पूज्य बाबू भगवानदास जी ने भी सब धर्मों की एकता सिद्ध कर दी है, पर अज्ञान का ऐसा आतंक छाया हुआ है कि सम्प्रदाय-भक्त सज्जन इन ग्रन्थों को पढ़ने का कष्ट नहीं उठाते और स्वाध्याय तथा विचार-विनिमय से जो मानसिक विकास होता है उससे वंचित रहते हैं।

नीचे हम केवल एक आयत का तर्जुमा देते हैं जिससे इस शंका का पूर्ण रूप से समाधान हो जाता है कि इसलाम अन्य मतवालों के कत्ल की तालीम देता है—

"फिर अगर यह लोग तुमसे इस बारे में झगड़ा करें तो ऐ पैगम्बर तुम उनसे कहो कि मेरी और मेरे अनुयायियों की राह तो ईश्वर के आगे बंदगी में सिर झुका देना है और हमने सिर झुका दिया है। फिर धर्म-ग्रन्थवालों से और अशिक्षित लोगों से पूछो कि तुम भी परमात्मा के आगे झुकते हो या नहीं! अगर वे झुक गये तो (सारा झगड़ा खत्म हो गया और) उन्होंने राह पा ली। अगर वे मुंह मोड़ें तो फिर जिन लोगों को ईश्वर-भक्ति की ऐसी स्पष्ट बातों से भी इन्कार है, उनके साथ वाद-विवाद और कलह करने से क्या लाभ? तुम्हारे जिम्मे जो कुछ है वह यही है कि सत्य का संदेश पहुँचा दो। बाक़ी सब कुछ परमात्मा पर छोड़ दो। परमात्मा से बन्दों का हाल छिपा नहीं है।"

११ सितम्बर १९३३

भाई परमानन्द जी का भाषण

भाई परमानन्द जी ने हिन्दू-सभा के अधिवेशन में अपने सदारती भाषण में जहाँ और बहुत-सी बातें कहीं, वहाँ जनता से अपील की कि वह राष्ट्रवादी पत्रों का वहिष्कार करे ताकि इन सिर फिरों को होश आ जाय। बड़ी अच्छी और कारगर सलाह है और भाई जी ही के दिमाग से ऐसी सलाह निकल सकती थी। सरकार भी तो यही करती है। वह अखबारवालों पर कोई मुकदमा चलाने का सिरदर्द नहीं लेना चाहती। बस सीधा-सा नुसखा है—ज़मानत। जिस पत्र से एक बार ज़मानत माँगी गयी, उसके होश-हवास ठिकाने आ जाते हैं और राष्ट्रीयता की जो थोड़ी-सी गर्मी दिमाग पर चढ़ी होती है, वह ठंढी हो जाती है। भाई जी की सलाह के अनुसार अगर गाहक ऐसे राष्ट्रवादी पत्रों का पढ़ना ही बन्द कर देंगे, तो उनका जीवन ही समाप्त हो जायगा। फिर देश में जितने पत्र रह जायेंगे, वह भाई जी के इशारों पर चलेंगे। तब देखिए कैसी बहार होती है और अखबारों में कैसी-कैसी सनसनीदार खबरें छपती हैं। कुछ ऐसा क्रम हो गया है कि जब राष्ट्रवाद दबता है, तो भेदभाव उठता है और बारी-बारी से दोनों अवस्थाएँ अपना भोग भोगती हैं। १६२५ से २७ तक भेदभाव का प्राधान्य रहा और भारत में शायद ही ऐसा कोई नगर या कस्बा बचा होगा, जहाँ हिन्दू मुसलिम दंगे न हुए हों। काँग्रेस के कितने ही नेता और स्वयं सेवक हिन्दू-सभा में दाखिल हो गये। १६२६ में राष्ट्रवाद फिर उठा। भेदभाव उतने दिनों कोने में दबका पड़ा रहा। अब राष्ट्रवाद का जोर कम हो चला है, तो भेदभाव का उठना लाजिम ही था। हम भाई जी को इलज़ाम नहीं देते, न हम शफाअत अहमद खाँ और मौलाना शफ़ी दाऊ दी को ही इलज़ाम देते हैं। राष्ट्रवाद को तो इन दोनों दलों को एक प्लेटफ़ार्म पर लाना है। देखिए वह समय कब आता है। अगर वह आदर्श ही रह जाय तो भी एक ऊँचा आदर्श है, जिसके लिए जिया और मरा जा सकता है। राष्ट्रवाद का भावी प्रोग्राम इसी भेदभाव को मिटाना है। जब तक यह भाव नहीं मिटता, न स्वराज्य होगा और न डोमिनियन स्टेटस और न कुछ। भाई परमानन्द जी की यह नीति, कि हिन्दुओं को अंग्रेजों से मेल करके मुसलमानों को परास्त करना चाहिए, बच्चों की-सी बात मालूम होती है। जागा हुआ राष्ट्र कभी अपने को गुलामी की दशा में रखना बर्दाश्त नहीं कर सकता। हिन्दुओं को यह बजा शिकायत है कि वोटों के बटवारे में उनके बहुमत को अल्पमत बना दिया गया। लेकिन इसका इलज़ाम राष्ट्रवादियों पर नहीं, उन्हीं भेदवादियों पर है, जो अपने स्वदेश-बन्धुओं पर विश्वास नहीं कर सकते। जब तक हममें यह हिन्दूपन और मुसलिमपन रहेगा, तीसरी शक्ति को अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए किसी बात की ज़रूरत नहीं, इसके सिवा कि कभी हमें खुश कर दे, कभी उसे। जिस दिन यह मनोवृत्ति मिट जायगी, उसी दिन स्वराज्य आ जायगा। राष्ट्रवाद चाहे और कोई उपकार न कर सके,

देश में खून-खच्चर तो नहीं कराता, कुछ ऐसे लोगों को एकत्र तो करता है जो राष्ट्र को सम्प्रदाय के ऊपर समझते हैं। वही बुनियाद है जिस पर राष्ट्र का भवन खड़ा होगा। जब तक राष्ट्र के भिन्न-भिन्न अंग एक दूसरे के अहित पर अपना हित निर्माण करते रहेंगे, राष्ट्र का पतन होता चला जायगा। भाई जी का यह ख़याल कि स्वराज्य के लिए मुसलमानों के सहयोग की ज़रूरत नहीं, और हिन्दू केवल अपने बल से उसे प्राप्त कर सकते हैं, गौरव-पूर्ण होने पर भी यथार्थ की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। बेशक हिन्दुओं ने मुसलमानों की बादशाही मिटा दी थी ? तो क्या मुसलमानों ने हिन्दुओं का राज्य नहीं मिटा दिया था। पुरानी अदावतों को पालते रहना स्वस्थ मनोवृत्ति नहीं है, और उसका परिणाम वही होगा, जो फूट का होता है।

३० अक्टूबर १९३३

हिन्दू सभा की नाराज़ी

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने काशी में हिन्दू सभा पर जो आक्षेप किये थे, उसने सभा में बड़ी हलचल पैदा कर दी है। भाई परमानन्द जी से लेकर डा० हिंगोरानी तक हरेक ने अपने बयान प्रकाशित कराके इस आक्षेप का प्रतिवाद किया है। हमें इससे बहस नहीं। संभव है पंडित जी ने गलती की हो और हिन्दू सभा सच्चाई पर हो, पर भाई जी ने पंडित जी के हिन्दू न होने का जो फतवा दिया है उसके खिलाफ आवाज़ उठाना जरूरी है, क्योंकि वह फतवा पंडित जी को ही नहीं पर उस तरह के विचार रखनेवाले सभी सज्जनों को हिन्दू दायरे के बाहर कर देता है। क्या हिन्दू आदर्श यही है कि अन्यायी हिन्दू राजाओं की प्रशंसा की जाय और उन्हें अपनी मुसलिम प्रजा को कुचलने में सहायता दी जाय ? हरिजनों को जो अधिकार दिये गये हैं, उनका विरोध किया जाय ? जो सरकार हिन्दुओं के साथ अन्याय कर रही है, उसके तलवे सहलाये जाँय ? मुसलमानों की घृणित साम्प्रदायिकता की आँखें बन्द करके नकल की जाय ? सूदखोरी से किसानों की रक्षा के लिए जो सरकारी नियम बनाये जाँय, उनका विरोध किया जाय ? अगर हिन्दू होने का यही अर्थ है, तो पंडित जी ही नहीं, उनके साथ बहुत-से लोग हिन्दू दायरे से बाहर हो जाने में अपना कल्याण समझेंगे।

२७ नवम्बर १९३३

मुसलिम लीग का अधिवेशन

अभी भाई परमानन्द ने अजमेर में हिन्दू सभा की ओर से जो कुछ कहा, वही मुसलिम दृष्टिकोण से मुसलिम-लीग के सभापति श्री हाफ़िज़ हिदायत हुसेन ने दिल्ली में फ़रमाया। दोनों महानुभाव राष्ट्रीयता के पक्के समर्थक हैं, दोनों ही ब्रिटिश सरकार के क़दमों से चिमटे रहना चाहते हैं, दोनों अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए सरकार का मुँह ताकते हैं, दोनों नौकरियों और मेम्बरियों की वेदी पर राष्ट्रीयता को बलि देना चाहते हैं। मगर फ़र्क़ यही है कि जहाँ मुसलिम-लीग अपने उद्देश्यों में सफल होती चली जा रही है, हिन्दू-सभा के लिए अन्धकार ही अन्धकार है, क्योंकि मुसलिम लीग की नीति राजनैतिक सिद्धांतों के अनुकूल है, हिन्दू सभा की नीति उसके प्रतिकूल। राजसत्ता अल्पसंख्यक समुदाय को प्रोत्साहन देकर बहुसंख्यक समुदाय को दबाये रख सकती है। अगर वही प्रोत्साहन वह बहुमत को भी देने लगे, तो बहुमत इतना शक्तिशाली हो जायगा कि वह अल्पमत के लिए ही नहीं, राजसत्ता के लिए भी भारी हो जायगा। बहुमत को सहारा देकर कोई भी सरकार समान परिस्थितियों में अपनी जड़ खोदना स्वीकार न करेगी। राजसत्ता का अस्तित्व ही बहुमत को दबाये रखने में है। उसे किसी तरह भी शक्ति संचय नहीं करने दे सकती। मुसलमान अगर शक्तिशाली होकर सिर उठाना भी चाहें, तो सरकार हिन्दुओं की सहायता से उन्हें बहुत जल्द काबू में ला सकती है। हिन्दू-बहुमत अगर शक्तिशाली हो जाय, तो मुसलमानों की सहायता से भी नहीं दबाया जा सकता। आश्चर्य है कि हिन्दू सभा के नेता इतनी मोटी-सी राजनैतिक नीति नहीं समझते। मुसलमानों को थोड़े से अधिकार या वोट ज्यादा दे देना हिन्दुओं को असंतुष्ट करके ही रह जायगा। हिन्दू बहुमत के लिए तो स्वराज्य हो जायगा, और पूर्ण स्वराज्य। इसलिए हिन्दू सभा की चीख़-पुकार से राजसत्ता अपने निर्दिष्टमार्ग से हट जायगी, यह समझना ही राजनैतिक ज्ञान-शून्यता का परिचय देना है। इसका अगर कोई उपाय है तो यही कि देश की राष्ट्रीय मनोवृत्ति को पुष्ट किया जाय, और साम्प्रदायिकता और उसकी पोषक शक्तियों का संयुक्त हिन्दू-मुसलिम-राष्ट्रीयता से सामना किया जाय। यह विश्वास करना कि मुसलमानों में राष्ट्रवादियों का बिल्कुल अभाव है, सत्य से मुँह फेरना है। हाँ, ऐसे लोग उनमें कम हैं, पर यह कमी हमेशा न रहेगी। सरकार के पास मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए जितने साधन हैं, वह थोड़े दिनों में समाप्त हो जायेंगे। वही शक्तियाँ जो हिन्दू-युवकों में काम कर रही हैं, मुसलमानों में भी जोर पकड़ेंगी। कोई जाति सदैव आश्रित बनकर नहीं रह सकती। शिक्षा के साथ उसका स्वाभिमान भी जागृत होगा और वह राष्ट्रीयता का महत्व समझेगी। इसी शक्ति के संगठित हो जाने पर हमारे भविष्य का दारोमदार है। लेकिन अगर साम्प्रदायिक शक्तियाँ यों ही ज़ोर पकड़े रहीं तो समझ

लेना चाहिए कि भारत अनन्त काल तक स्वराज्य का स्वप्न ही देखता रहेगा। यह खयाल कि हिन्दू-जाति अपने ही बल से स्वराज्य प्राप्त कर सकती है, शेखचिल्ली की-सी बात है। शिवाजी और रनजीतसिंह का समय अब नहीं है। आठ करोड़ मुसलमान जिनकी संसार की सबसे बड़ी शक्ति मदद कर रही हो, गीदड़-भभकियों से नहीं परास्त किये जा सकते। हिन्दू-सभा की वर्तमान नीति दिन-दिन मुसलमानों में संदेह और रोष बढ़ाती जायगी, उनकी साम्प्रदायिक भावनाओं को दृढ़ करती जायगी, जिसका अर्थ है कि सरकार की शक्ति दिन-दिन बढ़ती जायगी और भारत एक कदम भी आगे न बढ़ सकेगा। अगर इस नीति से हिन्दू सभा को वह सफलता मिलने की कोई सम्भावना होती तो एक बात थी। मगर सरकार के चरणों पर सिर झुका कर वह कुछ नहीं पा सकती। एक की पीठ ठोंककर, चार के मुकाबिले में खड़ा किया जा सकता है। चार की पीठ ठोंकना तो एक का कचूमर ही निकाल देगा और तब क्या चारों उस पीठ ठोकनेवाले ही पर न टूट पड़ेंगे।

हाफ़िज़ जी ने अपने भाषण में वही पुरानी बातें दुहरा दी हैं जो हम लीग के प्लेटफ़ार्म से बराबर सुनते आये हैं। वही माँगें हैं, वही विशेष व्यवहार का सवाल है, वही हिन्दुओं के अन्याय का रोना है। मुसलिम जाति के लिए आप ऐसे प्रतिबन्धों का होना लाज़मी समझते हैं, जिनसे ये अपने "पूर्व इतिहास, अपनी मर्यादा और अपनी संस्कृति" की रक्षा कर सकें। लेकिन इसके साथ ही आपने मुसलमानों को यह भी समझाया कि "प्रतिबंध चाहे कितने ही दृढ़ क्यों न हों, उनसे सहायता नहीं मिल सकती, जब तक मुसलमान संगठित होकर अपने पैरों खड़ा होना न सीखेंगे।" मगर हाफ़िज़ जी भी रिज़र्व बैंक और अठारह पेंस के अनुपात के प्रश्न पर राष्ट्रीय विचार प्रकट करने से अपने को न रोक सके। यहाँ साम्प्रदायिकता के लिए गुंजाइश ही न थी। संभव है भविष्य में ऐसी और भी बातें निकल आयें।

इधर "पानइसलामिज़्म" की काफ़ी चर्चा हुई थी। खबर उड़ी थी कि "पाकिस्तान" का नया सूबा या नया राज बनाने की तैयारियाँ हो रही हैं, जिसमें काश्मीर, सिंध, पंजाब, सरहद और अफ़ग़ानिस्तान मिला लिये जायेंगे। इस चर्चा का उद्‌गम कहाँ था, यह कोई नहीं कह सकता। शायद इंग्लैंड में इस तरह का हौवा खड़ा किया गया, जो हिन्दू मुसलिम विरोध को और सजग कर दे और वह अपने उद्देश्य में सफल भी हुआ। ज्वाइंट कमेटी में भी इस पर काफ़ी चहल-पहल रही। हाफ़िज़ जी ने इस विषय में जो कुछ कहा है, उससे आशा है, भयभीत होनेवालों को सन्तोष हो जायगा—

"मैं जानता हूँ कि पंजाब में मुसलिम-स्वत्वों के विरुद्ध "पानइसलामिज़्म" और अफ़ग़ान हमले का हौवा खड़ा किया गया है....पर यह मेरी समझ में, वहम है। राजनैतिक पानइसलामिज़्म, जिसका अर्थ है कि मुसलमानों का एक संयुक्त राज्य स्थापित

किया जाय, कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसका आदर्श यही है कि इसलाम सभी जातियों और वर्गों के संयोग का आधार है, जो भौगोलिक बाधाओं को स्वीकार नहीं करता। इसका आशय यह कभी नहीं रहा कि मुसलमान सदा मक्का की ओर मुँह और भारत की ओर पीठ किये रहता है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि भारत के मुसलमानों का स्वार्थ भारत की ही समस्याओं पर केन्द्रित है, भारत के बाहर के प्रश्नों पर नहीं, और मुसलमान भी उसी तरह भारतीय राष्ट्र का एक अंग है, जैसे कोई अन्य जाति। यह भूत केवल मुसलमानों के प्रति योरोप और अमेरिकावालों में भय और द्वेष उत्पन्न करने के लिए रचा गया है।"

बात यह है कि हिन्दू सभा और मुसलिम लीग दोनों में ऐसे लोग भरे हुए हैं, जो या तो सरकारी नौकर या पेंशनर हैं। उनका मस्तिष्क नौकरियों और जगहों के सिवा कुछ सोच ही नहीं सकता। किसान और मज़दूर के लिए उनके पास कुछ नहीं है, कोई निर्माणकारक स्कीम नहीं है, कोई क्रियात्मक उद्धार की नीति नहीं है। उन्हें नौकरी चाहिए, जिसका मतलब यही है कि विदेशी राज्य के साथ मिलकर गरीबों पर शासन करना, उनका सब से बड़ा आदर्श है। उन जगहों की संख्या भी बराबर बढ़ती रहनी चाहिए, वेतन और तरक्कियाँ भी बराबर बढ़ती जायँ, चाहे टैक्स और लगान देनेवाले खर्च के बोझ से पिस ही क्यों न जायँ। हाफ़िज़ जी ने भी मुसलमानों की सबसे बड़ी माँग यही नौकरी बतलायी। आप फरमाते हैं—

"नौकरी केवल रोटी का प्रश्न नहीं है, यद्यपि यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नहीं है, बल्कि देश और जाति की सेवा और प्रभाव का प्रश्न है। मुसलमानों में बेकारी बढ़ रही है और मैं फ़ौज और पुलीस में विशेषकर उनकी संख्या बढ़ाने पर ज़ोर देता हूँ, जिसकी मुसलमानों में विशेष प्रवृत्ति है।"

फ़ौज में क्या इसलिए कि तरक्कियाँ जल्द मिलती हैं और पुलीस में शायद इस-लिए-कि वहाँ आमदनी खूब होती है! आगे चलकर हाफ़िज़ जी फरमाते हैं—

"इसलिए यह परमावश्यक है कि भारतीय, प्रान्तीय और सहायता-प्राप्त सभी विभागों के अधीन जगहों पर मुसलमानों को वहाँ की व्यवस्थापक सभाओं में मुसलिम मेम्बरों की संख्या के अनुपात से जगहें दी जायँ, और यह अनुपात रिवाज पर न छोड़ा जाय, बल्कि व्यवस्था का अंग बना दिया जाय। फ़ौज और पुलीस में उनकी संख्या अधिक रहनी चाहिए। उसी अनुपात से मुसलमान मिनिस्टरों की नियुक्ति भी कानून में आ जानी चाहिए।"

अगर हिन्दू सभा हाफ़िज़ जी के सामने यह प्रस्ताव रखे कि मुसलमानों और हिन्दुओं से जितना कर, लगान और टैक्स वसूल हो, उसी अनुपात से हिन्दू और मुसलिम आदमी नौकर रखे जायँ तो हाफ़िज़ जी क्या जवाब देंगे?

४ दिम्बर १९३३

डा० इक़बाल का जवाब पंडित जवाहरलाल को

डा० इकबाल ने पंडित जवाहरलाल नेहरू का जवाब देते हुए फरमाया है कि सर आग़ा खाँ ने महात्मा गांधी को हिन्दू-मुसलिम समझौते की जो शर्त पेश की थी, उन पर मेल करने को मुसलिम जाति आज भी तैयार है। अगर १९३१ में वे शर्तें भारत की राष्ट्रीयता के अनुकूल न समझी गयीं तो आज वह क्यों कर अनुकूल हो सकती हैं। हमारी साम्प्रदायिक संस्थाएँ हमेशा थोड़े-से पढ़े-लिखे समाज के हित को ही प्रधान समझ कर चलती हैं। किसी भी प्रश्न पर राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से विचार करना, उनके लिए असह्य होता है। साधारण हिन्दू या मुसलिम जनता की ओर उनमें से किसी का ध्यान नहीं जाता, जो आर्थिक और भौतिक बाधाओं का समान रूप से शिकार हो रही है। जब तक नौकरियों और मेम्बरियों का यह मोह बना रहेगा, जब तक व्यक्तिगत स्वार्थ हमारा पथ-प्रदर्शक बना रहेगा, और उसको हम साम्प्रदायिकता की आड़ में छिपाये रहेंगे, तब तक मेल होना मुश्किल है। जब तक हम अपने इतिहास और संस्कृति और ऐसे ही दूसरे ढकोसलों पर राष्ट्र के वास्तविक सिद्धांतों को होम करते रहेंगे, उस वक्त तक यों ही संघर्ष होता रहेगा। उसका असली फैसला तभी होगा, जब जनता खुद अपना भला-बुरा सोचने के लायक होगी और थोड़े से स्वार्थ-भक्त नेताओं के पीछे आँखें बन्द करके चलना छोड़ देगी। जब तक आरती और नमाज़ और गऊ-रक्षा और कुरबानी और बाजे के मसलों पर जनता में उत्तेजना फैलाना असंभव न हो जायगा, उस वक्त तक यह मेल-जोल का मसला हल न होगा। और जब तक एक तीसरी पार्टी दोनों तरफ के पहलवानों को पुचारा देती रहेगी, तब तक साम्प्रदायिकता अपना काम करती जायगी। अभी बहुत दिन नहीं गुज़रे कि अफ्रीका में अंग्रेजों और बोअरों में इतना द्वेष था कि दोनों में खून की नदी बह गयी, पर स्वराज्य मिलते ही दोनों एक हो गये। इसी तरह कैनाडा में भी अंग्रेज और फ्रेंच जातियों में खूब लड़ाइयाँ होती रहीं, लेकिन अब स्वराज्य पा जाने पर उनमें कोई मतभेद नहीं नजर आता। राष्ट्र-प्रेमियों के सामने इस वक्त सबसे जरूरी काम यही है कि जनता के दिल से पाखंड, अंधविश्वास और नुमायशी धार्मिकता के भावों को दूर किया जाय और वह अपने सच्चे और नकली हितैषियों को पहचानना सीखें।

११ दिसम्बर १९३३

साम्प्रदायिक समस्या का राष्ट्रीय समन्वय

पिछले अंक में हमने डा० सर मुहम्मद इकबाल के उस बयान की चर्चा की थी,

जिसमें उन्होंने कहा था कि मुसलमान आज भी हिन्दुओं से समझौता करने को तैयार हैं अगर हिन्दू उनकी सारी शर्तें मान लें, और उसके साथ ही आपने महात्मा गांधी की उस सलाह को अमानुषीय कहा था, जो उन्होंने हरिजनों को हिन्दू-समाज से पृथक् न करने के विषय में दी थी और हिन्दू-मुसलिम समझौता न होने का सारा इलजाम महात्मा गांधी पर रख दिया था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उस बयान के जवाब में अपना बयान प्रकाशित कराया है, जिसमें आपने साम्प्रदायिक समस्या के हरेक पहलू पर विचार करने की चेष्टा की है, और यह सिद्ध कर दिया है कि वह विख्यात् चौदह प्रश्न, जिनके आधार पर ही मुसलमान हिन्दुओं से समझौता करने को तैयार हैं और थे केवल मुट्ठी-भर शिक्षित मुसलमानों से ही सम्बन्ध रखते हैं। साधारण मुसलिम जनता को उनसे कोई लाभ नहीं। और शिक्षित मुसलमानों में भी ऐसे व्यक्तियों की काफी संख्या है, जो उन चौदह प्रश्नों का समर्थन नहीं करते, अर्थात् सम्मिलित निर्वाचन के समर्थक हैं। ऐसी दशा में किसी मुसलिम पार्टी को मुसलिम जाति की ओर से बोलने का अधिकार नहीं है। आज भी मुसलमानों में कई संस्थाएँ हैं, जो मुसलिम प्रतिनिधि बनने का दावा करती हैं, पर उनके दावे केवल ज़बानी हैं, उनमें से किसी ने भी मुसलिम जनता की तरफ से बोलने का अधिकार नहीं प्राप्त किया है। मुसलिम जनता क्या चाहती है, इसके जानने का एकमात्र यही उपाय है कि व्यापक से व्यापक निर्वाचन द्वारा मुसलिम माँगें निर्धारित की जायँ और तब हिन्दू जाति को वह निर्णय स्वीकार करना पड़ेगा। उसकी किसी सिद्धांत से भी वह उपेक्षा नहीं कर सकती। संभव है मुसलिम जनता इन चौदह बातों ही को स्वीकार कर ले, क्योंकि जनमत की बागडोर शिक्षित समुदाय के हाथों में रहती है, पर जब सभी दलों और विचारों के नेता मुसलिम जनता के सामने आ-आकर अपने दृष्टिकोण रखेंगे, उस वक्त जनता खुद अपने लिए कोई न कोई मार्ग चुन लेगी। तब वह संयुक्त मुसलिम जाति की माँग होगी और ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उसका अनादर कर सके, लेकिन ऐसा प्रस्ताव किसी मुसलिम संस्था की ओर से नहीं किया गया।

बात यह है कि अभी तक काँग्रेस के सिवा और किसी राजनैतिक संस्था ने जनता का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा ही नहीं की। वे अधिकार चाहती हैं, नौकरियाँ चाहती हैं और ऐसे साधन चाहती हैं, जिनसे वे जनता को अपने स्वार्थ का यंत्र बना सकें। जनसाधारण के हित का उन्हें कभी विचार ही नहीं आता।

वे जानती हैं कि जनता के सामने जाकर इन्हें जनता के हित के प्रस्ताव करने पड़ेंगे और जनहित का समर्थन करने में बहुत संभव है कि वे सरकार के कृपापात्र न बने रह सकें। यही कारण है वे जनता के सामने जाते डरती हैं। अगर आज मुसलिम लीग या मुसलिम कांफ्रेंस अपने चौदह प्रश्नों को लेकर जनता के सामने जाय, तो कदाचित् वह उन्हें ठुकरा दे। गुजरात या तामिल की मुसलिम जनता को उर्दू-लिपि से क्या प्रेम हो सकता है, सिंध बम्बई में रहे या पंजाब में साधारण जनता को उससे कोई दिलचस्पी

नहीं हो सकती। उसे तो उन्हीं प्रश्नों से रुचि होगी, जो उसकी आर्थिक समस्याओं को हल कर सकें, जिनसे वह जीवन-संग्राम में सफल हो सके।

जो लोग अपनी संस्कृति या सभ्यता की रक्षा की दुहाई दिया करते हैं, उन्हें पंडित जवाहरलाल ने बड़े सारगर्भित शब्दों में उत्तर दिया है, जो हम यहाँ नकल करते हैं—

"लेकिन संस्कृति के इस भेद का साम्प्रदायिक समस्या से क्या सम्बन्ध है? भारत में सांस्कृतिक या वंशगत भेद मौजूद हैं, लेकिन इन भेदों का सम्प्रदायों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर कोई आदमी किसी दूसरे मत में चला जाय, तो इससे उसके वंशगत या जीवगत संस्कार नहीं बदल जाते, न उसका सांस्कृतिक आधार ही बदल जाता है। संस्कृति राष्ट्रीय वस्तु है, धार्मिक नहीं। और नयी परिस्थितियाँ अंतर्राष्ट्रीय जाति-विभाग का ही विकास कर रही हैं। पूर्वकाल में भी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का एक दूसरे पर असर पड़ता था, लेकिन राष्ट्रीय-प्रणाली ही प्रधान रहती थी। भारत, ईरान, चीन आदि प्राचीन देशों में ऐसा ही हुआ है।

"मुसलिम संस्कृति क्या है? यह सेमिटिक अरबी संस्कृत है या आर्य-ईरानी संस्कृति, या दोनों का सम्मिश्रण है? अरब संस्कृति कुछ दिनों के उत्थान के बाद पीछे पड़ गयी, लेकिन उसके उत्थान काल में भी, ईरानी संस्कृति की उस पर छाप पड़ गयी थी। भारत पर उसका बिलकुल प्रभाव न पड़ा। ईरानी संस्कृति इसलाम के पहले की है, और यह इतिहास का एक विचारणीय प्रश्न है कि यह ईरानी-संस्कृति हज़ारों वर्षों से अपनी अस्तित्व बनाये हुए है। आज भी ईरान अपनी सांस्कृतिक जागृति के लिए पूर्व इसलाम काल की ओर आँखें उठा रहा है। निस्संदेह इस ईरानी संस्कृति की भारत पर छाप पड़ी और भारत ने भी उस पर अपना रंग जमाया, लेकिन फिर भी भारत की प्राचीन संस्कृति भारत में प्रधान रही और बाहरवालों पर उसकी छाप पड़ गयी।

"आज भारत में मुसलिम और हिन्दू जनता में कोई वंशगत या सांस्कृतिक भेद नाम को भी नहीं है। ऊँचे दरजे के मुट्ठी-भर मुसलमान भी जो अपने को देश से बिलकुल अलग समझते हैं, भारत के रंग में रँगे हुए हैं और केवल ऊपर ही ऊपर उन पर ईरान का असर पड़ा है। क्या उनमें से कोई भी ईरान या टर्की या मिस्र या अरब में जाकर वहाँ की परिस्थितियों में अधिक प्रसन्न होगा?"

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि "संस्कृति" क्या है? हमारे इस ख्याल में संस्कृति के दो रूप हैं, एक वाह्य जगत से संबंध रखनेवाली, दूसरी अन्तर्जगत से। वाह्य संस्कृति का सम्बन्ध भाषा, पहनावा, शिष्टाचार शादी-व्यवहार आदि से है, आन्तरिक सम्बन्ध धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से। इस कसौटी पर मुसलिम संस्कृति को कसिये तो मालूम होगा कि प्रत्येक प्रान्त में हिन्दू और मुसलिम जनता की भाषा एक है, पहनावा एक है, शादी-ब्याह की परिपाटी भी एक है। अवध या

बुदेलखंड के किसी मुसलिम या हिन्दू किसान में ऐसा कोई अन्तर न मिलेगा, जो एक को दूसरे से अलग कर सके। और आंतरिक विभिन्नता तो इससे भी कम है। जीवन के विषय में दोनों का दृष्टिकोण एक है, दोनों धार्मिक हैं, दोनों ही भाग्यवादी हैं, दोनों ही शान्ति प्रिय हैं, दोनों ही संतोषी हैं। देहातों के मुसलमान भी जात-पाँत के बंधनों में उसी तरह बँधे हुए हैं, जैसे हिन्दू। अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही में समान हैं। फिर समझ में नहीं आता, वह कौन-सी मुसलिम संस्कृति है, जिसको इतना महत्व दिया जाता है। देहातों में तो त्योहार और रीति-रिवाज भी एक से हो गये हैं। मुसलमान होली खेलते हैं, और रामलीला देखते हैं, और हिन्दू मुहर्रम में ताजिये रखते हैं और मनौतियाँ करते हैं। हाँ इधर कुछ दिनों से दोनों ओर से मौलवी और पंडित साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों को जगाने की चेष्टा कर रहे हैं। अन्त में जवाहरलाल जी ने अपने बयान में कहा है—

"बहरहाल डा० सर मुहम्मद इक़बाल को यह मालूम हो जाना चाहिए कि अगर दोनों जातियों में से कोई भी, चाहे वह बड़ी हो या छोटी, साम्राज्यवाद से मेल करना चाहती है तो भारत की राष्ट्रीयता उसका निरन्तर विरोध करती रहेगी।"

१८ दिसम्बर १९३३

भाई परमानन्द की संदेह दृष्टि

भाई परमानन्द को मुसलमानों में कट्टरता और देश द्रोह के सिवा कुछ नज़र ही नहीं आता। जो खुल्लम-खुल्ला पृथकता-प्रेमी हैं, उनका तो आपको भय नहीं, आपको राष्ट्र प्रेमी मुसलमानों और जमैयतुलउलमा से विशेष भय है, क्योंकि ये लोग दोस्त बनकर दगा दे रहे हैं। आपके खयाल में सभी मुसलमानों में मिली भगत है, दोनों एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, केवल हिन्दुओं को आँख में धूल झोंकने के लिए अलग-अलग दल बन गये हैं। इसका जवाब इसके सिवा और क्या है कि जैसे आप दूसरों को देखते हैं, वैसे ही दूसरे भी आपको देखते हैं और ऐसे मुसलमान कम नहीं हैं, जो काँग्रेस को भी हिन्दू सभा का एक शिगूफ़ा समझते हैं।

१ जनवरी १९३४

मुसलिम छात्रों से

बंबई मुसलिम स्टूडेंट्स यूनियन में बम्बई-सरकार के अर्थसचिव सर गुलाम

हुसेन हिदायतुल्लाह ने जो भाषण दिया, उसे पढ़कर ऐसा कौन-सा राष्ट्रप्रेमी है, जिसका दिल आनन्द से खिल न उठेगा। इस साम्प्रदायिक हो-हल्ले के युग में वह भाषण व्यापक अन्धकार में एक दीपक के समान है। मुसलिम-नेताओं में ऐसे सज्जन उंगलियों पर गिने जा सकते हैं, जो देश की समस्याओं पर राष्ट्र की दृष्टि से देखते हों। आपने छात्रों को आत्मनिर्भरता का महत्व दर्साते हुए यह बहुत सत्य कहा कि "बात-बात में अपने समुदाय के लिए विशेष रिआयतों की हाँक लगाना अपमान जनक है। हमें अपने पैरों पर खड़ा होना सीखना चाहिए। हमें केवल अपनी योग्यता के बल पर आगे बढ़ना चाहिए, और इसी तरह हम अपने सामुदायिक कलंक को धो सकेंगे।"

आगे चलकर आपने कहा—

"हमारा धर्म हमें ऐक्य की शिक्षा देता है, अपने सम्प्रदाय में ही नहीं, दूसरों के साथ भी। सच तो यह है कि इन्हीं साम्प्रदायिक भेदों से हमारा पतन हुआ है। हम सब बराबर हानि उठा रहे हैं। हमें अपने ही हितों के विचार से मिल जाना चाहिए। इन भेदों का कारण है अविश्वास और सन्देह। हम दूसरों के दृष्टिकोण से नहीं देखते।"

इसके बाद आपने अपने सहधर्मियों की इस शंका का समाधान किया कि हिन्दू उन पर अधिकार जमाना चाहते हैं। आपने जोर देकर कहा कि यह शंका निस्सार है, "क्योंकि संख्या के हाथों में शक्ति नहीं होती, बल्कि मस्तिष्क के हाथ में होती है।"

काश मुसलमानों में ऐसे समदर्शी सज्जनों की संख्या इतनी कम न होती।

२२ जनवरी १९३४

काश्मीर में फिर दंगा हुआ

पहले दंगे के बाद काश्मीर में नया विधान हुआ और हमारा खयाल था कि नयी व्यवस्था जनता की शिकायतों को दूर करेगी और वहाँ सुख और शान्ति का राज्य हो जायगा, लेकिन इधर जो समाचार आ रहे हैं, उनसे मालूम होता है कि जनता इस व्यवस्था से भी संतुष्ट नहीं है। जब घरों से स्त्रियों और बालकों के जत्थे निकलते हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि जनता को विशेष कष्ट है, नहीं औरतें मैदान में न आतीं। वास्तविक दशा क्या है, और क्यों जनता ने यह आंदोलन उठाया है, इस पर इन समाचारों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। बस इतना ही मालूम होता है कि जनता ने पुलीस पर हमला किया और पुलीस ने उन पर गोलियाँ चलायीं। गोलियाँ चलाना तो बहुत आसान है, लेकिन यह सुशासन नहीं है। सुशासन तो वह है कि जनता सुखी और

सन्तुष्ट हो। वह समय अब नहीं रहा कि केवल कागजी सुधारों से जनता को संतुष्ट कर दिया जाय। जनता अख्तियार चाहती है जिससे वह अपनी तकलीफों को दूर कर सके।

१२ फरवरी १९३४

सर्वदल सम्मेलन का विरोध

सर्वदल सम्मेलन को हमने पहले भी बेवक्त की शहनाई समझा था और अब भी ऐसा ही समझते हैं। सफेद कागज का सबसे आपत्ति-जनक भाग उसकी साम्प्रदायिकता है। उस पर सर्वदल सम्मेलन के संचालक जबान नहीं खोलना चाहते। तो अब ऐसी और कौन-सी बात रह गयी है, जिस पर भारत की सभी प्रमुख राजनैतिक संस्थाओं ने अपना मत न प्रकट कर दिया हो। सरकार जो व्यवस्था कर रही है वह यह जानकर कर रही है कि इससे भारतवालों को संतोष न होगा। उसे मुसलमानों, ज़मींदारों और सरकारी नौकरों के सहयोग से भारत की राजनीतिक प्रगति को रोकना है, और वह ऐसी कोई व्यवस्था स्वीकार नहीं कर सकती जिससे उसकी शक्ति रत्ती-भर भी कम हो। उसने तो इस व्यवस्था से अपने को और मज़बूत बनाने का प्रयत्न कर लिया है। राजनीति के आचार्यों ने एक स्वर से कह दिया है कि यह व्यवस्था वर्तमान व्यवस्था से भी गयी-गुजरी है। ऐसी दशा में सर्वदल सम्मेलन के प्रस्ताव सरकार पर क्या प्रभाव डाल सकते हैं। सरकार पर दबाव डालने का उसके पास क्या साधन है। इस जमाने में उन्हीं प्रस्तावों की सुनवायी होती है, जिनकी पुश्त पर शक्ति हो। खाली प्रस्तावों से कुछ नहीं होता।

१२ फरवरी १९३४

साम्प्रदायिकता और स्वार्थ

इस संघर्ष के युग में हर किसी को गिरोहबन्दी की सूझती है। जो गिरोह बना सकता है, वह जीवन के हर एक विभाग में सफल है, जो नहीं बना सकता, उसकी कहीं पूछ नहीं—कहीं मान नहीं। हम अपने स्वार्थ के लिए अपने ज़ात और अपने प्रान्त की दुहाई देते हैं। अगर हम बंगाली हैं, और हमने दवाओं की दूकान खोली है, तो हम हरेक बंगाली से आशा रखते हैं कि वह हमारा ग्राहक हो जाय, हम बंगालियों को देख कर उनसे अपनापन का नाता जोड़ते हैं और अपने स्वार्थ के लिए प्रान्तीय भावना की

शरण लेते हैं। अगर हम हिन्दू हैं और हमने स्वदेशी कपड़ों की दूकान खोली है, तो हम अपने हिन्दुत्व का शोर मचाते हैं और हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता को जगा कर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। अगर इसमें सफलता न मिली, तो अपनी जाति विशेष की हाँक लगाते हैं। इस तरह प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता की जड़ भी कितनी ही अन्य बुराइयों की भाँति हमारी आर्थिक परिस्थिति से पोषक रस खींचकर फलती-फूलती रहती है। हम अपने ग्राहकों को विशेष सुविधा देकर अपना ग्राहक नहीं बनाते, संभव है उसमें हमारी हानि हो, इसलिए जातीय भेद की पूंछ पकड़ कर बैतरणी के पास पहुँच जाते हैं।

१९ फरवरी १९३४

साम्प्रदायिकता का ज़हर महिलाओं में

दिल्ली के रिसाला "असमत" में एक मुसलिम महिला लिखती हैं—गत वर्ष की मर्दुमशुमारी बतला रही है कि सात करोड़ मुसलमानों में मुश्किल से साढ़े चार लाख शिक्षित हैं, जिनमें अंग्रेजी जाननेवाले करीब दो लाख हैं और फ़ारसी, उर्दू आदि जानने-वाले ढाई लाख। मुसलमानों के स्कूल और कालेज आप उंगलियों पर गिन सकेंगे, लेकिन हिन्दुओं की असंख्य युनिवर्सिटियाँ कायम हैं। लगभग सभी सरकारी स्कूलों और कालेजों में हिन्दू प्रोफेसर हैं। उनकी शिक्षा अच्छी है, इसलिए सभी सरकारी ओहदों पर हिन्दू भरे हुए हैं। जज, पुलिस कमिश्नर, डिप्टी कलेक्टर, डाक्टर, इंजीनियर, बैरिस्टर, कोई ऐसा आला पेशा न होगा, जिसमें हिन्दू कसरत से न मौजूद हों।"

देवी जी को यह भ्रम कदाचित् साम्प्रदायिक पत्रों के पढ़ने से हो गया है। मुसलमान हिन्दुओं से ज़्यादा शिक्षित हैं, सरकारी ओहदों पर भी मुसलमान कसरत से हैं, हिन्दुओं से कहीं ज़्यादा। पुलिस और माल में तो एक तरह से उन्हीं का साम्राज्य है। आमदनी के सारे विभागों पर उन्हीं का कब्ज़ा है। हाँ, डाकखाना या क्लर्की जैसे रुखे-सूखे विभागों में हिन्दू ज्यादा हैं, इसलिए कि मुसलमानों ने इधर ध्यान ही न दिया, क्योंकि यहाँ सूखा वेतन था और काम आँखफोड़ और गरदन तोड़। मगर अब इन विभागों में भी यह कमी पूर्ण होती जा रही है।

२६ मार्च १९३४

साम्प्रदायिक बँटवारा

साम्प्रदायिक बँटवारे का प्रश्न बड़ा जटिल है, और बार-बार चेष्टा करने पर भी उसे हल नहीं किया जा सका। मुसलमानों को जो कुछ मिल गया है, उसमें वह रत्ती भर भी कम नहीं करना चाहते। अब कांग्रेस क्या करे? अगर वह इस बँटवारे में हाथ लगाती है, तो हिन्दू-सभा इस प्रश्न को लेकर स्वयं मैदान में आ जाती है, और हिन्दुओं की साम्प्रदायिक चेतना को भड़का कर स्वराजिस्टों या काँग्रेसी उम्मेदवारों की सफलता में बाधक हो जाती है। इस वक्त वह चेतना चाहे बलवती न हो, लेकिन चुनाव के समय वह अपने जबड़े और पंजे निकाल कर भयानक बन जायगी। लेकिन काँग्रेस की विजय अपने आदर्श पर जमे रहने में है, चाहे उसकी हार ही क्यों न हो जाय। उसके लिए हरेक भारतीय भारतीय है, वह दाढ़ीवाला है या चोटीवाला, पुराणवाला है या कुरानवाला इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं। अगर वह एक बार इस सिद्धांत को स्वीकार कर लेगी, तो फिर जात-पाँत के इस दलदल में उसके लिए पाँव रखने का ठिकाना न मिलेगा। ब्राह्मण अपनी जन संख्या के अनुपात से अपना हिस्सा माँगेंगे, क्षत्री अपना, वैश्य अपना, शूद्र अपना। वह किस-किस वर्ग को संतुष्ट कर सकेगी? उसके लिए सभी भारतवासी बराबर हैं, चाहे वह किसी सम्प्रदाय के हों। अगर हिन्दू सभा साम्प्रदायिकता के बल पर उसको परास्त कर सकती है, तो कोई मुज़ायक़ा नहीं, उसकी जीत इसी हार में है।

२१ मई १९३४

सरकारी नौकरियाँ और साम्प्रदायिकता

भारत सरकार के गृहविभाग ने सरकारी नौकरियों के बँटवारे के संबंध में, अभी-अभी जो विज्ञप्ति प्रकाशित की है, उससे उसकी नीयत का ठीक-ठीक पता लग जाता है। साम्प्रदायिकता के नाम पर, मुसलमानों के लिए पच्चीस प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। हमारी समझ में तो इसका अर्थ यही है कि सरकार हमारी राष्ट्रीय प्रगति को कुचलने का प्रयत्न कर रही है। वह नहीं चाहती कि हममें जीवन आ जाय। इस प्रकार साम्प्रदायिकता का पोषण करके वह हमारी राष्ट्रीयता को हवा में उड़ा देना चाहती है। सरकार का यह रुख बड़ा भयावह है। राष्ट्र के लिए यह कितना खतरनाक सिद्ध होगा, इसकी कल्पना करते ही महान खेद होता है, लेकिन सरकार को इसकी क्या परवाह है। उसे तो राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न करनी है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति ने स्पष्ट शब्दों में नौकरियों के साम्प्रदायिक विभाजन का विरोध किया है। किन्तु सरकार तो

अपनी ही मनमानी करती है। हम उसके इस रुख को घातक समझते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि हम मुसलमानों की उन्नति के विरोधी हैं। हमें उनके लिए पच्चीस प्रतिशत स्थानों के सुरक्षित होने पर भी खेद नहीं है, खेद है, इस साम्प्रदायिक मनोवृत्ति पर, जिससे राष्ट्रीयता का गला घुट रहा है। नौकरियों के इस प्रकार विभाजन से क्या होगा? साम्प्रदायिक द्वेष की मनोवृत्ति पनपेगी, धर्मान्धता बढ़ेगी, हृदय ईर्ष्यालु होंगे, योग्यता का मूल्य गिर जायगा। मूल्य रहेगा, साम्प्रदायिकता का। उसी का भयानक ताण्डव दृष्टिगोचर होगा, और यह राष्ट्र के लिए कितना घातक हो सकता है, यह किसी भी समझदार व्यक्ति की समझ से बाहर की बात नहीं है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति इस दृष्टकोण का विरोध करेगा और चाहेगा कि नौकरियाँ सम्प्रदाय के नाम पर नहीं, योग्यता के नाम पर दी जायँ। फिर चाहे उसमें मुसलमानों के हाथ पच्चीस के बजाय पचास प्रतिशत ही क्यों न लग जायँ, किसी समझदार को इससे दुख न होगा। लेकिन इस प्रकार साम्प्रदायिक आधार पर नौकरियों का विभाजन किया जाना खतरनाक है। इस प्रकार की नियुक्तियों से न तो हिन्दुओं ही को लाभ हो सकता है, न मुसलमानों को; बल्कि इससे दोनों के बीच स्थायी मतभेद और विरोध की नींव पड़ेगी। हम तो यही कहेंगे कि भारत सरकार का यह प्रयोग, केवल राष्ट्रीय हित को खतरे में डालने के लिए ही हुआ है। हिन्दू और मुसलमानों का एक होना वह पसन्द नहीं करती और इसी कामना से उसने राष्ट्रीय जीवन में इस साम्प्रदायिक विष का इंजेक्शन किया है।

जुलाई १९३४



छूत-अछूत

महान तप

कल यरवदा जेल में वह महान् तप आरम्भ होगा, जिसकी कल्पना से ही रोमांच हो जाता है। भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बड़ी-बड़ी कठिन तपस्याएँ की गयी हैं, लेकिन यह तपस्या अभूतपूर्व है। भारत के इतिहास में ही नहीं, संसार के इतिहास में भी इसकी नज़ीर न मिल सकेगी। ज्ञान के लिए, मोक्ष के लिए, प्रभुता के लिए, औरों ने भी तप किये हैं, पर राष्ट्र के लिए प्राणों की आहुति देने का संकल्प महात्मा गांधी ही की कीर्ति है। वह सेवा-यज्ञ जो आज से चालीस वर्ष पहले दक्षिण अफ्रिका में हुआ था, उसकी यह पूर्णाहुति है। धन्य हो महात्मा! राष्ट्र की सेवा में तुम पहले ही अपना सर्वस्व अर्पण कर चुके थे। एक प्राण रह गया था। उसे भी राष्ट्र ही की भेंट करने जा रहे हो। एक समय दधीचि ने भी राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान किया था। हम अपनी अश्रद्धा के कारण उसे पौराणिक कथा समझे बैठे थे, पर आज तुमने उस प्राचीन मर्यादा को, उस प्राचीन आदर्श को, उस प्राचीन आत्मोत्सर्ग को, पुनर्जीवित कर दिया। इस छल प्रपंच के युग में तुमने सत्ययुग की प्रतिष्ठा कर दी और दिखा दिया कि सतयुग और कलजुग केवल हमारे चित्त की वृत्तियाँ हैं। श्रीरंगा ऐयर ने केंद्रीय व्यवस्थापक सभा में इस संकल्प की आलोचना करते हुए सत्य ही कहा है कि कृष्ण भगवान् ने भारत का उद्धार करने के लिए तुम्हारा रूप धारण किया है। राष्ट्र पर इस समय जो संकट पड़ा हुआ है, उसका मोचन तुम्हारे सिवा और कौन कर सकता था। राष्ट्र की नौका साम्प्रदायिक भँवर में चक्कर खा रही थी। समस्त देश इन परिस्थितियों को देख-देख कर निराश और हताश हो रहा था। कहीं-कहीं साम्प्रदायिक द्वंद्व छिड़ गया था। राष्ट्र के मूल तत्व को हम भूल से गये थे। गोलमेज़ फिर कैसे हो, उसमें कौन जाय, आदि गौण बातों में पड़े हुए थे। उसी समय यरवदा जेल की ऊंची चारदीवारियों को भेदती, सरकार की गोपन नीति को चीरती हुई तुम्हारी इस भीषण प्रतिज्ञा की आवाज़, आकाशवाणी-सी, हमारे कानों में आती है, और सारा देश सचेत

हो जाता है, हमारी मुरझाई हुई आशा फिर लहलहा जाती है, हमारी निर्जीव देह में जान पड़ जाती है। हमारी आँखें खुल जाती हैं और हम देखते हैं कि जब राष्ट्र ही न रहा तो स्वराज्य कहाँ, जब संस्कृति ही न रही, तो हमारा अस्तित्व ही कहाँ। भारतीय राष्ट्र का आदर्श मानव शरीर है जिसके मुँह, हाथ, उदर और पाँव ये चार अंग हैं। इनमें से किसी एक अंग के विच्छेद हो जाने से देह अपंग या निर्जीव हो जायगी। हमारे शूद्र भाई इस देह रूपी राष्ट्र के पाँव ही कट जाँय, तो देह की क्या गति होगी? इस अंग विच्छेद की थोड़ी-बहुत पीड़ा प्रत्येक व्यक्ति को हुई। लेकिन वह हृदय, जो सारे भारत की चेतना का केंद्र है, इस पीड़ा से विकल हो उठा। उसे मर्मांतक वेदना हुई और उसका चीत्कार संयम और अहिंसा के बंधनों को तोड़ता हुआ निकल आया। आज वह चीत्कार समस्त भारत के वायुमंडल में प्रतिध्वनित हो रहा है। वह नश्तर की भाँति हमारे दिलों में चुभा जा रहा है। हम सिर थाम कर उस व्यथा का अनुभव करते हैं और अपनी परवशता पर रो उठते हैं। आज हम इतने बेकस और बेबस हैं, कि उस वेदना का अनुभव करके भी, हृदय से निकलनेवाली आह सुनकर भी, छुरी को पाँव से अलग नहीं कर सकते।

हम स्वीकार करते हैं, शूद्रों के साथ हमने अन्याय किया है। हमने उन्हें जी भर कर रौंदा, कुचला, दला। इस अन्याय ने जिस हृदय को सब से ज्यादा दुखी किया है, वह उसी तपस्वी का हृदय है, जिसने अपना जीवन दलित भाइयों की सेवा में ही व्यतीत किया है। आज वह देखता है कि उसके जीवन की सारी तपस्या, सारी साधना धूल में मिली जा रही है। उसने जिस राष्ट्रीय एकता का भवन खड़ा करने के लिए एक-एक कंकड़ जमा किया था, वह सारी सामग्री उसकी आँखों के सामने बिखरी जा रही है। मानो उसका जीवन ही निरर्थक हुआ जा रहा है। क्या हमारी ब्रिटिश सरकार उस वेदना का अनुभव कर सकती है! उस अन्याय के प्रायश्चित्त-स्वरूप वह क्या कुछ न करता, वह यहाँ तक राजी है कि दलितों के लिए शिक्षा और जायदाद की कोई शर्त न रखो, उनके हरेक बालिग़ स्त्री-पुरुष को निर्वाचन का अधिकार दे दो, शेष हिन्दू-समाज के लिए निर्वाचन की जितनी कड़ी शर्तें चाहे लगा दो, पर अछूतों को हिन्दुओं से अलग न करो, क्योंकि इससे केवल हिन्दू समाज की ही क्षति न होगी, अछूतों का अस्तित्व ही न रहेगा। हम कल्पना नहीं कर सकते कि इससे ज्यादा न्याय और क्या किया जा सकता है। ऐसा विचार उसी आत्मा से निकल सकता है, जो अछूतों की सेवा चिंतन करते-करते स्वयं अछूत भावना से ओत-प्रोत हो गया है। हम किसी ऐसे दूसरे व्यक्ति का नाम नहीं जानते, जिसने इस एकाग्रता, इस प्रेम और इस उत्साह से दलित-समाज की सेवा की हो। महात्मा उन व्यक्तियों में हैं, जो दलितों के उद्धार में ही हिन्दू जाति के उत्थान और उत्कर्ष का रहस्य छिपा हुआ देखते हैं, जो हिन्दू जाति के मुख से अन्याय के इस कलंक को मिटा देने के लिए अपने प्राणों को भी अर्पण कर देने को तैयार हैं। जिस

पौदे को उन्होंने तीस साल तक अपने रक्त से सींचा, उस पर कुठाराघात होते देखकर वह कैसे शान्त बैठे रहते ! यदि उन्हें अणु भर भी यह विश्वास होता कि इस विच्छेद से अछूतों के उपकार की संभावना है, तो सब से पहले वह इसका स्वागत करते । सारा हिन्दू-समाज एक तरफ़ होता, पर वह अकेले, न्याय के बल पर, इस निर्णय को स्वीकार करते । राजनैतिक स्वार्थ का मार्ग यदि न्याय-मार्ग से पृथक हो, तो महात्मा जी वह अन्तिम व्यक्ति हैं, जो उस मार्ग पर अग्रसर होंगे । वह देखते हैं कि दलित समाज का जीवन हिन्दूजाति पर इतना अवलंबित है कि सरकार चाहे कुबेर का कोष लेकर भी आये तो उनकी रक्षा नहीं कर सकती ।

दलितों के उद्धार का सबसे उत्तम साधन है—सम्मिलित निर्वाचन । यही उनके उत्थान का मूलमंत्र है । उनमें शिक्षा-प्रचार होते अभी बहुत दिन लगेंगे । उनमें कालगति से जो कुसंस्कार आ गये हैं उनका परिशोध भी समय लेगा । हिन्दू जाति में न्याय-भावना को व्यापक रूप से जगाने में भी बहुत दिन लगेंगे । शिक्षित-समाज में तो ऊँच नीच का भाव बहुत दूर हो चुका है । हाँ, अभी उसने क्रियात्मक रूप नहीं धारण किया, लेकिन अनुदारों की संख्या अभी बहुत ज्यादा है । ग्रामों में अभी इस उदारता का, इस जाग्रति का, प्रकाश नहीं फैलने पाया । ये सभी साधन छः मासवाले रास्ते हैं । निकटतम मार्ग संयुक्त निर्वाचन ही है, जिसके सम्मुख यह भेद-भाव, यह भिन्नता, यह गर्व ठहर नहीं सकता । उस निर्वाचन में ऐसे अनुदार व्यक्तियों के लिए स्थान ही नहीं है, जिन पर दलित समाज को विश्वास न हो, जिनसे इसे भलाई की आशा न हो, जिन्हें वह अपना सच्चा हितू न समझता हो । हमें विश्वास है कि अगर आज किसी गाँव के चमार या पासी या मुसहर से जिज्ञासा की जाय, तो वह हिन्दू जाति से अलग होना कदापि स्वीकार न करेगा । वह हिन्दू-समाज में रहकर अपना उद्धार चाहता है, हिन्दू-समाज से निकल कर नहीं । हमारे देखते-देखते कितनी ही जातियाँ, जो पहले नीच और दलित थीं, आज अपने संस्कारों को बदलकर जनेऊ पहन रही हैं, अपने आचरण सुधार रही हैं, अखाद्य पदार्थों का परित्याग कर रही हैं । उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका यह पतन अज्ञान और आचरण-हीनता ही के हाथों हुआ । यह क्रिया बड़े जोरों के साथ जारी है । वे अब सन्ध्या करते हैं, श्राद्ध करते हैं, धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं । वे अब अपनी सेवा का गौरव समझने लगे हैं । उनके देवता वही हैं जो सब हिन्दुओं के हैं । आदर्श वही हैं, विश्वास वही हैं, दृष्टिकोण वही हैं । हिन्दुत्व उनके अणु-अणु में भरा हुआ है । उसे आप उनके अन्दर से निकाल नहीं सकते । एक समय था, जब कुलीनता के मतवाले हिन्दुओं को दलितों की बिलकुल परवाह न थी । वे ईसाई हो जाँय, मुसलमान हो जाँय, हिन्दुओं के कान पर जूँ नहीं रेंगती थी, पर अब हिन्दू समाज इतना चेतना-शून्य नहीं है । दलितों के लिए अब मन्दिर खुलते जा रहे हैं, कुओं पर भी वह रोक-टोक नहीं रही । कट्टरता बड़ा कष्ट-साध्य रोग है, लेकिन लक्षण कह रहे हैं कि उसका आसन उखड़ गया

है। पृथक् निर्वाचन से इस स्वाभाविक क्रिया के मार्ग में ऐसी बाधा आ खड़ी हुई है, जो रोग और रोगी दोनों ही का अन्त कर देगी। इसी बाधा को हरने के लिएं महात्मा जी अपने प्राणों को भेंट चढ़ाने जा रहे हैं।

अब हमारा क्या कर्तव्य है? यों ही भाग्य को रोकर, अपने कुदिन को कोसकर, बैठे रहेंगे? कदापि नहीं। महात्मा जी के इस वज्रनिर्घोष ने सारे देश में तहलका डाल दिया है। घर-घर में यही चरचा है। समस्त देश एक स्वर से कह रहा है—हम राष्ट्र की इस आशा को अपने जन्म-जन्मान्तरों के तप के इस वरदान को, अपने प्राणों के प्राण गांधी को, यों बलिवेदी पर न चढ़ने देंगे। हम अपने उन अछूत भाइयों को जो हमसे रूठ गये हैं, मनायेंगे, उनके चरणों पर गिरकर मनायेंगे। हमें विश्वास है डा० अम्बेडकर और मि० श्रीनिवासन भी राष्ट्र की इस याचना को अस्वीकार न करेंगे। हमारी नौका को भँवर से निकालकर पार ले जानेवाला अकेला गांधी है। उसी में वह सामर्थ्य है, वह देवत्व है, वह ऐश्वर्य है। हमें विश्वास है वह ईश्वर के दरबार से हमारे उद्धार का बीड़ा लेकर आया है, हम उस दिन का इन्तजार कर रहे हैं, जब वह स्वाधीनता का वरदान लाकर जीर्ण और निराश माता की भेंट करेगा। क्या सामर्थ्यवान गांधी भी विधि की इस गति को टाल सकता है? नहीं, नहीं, नहीं!!

१९ दिसम्बर १९३२

हमारा कर्तव्य

समझौता हो गया। छूत-अछूत सभी नेताओं ने मिलकर बम्बई के गवर्नर के पास अपना लिखित समझौता पेस कर दिया था और ब्रिटिश और भारत सरकार के पास भी सूचना कर दी गयी थी, आज ता० २६-९-३२ का तार है कि भारत मंत्री ने उसे मंजूर कर लिया।

उस महान् आत्मा के अनशन व्रत ने, उसकी तपस्या ने, केवल सात दिनों में यह दिखला दिया कि वास्तव में तपस्या कितनी बलवती होती है। उस महान् आत्मा की तपस्या ने, ब्रिटेन के महान् राजनीतिज्ञों के द्वारा तैयार की हुई उस सुदृढ़ दीवार को, जो हिन्दू अछूतों को अलग करने के लिए बड़े गहन कौटिल्य के सीमेंट से तैयार की गयी थी, विध्वस्त कर दिया। छूत-अछूत का वह मसला, जो आगामी गृह-युद्ध का संकेत कर रहा था, और इसी के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने जिसकी नींव को दृढ़ किया था, हल हो गया।

महात्मा जी की तपस्या ने हमारे एक महान् संकट को अवश्य ही टाल दिया है, किन्तु हमने अभी अपने कर्तव्य का पूरा निर्वाह नहीं किया। अभी हमारे सामने बहुत

बड़ा कर्तव्य खड़ा हुआ है। हमारा कर्तव्य तभी पूरा होगा, जब हम देश के वर्तमान अछूतपन को जड़मूल से नष्ट कर देंगे। यदि हम उस पवित्रात्मा से, महान् आत्मा से सच्ची श्रद्धा रखते हैं, भक्ति रखते हैं, स्नेह करते हैं, तो हमारा प्रधान कर्तव्य है कि हम उसके हृदय की माँगों को पूरा करें। इन सात दिनों के समय में जो कुछ हुआ, वह अभूतपूर्व है। सारे संसार में यह सात दिन भुलाये नहीं जा सकते—ऐतिहासिक हो गये। विश्व का कोई भाग ऐसा नहीं, जहाँ इन सात दिनों के प्रतिपल में, प्रतिक्षण में आत्मा की सच्ची श्रद्धा, सच्ची सहानुभूति महात्मा जी को न अर्पित की गयी हो।

पर, अभी कुछ ऐसे प्राणी भी इस संसार में हैं जिन्हें, अपने स्वार्थ के आगे कुछ नहीं सूझता। महात्मा जी के प्राण भले ही चले जाँय, उन्हें परवा नहीं। वे अपना ढकोसला नहीं छोड़ेंगे, वे अपना धर्म जरूर बचायेंगे और मन्दिरों में अछूतों को नहीं प्रवेश करने देंगे।

पर धर्म वस्तुतः बुद्धिग्राह्य नहीं, हृदयग्राही है। हम से अलग वह कोई चीज़ नहीं है। वह एक ऐसी चीज़ है कि जो अपने हृदय में से ही विकसित होती है। वह सदा हमारे अन्तर में ही है।

यह युग, प्रकाश का युग है। इसमें अब अन्धकार नहीं रह सकता। वह दिन अब नहीं रहे, जब धर्म के नाम पर लोग काशीकरवत लिया करते थे। अब विवश होकर युग-धर्म के अनुसार ही चलना पड़ेगा। अछूत इसीलिए तो अछूत हैं कि वे जन-समाज के स्वास्थ्य के लिए उनके घरों की सफ़ाई करते हैं, उनकी सेवा करते हैं। उनमें और अछूतों में क्या अन्तर है? जैसे वे मनुष्य हैं, अछूत भी हैं। यदि अछूत उनके घर का मल-मूत्र साफ़ करते हैं, तो वे भी तो इस कार्य से वंचित नहीं हैं। वे भी तो रोज सुबह सबसे पहले यही काम करते हैं। बाल-बच्चों के घर में प्रायः सभी वर्ण की स्त्रियों को यह कर्म करना पड़ता है। रोग-काल में भी मल-मूत्र उठाने का काम प्रायः घर के ही लोग करते हैं। उस समय कोई मेहतर घर में से मैला उठाने नहीं आता! फिर क्यों इस दुर्विचार का पोषण किया जाता है, क्यों अपने ही हाथों अपने पैरों को काटने की कोशिश की जाती है? क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि वास्तव में यह छुआछूत उन्हें धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है? नहीं, कोई भी यह नहीं कह सकता। एक स्वार्थ ही इसका कारण है। पर याद रहे, यह इस समय का स्वार्थ, वर्ष दो वर्ष चाहे उनकी छाती को ठंडा भले ही कर दे, पर आगे वह उनकी पुरानी से पुरानी, दृढ़ से दृढ़ बुनियाद को भी उखाड़ फेंकेगा। वे स्वार्थ के जिस सुन्दर खिलौने से बच्चों की तरह खिलवाड़कर रहे हैं, वह असल में डायनमाइट है, जो उनकी सात पुश्तों को ध्वस्त कर डालेगा। इसे दूर फेंक देना चाहिए, वर्ना फिर पश्चाताप का भी समय न मिलेगा। स्वार्थ त्याग को हिन्दू-धर्म में एक यज्ञ कहा गया है।

ऐसे समय में देश के उदारचेता, बुद्धिमान युवक समाज को अधीर नहीं हो

जाना चाहिए, क्रोध में नहीं भर जाना चाहिए। ऐसे समय महात्मा जी का सत्याग्रह-मंत्र ही एक उपाय है। क्रोध में तो हिंसा और उसका परिणाम सर्वदा हानिकर है। ऐसे समय देश के प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह पहले अपने आपके हृदय से ऊँच-नीच और छुआछूत के भावों को विनष्ट कर दे।

एक-एक व्यक्ति यदि सचमुच अपने हृदय से अछूतपन की थोथी भावना निकाल देगा, तो वह सबके हृदय से धीरे-धीरे दूर हो जायगी—इसमें सन्देह नहीं।

प्रत्येक युवक को महात्मा जी का यह वचन याद रखना चाहिए जो एक बार उन्होंने कहा था कि—

"अस्पृश्यता या छुआछूत अगर हिन्दू-धर्म में हो, तो मुझे कहना पड़ेगा कि उसमें शैतानियत भरी हुई है, धर्म नहीं। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दूधर्म में यह सब कुछ नहीं है। जब तक प्रत्येक हिन्दू अपने चमार भंगी आदि भाइयों को भी अपने सगे भाई की तरह हिन्दू न समझेंगे, तब तक मैं उन्हें हिन्दू ही नहीं समझूँगा। मनुष्य तिरस्कार और दया इन दो चीज़ों के साथ नहीं रह सकता।"

देश के प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य इस समय यही है कि महात्मा जी के इन वचनों पर ध्यान दे, विचार करे और उन्हें आचरण में लाकर देश के और धर्म के कलंक को दूर करे।

उन्हें महात्मा जी की यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक हिन्दू-धर्म पर से यह कलंक दूर न करके उसी से चिपटे रहेंगे, तब तक वे कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकते।

इस समय देश के प्रत्येक सच्चे हिन्दू का ध्यान केवल इसी ओर होना चाहिए कि वह जी-जान से महात्मा जी की मनोकामना की पूर्ति में अपनी शक्ति लगा दें। ऐसा न हो कि उनकी उदासीनता से महात्मा जी को फिर अपने पर संकट उपस्थित करना पड़े!

२६ सितम्बर १६३२

काशी का कलंक

महात्मा गांधी के अनशन-व्रत से देश भर में अस्पृश्योद्धार का जो व्यापक आन्दोलन चल रहा है, उसमें देश के सभी सनातनधर्मी शामिल हैं। अगर यह कहा जाय कि इस नवीन जाग्रत आन्दोलन में जो शरीक हो रहे हैं या हुए हैं, वे सनातनधर्मी नहीं हैं, तो फिर यह मानना पड़ेगा कि सनातनधर्मी जनता इस देश में है ही नहीं, अथवा यदि है भी, तो उँगलियों पर गिन लेने योग्य, क्योंकि गाँव-गाँव और नगर-नगर में जो

सभाएँ हो रही हैं या हुई हैं, उनमें समस्त स्थानीय जनता ने एक स्वर से अछूतों को हृदय से अपनाने की घोषणा की है। यदि ऐसा करनेवाले सब के सब आर्यसमाजी या काँग्रेसधर्मी हैं, तो निश्चय ही यह मानना पड़ेगा कि देश में अब सनातनधर्मी का हिमायती एक व्यक्ति भी नहीं है, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है, सनातनधर्म आज भी जीवित है और आगे भी अनन्तकाल तक रहेगा। किसी के नष्ट करने से न तो वह नष्ट होगा, और न किसी के रक्षा करने से वह सुरक्षित रहेगा। ईश्वर ही उसकी रक्षा करता है, करेगा और कर सकता है। फिर भी काशी के कुछ मुट्ठी-भर पंडित यह चाहते हैं कि सनातनधर्म की रक्षा का काम ईश्वर से ज़बर्दस्ती छीन लिया जाय। बाहर की जनता समझती है कि काशी में कुछ बड़े धर्मनिष्ठ और शास्त्र-पारंगत तथा पुण्यात्मा पंडित मौजूद हैं, जो हिन्दू धर्म के तत्व और रहस्य को सूक्ष्म रीति से समझते हैं तथा संकट के समय उसकी रक्षा का उपाय करते हैं, किन्तु काशी की जनता खूब जानती है कि सनातनधर्मी और वर्णाश्रम धर्म के नाम पर होहल्ला मचाकर देश की सामाजिक जागृति और राजनीति के प्रगति में बाधा पहुँचाने और रोड़े अटकानेवाले काशीस्थ पंडित कितने पानी में हैं। काशी की जनता यह भी देखती है कि वे लोग शास्त्रों के बल पर कहाँ तक हिन्दू जाति की रक्षा कर रहे हैं—विधर्मियों के आक्रमणों से कहाँ तक हिन्दुओं को बचा रहे हैं और राजनीतिक संग्राम में हिन्दुओं के अधिकारों का किस प्रकार संरक्षण कर रहे हैं। हिन्दू महासभा के विरोध में जो ब्राह्मण-सम्मेलन काशी में किया गया था, और जो अभी तक हिन्दू-महासभा तथा काँग्रेस की जड़ में कुल्हाड़ी मारने में ही तत्पर हो रहा है, वह भी काशी के एक पंडित के दिमाग की ही उपज है, और सारे भारत के हिन्दू, आँखें फाड़कर यह देख रहे हैं कि हिन्दू-महासभा द्वारा हिन्दुओं का अधिक हित हो रहा है, या ब्राह्मण-महासम्मेलन द्वारा। प्रस्तुत आन्दोलन द्वारा ही यह सिद्ध हो गया कि हिन्दू जाति की रक्षा करने में कौन अधिक समर्थ है—काँग्रेस दल या शास्त्र-व्यवसायी दल? सरकारी साम्प्रदायिक निर्णय-द्वारा करोड़ों अछूत भाई हिन्दूसमाज से अलग हुए जा रहे थे—उन्हें वर्णाश्रम-स्वराज्य संघ ने क्यों नहीं बचा लिया? और जब महात्मा जी अपने प्राणों का बलिदान करके उन्हें बचाने लगे, तो वर्णाश्रम और सनातनी कहे जानेवाले काशी के कुछ शास्त्रोप-जीवी पंडितों ने महात्मा जी को सार्वजनिक सभा में अपशब्द तक कह डाले, किन्तु सूर्य पर थूकनेवाले की दुर्दशा सबको मालूम है। जिस काशी में धर्म की ध्वजा गाड़कर शास्त्र की वेदी पर पंडित लोग बैठे हुए हैं, उसी काशी में उनकी बात सुननेवाला कोई नहीं है। उनके साथ कितनी जनता है और महात्मा जी के आन्दोलन में कितनी जनता है, यह बिलकुल स्पष्ट है। फिर भी न जाने दो-चार पंडितों को कैसी सनक सवार है कि आंधी में गुड्डी उड़ाने का उपहासास्पद दुस्साहस कर बैठते हैं। संयुक्तप्रान्त का दौरा करते समय महात्मा गांधी विगत वर्ष काशी में आये, तो केवल शास्त्राभिमानी पंडितों ने ही काले झंडे दिखाकर उनका स्वागत किया था। उस समय महात्मा गांधी के स्वागत और

व्याख्यान में कितने काशी निवासी एकत्र थे, तथा काले झण्डों के साथ कितने थे, यह देखने से ही स्पष्ट हो गया कि काशी में ही इन धर्मप्राण पंडितों के सच्चे साथी कितने हैं। महात्मा जी समस्त भारत में घूम आये थे, पर कहीं भी किसी सनातनी ने उनका अपमान नहीं किया था, किन्तु काशी ने अपने सिर कलंक ले ही लिया। इससे यही सिद्ध हुआ कि भारत में और कहीं कोई सनातनी है ही नहीं, केवल काशी में ही मुट्ठी भर बच गये हैं। अगर काशी के सिवा अन्यत्र भी कहीं सनातनियों का नाम-निशान होता, तो अन्य स्थानों में भी महात्मा जी को काले झंडे दिखाये जाते, या अपशब्द कहे जाते, किन्तु दुःख है कि सनातनधर्म के साथ-साथ काशी को भी कलंकित करनेवाले थोड़े-से हठधर्मी बनारस में बच गये हैं, जो व्यर्थ ही दूसरे का शकुन बिगाड़ने के लिए अपनी नाक कटा रहे हैं। वे लोग "दूलह की चाची" और "अपने मुँह मियाँ मिट्ठू" बनना चाहते हैं, पर नहीं बन पाते, और कभी बन भी नहीं सकते। इस समय जब कि सारे देश में अछूतों को अपनाने और गले लगाने की धूम मच रही है, तब वे लोग मुश्किल से सिर्फ़ काशी में ही कुल सौ के क़रीब हैं,—नक्कारखाने में तूती की आवाज़ सुनाने का हौसला बाँधे हुए हैं। वे अछूतों को हिन्दू मानते हैं—बन्धु और वात्सल्यास्पद कहते हैं, मगर कोई सामाजिक अधिकार नहीं देना चाहते, सदा उन्हें दलित और पतित ही बनाये रखना चाहते हैं। तो, अब उपाय यह है कि जो हिन्दू महात्मा गांधी को हिन्दू-जाति का सच्चा रक्षक समझता है, वह इस बात की प्रतिज्ञा करे कि महात्मा जी के प्राण प्यारे अछूत जिस मन्दिर में न जाने पावेंगे, उसमें हम भी नहीं जायेंगे, और जो शास्त्राभिमानी पंडित या पुजारी या पंडा महात्मा जी को धर्म-द्रोही और अहिन्दू कहेगा, उसको किसी प्रकार का दान या पूजा-चढ़ावा नहीं देंगे। जो लोग अछूतों को हिन्दू बनाये रखते हैं और इसी में हिन्दू-जाति का सच्चा कल्याण समझते हैं, वे प्रतिज्ञापूर्वक अछूतों के लिए अलग मन्दिर बनावें और धर्मप्राण पंडे पुजारियों को पैसे और दक्षिणा देकर अपमान खरीदने से बचे रहें। यदि विश्वनाथ जी का मन्दिर अछूतों के लिए नहीं खुलेगा, तो अछूत भाइयों के साथ मिलकर करोड़ों हिन्दू इसी काशी में दूसरे मंदिर का निर्माण करके उसी में विश्वनाथ का आवाहन-पूजन करेंगे, क्योंकि विश्वनाथ किसी एक जाति या सम्प्रदाय के देवता नहीं हैं, वह तो प्राणी मात्र के पिता और नाथ हैं, उन पर सबका दखल-कब्जा बराबर-बराबर है। अब ऐसे ही आन्दोलन की जरूरत है और यह शीघ्र ही उठनेवाला भी है। अब शास्त्रीलोग अपना शास्त्र लेकर बैठे रहें और केवल उन्हीं से दान-दक्षिणा पाने की आशा रखें, जो उनकी बात मानें। बस। आगे की बात अगली बार फिर।

५ अक्टूबर १९३२

हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न

एक बार फिर सरकार ने अपने व्यवहार से भारत को एहसान के नीचे दबा दिया है। पूना के समझौते को तत्काल स्वीकार करके उसने सहृदयता का परिचय दिया था और ठीक उस वक्त, जब उसने मौलाना शौकतअली को महात्मा गांधी से यरवदा में मिलने का अवसर न देकर समस्त भारत में असंतोष और निराशा का वातावरण उत्पन्न कर दिया था, हरिजनों के उद्धार के विषय के महात्मा जी को लिखा पढ़ी करने और मिलने-मिलाने की अनुमति देकर फिर देश को अनुगृहीत किया है। इतने महान और युगान्तरकारी आन्दोलन को जेल के अन्दर से संचालित करना कठिन है, यह सभी समझ सकते हैं। और यदि सरकार ने इस अवसर पर महात्मा जी को मुक्त कर दिया होता, तो कहना ही क्या था, लेकिन सरकार ने जो कुछ भी किया है, उसके लिए हम उसके कृतज्ञ हैं।

महात्मा जी ने सबसे पहले हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न लिया है। भारत धर्म-प्रधान राष्ट्र है और आज भी धर्म हमारे जीवन का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। पढ़े-लिखे समाज में चाहे धर्म केवल ढोंग रह गया हो और मन्दिर प्रवेश को चाहे वे एक व्यर्थ-सी बात समझते हों, और वास्तव में समझते भी हैं, लेकिन जनता अभी तक अपने धर्म को और अपने देवताओं को प्राणों से चिपटाये हुए है। उत्तर भारत में तो कुछ देवता ऐसे भी हैं, जिनके पुरोहित हमारे हरिजन भाई ही हैं। जिस गाँव में चले जाइये, चमारों या भरों के पुरवे में आपको किसी नीम के वृक्ष के नीचे दस-बीस मिट्टी के बड़े-बड़े हाथी, लाल रंगे हुए एक जगह रखे हुए मिलेंगे। वहीं एक त्रिशूल भी गड़ा होगा। एक लाल पताका भी पेड़ से बंधी होगी। यह देवो का स्थान है, इस चबूतरे का पुजारी कोई चमार, पासी या भर होगा। वर्णवाले हिन्दू स्त्री-पुरुष बड़ी श्रद्धा से देवी के चबूतरे पर जाते हैं, वहाँ बतासे, धूप-दीप, फूल-माला चढ़ाते हैं। जब वर्णवाले हिन्दुओं को हरिजनों के इन देवताओं की उपासना करने और हरिजनों को अपना पुरोहित बनाने में शर्म नहीं आती—घृणा का भाव तो वहाँ किसी तरह आ ही नहीं सकता—तो हम नहीं समझते कि हरिजनों के हिन्दू-मन्दिरों में आ जाने से कौन-सा अधर्म हो जायगा। डा० अम्बेडकर ने महात्मा जी से इस विषय में मतभेद प्रकट करते हुए कहा है कि अछूतों को मन्दिर-प्रवेश की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी इस बात की कि साधारण हिन्दू उनसे सज्जनता का व्यवहार करें, और उन्हें अपने बराबर समझें, लेकिन इसका प्रमाण क्या होगा कि हिन्दू किसी अछूत से सज्जनना का व्यवहार कर रहा है। खाने-पीने की सम्मिलित प्रथा अभी तक हिन्दुओं में ही नहीं है, अछूतों के साथ कैसे हो सकती है। शहरों के दो-चार सौ आदमियों के अछूतों के साथ भोजन कर लेने से यह समस्या हल नहीं हो सकती। शादी-ब्याह इससे भी कठिन प्रश्न है। जब एक ही जाति की भिन्न-भिन्न

शाखाओं में परस्पर शादी नहीं होती, तो अछूतों के साथ यह सम्बन्ध कैसे हो सकता है। ये दोनों ही प्रश्न अभी बहुत दिनों में हल होंगे, अर्थात्—उस समय जब हिन्दू-जाति भेद-भाव को मिटा देगी। इस तरह की कैदें ईसाइयों और मुसलमानों में भी हैं। खानदानी मुसलमान कभी अपनी लड़की का विवाह किसी नीचे मुसलमान—धुने, जुलाहे, मेहतर—से करना पसन्द न करेगा, चाहे वह कितना ही शिक्षित और धनी क्यों न हो। ईसाइयों में भी कुछ इसी तरह की पाबन्दियाँ हैं। हाँ, इन दोनों मतों के अनुयायी, चाहे किसी श्रेणी या पेशे के हों, बिना किसी रोक-टोक के मसजिदों और गिरजाघरों में जा सकते हैं। भाईचारे या बराबरी का यही एक व्यवहार है, जो अन्य धर्मों में प्रचलित है और इसी एक व्यवहार के हिन्दू-धर्म में न होने से इस धर्म के माथे पर इतना बड़ा कलंक लगा हुआ है।

हिन्दू-समाज में इस विषमता के सब से बड़े समर्थक हमारे शास्त्रोपजीवी लोग हैं। वे अभी तक यही पुरानी लकीर पीटते जाते हैं कि स्मृतियों में कहीं इस तरह की समानता का प्रमाण नहीं मिलता। लेकिन जब वेदान्त कहता है कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड में केवल एक आत्मा व्याप्त है, तो उसमें इस तरह का भेद कहाँ से आ सकता है। यह ठीक है कि हरिजनों में अभी बहुत-सी गंदी आदतें हैं—वे शराब पीते हैं, गंदा काम करते हैं और मुरदार खाते हैं, लेकिन हिन्दू-समाज ज्योंही उन्हें अपने अन्दर स्थान देगा, ये सारी बुराइयाँ आप ही आप मिट जायेंगी। अभी तो हरिजन समझता है कि वह हिन्दुओं से पृथक् है, वह जो चाहे करे, जो चाहे खावे, इसका उसके ऊपर कोई असर नहीं पड़ता, लेकिन जब वह हिन्दुओं में आदर का स्थान पा जायगा, तो स्वभावतः उसकी रक्षा करेगा।

अतएव मन्दिर प्रवेश का प्रश्न इस समय सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है और उसका हल जल्द न किया गया, तो भय है कि महात्मा जी फिर न अनशन शुरू कर दें, क्योंकि महात्मा जी के लिए इस विश्वास को दिल से निकाल डालना असंभव है कि हिन्दू-शास्त्रों ने अस्पृश्यता का आरोपण किया है। अगर यही हिन्दू-धर्म है जिसका अब उन्हें परिचय मिल रहा है, तो जैसा उन्होंने स्वयं कहा है, उनके लिए जीवन में कोई आनन्द न रह जायगा। देखें, हिन्दू-समाज इसका क्या जवाब देता है।

१४ नवम्बर १९३२

अछूतों को मंदिरों में जाने देना पाप है

'वाइसराय की सेवा में डेपुटेशन जा रहा है'

वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ का आन्दोलन

मंगल के दिन संध्या-समय काशी की गर्द-भरी सड़कों पर वह दृश्य देखने में

आया, जो हिन्दू-जाति के लिए लज्जाजनक ही नहीं, हास्यास्पद भी था। दो-ढाई सौ संस्कृत-पाठशालाओं के छात्र हाथों में लाल झण्डे लिये, एक जुलूस के रूप में यह हाँक लगाते चले आ रहे थे—

"अछूतों को मन्दिरों में जाने देना, पाप है।"

हाँक का पहला अंश एक आदमी के मुख से निकलता था, और दूसरा अंश सैकड़ों कंठों से कोरस के रूप में निकल रहा था, लेकिन उन आवाज़ों में उत्साह न था, भक्ति न थी, अनुराग न था। ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई जीर्ण रोगी मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ कराह रहा है। जुलूस के पीछे एक जोड़ी थी, जिस पर कई वाचस्पति और मार्तण्ड फूलों के हारों से लदे, विद्या के निर्जीव भार से दबे, गर्वोन्नित भाव से बैठे हुए थे। विद्या का अभिमान उन्हें धरती पर पाँव न रखने देता था, जैसे कोई सेनापति अपने सैनिकों को पहली पंक्ति में खड़ा करके आप सबके पीछे निश्चिन्त बैठा हुआ हो। या, यों कहिए कि यह महानुभाव उस बरात के दूल्हे थे, जिसे अपने पद की गरिमा जमीन पर पाँव न रखने देती थी। इस नाजुक मौके पर भी जब उनके विचार में हिन्दू-धर्म पर चारों ओर से आक्रमण हो रहे हैं, वे अपनी महानता को नहीं भूल सकते। इधर महात्मा गांधी को देखिये। साबरमती से डांडी की तरफ प्रस्थान कर रहे हैं। आगे आप हैं, पीछे उनके सिपाही हैं। अपने उत्सर्ग से अपने सैनिकों में उत्सर्ग की शक्ति का संचार करते हुए चले जा रहे हैं। इन फीटन-आरोही मार्तण्डों में एक पुरी के श्री १०८ शंकराचार्य भी थे। इस निवृत्ति की उस प्रवृत्ति से तुलना कीजिए। वह संसार की सबसे महान शक्ति के सामने, न्याय के बल और आत्मा के विश्वास के साथ, एक जाति के उद्धार के लिए अग्रसर हो रही है, और यह न्याय को पैरों से कुचलती, आत्मा की आँखों पर परदा डाले हुए, जाति के दलित और पीड़ित अंग को ठोकरें मार रही है। फिर क्यों न धर्म का संसार में हरास हो, क्यों न रूसवाले धर्म को अफ़ीम का नशा समझें, क्यों न गिरजे ढाये जायँ, और धर्म को कलंकित करनेवाले इन स्तम्भों का समाज से बहिष्कार कर दिया जाय। विद्या अगर आदमी को उदार बनाती है, उसमें सत्य और न्याय के ज्ञान को जगाती है, उसमें इन्सानियत पैदा करती है, तो वह विद्या है—अगर वह अभिमान बढ़ाती है, स्वार्थपरता की वृद्धि करती है तो वह अविद्या से भी बदतर है। ऐसी विद्या से मूर्खता हजार गुनी अच्छी। धर्म का मूल तत्व आत्मा की एकता है। जो आदमी इस तत्व को नहीं समझता, वह वेदों और शास्त्रों का पंडित होने पर भी मूर्ख है; जो दुःखियों के दुःख से दुःखी नहीं होता, जो अन्याय देखकर उत्तेजित नहीं होता, जो समाज में ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र के भेद को बढ़ाता है, वह पंडित होकर भी मूर्ख है।

हमारे पास अंग्रेजी में छपा हुआ, वाइसराय के नाम एक मेमोरियल, वर्णाश्रम संघ का, आया है। उस पर बड़े-बड़े तर्क चूड़ामणियों और विद्यावाचस्पतियों के हस्ता-

धार हैं। वाइसराय से फरियाद की गयी है कि वह हिन्दू मंदिरों की अछूतों से रक्षा करें। वाहरे मार्तण्डो! क्यों न हो, कितनी दूर की सूझी है। अब भी अगर वाइसराय की खुशनूदी का परवाना न मिले, तो यह आप लोगों का दुर्भाग्य है। आपकी सेवा में दूसरे व्यवस्था लेने आया करते थे। आपका फ़तवा बड़े-बड़े मसलों को हल कर दिया करता था और आज आप एक धर्म के विषय को लिये वाइसराय के पास, कुत्तों की तरह दुम हिलाते दौड़े हुए, चले जा रहे हैं। वह आपकी विद्या कहाँ गयी? आप हिन्दू-समाज को अपने तर्कों से, प्रमाणों से, अपने धर्म-ज्ञान से क्यों नहीं उस रास्ते पर लाने में सफल हो रहे हैं, जिसे आप सीधा रास्ता समझते हैं। क्यों आपको इसका विश्वास नहीं है कि हिन्दू जनता आपका समर्थन करेगी? इसलिए कि आप में आत्म-विश्वास नहीं है, स्वार्थ-लिप्सा और अभिमान ने आपकी आत्मा को दुर्बल बना दिया है। यह वही हिन्दू-जाति है, जो आपके चरणों की रज माथे पर लगाकर अपने को धन्य मानती है, जो आप की बातों को ब्रह्म-वाक्य समझती है, मगर आज आपकी, उसकी नज़रों में, अणु-मात्र भी प्रतिष्ठा नहीं है। हो सकता है, थोड़े से अर्धशिक्षित धनवान मारवाड़ियों के दिल में आज भी आपके प्रति श्रद्धा हो, पर जिसे शिक्षित समाज कहते हैं, उसकी नज़रों में आपकी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, और कोई सम्प्रदाय शिक्षितों की अवहेलना करके जीवित नहीं रह सकता। हिन्दू समाज की और राष्ट्र की जो वर्तमान अधोगति हो रही है, उसके जिम्मेदार आप ही जैसे लोग हैं, और हिन्दुजाति अब आपके पीछे आँखें बन्द करके चलने पर तैयार नहीं। आपने आठ करोड़ हिन्दुओं को मुसलमान बना दिया। यह छः करोड़ अछूत भी आप ही के विद्यावाण के बेधे हुए हैं, क्या हिन्दू-धर्म को संसार से मिटा कर ही दम लेंगे—आपको अपना हित भी नहीं नज़र आता?

क्या मंदिरों के पुजारियों और मठों के महंतों से हिन्दू जाति बनी हुई है? पूजा करनेवाले भी रहेंगे, या पूजा करानेवाले ही मंदिरों को स्थायी रखेंगे?

एक वह जातियाँ हैं, जो दूसरों को अपने में मिलाकर फूली नहीं समातीं। आज एक चमार मुसलमान हो जाय, सारा मुसलिम-समाज उसका स्वागत करेगा, लेकिन यह मेमोरियलबाज़ लोग, जो हिन्दूजाति के रक्षक होने का दावा करते हैं, यह भी नहीं सह सकते कि कोई बाहर का आदमी उनके देवताओं के दर्शन कर सके। अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं, अछूत कोई मंदिर बनावे, आप दल-बल के साथ जायेंगे, मन्दिर में देवता की स्थापना करेंगे, तर माल खायेंगे—हाँ, अछूत ने उसे छुआ न हो—दक्षिणा लेंगे, इसमें कोई पाप नहीं, न होना चाहिए, लेकिन अछूत मंदिर में नहीं जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जायेंगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं, तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता वह है, जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाय। हिन्दू उसी को अपना देवता समझ सकता है। पतितों का उद्धार करनेवाले ठाकुर ही हमारे ठाकुर हैं, जो

पतितों के दर्शन-मात्र से पतित हो जायँ, ऐसे ठाकुर को हमारा दूर ही से नमस्कार है।

कहा जाता है कि अछूतों की आदतें गंदी हैं, वे रोज स्नान नहीं करते, निषिद्ध कर्म करते हैं, आदि। क्या जितने सछूत हैं, वे रोज़ स्नान करते हैं, क्या काश्मीर और अल्मोड़ा के ब्राह्मण रोज़ नहाते हैं? हमने इसी काशी में ऐसे ब्राह्मणों को देखा है, जो जाड़ों में, महीने में एक बार स्नान करते हैं। फिर भी वे पवित्र हैं। यह इसी अन्याय का प्रायश्चित्त है कि संसार के अन्य देशों में हिन्दू-मात्र को अछूत समझा जाता है। फिर शराब क्या ब्राह्मण नहीं पीते। इसी काशी में हजारों मदसेवी ब्राह्मण—और वह भी तिलकधारी—निकल आयेंगे, फिर भी वे ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों के घरों में चमारियाँ हैं, फिर भी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नहीं आती, किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो, कितना ही आचारवान् हो, वह मन्दिर में नहीं जा सकता। क्या इसी नीति पर हिन्दू धर्म स्थिर रह सकता है? इस नोति के कुफल हम देख चुके, अब सावधान हो जाना चाहिए।

हमारी समझ में नहीं आता हम किस मुँह से यह दावा कर सकते हैं कि हम पवित्र और अमुक अपवित्र है। किसी ब्राह्मण महाजन के पास उसी का भाई ब्राह्मण असामी क़र्ज़ माँगने जाता है, ब्राह्मण महाजन एक पाई भी नहीं देता, उस पर उसका विश्वास नहीं है। वह जानता है, इसे रुपये देकर इससे वसूल करना मुश्किल हो जायगा। उसी ब्राह्मण महाजन के पास एक अछूत असामी जाता है और बिना किसी लिखा-पढ़ी के रुपये ले आता है। ब्राह्मण को उस पर विश्वास है। वह जानता है, यह बेईमानी नहीं करेगा। ऐसे सत्यवादी, सरल हृदय, भक्ति-परायण लोगों को हम अछूत के नाम से पुकारते हैं, उनसे घृणा करते हैं, मगर हमारा विश्वास है, हिन्दू-समाज की धार्मिक चेतना जागृत हो गयी है, अब वह ऐसे अन्यायों को सहन न करेगा। राष्ट्रों के जीवन का रहस्य उसकी समझ में आ गया है, वह ऐसी नीति का साथ न देगा, जो उसके जीवन की जड़ काट रही है।

२१ नवम्बर १९३२

महात्मा जी का उपवास

गुरुवयूर की एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए श्री केलप्पन ने यह सूचित किया था, कि महात्मा जी का एक पत्र उनके नाम आया है, जिसमें उन्होंने लिखा है, कि आप दो जनवरी से उपवास करने के लिए तैयार हो जाओ। श्री केलप्पन ने जिस साहस से गुरुवयूर के मन्दिर को अछूतों के लिए खुलवा देने के लिए उपवास करने का निश्चय किया था, जिस साहस से वे कई दिन तक लगातार उपवास करते रहे, उसकी

जितनी प्रशंसा की जावे, थोड़ी है। उस समय ज़मोरिन ने ज़िद्द कर मन्दिर न खोलने में जो अहम्मन्यता तथा जड़ता दिखलायी थी, उसकी जितनी निन्दा की जावे थोड़ी है। उस समय, महात्मा जी के मना करने से श्री केलप्पन ने अनशन तोड़ दिया था। महात्मा जी ने इतने समय तक इस बात की प्रतीक्षा की थी, कि किसी प्रकार ज़मोरिन को अक्ल आ जावेगी। महामना मालवीय जी, श्री राजगोपालाचारी और श्री राजेन्द्र प्रसाद तथा श्रीमती गांधी ने भी इस दशा में भरसक कोशिश की थी, कि ज़मोरिन अपनी ज़िद्द तोड़ दें, लेकिन ज़मोरिन ने कुछ भी न किया। जहाँ तक हम कानून जानते हैं किसी देवालय पर किसी का भी हक़ नहीं है। आख़िर गुरुवयूर मन्दिर के ज़मोरिन होते ही कौन हैं! फिर भी, एकबार जब महात्मा जी ने केलप्पन को इसी काम के लिए मना किया था तो यह उनके लिए फ़र्ज़ हो जाता है, कि वे पुनः उपवास करने के समय श्री केलप्पन का साथ दें। महात्मा जी की इस दार्शनिकता को ज़रा हम कठिनाई से समझ सकते हैं, पर इस ओर ध्यान देना ज़रूरी है। अब, क्या हम भारतीय इतना गिर गये हैं कि विश्व की एक विभूति ज़मोरिन की जिद्द के कारण बलिदान हो जावे। ईश्वर हमारे अहिंसात्मक आग्रह में बल दें।

५ दिसम्बर १९३२

हरिजन बालकों के लिए छात्रालय

नागपुर में हरिजन बालकों के लिए अलग एक छात्रालय बनाया गया है। इससे तो अछूतपन मिटेगा नहीं, और दृढ़ होगा। उन्हें तो साधारण छात्रालयों में बिना किसी विचार के स्थान मिलना चाहिए।

५ दिसम्बर १९३२

दिल्ली के म्युनिसिपल चुनाव में अछूत मेम्बर

दिल्ली म्युनिसिपैलिटी में दो मेम्बरों का स्थान खाली हो गया था। उसके लिए उम्मेदवार खड़े हुए थे। नेशनलिस्ट दल ने दोनों जगहों के लिए दो अछूत भाइयों को खड़ा कर दिया! जनमत का ऐसा दबाव पड़ा कि सभी हिन्दू उम्मेदवार बैठ गये और दोनों अछूत उम्मेदवार बिना मुकाबले के चुन लिए गये। अगर अब भी किसी को संदेह हो कि हिन्दू अपने दलित भाइयों के साथ न्याय करना नहीं चाहते, तो यह उसका अन्याय है। महात्मा गांधी के अनशन ने जो जागृति पैदा की है, उसने हिन्दू समाज में क्रान्ति

पैदा कर दी है और हमें विश्वास है कि वह समस्त हिन्दू जाति का एकीकरण करके ही शांत होगी।

१६ अक्टूबर १६३२

कानपुर युनिसिपल चुनाव

कानपुर के म्युनिसिपल चुनाव पर जहाँ हम नागरिकों को इसलिए बधाई देते हैं, कि उन्होंने दोनों महिलाओं को बहुमत से अपना प्रतिनिधि चुना, वहाँ हमें उनसे यह शिकायत भी है, कि उन्होंने दोनों हरिजन भाइयों के साथ अन्याय किया। हरिजन उम्मीदवारों के मुकाबले में जो महाशय खड़े हुए थे, उन्हें देश की परिस्थिति का विचार करके खुद बैठ जाना चाहिए था। यदि वे इतना त्याग नहीं कर सकते थे, तो वोटरों को हरिजनों के पक्ष में वोट देना चाहिए था, पर कानपुरवालों ने अपनी अनुदारता का प्रमाण देना ही श्रेय की बात समझा। राष्ट्र को उनके इस व्यवहार से कितना बड़ा धक्का पहुँचा है, कदाचित् इसका वे अनुमान नहीं कर सकते। अभी पूना का समझौता हुए बहुत दिन नहीं बीते। जब अभी से हरिजनों की उपेक्षा की जाने लगी, तो इसका नतीजा यही होगा, कि वह स्थानीय बोर्डों में भी अपना बँटवारा कराने के लिए ज़ोर देंगे और कौन कह सकता है, उनकी वह माँग न्याय-संगत न होगी।

१२ दिसम्बर १६३२

हमारे युवकों का कर्तव्य

महात्मा गांधी ने काशी विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री० सी० एन० मेनन के एक पत्र का जवाब देते हुए लिखा है—

"प्रियवर, मैं कह सकता हूँ कि अगर छात्रों की ओर से ज़मोरिन के नाम एक पत्र भेजा जाय, जिस पर उन सभी छात्रों के हस्ताक्षर हों जिनका हरिजनों के उद्धार में विश्वास है, तो यह इस बात का उज्ज्वल प्रमाण होगा कि भावी राष्ट्र इस काले दाग़ को मिटाने के लिए कितना तुला हुआ है। क्या ही अच्छी बात हो कि हिन्दू-विश्वविद्यालय की तरह सभी विद्यालयों के छात्र ऐसा ही करें।"

हमें पूर्ण विश्वास है, कि हमारे छात्र इस आदेश को शिरोधार्य करेंगे। हमें यह भी विश्वास है कि अधिष्ठाताओं की ओर से अगर इस शुभ कार्य में प्रोत्साहन न मिलेगा, तो कम से कम कोई बाधा न खड़ी की जायगी।

१२ दिसम्बर १६३२

पावन तिथि

१८ दिसम्बर भारत के इतिहास में बहुत दिनों तक याद रखा जायगा। यह उस पावन पर्व का दिन था, जब हिन्दू-समाज ने व्यावहारिक रूप से उस तत्व को स्वीकार कर लिया, जो सभी धर्मों का मूल तत्व है, और वह है—मनुष्य-मात्र की समता। बौद्ध और ईसाई, इसलाम और सिख, सभी मजहबों में, जहाँ तक उनका समाज से सम्बन्ध है (Universal Brotherhood) को ही आधार माना गया है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि धर्मों की सृष्टि का यही उद्देश्य था। इसी एक व्यवस्था में सारे आध्यात्मिक और नैतिक, दैहिक और मानसिक सिद्धांत समाविष्ट हो जाते हैं। जब मानव-समाज में छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, का भेद बढ़ा, एक नये धर्म का उदय हुआ। संसार में जितने धर्म हैं, उनमें यही एक तत्व है, जो सब में पाया जाता है। उनमें तरह-तरह के भेद हैं, भाँति-भाँति की व्यवस्थाएँ हैं—कहीं माँस वर्जित है, कहीं मदिरा वर्जित है, कहीं इनमें से एक भी वर्जित नहीं, कहीं एक ही ब्याह की व्यवस्था है, कहीं चार की, कहीं अनेक की, लेकिन इस भाईचारे के विषय में सभी एकमत हैं। इसका कारण यही है, कि इस तत्व की उपेक्षा करके समाज में शान्ति नहीं रह सकती। या तो किसी नये धर्म की सृष्टि होगी, या कोई भयंकर विप्लव हो जायगा। फ्रेंच-क्रान्ति इसी विषमता की फरियाद थी, रूस की क्रान्ति भी इसी भेद-भाव का रुदन था। मनुष्य-मात्र में जो एक आत्मा व्याप्त है, वह इस विषमता को सहन नहीं कर सकती।

दैवी सम्पद

हमारे जितने पर्व हैं, वे सभी किसी आध्यात्मिक विजय की यादगार हैं। १८ दिसम्बर को भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जो पावन पर्व मनाया गया, वह हिन्दूजाति के पुनरुत्थान का यज्ञ था। एक समय आयेगा, जब होली और दीपावली, विजयादशमी और रक्षा-बन्धन की भाँति सारे भारतवर्ष में घर-घर यह उत्सव मनाया जायगा। रक्षा-बन्धन ब्राह्मणों का पर्व है, विजयादशमी क्षत्रियों का, दीपावली वैश्यों का, होली शूद्रों का, लेकिन यह ''हरिजन-दिवस'' समस्त हिन्दूजाति का पर्व होगा। यह वर्ण भेद को मिटाकर एकता के भावों को जगाने और पालनेवाला होगा। क्या आध्यात्मिक और क्या सामाजिक दृष्टि से कोई भी पर्व इसकी बराबरी कर सकता है? यह चिरकाल तक उस विजय की याद दिलाता रहेगा, जो दैवी शक्तियों ने आसुरी मनोवृत्तियों पर पायी। पृथकता और विच्छेद आसुरी मनोवृत्ति है। एकता और प्रेम दैवी सम्पद हैं। ऊँचे कुल के विद्वान, प्रतिष्ठित, प्रभावशाली सज्जनों को झाड़ू और टोकरी लेकर हरिजनों के घर और मुहल्लों की सफाई करते देखकर राष्ट्र की आत्मा फूली न समायी होगी। हरिजन बालकों के साथ सजातीय बालकों को हिल-मिलकर खेलते देख-

कर ईश्वरों ने भी आशीर्वाद दिया होगा। बुद्ध और शंकर, रामानुज और चैतन्य, दयानन्द और गोविंदसिंह की आत्माओं ने स्वर्गधाम से जो शुभेच्छाएँ की होंगी, जिन आदर्शों के लिए उन्होंने अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया, उन्हें फलते-फूलते देखकर उन्हें जो आनन्द हुआ होगा, उसकी कल्पना से हमारे राष्ट्र-जीवन में कितनी शक्ति और स्फूर्ति का संचार होगा, इसे कौन कह सकता है। हिन्दू जाति ने इस चिरकालीन कलंक को धो डालने के लिए जितने उत्साह और विचार से काम लिया है, वह साबित करता है, कि उसकी जीवन धारा चाहे अवरुद्ध हो गयी हो पर सूखी नहीं है। लेकिन जिन हरिजनों को हमने सदा अस्पृश्य समझा, जिनके साथ हमने सदा अमानुषीय व्यवहार किया, यदि उनके प्रति इतने प्रदर्शन मात्र से हम सन्तुष्ट हो जाँय तो इससे उनमें वह आत्मिक जागृति कदापि न उत्पन्न होगी जो उनके अधःपतन की प्रगति को रोक सके। हमको दिल से यह भाव सम्पूर्णतः निकाल डालना होगा कि हम उनसे ऊँचे हैं। हमने केवल पशुबल से उनके अधिकारों का अपहरण कर लिया है। हम उनसे बलवान हो सकते हैं, पर ऊँचे कदापि नहीं। बल नैतिक दृष्टि से उच्चता का बोधक नहीं। उच्चता, परोपकार, सेवा नीयत की सफाई और त्याग में है। इस कसौटी पर कसा जाय तो हिन्दू जाति को मालूम हो जायगा कि उसका बड़प्पन का दावा कितना भ्रममूलक है। वह समय आ रहा है जब हम समझेंगे कि संसार का सुख भोगना ही बड़प्पन की दलील नहीं है, बल्कि सेवा ही वास्तविक बड़प्पन है।

धर्म भेद नहीं सिखाता

समस्त देश ज़मोरिन से गुरुवयूर का मंदिर खोलने की प्रार्थना कर रहा है, प्रस्ताव पर प्रस्ताव पास हो रहे हैं, डेपुटेशन पर डेपुटेशन और तार पर तार भेजे जा रहे हैं, पर ज़मोरिन पर अभी तक कोई असर होता नज़र नहीं आता। अभी तक वहाँ जितनी सम्मतियों की गणना की गयी है, उससे यही मालूम होता है कि बहुमत हरिजनों के प्रवेशाधिकार के पक्ष में है। किसी-किसी फ़िर्क़े में तो नब्बे फीसदी पक्ष में हैं। विपक्ष में सबसे बड़ी संख्या छब्बीस फ़ीसदी है। फिर भी ज़मोरिन अड़े हुए हैं। महात्मा गांधी और श्रीकेलप्पन के उपवास की संभावना दिन-दिन बढ़ती जाती है, पर ज़मोरिन टस से मस नहीं हो रहे हैं। उधर वर्णाश्रम संघ भी ज़ोर बाँधे हुए हैं, और वायसराय से फ़रियाद कर रहा है कि विधर्मियों से हिन्दू धर्म की रक्षा कीजिए, किन्तु हिन्दू जाति का रुख किधर है यह खुली हुई बात है। थोड़े से शास्त्रोपजीवी लोगों को छोड़कर सारा हिन्दू-समाज हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के पक्ष में है। इस विषय में हिन्दू-समाज से इतनी उदारता की आशा न की जाती थी, लेकिन यह तो हमारी समझ में आता है कि हरिजनों में अधिकांश अखाद्य वस्तुओं का व्यवहार करते हैं, गंदे रहते हैं और हम अपने संस्कारों के कारण इच्छा रहते हुए भी उनसे मिल नहीं सकते। मगर जब इस भेदभाव

को धर्म शास्त्रों से सिद्ध किया जाता है, तब हम अधीर हो जाते हैं और धर्म शास्त्रा से हमारी श्रद्धा उठ जाती है। महात्मा गांधी कहते हैं—

"अस्पृश्यता को बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। वह सत्य का, अहिंसा का विरोधी धर्म है, इसलिए धर्म ही नहीं। हम ऊँच और दूसरे नीच हैं, यह विचार ही नीच है। जिस ब्राह्मण में शूद्र का—सेवा का—गुण नहीं, वह ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण तो वही है, जिसमें क्षत्रिय के, वैश्य के और शूद्र के, सब गुण हों और इनके अतिरिक्त ज्ञान हो। शूद्र ज्ञान से सर्वथा रहित अथवा विमुख नहीं होते। उनमें सेवा प्रधान है। वर्णाश्रम में तो भंगी, चाण्डाल आदि तर गये हैं। जो धर्म संसार-मात्र को विष्णु समान जानता है, वह अंत्यज को विष्णु-रहित कब मान सकता है!"

जो धर्मशास्त्र, अहंकार, दंभ और ऊँच-नीच का भेद सिखाते हैं, वह मान्य नहीं हो सकते। यह भेद ही ईश्वर-विमुख है और हमें विश्वास नहीं आता कि धर्मशास्त्र कोई ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं, जो सर्वथा अन्याय संगत और सर्वात्मा की व्यापकता का विरोधी हो। अवश्य ही ऐसी बातें हिन्दू धर्म द्रोहियों ने पीछे से बढ़ा दी हैं। या तो वह क्षेपक हैं, अथवा उनका अर्थ ठीक नहीं किया जा रहा है। फिर महात्मा जी ही के शब्दों में—

"जैसे-जैसे समय गुजरता जाता है, अस्पृश्यता का भी नाश होता जाता है। रेलों, सरकारी स्कूलों, तीर्थ-स्थानों और अदालतों में इसके लिए स्थान नहीं है, और मिलों तथा दूसरे बड़े कारखानों में अन्त्यजों से कोई परहेज नहीं रखा जाता। गीता में भी यही कहा गया है। समदर्शी के लिए ब्राह्मण, श्वान, अन्त्यज सब एक से हैं।"

अब वह समय नहीं रहा कि शास्त्र में जो कुछ मिले, उसे ब्रह्मवाक्य समझ लें। सम्भव है, जिस समय उन स्मृतियों की रचना हुई हो उस समय ऐसे विचारों की ज़रूरत रही हो, लेकिन शास्त्र भी उसी दशा में मान्य है, जब वे सत्य की कसौटी पर पूरे उतरें। कोई समय था जब हिन्दू धर्म में गोमेध ही नहीं, नरमेध भी जायज़ था, पर आज हम धर्म के नाम पर भी नरमेध करना घृणित समझते हैं। हम यह मानते हैं—जहाँ बुद्धि का प्रवेश नहीं, वहाँ विश्वास ही हमारा आश्रय है, लेकिन जिन बातों के सत्यासत्य को हम बुद्धि से पहचान सकते हैं, जो मानवता, न्याय, अहिंसा और सत्य के प्रतिकूल हैं, उन्हें हम शास्त्रोक्त मानकर व्यवहार में नहीं लाना चाहते। अपने को ऊँचा और किसी दूसरे को नीचा समझना, ऐसी निकृष्ट स्वार्थपरता है, जिसका जरूरत पड़ने पर चाहे हम व्यवहार करें, पर उसे शास्त्रोक्त कह कर उसका समर्थन नहीं कर सकते। यों तो ज़रूरत पड़ने पर हम चोरी भी करते हैं, झूठ भी बोलते हैं। आपदकाल में चोरी करना या झूठ बोलना भी अधर्म नहीं माना जाता, लेकिन हम चोरी या झूठ की प्रशंसा नहीं कर सकते। भद्रता का मुख्य लक्षण है—विनम्रता। हम किसी सभा में जाते हैं, तो अधिकारी होने पर भी सबसे ऊँचा आसन नहीं ग्रहण करते, घर के स्वामी होने पर भी सबसे

पहले और सबसे स्वादिष्ट भोजन नहीं करते। पुरानी स्मृतियों में ब्राह्मण को प्राणदण्ड देना शास्त्र-विरुद्ध था। ईसाइयों में जब पोप की प्रधानता थी, तो पादरियों को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। पादरियों के मुकदमे उनकी अपनी अदालत में फ़ैसले होते थे, लेकिन उस धर्मान्धता के दिन बिदा हो गये। अब तो धर्म, न्याय और नीति की कसौटी पर कसा जाता है। अगर वह बुद्धि-संगत है तो मान्य है, अन्यथा हम उसकी परवाह नहीं करते। इसी बुद्धि-संगतता को संतुष्ट करने के लिए हमारे धर्माचार्यों ने कितनी ही धर्म व्यवस्थाओं को, धर्म-कथाओं और धर्म प्रथाओं के नये अर्थ निकाले हैं और निकल रहे हैं।

मंदिर प्रवेश ही इस समस्या को हल करेगा

हरिजनों की समस्या केवल मंदिर प्रवेश से हल होनेवाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं। आज शिक्षित हिन्दू-समाज में ज्यादा से ज्यादा पाँच फी सदी रोज़ाना मंदिर में पूजा करने जाते होंगे। पाँच फी सदी न कहकर अगर पाँच फी हज़ार कहा जाय तो उचित होगा। शिक्षित हरिजन भी मन्दिर प्रवेश को कोई महत्व नहीं देते। हरिजनों के अपने देवता अलग हैं। मन्दिर प्रवेश का अधिकार पाते ही वे अपने देवताओं को उठाकर दरिया में न फेंक देंगे। हिन्दू जाति उन्हें यह अधिकार देकर केवल अपना कलंक दूर करेगी, उसी तरह जैसे मृतक-श्राद्ध करके हम केवल अपनी आत्मा को शान्त करते हैं। मृत आत्मा को उससे लाभ होता है, इसके निश्चय करने का हमारे पास न कोई साधन है न इच्छा। असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें। विद्यालयों में उनके लिए वजीफ़े करने चाहिए, नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए। हमारे जमींदारों के हाथ में उनकी दशा सुधारने के बड़े-बड़े उपादान हैं। उन्हें घर बनाने के लिए काफ़ी जमीन देकर, उनसे बेगार लेना बन्द करके, उनसे सज्जनता और भलमनसी का बरताव करके वे हरिजनों की बहुत कुछ कठिनाइयाँ दूर कर सकते हैं। समय तो इस समस्या को आपही हल करेगा, पर हिन्दू जाति अपने कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ सकती।

२६ दिसम्बर १९३२

सनातन धर्म का प्रचार

शुद्ध सनातन धर्म क्या है, यह विषय विवादास्पद है। जो अपने को सनातन धर्म का प्राण भी कहते हैं, वे स्वयं इस विषय में चिन्तित हैं कि वेद और शास्त्र द्वारा स्वतः

को धर्म शास्त्रों से सिद्ध किया जाता है, तब हम अधीर हो जाते हैं और धर्म शास्त्रा से हमारी श्रद्धा उठ जाती है। महात्मा गांधी कहते हैं—

"अस्पृश्यता को बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती। वह सत्य का, अहिंसा का विरोधी धर्म है, इसलिए धर्म ही नहीं। हम ऊँच और दूसरे नीच हैं, यह विचार ही नीच है। जिस ब्राह्मण में शूद्र का—सेवा का—गुण नहीं, वह ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण तो वही है, जिसमें क्षत्रिय के, वैश्य के और शूद्र के, सब गुण हों और इनके अतिरिक्त ज्ञान हो। शूद्र ज्ञान से सर्वथा रहित अथवा विमुख नहीं होते। उनमें सेवा प्रधान है। वर्णाश्रम में तो भंगी, चाण्डाल आदि तर गये हैं। जो धर्म संसार-मात्र को विष्णु समान जानता है, वह अंत्यज को विष्णु-रहित कब मान सकता है!"

जो धर्मशास्त्र, अहंकार, दंभ और ऊँच-नीच का भेद सिखाते हैं, वह मान्य नहीं हो सकते। यह भेद ही ईश्वर-विमुख है और हमें विश्वास नहीं आता कि धर्मशास्त्र कोई ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं, जो सर्वथा अन्याय संगत और सर्वात्मा की व्यापकता का विरोधी हो। अवश्य ही ऐसी बातें हिन्दू धर्म द्रोहियों ने पीछे से बढ़ा दी हैं। या तो वह क्षेपक हैं, अथवा उनका अर्थ ठीक नहीं किया जा रहा है। फिर महात्मा जी ही के शब्दों में—

"जैसे-जैसे समय गुजरता जाता है, अस्पृश्यता का भी नाश होता जाता है। रेलों, सरकारी स्कूलों, तीर्थ-स्थानों और अदालतों में इसके लिए स्थान नहीं है, और मिलों तथा दूसरे बड़े कारखानों में अन्त्यजों से कोई परहेज नहीं रखा जाता। गीता में भी यही कहा गया है। समदर्शी के लिए ब्राह्मण, श्वान, अन्त्यज सब एक से हैं।"

अब वह समय नहीं रहा कि शास्त्र में जो कुछ मिले, उसे ब्रह्मवाक्य समझ लें। सम्भव है, जिस समय उन स्मृतियों की रचना हुई हो उस समय ऐसे विचारों की जरूरत रही हो, लेकिन शास्त्र भी उसी दशा में मान्य है, जब वे सत्य की कसौटी पर पूरे उतरें। कोई समय था जब हिन्दू धर्म में गोमेध ही नहीं, नरमेध भी जायज था, पर आज हम धर्म के नाम पर भी नरमेध करना घृणित समझते हैं। हम यह मानते हैं—जहाँ बुद्धि का प्रवेश नहीं, वहाँ विश्वास ही हमारा आश्रय है, लेकिन जिन बातों के सत्यासत्य को हम बुद्धि से पहचान सकते हैं, जो मानवता, न्याय, अहिंसा और सत्य के प्रतिकूल हैं, उन्हें हम शास्त्रोक्त मानकर व्यवहार में नहीं लाना चाहते। अपने को ऊँचा और किसी दूसरे को नीचा समझना, ऐसी निकृष्ट स्वार्थपरता है, जिसका जरूरत पड़ने पर चाहे हम व्यवहार करें, पर उसे शास्त्रोक्त कह कर उसका समर्थन नहीं कर सकते। यों तो ज़रूरत पड़ने पर हम चोरी भी करते हैं, झूठ भी बोलते हैं। आपदकाल में चोरी करना या झूठ बोलना भी अधर्म नहीं माना जाता, लेकिन हम चोरी या झूठ की प्रशंसा नहीं कर सकते। भद्रता का मुख्य लक्षण है—विनम्रता। हम किसी सभा में जाते हैं, तो अधिकारी होने पर भी सबसे ऊँचा आसन नहीं ग्रहण करते, घर के स्वामी होने पर भी सबसे

पहले और सबसे स्वादिष्ट भोजन नहीं करते। पुरानी स्मृतियों में ब्राह्मण को प्राणदण्ड देना शास्त्र-विरुद्ध था। ईसाइयों में जब पोप की प्रधानता थी, तो पादरियों को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। पादरियों के मुकदमे उनकी अपनी अदालत में फैसले होते थे, लेकिन उस धर्मान्धता के दिन बिदा हो गये। अब तो धर्म, न्याय और नीति की कसौटी पर कसा जाता है। अगर वह बुद्धि-संगत है तो मान्य है, अन्यथा हम उसकी परवाह नहीं करते। इसी बुद्धि-संगतता को संतुष्ट करने के लिए हमारे धर्माचार्यों ने कितनी ही धर्म व्यवस्थाओं को, धर्म-कथाओं और धर्म प्रथाओं के नये अर्थ निकाले हैं और निकल रहे हैं।

मंदिर प्रवेश ही इस समस्या को हल करेगा

हरिजनों की समस्या केवल मंदिर प्रवेश से हल होनेवाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं। आज शिक्षित हिन्दू-समाज में ज्यादा से ज्यादा पाँच फी सदी रोज़ाना मंदिर में पूजा करने जाते होंगे। पाँच फी सदी न कहकर अगर पाँच फी हज़ार कहा जाय तो उचित होगा। शिक्षित हरिजन भी मन्दिर प्रवेश को कोई महत्व नहीं देते। हरिजनों के अपने देवता अलग हैं। मन्दिर प्रवेश का अधिकार पाते ही वे अपने देवताओं को उठाकर दरिया में न फेंक देंगे। हिन्दू जाति उन्हें यह अधिकार देकर केवल अपना कलंक दूर करेगी, उसी तरह जैसे मृतक-श्राद्ध करके हम केवल अपनी आत्मा को शान्त करते हैं। मृत आत्मा को उससे लाभ होता है, इसके निश्चय करने का हमारे पास न कोई साधन है न इच्छा। असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें उठने में मदद दें। विद्यालयों में उनके लिए वजीफ़े करने चाहिए, नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए। हमारे जमींदारों के हाथ में उनकी दशा सुधारने के बड़े-बड़े उपादान हैं। उन्हें घर बनाने के लिए काफ़ी जमीन देकर, उनसे बेगार लेना बन्द करके, उनसे सज्जनता और भलमनसी का बरताव करके वे हरिजनों की बहुत कुछ कठिनाइयाँ दूर कर सकते हैं। समय तो इस समस्या को आपही हल करेगा, पर हिन्दू जाति अपने कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ सकती।

२६ दिसम्बर १९३२

सनातन धर्म का प्रचार

शुद्ध सनातन धर्म क्या है, यह विषय विवादास्पद है। जो अपने को सनातन धर्म का प्राण भी कहते हैं, वे स्वयं इस विषय में चिन्तित हैं कि वेद और शास्त्र द्वारा स्वतः

धर्म की व्याख्या अनेकानेक प्रकार से की गयी है और इसी कारण विदुर ने महाभारत में साफ लिख दिया है कि—

"धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः सपन्था ।"

जब महाजनों द्वारा प्रदर्शित हथ ही माननीय है तो "महाजन" कौन है, किसे समझना चाहिए, यह शंका होती है। केवल पोथी-पत्रे के पंडित को ही महाजन नहीं कहा जा सकता। स्मृतिवाक्य तो इस विषय में स्पष्ट ही है कि—

अग्रेभ्यः ग्रान्थिनः श्रेष्ठाः, ग्रन्थिभ्यो धारिणोवरा :
धरिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाः, ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥

अर्थात् सबसे श्रेष्ठ "व्यवसायी" है, अपने ज्ञान को व्यवसाय रूप में कार्यान्वित करनेवाला ही वास्तविक पण्डित है, महाजन है, ज्ञाता है, आचार्य है। यदि पण्डित-समुदाय यह कहते हैं, कि हर दशा में ब्राह्मणों को ही श्रेष्ठ माना गया है, ब्राह्मण ही श्रेष्ठ समझे गये तथा वे मनुस्मृति का यह श्लोक रट डालते हैं कि—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनाम् बुद्धिजीवनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः, नरेषु ब्राह्मणा स्मृताः ॥
। मनु० १, ६७ ।

तो उन्हें यह भी याद रखना चाहिए कि—इसी के आगे मनु भगवान् ने लिखा है—

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो, विद्वत्सु कृत बुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः, कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥

ब्रह्मवादी सबसे श्रेष्ठ हैं। फलतः जो व्यवसायी है, और ब्रह्मवादी है, वही सबसे श्रेष्ठ है, केवल त्रिपुण्ड फटकारे, दूसरे का दिया हुआ खाकर पेट फुलाये, अशिष्ट, वेद का पण्डित नहीं। इन कसौटियों में कसने पर तो भारत में एक भी ऐसा पंडित नहीं दीख पड़ता जो महात्मा गांधी की तरह "महाजन" हो, माननीय हो। हमारी सम्मति में महात्मा जी जिस प्रकार देश भर के लिए सबसे बड़े महाजन हैं, इसी प्रकार काशी के लिए सबसे बड़े महाजन डा० भगवानदास हैं, और सनातनधर्म के अनुसार यही सर्वथा उचित है, कि काशीवासी पोपडम के पुजारी, पाखण्ड के समर्थकों की किंचित् भी परवाह न कर, इन्हीं के बतलाये पथ पर चलें और केवल मन्दिर इत्यादि ही हरिजनों के लिए न खोल दें, किन्तु अपने हृदय का मंदिर भी हरिजनों के लिए खोल दें।

हमें हर्ष है कि यह बात हमें काशी की जनता को बतलाने की ज़रूरत नहीं है। ८ तारीख को वाइसराय से यह प्रार्थना करने के लिए कि वे हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के अधिकार सम्बन्धी बिल को एसेम्बली तथा कौंसिल में पेश करने दें। काशी टाउनहाल में डा० भगवानदास के सभापतित्व में जो महती सभा हुई थी, उसमें जनता का, पन्द्रह हजार की भीड़ का, हरिजनों के प्रति अनुराग स्तुत्य तथा सराहनीय था। उस सभा में

काशी के क्षेत्रों में मुफ्त भोजन कर, कतिपय उच्छृंखल संस्कृत के विद्यार्थियों ने गड़बड़ पैदा करने की कोशिश की थी। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" को माननेवाले इन अशिष्टों ने पहला विरोध ढेला बरसा कर किया। फलतः दो-चार के मस्तक से खून बह निकला। जब जनता उत्तेजित होकर इन्हें भर्ता कर डालना चाहती थी, इनकी बात सुनना तो दूर रहा, डा० भगवानदास ने जनता को शान्त कर, तीन अस्पृश्यता-निवारण के विरोधियों का व्याख्यान कराया। ये व्याख्याता स्वयं अपने समर्थकों के उजड्डपन से घबड़ा रहे थे। जनता ने बार-बार भड़काये जाने पर भी सभापति की आज्ञा का पालन किया। अन्त में, जब प्रस्ताव घोर "हर्ष-ध्वनि" के साथ पास हुआ तो वास्तविक विधर्मियों ने पुनः कोलाहल मचाया।

अस्तु, चाहिए तो यह था, कि "अधिकांश की मूर्खता" पर दुःख प्रकट करके, सनातनी समय की प्रतीक्षा करते जब वे अपनी बात का प्रभाव पैदा कर सकें, किन्तु ढेले या डन्डे का आश्रय इधर धर्म के प्रचार के लिए वे ले रहे हैं, यह कहाँ की धार्मिकता है? किस शास्त्र का वचन है? काशी के अधिकांश संस्कृत-छात्र "परद्रव्येषु लोष्टवत्" समझकर मुफ्त का भोजन-आराम तो किया करते ही हैं, क्या वे पराये प्राण को "लोष्टवत्" समझते हैं? सहिष्णुता तथा गम्भीरता क्या शास्त्र से उठ गयी? यही नहीं, वे व्यर्थ के झूठे आक्षेपों को चिल्लाकर, झूठी नोटिसें बाँटकर क्या हमें यह भी रास्ता बतला रहे हैं, कि कलियुग में सनातन धर्म का प्रचार झूठ बोलकर करना चाहिए? क्या वे वेद तथा धर्म को साक्षी देकर कह सकते हैं, कि वे अपनी पराजय का जो कारण बतलाते हैं, सत्य है? जिन्हें इस बात पर सचमुच यकीन हो, कि अस्पृश्यता हमारे समाज का एक गुण है, वे "यत्ने कृते यदि न सिद्धति कोत्रदोषः"—यत्न करें। व्यर्थ झूठ या दगेबाज़ी की बातें क्यों करते हैं। कम से कम, यह तो हम जानते हैं, कि इस उपयोगी प्रस्ताव के नब्बे प्रतिशत विरोधी इतने अबोध हैं, कि वे जानते ही नहीं कि अस्पृश्यता की समस्या क्या है।

२३ जनवरी १९३३

अस्पृश्यों की महत्वाकांक्षा

हमारे पास कलंत-आश्रम, जफराबाद के हरिजन-सेवक श्री हरिजन दास कलन्त का एक पत्र आया है जिसमें वे यह लिखते हैं कि, 'आज मैं वर्षों से हरिजनों की सेवा में ही अपना प्राण लगा रहा हूँ। मेरा यह अनुभव है कि हरिजन मन्दिर-प्रवेश के लिए इतने उत्सुक नहीं हैं जितना अपनी आर्थिक दशा को सुधारने के लिए। वे चाहते हैं कि

अपने गृह-उद्योग द्वारा वे स्वतंत्र हो जावें। उनकी माली हालत सुधरे। इसलिए हम चाहते हैं कि मशीनरी की उत्पत्ति पर कर लगा दिया जाये। गृह-उद्योग तभी पनपेगा और हम तभी सुखी हो सकेंगे।

'आज में प्रकाशित श्री परिपूर्णानन्द के 'हरिजनों की सेवा' के कार्यक्रम का समर्थन करते हुए भी, वे लिखते हैं कि हरिजन यही सबसे बड़ी सेवा समझते हैं। कलन्त जी ने हमारे पास महात्मा जी के नाम एक अपील भी भेजी है। यह अपील हरिजनों की ओर से हो है। इसमें लिखा गया है कि जौनपुर (प्रयाग) में गत रविवार को हरिजनों ने अपनी महती सभा में श्री भगवान सूर्य के सभापतित्व में यह निश्चय किया कि वे उच्च वर्णों के मन्दिरों में नहीं जाना चाहते। इससे विरोध बढ़ता है और विरोध ही मानवी आजादी को नष्ट करता है। 'हम इस समय सबसे बड़ी बात जो चाहते हैं वह यह है कि आप (महात्मा जी) हमारी जरा भी चिन्ता न कर अपना स्वास्थ्य ठीक रखें (भगवान सूर्य हमारे दाता हैं।' इस अपील में भी गृह-उद्योग को महत्ता प्रदान की गयी है।

हरिजनों के इन उदार विचारों के लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। फिर भी, वे चाहें या न चाहें। हम उन्हें मन्दिर प्रवेश का अधिकार देना ही चाहते हैं। रह गयी गृह-उद्योग की बात। इस विषय में उनके विचारों का हम समर्थन करते हैं। जब उनके पास पैसा होगा तो भोजन—यह ब्राह्मण और भिक्षु-विप्र भी उनको उन्नत मानने लगेंगे।

२३ जनवरी १९३३

मन्दिर प्रवेश और सरकार

हमें तो यह समाचार पढ़कर विश्वास ही नहीं हुआ कि वाइसराय महोदय ने मद्रास कौंसिल में श्रीयुत सुब्बरायन को "मन्दिर-प्रवेशाधिकार" सम्बन्धी बिल पेश करने का अधिकार नहीं दिया। श्रीयुत सुब्बरायन ने कौंसिल में इस आशय का प्रस्ताव भेजा था कि जितने सार्वजनिक मन्दिर हैं, सब में सभी जाति के हिन्दुओं के प्रवेश का अधिकार दिया जावे। भारत-सरकार के अस्सी (अ) धारा के अनुसार मद्रास सरकार ने वाइसराय के पास इस बात की स्वीकृति के लिए कि यह कानून पेश करने की इज़ाजत दी जावे या नहीं, इसे भेजा था और २३ जनवरी का सम्वाद है कि वाइसराय ने स्वीकृति नहीं दी। श्रीयुत रंगाअय्यर ने एक प्रस्ताव एसेम्बली में पेश करने के लिए भेजा था, जिसके अनुसार "भारत से जाति-पाँति की बाधायें एकदम उठा दी जानी चाहिए।" इस प्रस्ताव को पेश करने की इजाज़त मिल गयी है तथा एक महीने की नोटिस की बाधा के अनुसार २३ फरवरी तक यह प्रस्ताव एसेम्बली में विचारार्थ पेश हो जावेगा।

मि० एय्यर के प्रस्ताव के समान्तर कई प्रस्ताव मि० एस० सी० मित्रा, श्रीगया प्रसाद सिंह, श्रीदास आदि के नाम से भी बड़ी कौंसिल में पेश होनेवाले हैं।

वाइसराय ने मद्रास कौंसिल में जिस प्रस्ताव को पेश न होने की आज्ञा दी है, उसका कारण यह है कि यह विषय प्रान्तीय दृष्टि से विचार करने योग्य नहीं है। मद्रास में बहुत से ऐसे मन्दिर हैं, जहाँ बाहर से यात्री दर्शन करने जाते हैं। अतः उन मन्दिरों के साथ भारत भर का सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त अभी इस विषय में जनमत बिना जाने सरकार कुछ नहीं करना चाहती। बड़ी कौंसिल में जिस बिल का पेश होने की इज़ाजत दी गयी है वह अधिक व्यापक है तथा उसमें प्रान्तीय संकुचितता नहीं है। इसके अतिरिक्त बड़ी कौंसिल में भी, सरकार, इस बात की पूरी चेष्टा करेगी, कि काफी समय तक इस पर विचार करने के बाद हिन्दूमत संगठित हो सके। इसके अलावा, वाइसराय की यह भी घोषणा है कि एक प्रस्ताव पेश होने देने की इज़ाज़त देकर और एक को न देकर सरकार अपने को किसी पक्ष या विपक्ष का नहीं व्यक्त करना चाहती। वही किया जा रहा है, जो उचित था।

इस विषय में, प्रथम इसके कि हम अपनी राय ज़ाहिर करें, "लीडर" पत्र के दिल्ली-स्थिति विशेष संवाददाता का इस "वाइसरायी फ़रमान" पर विचार दे देना उचित होगा। उस निर्भीक संवाददाता के मतानुसार सरकार अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को काँग्रेस की एक राजनैतिक चालबाज़ी समझती है तथा उसके विचार में अस्पृश्यता निवारण का शोर मचाकर काँग्रेस अछूतों को अपने पन्जे में कर, कौंसिलों में उनको अपने साथ रखने की चाल खेल रही है। वाइसराय के मन्दिर-प्रवेश बिल की नामन्जूरी का यही रहस्य है। रंगा ऐयर के बिल को अधिक निर्दोष समझा गया है क्योंकि उसमें केवल "जाति-प्रथा" के विरुद्ध ही नियम बनाया गया है। वाइसराय जानते हैं कि यदि वे मद्रास के बिल को नामन्जूर करेंगे तो उनको दुनिया भर बुरा कहेगा, यदि स्वीकार कर लेंगे तो काँग्रेस की चाल सफल हो जावेगी, इसीलिए रंगाएय्यर के निर्दोष बिल को इज़ाज़त दी गयी है कि बदनामी बची रहे, पर सरकार जानती है कि बड़ी कौंसिल में उनकी जितनी शक्ति है, उससे वे कमेटी आदि में बिल को भेजकर एक वर्ष वा छः महीने तक डाले रहेंगे। इसका फल यह होगा कि इतना समय बीत जाने पर काँग्रेस की राजनैतिक चाल असफल हो जावेगी। आगे जो उचित समझा जावेगा, किया जावेगा।

इस भीतरी बात के उद्‌घाटन के बाद हम अपनी ओर से और क्या मिलावें। इस आर्डिनेन्स के युग में, स्पष्ट वक्ता होना भी पाप है। पर हम इतना तो कह ही सकते हैं कि यदि लीडर के संवाददाता का अनुमान सत्य है तो इसके साथ ही यह भी कल्पना की जा सकती है कि सरकार यह देख रही है कि मन्दिर-प्रवेश के सम्बन्ध में मूढ़ सनातनियों का एक भाग गान्धी जी के तथा काँग्रेस के विरुद्ध होकर सूर्य पर थूकने

का प्रयास कर रहा है। कांग्रेस हिन्दुओं की ही संस्था-सी रह गयी है। अतएव सरकार सोचती है कि मन्दिर-प्रवेश की समस्या में जड़वादियों का साथ देने से वह मूढ़ सनातनियों का सहयोग प्राप्त कर लेगी तथा इस प्रकार कांग्रेस में भी गहरी फूट पैदा हो जावेगी। किन्तु, यह सरकार का भ्रम है। हम बार-बार लिख चुके हैं कि दो एक ऐसे नगरों को छोड़कर जहाँ मुफ्त में भोजन मिलता है और कहीं ऐसे सनातनी नहीं हैं जो हरिजनों को मन्दिर प्रवेश न करने देना चाहते हों या गान्धी जी के विरुद्ध हों। वाइसराय की अस्वीकृति से जनता को ही नहीं, संसार को यह प्रकट हो गया कि कांग्रेस हो या जनता हो, वह हरिजनों की अधिक हितचिन्तक है, सरकार ही प्रगति में बाधा डाल रही है। वाइसराय के पास जहाँ करोड़ों हिन्दुओं की यह प्रार्थना भेजी जा चुकी है कि मन्दिर प्रवेश सम्बन्धी कानून विचारार्थ पेश होने दें, वहीं कुछ मुट्ठी भर सनातनियों की विरोधी आवाज़ को यह महत्व देकर, यह कहना कि अभी लोकमत नहीं मालूम हुआ है, सरकार पहले पूरी जाँच करना चाहती है, अपने को तथा अपनी आत्मा को धोखा देना है तथा वाइसराय ऐसे उच्च पदाधिकारियों को शोभा नहीं देता।

वाइसराय जिस बात को "नहीं" कहते हैं, उसे वे "हाँ" नहीं कहते। अतः मद्रास का बिल पास तो हो गया। अब देखना है कि बड़ी कौंसिल में क्या बाधा पेश की जाती है। इस ग़लत नीति से सरकार के प्रति बहुमत का असन्तोष तो बढ़ेगा ही, इसके साथ ही, मूढ़ सनातनियों के हर्ष से जनता और भी क्षुब्ध हो उठेगी। परद्रव्य-जीवी चाहे जितना भी धर्म-ध्वजी, सनातनधर्म की जान बनें, जनता इनके रहस्य को जानती है, और बिल हो या न हो, वह महात्मा जी के कथनानुसार हरिजनों की सेवा का पूरा कार्य करेगी, और सरकार भी सहयोग न दे तो क्या, सुधारक तो अपना काम पूरा करेंगे ही।

३० जनवरी १९३३

श्री देवदास गांधी का उपदेश

त्रिवेन्द्रम् में हरिजन-सेवा का उपदेश देते हुए श्री देवदास गांधी ने विद्यार्थियों को यह चेतावनी दी थी कि एक अवसर वैसा भी आ सकता है जब महात्मा गांधी उनसे यह कहें कि पढ़ाई छोड़कर, स्कूल और कालिज से निकल आओ और हरिजनों की सेवा करो। अभी हाल ही में 'लीडर' में श्री ईश्वरशरण का एक पत्र छपा था। जिसमें उन्होंने विद्यार्थियों से अपील की थी कि वे अपने वाद विवाद में हरिजनों की समस्या को विचारार्थ रखा करें तथा विचार-विनिमय कर इस विषय में लोक-रुचि तथा लोक-अज्ञान क्रमशः बढ़ावें और घटावें। विद्यार्थियों से हरिजनों की सेवा का कार्य बड़ी

तत्परता से हो सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। पर, हम यह नहीं चाहते कि वे इसके लिए पढ़ाई छोड़ दें। अपने अवकाश के समय ही, आनेवाली गर्मियों की छुट्टियों में ही, यदि उन्होंने इसी कार्य को किया तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा जी का काम पूरा हो जायेगा। वाइसराय के बिल की अस्वीकृत के कारण अब हरेक हरिजन हितैषी को बड़ी तत्परता से, बिना कानून की सहायता के, हरिजनों की समूची बाधाएँ हटवा देनी होगी और विद्यार्थियों की सहायता की बड़ी जरूरत है।

३० जनवरी १९३३

श्री देवरुखकर की हार

श्री देवरुखकर हरिजन हैं और हरिजनों की ओर से बंबई कारपोरेशन के चुनाव के लिए खड़े हुए थे। लेकिन उनका मुकाबला एक हिन्दू सज्जन से हो गया और वह इस बुरी तरह हारे कि उनके जमानत के रुपये भी ज़ब्त हो गये। बंबई में इस हार से हरिजन समाज में बड़ी हलचल मची हुई है। महात्मा गांधी से प्रार्थना की गयी है कि वह इस प्रश्न को अपने हाथ में से और जीते हुए हिन्दू सज्जन को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर करें। ऐसी घटनाएँ और भी कई जगह हो चुकी हैं। देहली और कानपुर में भी हरिजन मेंबरों की हिन्दुओं के मुकाबले में हार हुई थी। लेकिन बाद को जनमत के दबाव से हिन्दू मेम्बरों को इस्तीफ़ा देना पड़ा। वैसा ही दबाव इस अवसर पर भी पड़ सकता है। लेकिन इस तरह जब एक आदमी चुनाव की सारी परेशानी और ज़ेरबारी झेलकर जीते तो उसे अलग कर देना अन्याय है। क्या ऐसा नहीं किया जा सकता कि पहले से कुछ निश्चय कर लिया जाय कि पीछे से हटने-हटाने का झंझट ही मिट जाय। अभी बोर्ड या म्युनिसिपैलिटी में हरिजनों की संख्या नहीं के बराबर है। कोई हिन्दू उनके मुकाबले में खड़ा ही क्यों हो। उनकी निश्चित संख्या आ चुकने के बाद तब मुकाबला किया जा सकता है। अगर सजातीय हिन्दू इस तरह हरिजन उम्मेदवारों को हतोत्साह करते रहेंगे तो आपस में वैमनस्य और असंतोष बढ़ेगा और पूना के समझौते का जो उद्देश्य था वह गायब हो जायेगा।

१० अप्रैल १९३३

महात्मा जी का व्रत

महात्मा गांधी ने ८ मई से इक्कीस दिन का व्रत रखने का निश्चय किया है और

उनके निश्चय कितने अटल होते हैं, यह हम सभी जानते हैं। हरिजनों के उद्धार के विषय में जब उन्होंने अनशन किया था, उस समय उन्होंने कहा था—यदि आवश्यकता हुई, तो वह फिर व्रत रखेंगे। पर वह आवश्यकता इतनी जल्द आ जायगी, यह हमारा अनुमान न था। इसके पहले दोनों व्रतों का विशेष उद्देश्य था। उस उद्देश्य के पूरे होते ही उन व्रतों का अन्त हो गया। उन अवसरों पर जनता को अधिक कार्यशील होने की उत्तेजना मिली थी। वह जानती थी, उसे क्या करना है। अगर हिन्दू-मुसलिम एकता की समस्या थी, तो उस समस्या को हल करने में अपनी तत्परता दिखाकर; यदि हरिजनों के मताधिकार का प्रश्न था तो वह अधिकार स्वीकार करके, वह व्रत का अन्त कर सकती थी। उसे अपना लक्ष्य सामने नज़र आता था; पर यह व्रत उसके काबू से बाहर है। यह अपनी पूरी अवधि भर चलेगा, तत्परता या संगठन या सच्चाई का प्रमाण इसे नहीं तुड़वा सकता।

जहाँ तक हमें ज्ञान है, इस बीच में दृश्य रूप से ऐसी कोई बात नहीं, जो इस व्रत का कारण कही जा सके। हरिजनों के उद्धार का काम समस्त देश में हो रहा है। उन्हें गंदे मकानों से निकालकर स्वच्छ मकानों में रखने की, उनसे मेल-जोल बढ़ाने की कोशिश बराबर हो रही है। शिक्षित समाज अपनी पुरानी ग़लतियों को सुधारने में लगा हुआ है। उच्च कुल के व्यक्ति पंजे और झाड़ू लिये गलियों और पाखानों की सफाई कर रहे हैं, काँग्रेस का प्रोग्राम एक प्रकार से स्थगित हो गया है और उसकी अधिकांश शक्ति अछूतोंद्धार के काम में रत है। यद्यपि यह यथार्थ है कि अभी जो कुछ हो रहा है, उसमें दिखाने का भाव ही प्रधान है, और दिलों की सफाई का महात्मा जी के शब्दों में, आत्म-शुद्धि, अभी बहुत दूर की बात है; पर इसमें सन्देह नहीं है कि मकान की नींव पड़ गयी है और इस प्रश्न ने जनमत को अपनी ओर खींच लिया है। सनातन-धर्म के अनुयायियों में भी ऐसे बहुत थोड़े सज्जन रह गये हैं, जो हरिजनों के उत्थान का महत्व न समझते हों; राजनैतिक महत्व नहीं, धार्मिक और आध्यात्मिक महत्व। नगरों में सनातनी भाइयों के जुलूस निकलते हैं; पर जनता उनकी उपेक्षा करती है, उन पर तालियाँ बजाती है। हिन्दुत्व अब कहीं नज़र आता है, तो गुण्डों में, जो कभी-कभी हरिजन-समाजों में विघ्न डालने की चेष्टा करते हैं; पर मुँह की खाते हैं। फिर हम जैसे सांसारिक बुद्धि के प्राणी इस व्रत का मर्म क्या समझ सकते हैं। हाँ, महात्मा जी के इन शब्दों से, जो उन्होंने एक प्रेस-प्रतिनिधि के एक प्रश्न के जवाब में कहे, हम उस विषय में कुछ क़यास अवश्य दौड़ा सकते हैं—

'मेरे इस निश्चय का दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं; पर निस्संदेह यह बहुत दिनों से होनेवाली घटनाओं का परिणाम है। यह बात नहीं है कि मैं पहले अंधा था। वे मूक और अज्ञात भाव से मेरे मन को प्रभावित करती चली जाती थीं।'

तो क्या इस व्रत का कारण बंगाल के हिन्दुओं का पूने के समझौते से विरोध

है ? या यह उन पत्रों का असर है, जो महात्मा जी के पास पहुँचते रहे हैं और जिनमें वह आक्षेप किया जाता रहा है कि यह महात्मा जी की राजनैतिक चाल है। महात्मा जी कहते हैं—

'जब राष्ट्र में सुधार का कोई वृहद् आंदोलन होने लगता है, तो उसे अधिक गतिवान और पवित्र बनाने के विचार से लोग उपवास करते हैं।'

आगे आपने यह भी कहा है—

'किसी धार्मिक आंदोलन की सफलता उसके अनुयायियों की बौद्धिक क्षमता पर नहीं, वरन् पूर्ण रूप से आध्यात्मिक साधनों पर अवलम्बित होती है। व्रत उन साधनों का सबसे बड़ा सहायक है।'

इन वाक्यों की गंभीरता सर्वमान्य है। महात्मा जी ने हमेशा अपनी भूलें स्वीकार की हैं। उनका बड़प्पन बहुत कुछ उनके इस सत्य-प्रेम ही के कारण है। वह अब भी अपनी भूल स्वीकार करने को तैयार हैं, यदि कोई उन्हें यह विश्वास दिला दे कि वे भूल कर रहे हैं। पर हमें तो ऐसा आदमी नजर नहीं आता, जो महात्मा जी को उनकी भूल का विश्वास कराये। हमें तो अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहना चाहिए। महात्मा जी को इस कठिन परीक्षा में हम जो सहायता दे सकते हैं, वह यही है कि स्वयं आत्म-शुद्धि का यत्न करें। महात्मा जी शब्दों में कहें या न कहें, पर यह स्पष्ट ही है कि वह उद्धार की वर्तमान प्रगति से असन्तुष्ट हैं, और उसे अधिक सजीव बनाने का साधन उनके पास केवल यही है कि राष्ट्र की आत्मा में शुद्धि का संचार करें, और इसका साधन अपनी आत्म-शुद्धि के सिवा और क्या हो सकता है। महात्मा जी उन लोगों में नहीं हैं, जो दूसरों पर जिम्मेदारी रखकर आप संतुष्ट हो जाँय। वह आत्मा की व्यापकता का अनुभव कर चुके हैं और उसी शक्ति से हम निर्जीव अकर्मण्यता पर विजय पा सकते हैं। हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि सद्बुद्धि और प्रकाश दें।

८ मई १९३३

महान् तप

तपस्वी गांधी ने सोमवार आठ मई से, अपना महान् व्रत आरम्भ कर दिया। हमारे ये इक्कीस दिन इक्कीस युग की भाँति कटेंगे। समस्त भारत की आँखें उसी ओर लगी रहेंगी। सोते-जागते, हमें वही ध्यान रहेगा। प्रातःकाल हम बड़े उतावलेपन के साठ समाचार-पत्र खोलेंगे और धड़कते हुए हृदय से महात्मा जी के तप के समाचार देखेंगे और अन्त में जब इक्कीसवें दिन का प्रभात आयेगा, उस दिन राष्ट्र का हृदय कितनी तेज़ी से धड़केगा और व्रत को सकुशल समाप्त होने पर कितने वेग से उछलेगा,

कितने उन्माद से नाचेगा ! यह वह व्रत है, जो त्यागमूर्ति पं० जवाहरलाल जी के शब्दों में, विफल हो ही नहीं सकता। यह वह संग्राम है, कि इधर तलवार हाथ में ली और विजय हाथ बाँधे आकर सामने खड़ी हो। महात्मा ईसा ने सलीब पर चढ़कर ही संसार को विजय किया, सुक़रात ने ज़हर का प्याला पीकर ही मिथ्या पर विजय पाई। दस क़दम आगे बढ़ने को विजय किया, सुकुरात ने ज़हर का प्याला पीकर ही मिथ्या पर विजय पायी। दस कदम आगे बढ़ने को विजय और दस क़दम पीछे हटने की पराजय कहना भौतिक जगत् की बात है। अब अध्यात्म-जगत् में साधना ही विजय है। साधना से रक्त की नदी नहीं बहती, जीवन का स्रोत निकलता है और सम्पूर्ण जगत् को स्फूर्ति से भर देता है।

यह व्रत हमें महात्मा ईसा के उस चालीस दिन के व्रत की याद दिलाता है, जो उन्होंने आत्म-शुद्धि के लिए अपने धर्म का प्रचार करने के पहले किया था। चालीसवें दिन जब व्रत समाप्त हुआ, उनकी आत्मा ईश्वरता को प्राप्त हो चुकी थी। शैतान आकर उसे तरह-तरह के प्रलोभन देता है, तरह-तरह से परीक्षा में डालता है, पर वह आत्मा अविचलित है, उस पर न लोभ का जादू चलता है, न धमकियों का। वह आत्म-शुद्धि की वह शक्ति थी जिसने असंख्य निराशों को आशा और पीड़ितों को औषधि प्रदान की, जिसने कई सदियों तक ऊँच-नीच, छोटे बड़े का भेद मिटा दिया, जिसने पतितों का उद्धार किया। यह तपस्या भी उतनी ही महत्वपूर्ण है।

क्या अब भी हम अपने बड़प्पन का, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटते फिरेंगे। यह ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का भेद हिन्दू-जीवन के रोम-रोम में व्याप्त हो गया है। हम यह किसी तरह नहीं भूल सकते, कि हम शर्मा हैं, या वर्मा, सिन्हा हैं या चौधरी, दूबे हैं या तिवारी, चौबे हैं या पाण्डे, दीक्षित हैं या उपाध्याय। हम आदमी पीछे हैं, चौबे या तिवारी पहले। और यह प्रथा कुछ इतनी भ्रष्ट हो गयी है, कि आज जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं, वह भी अपने को चतुर्वेदी या त्रिवेदी लिखने में ज़रा भी संकोच नहीं करता। वह अपने पुरुषाओं की साधना के बल पर आज भी चतुर्वेदी बना हुआ है, पर जिसने वेदों का अध्ययन किया है, उसे यह अधिकार नहीं कि वह अपने को चतुर्वेदी कह सके। कोई आदमी कुरान कण्ठ करके हाफ़िज हो सकता है, लेकिन यहाँ जो वेदों के ज्ञाता हैं, वे चतुर्वेदी नहीं कहे जा सकते। चतुर्वेदी तो वे हैं, जिन्होने वेदों के दर्शन भी नहीं किये। यह और कुछ नहीं, अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटना है, अपने अहंकार का बिगुल बजाना है। हम अपने को त्रिवेदी लिख कर मानों गला फाड़कर चिल्लाते हैं, कि "हम और सब प्राणियों से ऊँचे हैं, हमें दण्डवत् करो, हमारा चरण-रज माथे पर लगाओ।" हम इतने लज्जा-शून्य हो गये हैं !

होना तो यह चाहिए कि यदि हममें बड़प्पन की कोई बात हो तो भी, उसे छिपावें। बड़प्पन तभी बड़प्पन है, जब उसमें नम्रता हो। जिस बड़प्पन में अहंकार भरा

हुआ हो, वह बड़प्पन नहीं कुछ और है। त्रिवेदी जी ने वेदों के दर्शन भी नहीं किये, लेकिन गलती से आप उन्हें त्रिवेदी न कहें, तो फिर देखिए आपकी क्या गति होती है। त्रिवेदी जी हाँथ-पाँव के मज़बूत हैं, तो आपको शीघ्र ही अपनी ग़लती का मज़ा मिल जायगा, नहीं तो उनका कोप कहीं नहीं गया है। कुलीनता के इस अहंकार को हमें अपने अन्दर से निकाल डालना होगा। तभी हम सम-भाव से एक दूसरे को देख सकेंगे। ऐसे अल्लों से हमारे भेद-भाव को उत्तेजना मिलती है। त्रिवेदी-त्रिवेदी एक हो जाते हैं, चौबे-चौबे एक, कपूर-कपूर एक, कायस्थ-कायस्थ एक। इस भेद-भाव से ऊँच-नींच की श्रेणियाँ बनी हुई हैं। कोई पहले डंडे पर, कोई सबसे ऊपर, पर हैं सब उसी एक अहंकार-सूत्र में बँधे हुए। समाज संगठन ही इसी भेद रचना से हुआ है। हम नहीं समझते, अपने नाम के साथ कुलीनता की पदवियाँ न लगाने से समाज की क्या हानि होगी। हम ब्रह्मनाथ हैं। इससे क्या कि हम त्रिवेदी हैं या कपूर, या माथुर, या चन्देल। अगर किसी को घमंड हो कि हम चन्देल-वंश के हैं, हमारे बाप-दादे बड़े वीर थे, तो फिर दूसरों को यह घमंड क्यों न हो कि हम त्रिवेदी हैं और हमारे लकड़दादा ने वेद पढ़े थे। लकड़दादों का कमाया हुआ यश बहुत दिन भोग चुके, अब उसका त्याग करना पड़ेगा। जब हम अपने को मिश्र या कपूर, या टंडन, या माथुर कहते हैं, तो मानों हम अपने को समाज से अलग कर लेते हैं। ये सारे अल्ल उस पृथकता का पालन करते हैं। अगर हम भूल जायँ कि हम पांडे या तिवारी हैं, तो हम सम्भवतः दूसरों के सामने नम्र हो जायेंगे। तिवारी का कवच पहन कर तो मानों हम सम्पूर्ण समाज से लड़ने को तैयार हो जाते हैं।

हमारे अभिवादन की प्रथा भी उसी भेद-भाव से जकड़ी हुई है। तिवारी जी की अभी जुम्मा-जुम्मा आठ दिन की पैदाइश है, दूध के दाँत भी नहीं टूटे, लेकिन वह किसी के सामने सिर नहीं झुका सकते। अब्राह्मण चाहे अस्सी साल का बूढ़ा ही क्यों न हो, उसका धर्म है कि तिवारी जी को दंडवत् करे, उनके चरण छुए, नहीं तिवारी जी अपना अपमान समझेंगे। यह दंडवत् की समस्या भी आयु के आधार पर, या अन्य किसी आधार पर हल करनी होगी। उसका साम्प्रदायिक आधार नष्ट करना होगा। जब पूज्य गांधी जी इस भेद-भाव को मिटाने के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर रहे हैं, तो क्या हमारा धर्म नहीं है कि हम भी इस अहंकारमय मनोवृत्ति का परित्याग करें? अगर कोई बूढ़ा हरिजन है, तो उसे हमारे सम्मान का पात्र होना चाहिए। अबे-तबे करके किसी को पुकारना उसका अपमान करना है। मूर्खों से तो नहीं, पर जो पढ़े-लिखे हैं उनसे यह आशा की जाती है कि हरिजनों के साथ वे शिष्टता का व्यवहार करें। बड़प्पन दूसरों को नीच समझने में नहीं, सज्जनता और शिष्टता में है। हमें इन छोटे-छोटे भेद-पोषक साधनों का संस्कार करना होगा, उन्हें उस अग्नि कुण्ड में डालना होगा, जो महात्मा गांधी ने अपने तेज से प्रज्ज्वलित किया है। एक दिन झाड़ू हाथ में लेकर सड़कों पर

तमाशा कर देने से यह अहंकार न मिटेगा, जो हरिजनों के अछूतपन का मुख्य कारण है। इसकी गहरी जड़ों को खोदकर समाज से निकालना होगा। हमारी ईश्वर से यही दीन प्रार्थना है कि भारत के प्राण गांधी के इस तप को सफल कीजिए और हमें सामर्थ्य दीजिए कि हम सच्चे मन से उनके इस तप को सफल बनाने और उनके द्वारा अपने को अहंकार की बेड़ियों से मुक्त करने में कृतकार्य हों।

१५ मई १९३३

मंदिर प्रवेश और हरिजन

महात्मा जी के व्रत तथा तप का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है, कि हरिजनों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार एक प्रकार से शून्य के बराबर मिला है। लाखों मंदिरवाले इस महादेश में, कुछ मुट्ठी भर और केवल साधारण मंदिर ही ऐसे हैं, जहाँ वे दर्शनार्थ जा सकते हैं। हम स्वयं किसी भी तर्क द्वारा यह बात समझ नहीं सकते कि हाड़-मांस की देहवाला, हिन्दू-धर्म पर अभिमान करनेवाला कोई हरिजन काशी विश्वनाथ या किसी वैसे ही पवित्र मंदिर में क्यों नहीं प्रवेश पा सकता, जब कि स्थान-स्थान पर मल-मूत्र विसर्जन करनेवाला साँड़ मंदिर में दर्शनार्थियों पर सींग चलाता हुआ स्वच्छन्दता-पूर्वक घूम सकता है! इस प्रकार की हठधर्मी का अब युग नहीं है और उच्च वर्णवालों को ईश्वर को भी अपनी 'स्त्री के समान अपनी ही वस्तु' समझने की मूर्खता का परित्याग करना चाहिए।

पर, इसके साथ ही, किसी भी तर्क द्वारा हम यह नहीं समझ सकते कि अस्पृश्यता-निवारण-आन्दोलन में मंदिर-प्रवेश को एक अनिवार्य स्थान क्यों दिया जा रहा है। समय की जैसी प्रगति है, इन मंदिरों की इस समय जैसी दशा है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ेगा कि हमारे हिन्दू-मंदिर भोग और प्रसाद, पुरोहित और पण्डे, ईश्वर के नाम पर व्यभिचार तथा दुराचार करनेवाले स्वार्थी और लोलुप—दर्शन करने जानेवालों से यह पहला प्रश्न करनेवाले कि पैसा चढ़ाओ—पामरों के अड्डे मात्र हैं। मन भर दर्शन नहीं करने पाइयेगा कि पुजारी जी पैसा चढ़ाओ कि रट लगा देंगे। जी-भर भगवान के रूप का ध्यान भी न कर पाइयेगा कि चार-पाँच आदमी जबर्दस्ती आपके सर में चन्दन-सिन्दूर-रोली रगड़ने लगेंगे और पैसा माँगते-माँगते आपकी टेंट भी टटोलना शुरू कर देंगे। हमने भगवान को मनौती से, घूस से, पैसे से, दक्षिणा से प्रसन्न होनेवाला स्वार्थी बना रखा है। पग-पग पर हम पैसा देकर मुक्ति, नजात तथा स्वाधीनता खरीदना चाहते हैं। यह हमारा धर्म है, भक्ति है, अनुराग है। ऐसी दशा में मंदिरों की इतनी महत्ता व्यर्थ की है। हम मूर्ति-पूजा के विरोधी नहीं, टका-पूजा के शत्रु हैं।

हरिजनों के मंदिर-प्रवेश के शत्रु अधिकांशतः वे लोग हैं, जो उनकी दरिद्रता को उपहास की, मजाक की वस्तु समझते हैं, जो यह जानते हैं कि इन दरिद्रों के मंदिर जाने न जाने से विशेष लाभ या हानि नहीं होती है। महात्मा जी के उपवास से देश में हरिजन आन्दोलन की बाढ़-सी आ गयी है पर हरिजन सेवा का कार्य अवश्य बढ़ गया है। कार्यकर्ता वही पुराने हैं और, हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि महात्मा जी के व्रत के दिनों में भी हरिजनों के लिए मंदिरों का द्वार खुलने की संख्या नगण्य-सी है।

एक ओर विश्व की विभूति अपने प्राणों की बाजी लगाकर समाज के एक परित्यक्त अंग की रक्षा करने की तपस्या कर रही है—और दूसरी ओर हमारे धर्म तथा देवताओं के ठीकेदार अपनी जड़ता, अहम्मन्यता तथा अकड़ पर दृढ़ हैं। ऐसी दशा में जो होना था, उसी के लक्षण दीख पड़ रहे हैं। गान्धी जी ने स्वयं सलाह दी थी कि यदि हरिजनों के लिए मंदिरों के द्वार अन्य किसी प्रकार से न खोले जा सकेंगे तो सत्याग्रह की शरण लेनी पड़ेगी। गांधी जी के लिए सत्याग्रह ही पवित्र तथा अंतिम अस्त्र है, जिससे अन्याय का प्रतिकार किया जा सकता है। पर, साधारण व्यवहार में इस अस्त्र से बड़ी कटुता उत्पन्न होने की संभावना है और 'साम्प्रदायिक-युद्ध' तथा 'वर्ग-युद्ध' की भयंकर आँधी में देश के जर्ज्जर होने जाने की आशंका है। पर, इस समय कट्टर-पन्थियों की जड़ता देखकर, ऐसा लक्षण प्रकट हो रहा है कि सुधारक मंदिरों के बहिष्कार तक का आन्दोलन करने का विचार कर रहे हैं। बम्बई के 'फ्री प्रेस जर्नल' में इस विषय में एक छोटा-सा, विचारणीय लेख प्रकाशित हुआ है। लेखक के शब्दों में....

'मंदिरों के द्वार खोलने के विषय में जनता की ओर से तत्परता के अभाव का जो भी कुछ कारण हो, जो लोग हरेक प्रकार के छुआछूत को दूर करना चाहते हैं, उनको किसी प्रभावशाली रूप में यह दिखलाना पड़ेगा कि उनका उन मंदिरों के साथ कोई सम्पर्क नहीं है, जो अपना द्वार हरिजनों के लिए बन्द रखते हैं। महात्मा जी ने स्वयं इस विचार पर जोर दिया है। महात्मा जी ने हरिजन-सेवक-समिति के इस विचार को स्वीकार किया है कि वे इस बात को भी अपने छुआछूत-निवारक कार्य-क्रम का एक अंग बना लें। यह अवश्य है कि इस प्रकार का कोई कार्य करने के पहले पूरी तरह से सचेत कर देना चाहिए। ऐसे कार्य का अर्थ होगा मंदिर का बहिष्कार; पर इस बहिष्कार से लोकेच्छा के प्रवाह का पता चलेगा। विशेषकर उस स्थान के लोगों की इच्छा का पता चलेगा, जहाँ अधिकांश मंदिर जानेवाले यह अनुभव करते हैं कि ऐसे मंदिर में दर्शनार्थ जाना अधार्मिक है जो उसी मूर्ति के पुजारी हरिजनों को दर्शनार्थ नहीं जाने देते।'

लेखक चाहता है कि उपवास के दिनों में ही ऐसा सत्याग्रह शुरू हो जाता; पर हर्ष का विषय है कि इस दिशा में इतनी जल्दी नहीं की गयी। यह एक गंभीर समस्या है और इसे अंतिम अस्त्र बनाना चाहिए। किन्तु धर्म के ठीकेदार, भिक्षावृत्ति से जीने-

वाले, क्षेत्र में भोजन कर, मुफ्त का माल मारकर, दुराचार तथा अनाचार से पेट की रोटी चलाकर, आडम्बर, पाखण्ड, स्वार्थ तथा पैसे की पूजा करनेवाले क्या अब भी सचेत न होंगे ? बहिष्कार बड़ी भयंकर, बड़ी कठोर, बड़ी भयावह वस्तु है। इसका सामना करना साधारण बात नहीं है। खीझकर सुधारक-समुदाय अब बहिष्कार की बात सोच रहा है। अतः हम मंदिरों के संचालकों से, यदि उनमें असली धार्मिकता अवशिष्ट है, उस धार्मिकता से, नेकनीयती तथा सच्चाई के नाते यह अनुरोध करते हैं कि अब दम्भ छोड़ दें और समय के साथ चलना सीखें। देश को भावी धार्मिक उत्क्रान्ति से बचा लें, अन्यथा अनर्थ हो जाने की सम्भावना है।

हमारे इस अंक के प्रकाशित होने तक पर्णकुटी के तपस्वी का व्रत भी सकुशल समाप्त हो जावेगा। यह राष्ट्र के लिए एक आनन्द का, पर्व का, त्योहार का दिन होगा और इसी दिन यह सिद्ध हो जायगा कि मुफ्त का मालपुआ खाकर पेट भरनेवाला पुरोहित हमारा असली धार्मिक नेता नहीं है ; पर अपना हाड़-चाम निचोड़नेवाला गांधी ही भारत का असली धार्मिक नेता है। वह हमारा धार्मिक नेता है—और उसके उपवास के पूरा होने के दिन हमारे जड़ सनातनी अपने दम्भ को फेंक देने का महान् कार्य खूबसूरती तथा सफ़ाई के साथ कर सकते हैं।

धार्मिक विचार जो कुछ भी हो, समय एक बलवान् वस्तु होती है। और हमारी तो यही सलाह है कि समय की महत्ता को स्वीकार करना ही सबसे बड़ी बात है।

२९ मई १९३३

कानपुर को बधाई

कानपुर-म्युनिसिपैलिटी ने हरिजनों के मकानों के लिए जितनी उदारता से लगभग डेढ़ लाख रुपये की व्यवस्था कर दी है, उस पर हम उसके चेयरमैन मि० ब्रजेन्द्र स्वरूप को बधाई देते हैं। हरिजनों के उद्धार का काम रुपये में पन्द्रह आने हमारी म्युनिसिपैलिटियों पर निर्भर है। अगर यह संस्थाएँ अपने मेहतरों और डोमों के लिए ऐसी सुविधाएँ पैदा कर दें, जिनसे वे आसानी से सफाई का काम कर सकें, अच्छे और साफ मकानों में रह सकें, अच्छा भोजन और वस्त्र पा सकें और अपने बच्चों को मदरसों में भेज सकें, तो हरिजन-समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है। अब तक तो इन संस्थाओं का हरिजनों की ओर ध्यान ही न था। बेचारे पाखानों के पास, दुर्गन्धमय मकानों में पड़े रहते थे। अगर नगरों में ज्यादा अच्छे ढंग के शौच-गृह बनवाये जाँय तो उनकी सफाई भी आसानी से हो जाय और यह काम इतना घृणास्पद भी न रहे।

१९ जून १९३३

महात्मा गांधी फिर अनशन कर रहे हैं

महात्मा गांधी ने सरकार से प्रार्थना की थी कि जेल में उन्हें पूर्ववत् हरिजनों के उद्धार का काम करने की स्वाधीनता दी जाय। सरकार ने कुछ शर्तों के साथ महात्मा जी की प्रार्थना स्वीकार कर ली है। हमें आशा है कि सरकार ने ऐसी शर्तें न लगायी होंगी, जो मुख्य काम में बाधक होने के कारण महात्मा जी को सन्तुष्ट न कर सकें। अगर अबकी महात्मा जी ने फिर अनशन किया, तो उनका जीवन संकट में पड़ जायगा, और हमें विश्वास है, सरकार सब कुछ होने पर भी इतना बड़ा कलंक लेना पसन्द न करेगी। राष्ट्र की दृष्टि में महात्मा जी की यह प्रार्थना सर्वथा न्यायानुकूल है। यह ऐसा काम है, जिसे उनके सिवा कोई दूसरा नहीं कर सकता और सरकार इस शुभ कार्य में उन्हें सहयोग देकर सम्पूर्ण राष्ट्र की कृतज्ञता प्राप्त कर लेगी। अगर उसने ज़ाब्ते और दफ़्तरी उलझनों के कारण उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी तो जनता में वह असन्तोष होगा, जो एक हजार आर्डिनेंसों से भी न होगा।

२१ अगस्त १९३३

बरेली में हरिजन-सभा

बरेली में हरिजनों की सरकारी सभा बड़ी धूम-धाम से हो गयी है। प्रतिनिधियों के लिए आने-जाने का किराया मिला और सुना जाता है, वहाँ उनकी दावत का भी अच्छा प्रबन्ध था। इससे आशा है, डेलीगेटों की संख्या भी काफी होगी। राष्ट्र की जाग्रति ने प्रान्तीय सरकार को भी सचेत कर दिया, यह इस आन्दोलन की छोटी फतह नहीं है। जिस सरकार ने हरिजनों को कुचलने में हिन्दू-समाज से चार कदम आगे ही पाँव रक्खा, वह आज उनकी शिक्षोन्नति में इतनी मुस्तैद है, यह बहुत बड़ी बात है। हमें आशा है हमारे हुक्काम अब दौरे पर जायँगे तो चमारों और मेहतरों से जरा भलमंसी का व्यवहार करेंगे। यह तो कोई अच्छा दृश्य न होगा कि लड़का तो पड़ोस के मिडिल स्कूल में तीन रुपये महीना वज़ीफ़ा पाये और उसके माँ-बाप साहब बहादुर को वक्त पर घास या ईंधन न देने के अपराध में पिटवाये जाँय। इन छोटी-छोटी खातिर-दारियों से सरल हृदय हरिजनों को बड़ी आसानी से अपना गुलाम बनाया जा सकता है। पैंतालीस हजार रुपये ही तो वजीफों में खर्च होंगे! काम कितना बड़ा हुआ जाता है। आनेवाली व्यवस्था में सरकारी मेम्बर तो होंगे नहीं, फिर आखिर गवर्नमेंट किसके बल पर चलेगी? सरकार अभी से अपनी तैयारियों में लगी हुई है। समाज की ओर से हरिजनों के लिए जो उद्योग किये जाते हैं, उनकी मदद करना उसकी नीति के विरुद्ध

होगा। उस दशा में तो यश समाज के सेवकों को मिलेगा। सरकार इतना बड़ा त्याग नहीं कर सकती। वह हरिजनों के लिए जो कुछ भी करना चाहती है, अपरोक्ष रूप से करेगी। मिनिस्टर साहब ने फरमाया है कि यह निखालिस तालीमी कोशिश है। हम भी चाहते हैं कि ऐसा ही हो और प्रसन्न हैं कि गवर्नमेंट की धर्म चेतना वास्तविक रूप से जाग उठी है और वह सच्चे हृदय से हरिजनों की तरक्की चाहती है।

१८ सितम्बर १९३३

क्या हरिजन आंदोलन राजनैतिक है ?

हरिजन आंदोलन को साम्प्रदायिक मुसलमानों ने आदि से ही संदेह की दृष्टि से देखा है और अब भी उनकी इस आंदोलन से सहानुभूति नहीं है। उन्हें इसमें राजनीति का गन्ध आता है। डा० सर मुहम्मद इक़बाल ने अपने वक्तव्य में इस ओर संकेत भी किया था। डा० सर मुहम्मद इक़बाल के उसी आक्षेप के जवाब में महात्मा जी ने अपना एक अलग वक्तव्य निकाला है, आप लिखते हैं—

"हरिजनों के प्रतिनिधियों की ओर से जो माँग रखी गयी थी, वह राष्ट्रीयता के विरुद्ध थी। यदि वह राष्ट्र के या हरिजनों के लाभकर होती, तब अलबत्ता डा० सर मुहम्मद का यह कहना ठीक होता कि उसका विरोध करना मेरे लिए अमानुषिक कार्य था। मेरी यह धारणा है कि मेरा वह कार्य न केवल अमानुषिक नहीं था, बल्कि हरिजनों के अनुकूल भी था। सर मुहम्मद इक़बाल को मालूम होना चाहिए कि अछूतपन को जड़ से उखाड़ फेंकना मेरे जीवन का उद्देश्य है और पचास वर्षों से लगातार मैं उसी उद्देश्य को पूरा करने में लगा हूँ....

हरिजनोद्धार के संबंध में मैं जो कुछ भी करता हूँ, वह शुद्ध धार्मिक है। उसमें कोई भी राजनैतिक रहस्य नहीं है।"

१८ दिसम्बर १९३३

क्या हम वास्तव में राष्ट्र-वादी हैं ?

टके-पंथी पुजारी, पुरोहित और पंडे हिन्दू जाति के कलंक हैं

यह तो हम पहले भी जानते थे और अब भी जानते हैं कि साधारण भारत-वासी राष्ट्रीयता का अर्थ नहीं समझता, और यह भावना जिस जाग्रति और मानसिक

उदारता से उत्पन्न होती है, वह अभी हममें से बहुत थोड़े आदमियों में आयी है। लेकिन इतना जरूर समझते थे कि जो पत्रों के सम्पादक हैं, राष्ट्रीयता पर लम्बे-लम्बे लेख लिखते हैं और राष्ट्रीयता की वेदी पर बलिदान होनेवालों की तारीफों के पुल बाँधते हैं, उनमें जरूर यह जागृति आ गयी है और वह जात-पाँत की बेड़ियों से मुक्त हो चुके हैं, लेकिन अभी हाल में "भारत" में एक लेख देखकर हमारी आँखें खुल गयीं और यह अप्रिय अनुभव हुआ कि हम अभी तक केवल मुँह से राष्ट्र-राष्ट्र का गुल मचाते हैं, हमारे दिलों में अभी वही जाति-भेद का अन्धकार छाया हुआ है। और यह कौन नहीं जानता कि जाति भेद और राष्ट्रीयता दोनों में अमृत और विष का अन्तर है। यह लेख किन्हीं "निर्मल" महाशय का है, और यदि यह वही "निर्मल" हैं, जिन्हें श्रीयुत ज्योतिप्रसाद जी 'निर्मल' के नाम से हम जानते हैं, तो शायद वह ब्राह्मण हैं। हम अब तक उन्हें राष्ट्रवादी समझते थे, पर "भारत" में उनका यह लेख देखकर हमारा विचार बदल गया, जिसका हमें दुःख है। हमें ज्ञात हुआ कि वह अब भी उन पुजारियों का, पुरोहितों का और जनेऊधारी लुटेरों का हिन्दू समाज पर प्रभुत्व बनाये रखना चाहते हैं जिन्हें वह ब्राह्मण कहते हैं पर हम उन्हें ब्राह्मण क्या, ब्राह्मण के पाँव को धूल भी नहीं समझते। "निर्मल" की शिकायत है कि हमने अपनी तीन-चौथाई कहानियों में ब्राह्मणों को काले रंगों में चित्रित करके अपनी संकीर्णता का परिचय दिया है, जो हमारी रचनाओं पर अमिट कलंक है। हम कहते हैं कि अगर हममें इतनी शक्ति होती, तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति को पुरोहितों, पुजारियों, पंडों और धर्मोपजीवी कीटाणुओं से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिन्दू-जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है, जो एक विशाल जोंक को भाँति उसका खून चूस रहा है, और हमारी राष्ट्रीयता के मार्ग में यही सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीयता को पहली शर्त है, समाज में साम्य-भाव का दृढ़ होना। इसके बिना राष्ट्रीयता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जब तक यहाँ एक दल, समाज की भक्ति, श्रद्धा, अज्ञान और अंधविश्वास से अपना उल्लू सीधा करने के लिए बना रहेगा, तब तक हिन्दू समाज कभी सचेत न होगा। और यह दल दस-पाँच लाख व्यक्तियों का नहीं है, असंख्य है। उसका उद्यम यही है कि वह हिन्दू जाति को अज्ञान की बेड़ियों में जकड़े रखे, जिसमें वह ज़रा भी चूँ न कर सके। मानों आसुरी शक्तियों ने अन्धकार और अज्ञान का प्रचार करने के लिए स्वयंसेवकों की यह अनगिनत सेना नियत कर रखी है। अगर हिन्दू समाज को पृथ्वी से मिट नहीं जाना है, तो उसे इस अन्धकार-शासन को मिटाना होगा। हम नहीं समझते, आज कोई भी विचारवान् हिन्दू ऐसा है, जो इस टके पंथी दल को चिरायु देखना चाहता हो, सिवाय उन लोगों के जो स्वयं उस दल में हैं और चखौतियाँ कर रहे हैं। निर्मल, खुद शायद उसी टकेपंथी समाज के चौधरी हैं, वरना उन्हें टकेपंथियों के प्रति वकालत करने की ज़रूरत क्यों होती ? वह और उनके समान विचारवाले उनके अन्य भाई शायद आज

भी हिन्दू-समाज को अन्ध विश्वास से निकलने नहीं देना चाहते ; वह राष्ट्रीयता की हाँक लगाकर भी भावी हिन्दू समाज को पुरोहितों और पुजारियों ही का शिकार बनाये रखना चाहते हैं। मगर हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि हिन्दू-समाज उनके प्रयत्नों और सिर-तोड़ कोशिशों के बावजूद अब आँखें खोलने लगा है और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है, कि जिन कहानियों को "निर्मल" जी ब्राह्मण-द्रोही बताते हैं, वह सब उन्हीं पत्रिकाओं में छपी थीं, जिनके सम्पादक स्वयं ब्राह्मण थे। मालूम नहीं "निर्मल" जी "वर्तमान" के सम्पादक श्री रमाशंकर अवस्थी, "सरस्वती" के संपादक श्री देवी दत्त शुक्ल, "माधुरी" के संपादक पं० रूपनारायण पांडे, "विशाल" भारत के संपादक श्री बनारसीदास चतुर्वेदी आदि सज्जनों को ब्राह्मण समझते हैं या नहीं, पर इन सज्जनों ने उन कहानियों को छापते समय ज़रा भी आपत्ति न की थी। वे उन कहानियों को आपत्ति जनक समझते, तो कदापि न छापते। हम उनका गला तो न दबा सकते थे। मुरौअत में पड़कर भी आदमी अपने धार्मिक विश्वास को तो नहीं त्याग सकता। ये कहानियाँ उन महानुभावों ने इसीलिए छापीं, कि वे भी हिन्दू-समाज को टके-पंथियों के जाल से निकालना चाहते हैं, वे ब्राह्मण होते हुए भी इस ब्राह्मण जाति को बदनाम करनेवाले जीवों का समाज पर प्रभुत्व नहीं देखना चाहते। हमारा खयाल है कि टकेपंथियों से जितनी लज्जा उन्हें आती होगी, उतनी दूसरे समुदायों को नहीं आ सकती, क्योंकि यह धर्मोपजीवी दल अपने को ब्राह्मण कहता है। हम कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए हैं और अभी तक उस संस्कार को न मिटा सकने के कारण किसी कायस्थ को चोरी करते या रिश्वत लेते देख कर लज्जित होते हैं। ब्राह्मण क्या इसे पसन्द कर सकता है, कि उसी समुदाय के असंख्य प्राणी भीख माँग कर, भोले-भाले हिन्दुओं को ठगकर, बात-बात में पैसे वसूल करके, निर्लज्जता के साथ अपने धर्मात्मापन का ढोंग करते फिरें। यह जीवन व्यवसाय उन्हीं को पसन्द आ सकता है, जो खुद उसमें लिप्त हैं और वह भी उसी वक्त तक, जब तक कि उनकी अंध स्वार्थ-भावना प्रचंड है और भीतर की आँखें बन्द हैं। आँखें खुलते ही वह उस व्यवसाय और उस जीवन से घृणा करने लगेंगे। हम ऐसे सज्जनों को जानते हैं, जो पुरोहितकुल में पैदा हुए, पर शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें वह टकापंथपन इतना जघन्य जान पड़ा कि उन्होंने लाखों रुपये साल की आमदनी पर लात मार कर स्कूल में अध्यापक होना स्वीकार कर लिया। आज भी कुलीन ब्राह्मण पुरोहितपन और पुजारीपन को त्याज्य समझता है और किसी दशा में भी यह निकृष्ट जीवन अंगीकार न करेगा। ब्राह्मण वह है, जो निस्पृह हो, त्यागी हो और सत्यवादी हो। सच्चे ब्राह्मण महात्मा गांधी हैं, म० मालवीय जी हैं, नेहरू हैं, स० पटेल हैं, स्वामी श्रद्धानन्द हैं। वह नहीं जो प्रातःकाल आपके द्वार आकर करताल बजाते हुए— "निर्मलपुत्र देहि भगवान्" की हाँक लगाने लगते हैं, या गनेश-पूजा और गौरी पूजा और अल्लम-गल्लम पूजा पर यजमानों से पैसे रखाते हैं, या गंगा में स्नान करनेवालों से

दक्षिणा वसूल करते हैं, या विद्वान् होकर ठाकुर जी और ठकुराइन जी के शृंगार में अपना कौशल दिखाते हैं, या मन्दिरों में मखमली गाव तकिये लगाये वेश्याओं का नृत्य देखकर भगवान् से लौ लगाते हैं। हिन्दू बालक जब से धरती पर आता है और जब तक वह धरती से प्रस्थान नहीं कर जाता, इसी अंधविश्वास और अज्ञान के चक्कर में सम्मोहित पड़ा रहता है। और नाना प्रकार के दृष्टांतों से, मनगढंत-किस्से कहानियों से, पुण्य और धर्म के गोरख-धन्धों से, स्वर्ग और नरक की मिथ्या कल्पनाओं से, वह उपजीवी दल उनकी सम्मोहनावस्था को बनाये रखता है। और उनकी वकालत करते हैं हमारे कुशल पत्रकार "निर्मल" जी, को राष्ट्रवादी हैं। राष्ट्रवाद ऐसे उपजीवी समाज को घातक समझता है, और समाजवाद में तो उसके लिए स्थान ही नहीं। और हम जिस राष्ट्रीयता का स्वप्न देख रहे हैं उसमें तो जन्मगत वर्णों की गंध तक न होगी, वह हमारे श्रमिकों और किसानों का साम्राज्य होगा, जिसमें न कोई ब्राह्मण होगा, न हरिजन, न कायस्थ, न क्षत्रिय। उसमें सभी भारतवासी होंगे, सभी ब्राह्मण होंगे, या सभी हरिजन होंगे।

कुछ मित्रों की यह राय हो सकती है कि माना टकेपंथी समाज निकृष्ट है, त्याज्य है, पाखंडी है, लेकिन, तुम उसकी निन्दा क्यों करते हो, उसके प्रति घृणा क्यों फैलाते हो, उसके प्रति प्रेम और सहानुभूति क्यों नहीं दिखलाते, घृणा तो उसे और भी दुराग्रही बना देती है और फिर उसके सुधार की संभावना भी नहीं रहती। इसके उत्तर में हमारा यही नम्र निवेदन है कि हमें किसी व्यक्ति या समाज से कोई द्वेष नहीं, हम अगर टकेपंथीपन का उपहास करते हैं, तो जहाँ हमारा एक उद्देश्य यह होता है कि समाज में से ऊँच-नीच, पवित्र-अपवित्र का ढोंग मिटावें, वहाँ दूसरा उद्देश्य यह भी होता है कि टकेपंथियों के सामने उनका वास्तविक और कुछ अतिरंजित चित्र रक्खें, जिसमें उन्हें अपने व्यवसाय, अपनी धूर्तता, अपने पाखंड से घृणा और लज्जा उत्पन्न हो, और वे उनका परित्याग कर ईमानदारी और सफाई की ज़िन्दगी बसर करें और अन्धकार की जगह प्रकाश के स्वयंसेवक बन जायँ। "ब्रह्मभोज" और "सत्याग्रह" नामक कहानियों ही को देखिये, जिन पर "निर्मल" जी को आपत्ति है। उन्हें पढ़ कर क्या यह इच्छा होती है कि चौबे जी या पंडित जी का अहित किया जाय ? हमने चेष्टा की है कि पाठक के मन में उनके प्रति द्वेष न उत्पन्न हो, हाँ, परिहास-द्वारा उनकी मनोवृत्ति दिखायी है। ऐसे चौबों को देखना हो, तो काशी या वृन्दाबन में देखिए और ऐसे पंडितों को देखना हो तो, तो वर्णाश्रम स्वराज्य संघ में चले जाइये, और यदि निर्मल जी पहले ही उस धर्मात्मा दल में नहीं जा मिले हैं, तो अब उन्हें चटपट उस दल में जा मिलना चाहिए, क्योंकि वहाँ उन्हीं की मनोवृत्ति के महानुभाव मिलेंगे। और वहाँ उन्हें मोटेराम जी के बहुत से भाई-बन्धु मिल जायेंगे, जो उनसे कहीं बड़े सत्याग्रही होंगे। हमने कभी इस समुदाय की पोल खोलने की चेष्टा नहीं की, केवल मीठी चुटकियों से और फुसफुसे परिहास से काम लिया, हालाँकि जरूरत थी बर्नार्डशा जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति की,

जो घन के से चोट लगाता है।

निर्मल जी को इस बात की बड़ी फिक्र है कि आज के पचास साल बाद के लोग जो हमारी रचनाएँ पढ़ेंगे, उनके सामने ब्राह्मण समाज का कैसा चित्र होगा और वे हिन्दू-समाज से कितने विरक्त हो जायेंगे। हम पूछते हैं महात्मा गांधी के हरिजन आन्दोलन को लोग आज के एक-हज़ार साल के बाद क्या समझेंगे? यही कि हरिजनों को ऊँची जाति के हिन्दुओं ने कुचल रखा था। हमारे लेखों से भी आज के पचास साल बाद लोग यही समझेंगे कि उस समय हिन्दू-समाज में इसी तरह के पुजारियों, पुरोहितों, पंडों, पाखंड़ियों और टकेपंथियों का राज था और कुछ लोग उनके इस राज को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न कर रहे थे। निर्मल जी इस समुदाय को ब्राह्मण कहें, हम नहीं कह सकते। हम तो उसे पाखंडी समाज कहते हैं, जो अब निर्लज्जता की पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है। ऐतिहासिक सत्य चुप-चुप करने से नहीं दब सकता। साहित्य अपने समय का इतिहास होता है, इतिहास से कहीं अधिक सत्य। इसमें शर्माने की बात अवश्य है कि हमारा हिन्दू-समाज क्यों ऐसा गिरा हुआ है और क्यों आँखें बन्द करके धूर्तों को अपना पेशवा मान रहा है और क्यों हमारी जाति का एक अंग पाखंड को अपनी जीविका का साधन बनाये हुए है, लेकिन केवल शर्माने से तो काम नहीं चलता। इस अधोगति की दशा सुधार करना है। इसके प्रति घृणा फैलाइये, प्रेम फैलाइये, उपहास कीजिए या निन्दा कीजिए सब जायज़ है और केवल हिन्दू-समाज के दृष्टिकोण से ही नहीं जायज़ है, उस समुदाय के दृष्टिकोण से भी जायज़ है, जो मुफ्तखोरी, पाखंड और अन्धविश्वास में अपनी आत्मा का पतन कर रहा है और अपने साथ हिन्दू-जाति को डुबाये डालता है। हमने अपने गल्पों में इस पाखंडी समुदाय का यथार्थ रूप नहीं दिखाया है, वह उससे कहीं पतित है, उसकी सच्ची दशा हम लिखें, तो शायद निर्मल जी को तो न आश्चर्य होगा, क्योंकि वह उसी समुदाय के एक व्यक्ति हैं, लेकिन हिन्दू-समाज की जरूर आँखें खुल जायेंगी, मगर यह हमारी कमजोरी है कि हम बहुत-सी बातें जानते हुए भी उनके लिखने का साहस नहीं रखते और अपने प्राणों का भय भी है, क्योंकि यह समुदाय कुछ भी कर सकता है। शायद इस साम्प्रदायिक प्रसंग को इसीलिए उठाया भी जा रहा है कि पंडों और पुरोहितों को हमारे विरुद्ध उत्तेजित किया जाय।

निर्मल जी ने हमें "आदर्शवाद" और कला के विषय में भी कुछ उपदेश देने की कृपा की है, पर हम यह उपदेश ऐसों से ले चुके हैं, जो उनसे कहीं ऊँचे हैं। आदर्शवाद इसे नहीं कहते कि अपने समाज में जो बुराइयाँ हों, उनके सुधार के बदले उन पर परदा डालने की चेष्टा की जाय, या समाज को एक लुटेरे समुदाय के हाथों लुटते देखकर जबान बन्द कर ली जाय। आदर्शवाद का जीता-जागता उदाहरण हरिजन-आन्दोलन हमारी आँखों के सामने है। निर्मल जी ज़बान में तो इस आन्दोलन के विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं रखते, लेकिन उनके दिल में घुसकर देखा जाय, ओ मन्दिरों का खुलना

ग्रौर मन्दिरों के ठेकेदारों के प्रभुत्व का मिटना, उन्हें ज़हर ही लग रहा होगा, मगर बेचारे मजबूर हैं, क्या करें ?

निर्मल जी हमें ब्राह्मण द्वेषी बता कर सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने हमें हिन्दू द्रोही भी सिद्ध किया है, क्योंकि हमने अपनी रचनाओं में मुसलमानों को अच्छे रूप में दिखाया है। तो क्या आप चाहते हैं, हम मुसलमानों को भी उसी तरह चित्रित करें, जिस तरह पुरोहितों ग्रौर पाखंडियों को करते हैं ? हमारी समझ में मुसलमानों से हिन्दू जाति को उसकी शतांश हानि नहीं पहुँची है, जितनी इन पाखंडियों के हाथों पहुँची ग्रौर पहुँच रही है। मुसलमान हिन्दू को अपना शिकार नहीं समझता, उसकी जेब से धोखा देकर ग्रौर अश्रद्धा का जादू फैलाकर कुछ ऐंठने की फिक्र नहीं करता। फिर भी मुसलमानों को मुझसे शिकायत है कि मैंने उनका विकृत रूप खींचा है। हम ऐसे मुसलमान मित्रों के ख़त दिखा सकते हैं, जिन्होंने हमारी कहानियों में मुसलमानों के प्रति अन्याय दिखाया है। हमारा आदर्श सदैव से यह रहा है कि जहाँ धूर्तता ग्रौर पाखंड ग्रौर सबलों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार देखो, उसको समाज के सामने रखो, चाहे हिन्दू हो, पंडित हो, बाबू हो, मुसलमान हो, या कोई हो। इसलिए हमारी कहानियों में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील ग्रौर पुजारी गरीबों का खून चूसते हुए मिलेंगे, ग्रौर ग़रीब किसान, मज़दूर, अछूत ग्रौर दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म ग्रौर मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योंकि हमने उन्हीं में सबसे ज़्यादा सच्चाई ग्रौर सेवा भाव पाया है। ग्रौर यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि जब तक यह सामुदायिकता ग्रौर साम्प्रदायिकता ग्रौर यह अन्धविश्वास हम में से दूर न होगा, जब तक समाज को पाखंड से मुक्त न कर लेंगे, तब तक हमारा उद्धार न होगा। हमारा स्वराज्य केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करना नहीं है, बल्कि हम सामाजिक जुए से भी, इस पाखंडी जुए से भी, जो विदेशी शासन से कहीं घातक है, ग्रौर हमें आश्चर्य होता है कि निर्मल जी ग्रौर उनको मनोवृत्ति के अन्य सज्जन कैसे इस पुरोहिती शासन का समर्थन कर सकते हैं। उन्हें खुद इस पुरोहितपन को मिटाना चाहिए, क्योंकि वह राष्ट्रवादी हैं। अगर कोई ब्राह्मण, कायस्थों के करारदाद की, उनके मदिरा सेवन की, या उनकी अन्य बुराइयों की निन्दा करे, तो मुझे ज़रा भी बुरा न लगेगा। मैंने खुद इन बुराइयों की ग्रोर समाज को मुखातिब किया है। कोई हमारी बुराई दिखाये ग्रौर हमदर्दी से दिखाये, तो हमें बुरा लगने या दाँत किटकिटाने का कोई कारण नहीं हो सकता। मिस मेयो ने जो बुराइयाँ दिखायी थीं उनमें उसका दूषित मनोभाव था। वह भारतीयों को स्वराज्य के अयोग्य सिद्ध करने के लिए प्रमाण खोज रही थी। क्या निर्मल जी मुझे भी ब्राह्मण-द्रोही, हिन्दू-द्रोही की तरह स्वराज्य-द्रोही भी समझते हैं ?

अन्त में मैं अपने मित्र निर्मल जी से बड़ी नम्रता के साथ निवेदन करूँगा, कि पुरोहितों के प्रभुत्व के दिन अब बहुत थोड़े रह गये हैं ग्रौर समाज ग्रौर राष्ट्र की भलाई

इसी में है कि जाति से यह भेद-भाव, यह एकांगी प्रभुत्व यह खून चूसने की प्रवृत्ति मिटायी जाय, क्योंकि जैसा हम पहले कह चुके हैं, राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्णव्यवस्था, ऊँच-नीच के भेद और धार्मिक पाखंड की जड़ खोदना है। इस तरह के लेखों से आपको आपके पुरोहित भाई चाहे अपना हीरो समझें और मंदिर के महन्तों और पुजारियों की आप पर कृपा हो जाय, लेकिन राष्ट्रीयता को हानि पहुँचती है और आप राष्ट्र-प्रेमियों की दृष्टि में गिर जाते हैं। आप यह ब्राह्मण समुदाय की सेवा नहीं, उसका अपमान कर रहे हैं।

८ जनवरी १९३४

बिहार मंदिर सम्मेलन

बिहार में हिन्दू-धर्म के ठेकेदारों ने अपने सम्मेलन में हरिजनों के मंदिर प्रवेश का खूब जोरों के साथ विरोध किया और स्व० महारानी विक्टोरिया के धार्मिक निष्पक्षता की घोषणा की दुहाई दी। हिन्दू धर्म तो यह कहता है कि प्राणीमात्र में परमात्मा का वास है, सर्वात्मवाद का इतना ऊँचा आदर्श और किसी धर्म ने भी उपस्थित नहीं किया, मगर मुसलमानों में तो मेहतर भी मस्जिद में जाकर नमाज़ पढ़ सकता है, और यहाँ समाज का एक बड़ा भाग मंदिरों से बहिष्कृत किया जाता है। समाज का जो अंग बड़ी से बड़ी सेवा करता है, वह तो अछूत है, और जो तिलक लगाकर मुफ्त का माल उड़ाते हैं वह समाज के श्रेष्ठ अंग हैं। यह व्यवस्था हिन्दू धर्म को कलंकित करनेवाली है और हिन्दू समाज इस अनीति को अब सहन नहीं कर सकता।

२९ जनवरी १९३४

काशी में मंदिर प्रवेश बिल का समर्थन

वर्णाश्रम स्वराज्य-संघ को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि काशी जैसे सनातनी केन्द्र में भी हरिजनों के मंदिर प्रवेश बिल की विजय हुई। उस दिन दीवानी बार ऐसोसियेशन में इस प्रश्न पर दो घंटे तक विचार हुआ और यद्यपि एसोसियेशन में विरोधियों की संख्या काफी थी, लेकिन कई ब्राह्मण सज्जनों ने बिल के पक्ष में राय देकर विरोधियों को पस्त कर दिया। केवल बाइस रायें विरोध में आयीं और पक्ष में सैंतीस रायें। काशी का यह निर्णय साफ बतला रहा है कि शिक्षित वर्ग इस बिल का समर्थक है। विरोधियों में थोड़े से कट्टरपंथी पोप रह गये हैं, यह भीख माँगनेवाले पंडित, या

केवल वह लोग जो इस विरोध से भी कुछ दक़ियानूसी धर्माभिमानी सेठ साहूकारों को उल्लू बना सकते हैं।

१९ मार्च १९३३

इस हिमाक़त की भी कोई हद है?

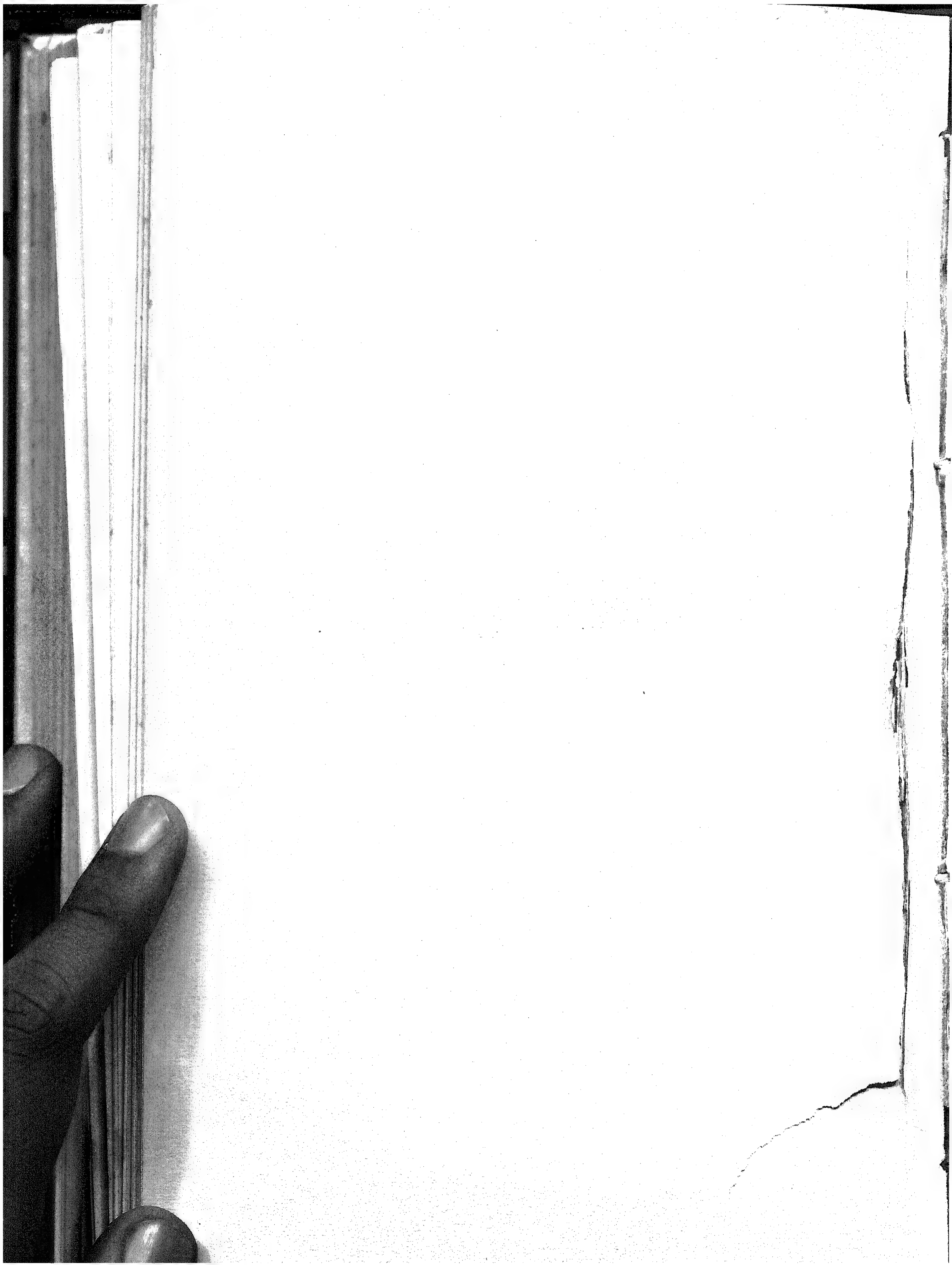
छूत-छात और जात-पाँत का भेद हिन्दू समाज में इतना बद्धमूल हो गया है, कि शायद उसका सर्वनाश करके ही छोड़े। खबर है कि किसी स्थान में एक कुलीन हिन्दू स्त्री कुएँ पर पानी भरने गयी। संयोगवश कुएँ में गिर पड़ी। बहुत से लोग तुरन्त कुएँ पर जमा हो गये और उस औरत को बाहर निकालने का उपाय सोचने लगे, मगर किसी में इतना साहस न था कि कुएँ में उतर जाता। वहाँ कई हरिजन भी जमा हो गये थे। वे कुएँ में जाकर उस स्त्री को निकाल लाने को तैयार हुए, लेकिन हरिजन कुएँ में कैसे जा सकता था। पानी अपवित्र हो जाता। नतीजा यह हुआ कि अभागिनी स्त्री कुएँ में मर गयी।

क्या छूत का भूत कभी हमारे सिर से न उतरेगा?

१४ मई १९३४



किसान-मजूर



नयी परिस्थिति में जमींदारों का कर्तव्य

हाल में हिज़ एक्सेलेंसी गवर्नर ने बहराइच का दौरा किया था। वहाँ ताल्लुकदार एसोसिएशन ने श्रीमान् की सेवा में एक एड्रेस पेश किया। उस एड्रेस में कहा गया था कि प्रान्त में काउंसिल आफ़ स्टेट की तरह एक दूसरा चेम्बर बनाया जाय और जमींदारों की रक्षा के लिए उन्हें अलग काफ़ी मताधिकार दिया जाय। गवर्नर साहब ने इस एड्रेस का जवाब देते हुए ताल्लुकेदारों को जो उपदेश दिया, आशा है, उस पर उन सज्जनों ने ठंडे दिल से विचार किया होगा और भविष्य में वे उसका व्यवहार करेंगे। गवर्नर साहब ने बहुत ठीक कहा कि किसानों पर जमींदारों का जितना प्रभाव है, उतना और किसी का नहीं हो सकता। उन्हें स्वरक्षित जगहों पर भरोसा न करना चाहिए, क्योंकि साधारण क़ानून सभा में स्वरक्षित जगहों पर बराबर हमले होते रहेंगे और बहुत दिन तक इन हमलों को रोकना कठिन हो जायगा, मगर अड़चन तो यही है कि हमारे जमींदारों और ताल्लुकेदारों ने अपनी स्वार्थांधता और विलासिता तथा अभिमान में पड़कर इस प्रभाव को खो दिया है और अब उनका मुँह नहीं है कि साधारण सभा में प्रवेश पाने के लिए, वह अपने असामियों पर भरोसा कर सकें। अगर हमारे ज़मींदार विचारशील होते और समझते कि वह जो चैन कर रहे हैं वह असामियों की बदौलत, और उन असामियों के प्रति उनका कुछ कर्तव्य भी है, तो असामी उनसे विद्रोह क्यों करते। अगर जमींदारों का बस चलता, तो असामियों की दशा इससे भी गयी बीती होती। यह तो कौंसिलों के उद्योग का नतीजा है, कि जमींदारों के हाथ एक हद तक बाँध दिये गये हैं और कृषकों को भी कुछ अधिकार मिल गये हैं। अगर भूपतियों का आगे भी वही व्यवहार रहा, तो वास्तव में भविष्य उनके लिए अन्धकार-मय है। जैसा गवर्नर महोदय ने फ़रमाया है—जमींदारों को अपने ही सद्व्यवहार पर भरोसा करना चाहिए, क्योंकि कृत्रिम साधनों से चाहे थोड़े दिनों उनकी रक्षा की जा सके, स्थायी रूप से नहीं की जा सकती। उसी तरह से, जैसे पथिक को लाठी से कुछ सहारा चाहे मिल

जाय, पर मंजिल पर उसके पाँव ही पहुँचा सकेंगे।

२६ अगस्त १६३२

ज़मींदारों की जायदाद की रक्षा

कृषकों की तरह कितने ही ज़मींदार भी क़र्ज़दार हैं। छोटे-छोटे ज़मींदारों का तो कहना ही क्या, अकसर बड़े-बड़े जमींदार भी, जो लाखों रुपये मालगुजारी अदा करते हैं, कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। जमींदारों और काश्तकारों में अन्तर यही है कि काश्तकार मेहनत करके भी कर्जदार है, पर जमींदार केवल अपनी फिजूलखर्ची और विलासिता के कारण कर्जदार है। बड़े जमींदार का तो कहना ही क्या, पाइयों के जमींदार भी जमींदारी की शान में अपने हाथ से कोई काम करना पसंद नहीं करते। उनकी गुजर छीन-झपट से होती है। अब सरकार बुंदेलखंड और पंजाब की तरह इस प्रांत में भी जमींदारों की जायदाद की रक्षा के लिए कानून बनाने का विचार कर रही है। पुराने खानदानी ज़मींदारों के विषय में सरकार का ख्याल है कि उन्हें अपने असामियों से स्नेह होता है और वे ज़मींदारी के काम में निपुण होते हैं। पर उन्हीं ज़मींदारों में बहुत ऐसे हैं, जिनका अधिकांश जीवन नगरों की विलासिता में व्यतीत होता है। उन्हें अपनी प्रजा से केवल इतना सम्बन्ध है कि प्रजा उनकी सीधी, बेज़बान, दुधार गाय है। उनका काम केवल गाय का दूध दुह लेना है। गाय को भूसा खली भी मिलता है या नहीं, इसकी उन्हें बिलकुल चिन्ता नहीं होती। कितने ही तो अपने इलाके का दर्शन तक नहीं करते। मुख्तार उन्हें रुपये देता जाय, बस, और उनसे प्रजा के सुख दुःख से प्रयोजन नहीं। ऐसे ज़मींदारों की रक्षा करके सरकार उनकी विलासी मनोवृत्ति को और भी प्रोत्साहित करेगी। अभी जो थोड़ी-बहुत फिक्र उन्हें है, वह भी जाती रहेगी। सरकारी नौकरियाँ क्या उन्हीं लोगों को दी जाती हैं, जो पुश्त दर पुश्त से सरकारी नौकरी करते चले आये हैं, जिनका यही खानदानी पेशा है? अगर ऐसा नहीं है, तो सरकार को अब किसी विशेष सम्प्रदाय की रक्षा करने की क्या जरूरत है? जो समय की प्रगति के अनुसार नहीं चल सकते, समय उनकी रक्षा नहीं कर सकता। फिर यह कानून बनाकर यहाँ की आबादी को "कृषक" और "अकृषक" दो भागों में बाँटना पड़ेगा। मगर यहाँ घोर अन्याय हो जाने का भय है, क्योंकि साहूकार या दूसरे धनवानों की कोई विशेष जाति नहीं होती। कुरमी, काछी, ब्राह्मण, क्षत्री सभी लेन-देन करते हैं। कहीं ब्राह्मण महाजन है, कहीं असामी। मुसलमानों में ज़ातें नहीं हैं, इसलिए सभी मुसलमानों को कृषक जाति में रखना पड़ेगा और इस तरह वह बात दूर न होगी, जो सरकार की इच्छा है। पुराना ज़मींदार प्रजा पर धाक जमा लेने के कारण उससे कहीं

ज्यादा सख्ती करता है। जितनी वह नया जमींदार करेगा, जिसे प्रजा से मेल-जोल बढ़ाना है। अतएव हम ऐसे कानून की जरूरत नहीं समझते।

१२ अक्टूबर १९३२

किसानों की कर्ज़ा कमेटी के प्रस्ताव

कौन नहीं जानता कि भारत के किसान बुरी तरह क़र्ज़ के नीचे दबे हुए हैं। उनका प्रायः सभी काम क़र्ज़ से ही चलता है। बीज वह सूद पर लेते हैं और एक का डेढ़ अदा करते हैं। कपड़ा या तो वह बज़ाज़ से उधार लेते हैं या पठानों से। बैल भी वह प्रायः फेरी करनेवाले व्यापारियों से उधार ही लिया करते हैं। शादी-ग़मी, तीर्थ-व्रत में तो अपनी सम्मान-रक्षा के लिए उन्हें क़र्ज़ लेना ही पड़ता है। और इस क़र्ज़ का सूद कम से कम पच्चीस रुपये सालाना है, ज्यादा की कोई सीमा नहीं, चालीस पचास रु० फ़ी सदी तक हो जाता है। और ग़रीब किसान एक बार क़र्ज़ लेकर फिर उऋण नहीं हो सकता। सूद भी नहीं अदा कर पाता, मूल का तो कहना ही क्या। और यही क़र्ज़ वह विरासत में अपने पुत्रों पर छोड़ जाता है। कितने जमींदार और साहूकार किसानों या किसान मजूरों को सौ पचास रु० उधार देकर उनसे यावज्जीवन मज़दूरी कराते रहते हैं। केवल उन्हें ज़िन्दा रहने के लिए कुछ अनाज रोज़ दे दिया करते हैं। वेतन सूद में कटता रहता है। अक्सर तो ऐसा होता है कि किसान की पैदावार खलिहान में ही साफ़ हो जाती है। जमींदार ने अपना लगान वसूल कर लिया, साहूकारों ने अपनी बाकी, किसान हाथ झाड़कर अपनी तक़दीर को रोता हुआ घर जाता है और पहले ही दिन से फिर क़र्ज़ लेना शुरू करता है। यह हाल तो उस वक्त था, जब जिंस तेज़ थी और किसानों के हाथ में थोड़े-बहुत रुपये आ जाते थे। आजकल तो ग़रीब को रुपये के दर्शन ही नहीं होते। ज़मींदार और सरकार का भी दोष नहीं। जमींदार असामियों से लगान न वसूल करे, तो क्या खुद खाय और क्या सरकार को दे। साहूकार अपना बाक़ी न वसूल करे, तो तबाह ही हो जाय। अतएव कुछ दिन हुए सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए सरकारी और गैर सरकारी सदस्यों की एक कमेटी नियुक्त की थी, जिसकी नामावली देखने से मालूम होता है कि उसमें सभी विचारों के महानुभाव थे—जमींदार, अर्थ विशेषज्ञ, राज कर्मचारी, काउंसिल के मेम्बर। कमेटी ने कई महीने के विचार के बाद अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है, जिसमें कृषकों को साहूकारों से बचाने के लिए कई सिफ़ारिशी प्रस्ताव दिये गये हैं। उनमें से मुख्य ये हैं—

१—पंचायती बोर्ड कायम किये जायँ। असामी और साहूकार दोनों मिलकर तीन या पाँच या सात पंचों की एक पंचायत चुन लें। पाँच सौ रु० तक के लेन देन

के मुआमले इसी पंचायत द्वारा तय कर दिये जाया करें। कोई अदालत इतनी रक़म तक के मुआमले को सुनवाई न करे, जब तक पंचायत यह न कह दे कि वह इस मामले का निपटारा नहीं कर सकती। अगर दोनों फ़रीक़ चाहें, तो एक ही पंच द्वारा मुआमले को तय कर सकते हैं।

२—सूद की हद बाँध दी जाय। एक ऐसा एक्ट पास कर दिया जाय कि कृषक असामी अदालत से अपने हिसाब की नकल की दर्खास्त कर सके। अदालत यह हिसाब तैयार करते समय सूद की दर अधिक देखे, तो शुरू से उसकी तरमीम कर दे। ज़मानती क़र्ज़ पर नौ फ़ी सदी और ग़ैर ज़मानती क़र्ज़ पर पन्द्रह फी सदी सूद लगा दे। परिस्थिति पर विचार करके सूद की दर बारह और अट्ठारह फ़ी सदी तक बढ़ायी जा सकती है। मियाद पर किस्त न वसूल होने पर अदालत सब रुपये को एकबारगी चुकाये जाने का हुक्म दे सकतो है।

३—हरएक महाजन को ठीक-ठीक हिसाब रखने के लिए मजबूर किया जाय और इस हिसाब की नक़ल असामी को हर छठे महीने दे दी जाय। अगर महाजन इस शर्त को पूरा न करे, तो उसका पूरा सूद या उसका कोई भाग नाजायज़ करार दिया जाय। महाजन हरेक वसूली की लिखी हुई रसीद दे वर्ना उसे सज़ा दी जाय। असल उतना ही दर्ज किया जाय, जितना वास्तव में दिया गया हो, नज़राना, या खर्चा, या जुर्माना के नाम से असल में बेशी करना जुर्म करार दिया जाय।

४—खेती की पैदावार या काश्त की जमीन पर, अगर उसका लगान पाँच सौ रु० से अधिक न हो, डिग्रियों की तामील अदालतों द्वारा न होकर कलक्टर द्वारा करायी जाय। कोई डिग्री चार फस्लों से ज्यादा पर न करायी जाय, और यह जरूरी नहीं है कि चारों फसलें लगातार हों।

५—कोई कृषक असामी क़र्ज़ की डिग्री के लिए गिरफ्तार न किया जाय, इस ऐक्ट के पास हो जाने के बाद किसी ऋण का मूल जो एक महाजन किसी असामी से उसकी जायदाद या फसल कुर्क करके वसूल कर सकता है, इस तरह होगा—

जमींदार से—	मालगुजारी का दस गुना
शरहमुअइयम या दखीलकार से—	लगान का दस गुना
ग़ैर दखीलकार से—	लगान का पाँच गुना
सिक्मी से —	लगान का तिगुना

६—किसी असामी पर रुपये दिलवाने का दावा उसी जिले में होगा, जिसमें वह रहता है या जहाँ उसे रुपया दिया गया।

बेंग बीस महीने के भीतर जब असामी चाहे सूद के साथ अदा कर सकता है।

८—ग़ैर दखीलकार काश्तकारों को अपनी ज़मीन रेहन रखने का हक़ दे दिया जाय।

८—छोटी मिलकियतों का आकारनियुक्त कर दिया जाय और उन पर लगान यामालगुजारी न बढ़ायी जाय।

९—फेरी करनेवाले महाजनों को किसी ख़ास परगना या म्युनिसिपैलिटी में लेन-देन करने या कपड़ा बेचने के लिए लेसंस दिया जाय, जो पहले पचास रु० फ़ी आदमी होगा और दस रु० फ़ीस देकर हर साल बदला जा सकेगा।

१२ अक्टूबर १९३२

आराज़ी की चकबन्दी

हमारे किसानों को जहाँ और कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, वहाँ उनके खेतों का दूर-दूर और गाँव की भिन्न-भिन्न दिशाओं में होना भी एक बहुत बड़ी बाधा है। अधिकतर किसानों के पास दो-ढ़ाई बीघे से ज्यादा नहीं होता, और उसमें भी पाँच बिस्वे गाँव के पूर्व हैं, तो दस बिस्वे गाँव के पश्चिम, दस बिस्वे उत्तर, तो पाँच बिस्वे दक्खिन। पाँच बिस्वे को जोतकर उसे हल बैल लिये मील भर चलना पड़ता है, तब कहीं दूसरा खेत मिलता है। सिंचाई, निराई, बुआई सभी क्रियाओं में यही हाल होता है। इस तरह उसका बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। न वह कुँए बनवा सकता है, न बाड़े खींच सकता है, न फ़सल की रखवाली कर सकता है। इस सस्ती के समय इस बाधा को दूर करना अनिवार्य हो गया है। पंजाब में तो वहाँ की प्रान्तीय सरकार ने इस विषय में बहुत कुछ काम किया है, लेकिन हमारा प्रांत अभी मीठी नींद सो रहा है। मि० मेहता ने दो ज़िलों में चकबन्दी का आयोजन किया था, पर ऊपर से कोई ताकीद न होने के कारण उसमें कुछ ज्यादा सफलता न हुई, और उन दो-एक जिलों को छोड़कर और कहीं उसकी चर्चा तक न हुई। हर्ष की बात है कि रायसाहब बाबू आनन्दस्वरूप एम० एल० सी० ने लीडर में एक पत्र लिखकर जनता और सरकार का ध्यान इस ओर खींचने की चेष्टा की है। कृषि विषय के अन्य सुधारों के लिए रुपये और समय और शिक्षा की जरूरत है, लेकिन इस सुधार के लिए तो सरकार को एक पैसा भी न खर्च करना पड़ेगा। थोड़ी-सी तवज्जह से किसानों को बहुत बड़ा फायदा हो जायगा और हमें विश्वास है कि पैदावार भी बढ़ जायगी। जैसा उक्त रायसाहब ने कहा है, गाँव की जमीन को मिट्टी के हिसाब से दो-तीन टुकड़ों में बाँटना पड़ेगा, बलुआ, काली मिट्टी, कंकरीली आदि। इसके बाद गोइड़ (आबादी के निकट) और पाही (आबादी से दूर) का विचार करके हरेक किसान को ज़मीन बाँट दी जायगी। जमीन की पैदावार का भी लिहाज रखना पड़ेगा। सोलह आने पैदावार की जमीन के एक बीघे के बदले में आठ आने पैदावार के दो बीघे मिल जायँगे।

पैदावार का तख्मीना करते समय, तालाब, सड़क आदि के सामीप्य पर भी ध्यान रखना पड़ेगा, जिसमें किसी किसान की हक़तलफ़ी न हो। गाँववालों की पंचायत की सलाह से तखमीने का अफ़सर बँटवारा कर देगा। किसानों को तो लाभ होगा ही, सरकार को भी लाभ होगा। पटवारियों का काम बहुत हलका हो जायगा, और वह जमीन, जो मेड़ों से घिरी हुई है और जिसके बारे में हमेशा किसानों के झगड़े होते रहते हैं, खेत में मिल जायगी। हमने इस विषय में कृषकों से जो बातचीत की है, उससे मालूम होता है कि वे इस सुधार का स्वागत करने को तैयार हैं, यदि इससे उनका नुकसान न हो। जब तक चकबन्दी न की जायगी, कृषि में कोई सुधार न होगा, न नयी जिन्सें पैदा की जा सकेंगी। कृषि की उन्नति की यह पहली सीढ़ी है और हमें आशा है, सरकार इसे हाथ में लेने में देर न करेगी।

१६ अक्टूबर १६३२

हतभागे किसान

भारत के अस्सी फ़ी सदी आदमी खेती करते हैं। कई फ़ी सदी वह हैं जो अपनी जीविका के लिए किसानों के मुहताज हैं, जैसे गाँव के बढ़ई, लुहार आदि। राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फ़ौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब उन्हीं की कमायी के बल पर चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं, भर पेट अन्न को तरसते हैं, जाड़े-पाले में ठिठुरते हैं और मक्खियों की तरह मरते हैं। कोई जमाना था जब गाँव के लोग अपने डील-डौल, बल-पौरुष के लिए मशहूर थे। जब गाँवों में दूध-घी की इफरात थी। जब गाँव के लोग दीर्घजीवी होते थे। जब देहात की जलवायु स्वास्थ्यकर और पोषक थी, लेकिन आज आप किसी गाँव में निकल जाइए, आपको खोजने से भी हृष्ट-पुष्ट आदमी न मिलेगा, न किसी की देह पर माँस है न कपड़ा। मानो चलते-फिरते कंकाल हों। और तो और, उन्हें रहने को स्थान नहीं है। उनके द्वारों पर खड़े होने तक की जगह नहीं, नीची दीवारों पर रक्खी हुई फूस की झोपड़ियों के अन्दर वह, उसका परिवार, भूसा, लकड़ी, गाय बैल सब के सब पड़े हुए जीवन के दिन काट रहे हैं। कोई समय था जब भारत के धन का संसार में शोहरा था। यहाँ के सोने और जवाहरात की चमक से दूर-दूर के कवियों की आँखों में चकाचौंध हो जाती थी, विजेताओं के मुँह में पानी भर आता था, मगर आज वह कपोलकथा मात्र है। आज भारत दरिद्रता और अज्ञान के ऐसे गहरे गढ़े में गिरा पड़ा है कि उसकी थाह भी नहीं मिलती। लार्ड कर्जन ने १६०१ में यहाँ की व्यक्तिगत

आय का अनुमान तीस रू० साल किया था। १६१५ में एक दूसरे हिसाबदाँ ने इस अनुमान को पचास रू० तक पहुँचाया, और १६१५ में वह समय था जब योरोपीय महाभारत ने चीजों का मूल्य बहुत बढ़ा दिया था। १६३० में वही हालत फिर हो गयी जो १६०१ में थी और हिसाब लगाया जाय तो आज हमारी व्यक्तिगत आय शायद पच्चीस रू० से अधिक न हो, पर आज तक किसी ने किसानों की दशा की ओर ध्यान नहीं दिया और उनकी दशा आज भी वैसी है जो पहले थी। उनके खेती के औज़ार, साधन, कृषि-विधि, क़र्ज, दरिद्रता सब कुछ पूर्ववत् है।

नहीं यह कहना गलती होगी कि उनकी दशा की तरफ़ किसी ने ध्यान नहीं दिया। सरकार ने समय-समय पर उनकी रक्षा करने के लिए कानून बनाये हैं, और शायद इस तरह के कानून अब तक और ज्यादा बन गये होते यदि ज़मींदारों की ओर से उनका विरोध न हुआ होता। अब की बार ही छूट के विषय में जमींदारों ने कम रुकावटें नहीं डालीं, लेकिन अनुभव से मालूम हो रहा है कि इस नीति से किसानों का विशेष उपकार नहीं हुआ। इन कानूनों के बगैर सम्भव था, उनकी हालत इससे भी खराब होती। इनसे इतना फ़ायदा तो ज़रूर हुआ कि उनकी पतनोन्मुखी प्रगति रुक गयी लेकिन उन्नति के लिए दशाएँ अनुकूल न हो सकीं। हमें तो उन्नति के लिए ऐसे विधानों की ज़रूरत है जो समाज में विप्लव किये बिना ही काम में लाये जा सकें। हम श्रेणियों में संग्राम नहीं चाहते। हाँ, इतना अवश्य चाहते हैं कि सरकार और ज़मींदार दोनों ही इस बात को न भूल जायँ कि किसान भी मनुष्य हैं, उसे भी रोटी और कपड़ा चाहिए, रहने को घर चाहिए, उसके घर में शादी-ग़मी के अवसर आते हैं, उसे भी अपनी बिरादरी में अपने कुल मर्यादा की रक्षा करनी पड़ती है। बीमारी-आरामी औरों की तरह उस पर भी व्याप्त होती है। इसलिए लगान बाँधते समय इस बात का खयाल रखें कि किसान को कम से कम खेती में इतनी मजूरी तो मिल जाय कि वह अपने बाल-बच्चों का पालन कर सकें। हमारे प्रांत में अधिकतर किसान ऐसे हैं जिनके पास तीन, चार एकड़ से ज्यादा भूमि नहीं है। बहुत बड़ा हिस्सा तो ऐसों का है जिनके पास इसकी आधी ज़मीन भी नहीं है। और जमाबंदियाँ जितनी ही छोटी होती हैं, उन पर खेती का खर्च उतना ज्यादा बैठता है। इसलिए ज़मीन के लगान के दर में नये सिरे से तरमीम होनी आवश्यक है। बेशक उससे ज़मीदारों की आमदनी कम हो जायगी, और सरकार को अपने बजट बनाने में बड़ी कठिनाई पड़ेगी, लेकिन किसान के जीवन का अन्य सभी हितों से कहीं ज्यादा मूल्य है।

किंतु परिस्थितियों को देखते लगान में निकट भविष्य में विशेष कमी नहीं की जा सकती। वास्तव में हालत तो यह है कि छोटे-छोटे किसानों का खेती पर जो खर्च पड़ रहा है वह भी वसूल नहीं होता, लगान तो दूर की बात है। और मान लिया किसी तरह एक या दो साल डंडे के ज़ोर से लगान वसूल कर लिया गया भी तो क्या। जब

किसान भूखों मर रहा है तो वह दुर्बल और रुग्ण होगा, खेती में ज्यादा मेहनत न कर सकेगा और इसलिए उसकी पैदावार भी अच्छी न होगी। हमें तो परिस्थिति में कुछ ऐसा परिवर्तन करने की ज़रूरत है कि किसान सुखी और स्वस्थ रहे। जमींदार, महाजन और सरकार सबकी आर्थिक समृद्धि किसान की आर्थिक दशा के अधीन है। अगर उसकी आर्थिक दशा हीन हुई तो दूसरों की भी अच्छी नहीं हो सकती। किसी देश के सुशासन की पहचान साधारण जनता की दशा है। थोड़े से जमींदार और महाजन या राजपदाधिकारियों की सुदशा से राष्ट्र की सुदशा नहीं समझी जा सकती।

किसानों के लिए दूसरी ज़रूरत ऐसे घरेलू धंधों की है जिससे वह अपनी फ़ुरसत के वक्त कुछ कमा सकें। यह काम असंगठित रूप से सफल नहीं हो सकता। इसे या तो सहकारी सोसाइटियों के हाथ में दिया जाना चाहिए या सरकार को खुद अपने हाथ में रखकर व्यापार और उद्योग विभाग के द्वारा इसका संचालन कराना चाहिए। एक प्रान्त में बाज़ ऐसी चीज़ें हैं जिनकी खपत नहीं है, मगर दूसरे प्रान्तों में उनकी अच्छी खपत है। ऐसे उद्योगों का प्रचार किया जाना चाहिए।

खेती की पैदावार बढ़ाने की ओर भी अभी तक काफ़ी ध्यान नहीं दिया गया। सरकार ने अभी तक केवल प्रदर्शन और प्रचार के सीमा के अन्दर रहना ही उपयुक्त समझा है। अच्छे औज़ारों, अच्छे बीजों, अच्छी खादों का केवल दिखा देना ही काफ़ी नहीं है। सौ में दो किसान इस प्रदर्शन से फ़ायदा उठा सकते हैं। जिनको भोजन का ठिकाना नहीं है, जो नाक तक ऋण के नीचे दबा हुआ है उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह नयी तरह के बीज या औज़ार या खाद खरीदेगा। उसे तो पुरानी लीक से जौ भर हटना भी दुस्साहस मालूम होता है। उसमें कोई परीक्षा करने की, किसी नयी परीक्षा का जोखिम उठाने की सामर्थ्य नहीं है। उसे तो लागत के दामों यह चीज़ें क़िस्तवार अदायगी की शर्त पर दी जानी चाहिए। सरकार के पास इन कामों के लिए हमेशा धन का अभाव रहता है। हमारे विचार में इससे ज़्यादा ज़रूरी सरकार के लिए कोई काम ही नहीं है।

दूसरी ज़रूरत ज़मीन की चकबन्दी है। ज़मीन का बँटवारा इतनी कसरत से हुआ है और हो रहा है कि जिसकी कोई हद नहीं। दक्षिण में सन् १७७१ ई० से औसत ज़माबन्दी चालीस एकड़ की थी। १९१५ ई० में वह केवल सात एकड़ रह गयी। बंगाल में तीन एकड़ है और संयुक्त प्रान्त में केवल डेढ़ एकड़। यह डेढ़ एकड़ भी गाँव के चारों दिशाओं में स्थिति होता है, इसलिए उसमें बहुत परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। चकबन्दी हो जाने से इतना फ़ायदा होगा कि किसान अपने चक को बाड़ों से घेर सकेगा, उसमें कुएँ बनवा सकेगा, खेती की निगरानी कर सकेगा। इससे उसकी उपज में कुछ बढ़ती होने की आशा हो सकती है।

कीड़ों से भी फ़सल का अकसर बहुत नुक़सान होता है। पिछले साल चूहों ने

कितने खेतों का सफ़ाया कर दिया। कभी लाही आती है, कभी माहो, कभी गेरुई, कभी पतिंगे। कभी दीमकों का ज़ोर होता है, कभी कीड़ों का। किसानों के पास इन भौतिक बाधाओं की कोई दवा नहीं है। कृषि विभाग ने इस विषय में बहुत कुछ खोज किया है और ज़रूरत है कि उसकी परोक्षित अनुभूतियाँ किसानों के कानों तक पहुँचायी जायँ। केवल इतना ही नहीं, उनके द्वारों तक पहुँचायी जायँ, पर यहाँ तो जो कुछ होता है दफ़्तरी ढंग से, जो इतना पेचीदा और बिलम्बकारी है कि उससे किसानों को फ़ायदा नहीं होता। यहाँ दफ़्तरी ढंग की नहीं, मिशनरी उद्योग की ज़रूरत है। अब तक सरकार ने किसानों के साथ सौतेले लड़के का-सा व्यवहार किया है। अब उसे किसानों को अपना जेठा पुत्र समझकर उसके अनुसार अपनी नीति का निर्माण करना पड़ेगा।

१६ दिसम्बर १६३२

हड़ताल

कांग्रेस का क्रियाशील तथा व्यवहारिक आन्दोलन ठंडा-सा पड़ गया है। इसे चाहे फूस के गट्ठर के नीचे चिनगारी सुलगना समझिये या सरकार की जीत समझिये। पर हमें केवल एक बात की ओर, कांग्रेस के जो भी पदाधिकारी हों, उनका ध्यान दिलाना है। कांग्रेस के पास विशेष साधन न होने के कारण वह सरकार का क्रियात्मक विरोध नहीं कर सकती। अतः वह निषेधात्मक विरोध कर रही है। फलतः उसे हड़ताल ऐसी चीजों का बार-बार आवाहन करना पड़ता है। लाचार अथवा दुर्बल के लिए हड़ताल करने से उसका महत्व जाता रहता है और एक दिन को हड़ताल का प्रभाव गरीबों पर बहुत ही बुरा पड़ता है। रोज कुँआ खोदने और रोज पानी पीनेवालों की तो मरन हो जाती है। अतएव क्या इस प्रकार के कार्यों की मनाही कर दी जावेगी ? अब इनका विशेष महत्व भी नहीं है। हड़ताल के दिन शोक मनाने या प्रार्थना करने के स्थान पर लोग मौज करते हैं, तमाशे देखते हैं, और कोई विशेष लाभ नहीं होता।

३० जनवरी १६३३

ज़बर्दस्ती

भारतीय किसानों की इस समय जैसी दयनीय दशा है, उसे कोई शब्दों में अंकित नहीं कर सकता। उनकी दुर्दशा को वे स्वयं जानते हैं—या उनका भगवान

जानता है। ज़मींदार को समय पर मालगुज़ारी चाहिए, सरकार को समय पर लगान चाहिए, खाने के लिए दो मुट्ठी अन्न चाहिए, पहनने के लिए एक चीथड़ा चाहिए, चाहिए सब कुछ, पर एक ओर तुषार तथा अति-वृष्टि फ़सल को चौपट कर रही है, एक ओर आँधी उनके रहे-सहे खेत को भी भ्रष्ट कर रही है—दूसरी ओर रोग, प्लेग, हैज़ा, शीतला उनके नौजवानों को हरी-भरी तथा लहलहाती जवानी में उसी तरह दुनिया से उठाये लिये चली जा रही है, जिस तरह लहलहाता खेत अभी छः दिन पूर्व के पत्थर—पाले से जल गया। गल्ला पैदा हो रहा है, पर भाव इतना मन्दा है कि कोई दो वक्त भोजन भी नहीं कर सकता। स्त्री के तन पर जो दो-चार गहने थे, वे साहूकार के पेट से बचकर सरकार की मालगुज़ारी के पेट में चले गये। नन्हें बच्चे, जो चीथड़ा ओढ़-कर जाड़ा काटते थे, वही अब उनका पिता पहन कर अपने तन की लाज ढँक रहा है। माता के पास केवल इतना ही वस्त्र है, जितने से वह घूँघट काढ़ सके—धोती चाहे ठेहुने तक ही क्यों न खसक आये।

एक ओर यह दुर्दशा है, दूसरी ओर हमारे शासक शिमला, नैनीताल और उससे भी काम न चला तो लन्दन की हवा खा रहे हैं। हमारे प्रतिनिधि और मेम्बर जब तक बड़ी या छोटी कौंसिल की मेम्बरी नहीं करते, कड़कड़ाती धूप में भी पैदल सड़कों पर भटकते हैं—पर कौंसिल के मेम्बर होते ही तुरंत पहाड़ पर चल देते हैं और वहाँ पर दस रुपया रोज़ का भत्ता पीट लेते हैं। आप चलकर किसानों से पूछिए तो सही, कितने किसानों ने इधर इकट्ठा दस रुपया भी देखा है? पर नहीं—यह कलियुग है। कर्मयुग है। भाग्य का खेल है। किसान आया है, दुनिया की मुसीबतों में सड़कर मर जाने के लिए!

एक ओर बड़े-बड़े ज़मींदार अपने हित की रक्षा की सोच रहे हैं, एक ओर सर-कार श्वेत पत्र पर श्वेत खड़िया से कुछ लिख रही है, दूसरी ओर किसानों को केवल इतना ही मालूम होता है कि उसकी विपत्ति बढ़ती जा रही है। सरकार उसके लिए बहुत कुछ करने का दम भरती है। पर उसने अभी तक क्या किया। बैंक-जाँच-समिति ने, किसानों को ही दुर्दशा से बचाने के लिए यह सलाह दी थी कि तुरत "लैंड मारगेज बैंक" खुल जावें, जिससे किसानों को साहूकार से बचकर अपनी कृषि की उन्नति के लिए, आसानी से रुपया मिल सके और उसका हाथ-पैर फैले। सरकार ने एक नया क़ानून बनाया है जिसका उद्देश्य बहुत अधिक सूद लेनेवालों से गरीबों को बचाना है। एक निश्चित रकम से अधिक सूद लेनेवाला अपने आसामी को गिरफ्तार नहीं करा सकेगा। वह अदालत में दावा दायर कर सकता है। इससे भी किसान का कुछ लाभ होगा, पर कुछ से काम नहीं चल सकता। इस समय तो चारों ओर हाहाकार ही मच रहा है। यदि किसान की रक्षा न की गयी तो बड़ा भयंकर अनर्थ हो सकता है।

राव कृष्णपालसिंह युक्त प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर हैं। दुर्भाग्यवश, तालुकेदारों

तथा ज़मींदारों के कारण यह कौंसिल जड़ तथा निस्सार लोगों की संस्था हो रही है, जिसमें किसानों का हित उतना ही कम सोचा जाता है, जितना देश हित। इस कौंसिल में, कुछ दलित जाति के भी सदस्य भेजे गये हैं। इनके एक नेता भी बतलाये जाते हैं। पर, हमने स्वयं केवल यही देखा है कि ये सदस्य सदैव सरकार का—सरकारी प्रस्ताव का साथ देते हैं। इस प्रकार कौंसिल में किसान अभागा किसी के ध्यान में भी नहीं आता। यदि कुछ थोड़े से सदस्य हृदय से तथा मन से किसानों की सेवा करना चाहते, तो उनकी संख्या बहुत कम है। सी० वाई० चिन्तामणि, कुँवर जगभानसिंह, मुंशी गदाधरप्रसाद इन्हीं इने-गिने लोगों में से हैं—और इनसे भी ऊपर यदि किसी का नाम लिया जा सकता है, तो वह हैं अवगढ़-नरेश के भाई राव कृष्णपालसिंह।

राव साहब ने "लीडर" में हाल ही में किसानों की दुर्दशा पर एक बड़ा मर्मस्पर्शी लेख प्रकाशित कराया है। लेख की प्रत्येक पंक्ति में जीवन है। आप लिखते हैं कि युक्त प्रान्तीय सरकार की किसान-सम्बन्धी नीति केवल "जबर्दस्ती की अर्थ-नीति" है। चाहे जैसे हो, मारपीट कर लगान वसूल कर लो—बस, यही एक मात्र ध्येय है। आपके शब्दों में—

"भारतीय किसान पर जो बोझ लदा हुआ है, उसका यदि ठीक नहीं, तो आंशिक अनुमान लगाया जा सकता है। भूमि कर की अत्यधिकता, जमींदार की माल-गुज़ारी (खुदकाश्त आदि की) साहूकार द्वारा शोषण और अफ़सरों द्वारा ज़बर्दस्ती की वसूली, किसान को घोर दरिद्रता में छोड़ देती है और यही दरिद्रता ही उसका भाग्य है।.......इसीलिए इसका निपटारा सूझ नहीं पड़ता। चाहे क्रान्तिकारी राजनीतिज्ञ हो या विकासवादी, उसे चाहिए कि पहले वह नींव स्थापित करने के लिए घोर परिश्रम कर ले, तब अर्थशास्त्री उस पर कोई नयी इमारत खड़ी कर सकता है।"

अब राजनीतिज्ञ क्या करे—इस विषय में राव साहब की सलाह बहुत ही उप-युक्त है और उसी की ओर अपने देश के नेताओं का ध्यान खींचना हमारा उद्देश्य है। इस छोटी-सी टिप्पणी में इस विभिन्न तथा कष्टदायक समस्या पर विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता। हम स्वयं यह सोचकर कि आखिर क्या उपाय है—चुप रह जाते हैं। उपाय जो कुछ है, वह सरकार के साथ है, या प्रान्तीय कौंसिल सरकार से बहुत कुछ करा सकती है। पर, प्रान्तीय कौंसिल के धनीमानी, दलबन्दीवाले सदस्य कोई उपाय बतलाने पर भी, उसका अनुकरण करेंगे, इसमें हमें सन्देह है। और इसीलिए, संदिग्ध होते हुए भी उनसे राव साहब की पाँच बातों की ओर ध्यान देने की प्रार्थना करते हैं।

१—उचित मात्रा में लगान घटा दिया जावे। लगान-माफ़ी या किश्त-बन्दी का तरीक़ा चलाया जावे। भूमि-कर ज़मींदार की वास्तविक वसूली के हिसाब से लगाया

जावे, न कि उसकी वसूली की संभावना पर ।

२—नहर का रेट इतना घटा दिया जावे कि सबके लिए आबपाशी सस्ती पड़े। आजकल की तरह केवल अमीरों के काम लायक ही न हो ।

३—ज़मीन्दारों को उनकी जिम्मेदारी सिखलानी चाहिए तथा जायज़ वसूली से अधिक वसूली करने की आज्ञा उन्हें नहीं देनी चाहिए ।

४—किसानों का मौजूदा कर्ज़ा जहाँ तक हो काट दिया जावे और क़ानून बना कर सूद की दर तय कर दी जावे । साहूकारों को बहीखाता रखने के लिए बाध्य किया जावे, तथा उन्हें केवल किसान को खरीद लेने के लिए "रुपया" देने से रोका जावे ।

५—सरकारी अफ़सरों को किसानों से नाजायज़ वसूली से रोका जावे । बड़े सरकारीकर्मचारियों के वेतन में कमी की जावे, और उससे रुपया बचाकर बहुत ही कम वेतन पानेवाले सरकारी कर्मचारियों का वेतन बढ़ा दिया जावे ।

नैनीताल के कौंसिल के अधिवेशन में यह प्रश्न विचारार्थ पेश होगा, अथवा नहीं—इसमें सन्देह है । किसानों की सुधि लेने की किसे फुर्सत है—किसे अवकाश है । फिर भी, इतना हम कह देना चाहते हैं कि यदि राव साहब की योजना को सरकार ने नहीं स्वीकार किया, तो सिद्ध हो जायगा कि वह किसानों के हित का विशेष ध्यान नहीं रखती ।

८ मई १९३३

महाजन और किसान

प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा में इस वक्त किसानों के ऋण का सूद घटाने और अन्य प्रकार से उन्हें महाजनों के चंगुल से बचाने के लिए जो तीन बिल पेश हैं, उन पर खूब आलोचनाएँ हो रही हैं । हम यह नहीं कहते कि हमारे सामाजिक जीवन में महाजन का कोई स्थान नहीं है और न यह कि उससे जनता का कोई उपकार नहीं होता, मगर अभी महाजनों को अपने असामियों पर अत्याचार करने को जा कानूनी सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनमें कुछ कमी होने की परम आवश्यकता है । सूद की कोई सीमा होनी चाहिए और उसका कुछ दर भी निश्चित होना चाहिए । अभी तो यह हाल है कि किसानों से मूल का कई गुना ब्याज में वसूल कर लिया जाता है, फिर भी मूल ज्यों का त्यों बना रहता है । ऐसे उदाहरण घर-घर मिलेंगे कि महाजन ने पचास रुपये देकर असामी पर दो सौ रुपये की डिग्री करायी और उसके पास जो कुछ था वह सब नीलाम करा लिया । जब सभी जगह सूद का दर गिर गया है तो किसान से क्यों वही पुराना सूद लिया जाय ? इस प्रान्त में हुण्डी का व्यवहार बहुत किया जाता है । उसमें सूद का दर तीस

प्रति सैकड़े से भी अधिक पड़ता है। यह लूट बन्द होनी चाहिए। अवश्य महाजनों को टोटा होगा। लेकिन चूहे भूखों मर जायेंगे इस भय से तो बखारें नहीं खोल दी जातीं। महाजन को झक मारकर थोड़े सूद पर संतुष्ट होना पड़ेगा। वह अब थोड़े से रुपये उधार देकर किसान को पुश्तहापुश्त के लिए अपना गुलाम न बना सकेगा।

३ जुलाई १९३३

किसानों का कर्ज़ा

भारत सरकार स्वयं इतना अधिक ऋण ले रही है—और ऋण लेकर ही अपना काम चला रही है कि यह कहना अनुचित न होगा कि ऋणी लोगों के प्रति उसकी सहानुभूति स्वाभाविक है। इसीलिए पत्थर पर दूब निकल रही है, यानी—जो सरकार भारतीय किसानों के हितों के प्रति अत्यन्त उदासीन रहा करती थी, जो सरकार सदैव अपनी "लगान" की ओर ही नज़र उठाये रहती थी, वह किसानों के हित में एक उदार कानून बनाने का विचार कर रही है। इस उदार कानून को जन्म देने का यश युक्त प्रान्त को प्राप्त होगा और संभव है कि अन्य प्रान्त शीघ्र ही इस प्रान्त का अनुकरण करें।

आज भारत के किसान इतने तबाह क्यों हैं ? इसलिए कि जब से अंग्रेजी शासन शुरू हुआ, यानी आज के डेढ़ सौ वर्ष पहले से विदेशी हुकूमत ने सदैव किसानों के हितों की उपेक्षा की और ज़मींदारों के हितों का समर्थन किया। अन्य प्रान्तों की बात जाने दीजिये। युक्त प्रान्त की ही दशा लीजिये। शायद ही किसी प्रान्त के किसान इतने परेशान और दुःखी हों। शायद ही किसी प्रान्त के किसानों को इतना कष्ट हो। शायद ही किसी प्रान्त में ज़मींदार—ताल्लुकेदार इतनी मनमानी कर सकते हों। और किसानों की कष्ट-कहानी इस डेढ़ सौ वर्ष के अँग्रेजी शासन में ज्यों की त्यों बनी हुई है। उन अभागों पर पुलिस का, ज़मींदार--ताल्लुकेदार का, सेठ साहूकार का, संक्षेप में हरेक अधिकारी का जुल्म ज्यों का त्यों जारी है। युक्त प्रान्तीय कौंसिल ने यदि कभी इन अभागों की सहायता करनी चाही तो प्रान्त की "ताल्लुकेदारों की कौंसिल" ने जनमत को सदैव कुचल दिया। हमारे प्रान्त का यह विश्वास-सा हो रहा था कि यहाँ ताल्लुकेदारों-ज़मींदारों के लिए शासन होता है। अब भी इस प्रान्त में एक "राज-परिषद्" की व्यवस्था कर सरकार ने इस शंका को और भी मज़बूत कर दिया है।

फिर भी, जहाँ सरकार प्रजा हित का काम करती है, वहाँ हम सदैव उसे धन्य-वाद और बधाई देने के लिए तैयार हैं। हम यह चाहते हैं, कि सरकार को इस प्रकार की चेष्टाओं में जनता की ओर से काफ़ी सहायता दी जावे, हम यह चाहते हैं कि यदि प्रान्तीय कौंसिल में सरकार किसानों के हित के लिए कोई क़ानून बनाना चाहती है, तो

जनता के प्रतिनिधियों को चाहिए कि वे सरकार का समर्थन करें। प्रान्तीय सरकार ने आगे किसानों के कर्ज़ का बोझ हलका करने के लिए जो नया मसविदा, कानून बनाने के लिए ४ जुलाई को कौंसिल के नैनीताल-अधिवेशन के सामने पेश किया था, वह हरेक दृष्टि से सराहनीय है और कौंसिल-सदस्यों ने सरकार को यह प्रस्ताव पेश करने के लिए बधाई देने की जो बुद्धिमत्ता की है, उसके लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। लगान में, यथाशक्य, यद्यपि आवश्यकता तथा हैसियत से कहीं कम—छूट करने के बाद, प्रान्तीय सरकार का वह दूसरा प्रयत्न है, जिसके द्वारा वह जनता का वास्तविक हित करना चाहती है। सरकार इस क़ानून का मसविदा १३ मई को ही प्रकाशित कर चुकी थी, पर मसविदा और उस पर विचार करने के लिए बीस सदस्यों की खास कमेटी बना देने का प्रस्ताव ४ जुलाई को किया गया। इस विषय में हम कई कौंसिल-मेम्बरों की इस राय से सहमत हैं कि मसविदा उपयोगी होते हुए भी सरकार इस मामले में जल्दबाज़ी नहीं कर रही है। ताल्लुकेदारों की लाड़ली सरकार इस बिल पर इतना भी विचार करने का अवसर दे रही है और समर्थन कर रही है, यही हमारे आश्चर्य की बात है कि हम 'इस सुस्ती' को कुछ समय के लिए भुला देना चाहते हैं। आशा है, कि मसविदे पर बहस के बाद वह पास हो जायगा। खास कमेटी शीघ्र विचारकर उसे पास कर देगी और कौंसिल उसे कानून बना देगी।

किन्तु, मसविदे का साधारण ढाँचा भी पाठकों को बतला देना ज़रूरी है। इस सम्बन्ध में तीन बिल होंगे। एक का उद्देश्य है किसानों को कर्ज से पार कराना, दूसरा सूद की दर घटायेगा, तीसरा ज्यादा सूद लेना रोकेगा। पहला सिर्फ उन्हीं किसानों के सुभीते के लिए है, जो दो सौ रुपये सालाना से ज्यादा मालगुजारी या लगान नहीं देते। जो इनकम टैक्स (आयकर) देता है, वह किसान नहीं समझा जायगा। किसी म्युनिसिपल बोर्ड, नोटिफाइड एरिया या टाउन कमेटी की सीमा में रहनेवाले तथा ग्राम में रहकर परिश्रम द्वारा, गाय भैंस आदि के व्यवसाय से जीविका चलानेवाले लोग भी बिल के लाभ के अधिकारी होंगे। किसान तो चीज़ों का दाम मन्दा हो जाने से तबाह और ऋण के भार से दबा जा रहा है, अपढ़ होने के कारण वह महाजनों से अपने ऋण का हिसाब नहीं तलब कर सकता या समझ सकता—वह तीन का तेरह देकर भी नजात नहीं पाता। मुकद्दमेंबाजी उसे तबाह कर डालती है। इसीलिए पहले मसविदे के अनुसार वह दीवानी अदालत से दख़्वास्त कर अपने कर्ज़ का निपटारा और उसके भुगतान की किश्तबंदी करा सकता है। कर्ज़ की अदायगी के लिए अदालत में कुछ रक़म जमा करने की इजाज़त मिल जायगी। डिगरी के रुपये के अन्दर, महाजन चार ही साल तक खेत में पैदा हुआ अनाज भेज सकता है। वह भोगबन्धक जमीन पर बीस साल से ज्यादा दिनों तक अधिकार नहीं रख सकता। दखिलकार किसान अपनी भूमि रेहन रख-कर कोआपरेटिव सोसायटी से लम्बी मीयाद के लिए ऋण ले सकता है। कुछ शर्तों

पर रेहन की मीयाद के भीतर ही वह अपनी जमीन लौटा ले सकता है। क़र्ज़दार जब चाहे, अपना क़र्ज़ चुका सकता है। महाजन को मजबूरन क़र्ज़ का हिसाब रखना होगा और कर्ज़दार को हिसाब भेजना होगा। अगर वह अपने खाते में कर्ज़ की रकम बढ़ाकर लिख लेगा तो उसको सज़ा हो जायगी।

अस्तु दूसरे बिल के अनुसार पाँच हज़ार रुपये तक सालाना मालगुज़ारी या लगान देनेवालों की रक्षा के लिए यह बिल तैयार किया गया है। खेती या लगान की आमदनी से गुज़र करनेवालों की रक्षा की विशेष आवश्यकता है। मन्दी के कारण बेचारे तबाह हो गये हैं। मँहगी के ज़माने में जो कर्ज लिया गया था, वह सस्ती के ज़माने में नहीं पटाया जा सकता, इसलिए ज़रूरी है कि कर्ज़ के सूद की दर घटा दी जाय। सन् १९१७ में मँहगी का ज़माना था। १९३० के बाद से सस्ती का ज़माना आया, इसलिए इस बीच में लिये गये कर्ज़ का सूद घटा दिया जायगा।

तीसरे मसविदे के अनुसार बेहद सूदखोरी रोकी जायगी और सूद की सीमा तय कर दी जायगी।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि वास्तव में कर्ज़दार किसानों की रक्षा के लिए आवश्यक अनेक बातों का इन मसविदों में काफ़ी ध्यान दिया गया है। पर, इतना ही काफी नहीं है। किसान की विपत्ति इतने से ही नहीं छूट जाती। उस पर कई नयी मुसीबतें हैं। पटवारी भी उसको कर्ज़ में घसीटने में बड़ा भाग लेता है। सरकारी लगान यदि ज्यों की त्यों रही तो किसान कर्ज़ के बोझ से दबेगा ही। साहूकार कर्ज़ देकर किसान का खून जरूर चूस लेता है, पर वह गाढ़े समय उसके काम भी आता है। इतनी बाधाएँ देखकर वह ऋण न देगा। इधर किसान पर लगान वगैरह: का बोझा ज्यों का त्यों रहेगा। उसे अपना काम चलाने के लिए द्रव्य न मिलेगा। फल यह होगा कि बेदखली काफ़ी होगी। इसलिए सरकार को इस पर भी काफ़ी गौर कर लेना चाहिए। खास कमेटी को केवल साहूकार पर ही नहीं, पर सरकार भी कड़ा बन्धन डालना चाहिए, जिससे वह अमुक सीमा तक मन्दी होने तक अमुक मात्रा में लगान ले।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि बिल के क़ानून बनने की आशंका से इधर लगातार नये दावे-मुक़द्दमे होंगे। साहूकार अपना लेना-पावना तुरत बराबर कर लेना चाहेगा। खास कमेटी से मामला निकलने में छः महीने तक लग जायगा। तब तक के लिए कोई चालू नियम—"आर्डिनेन्स" द्वारा—चालू कर देना चाहिए।

१० जुलाई १९३३

शक्कर सम्मेलन

शिमले में शक्कर कान्फ्रेन्स हो रही है। किस तरह किसानों को, जो ऊख पैदा करते हैं, मिलवालों से बचाया जाय और विदेशी शक्कर पर जो कर लगाया गया है, उसका लाभ किसान, मिल-मालिक और जनता सभी को समान रूप से मिले यही इस सम्मेलन का उद्देश्य है। एक साहब ने प्रस्ताव किया कि ऊख का मूल्य सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाय, दूसरे साहब ने कहा नहीं इससे किसानों को घाटा होगा। एक प्रस्ताव था कि एक-एक मिल के लिए एक-एक इलाका अलग कर दिया जाय। उस इलाके की ऊख इलाके के बाहर न जा सके। दूसरे साहब ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। इस तरह सम्मेलन समाप्त हो जायगा और किसान जहाँ है वहीं रहेगा, समस्या हल न होगी। देखना यह है कि साधारण दशा में किसान को एक बीघे में कितना प्राप्त होता था, उतना उसे मिलना चाहिए। मसलन् उसने एक बीघा ऊख बोयी, उसमें उसने बीस मन गुड़ पैदा किया, जिसका दाम एक सौ रुपये हुआ। यह रक़म उसकी खड़ी ऊख बिक जाने की दशा में उसे मिलनो चाहिए, या इससे भी अच्छा तरीका यह है कि मिल को मजदूरी और थोड़ा-सा नफ़ा देकर जो दस फी सदी से किसी तरह भी ज्यादा न हो, जो कुछ बचे वह ऊख पैदा करनेवालों को परते से दिया जाय और इसकी निगरानी सरकार खुद करे।

जब तक देश के सुदिन नहीं आते और सभी व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण नहीं हो जाता, पूँजीपतियों के हाथ में किसानों और मजूरों की किस्मत रहेगी और सरकार ऊपरी मन से नियन्त्रण करने का स्वाँग भरकर कोई उपकार नहीं कर सकती। हम तो किसानों को यही सलाह देंगे कि वे खुद अपना संगठन करें और अपनी शक्कर अपनी खंडसालों में बनाकर इस ड्यूटी का पूरा फायदा उठावें, मगर किसानों का संगठन करें। हम तो देख रहे हैं कि राष्ट्र के वे नेता, जिनसे इसकी आशा की जा सकती थी, शक्कर-कंपनियों के हिस्सेदार या संस्थापक बने हुए हैं, और पूँजोपति की हैसियत से यह स्वाभाविक है कि वे ज्यादा से ज्यादा नफ़ा अपनी गोट में रखने की चेष्टा करें। योरोप में "इंडस्ट्रियला-इज़ेशन" का दुष्परिणाम देखकर भी हम नहीं चेत रहे हैं और छोटे-छोटे व्यवसायों को कुचल कर महान व्यवसायों की सृष्टि और छोटे-छोटे स्वामी व्यवसायियों को कुचलकर एक बड़ी मशीन के पुरजे बनाने पर तुले हुए हैं। इसका नतीजा बेकारी की वृद्धि के सिवा और क्या होगा? किसान साल के चार पाँच महीने ऊख पेरने, गुड़ या शक्कर बनाने में काट देता था। अब यह काम उसके हाथ से निकाला जा रहा है। जो काम पचास आदमी मिल कर करते थे, उसे एक आदमी मशीन के जोर से पूरा कर लेगा। बेकारी बढ़ाने का इसके सिवा और क्या इलाज है? मिलों में दो चार सौ मजूर काम करेंगे अवश्य, पर दस-पाँच हजार किसानों को तबाह करके! इस व्यवसाय-युग की यही

महिमा है ! यहाँ व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है । यहाँ जो कुछ है, धन है और मशीन है । वही देहातों की तबाही, वही घरेलू व्यवसायों का सर्वनाश !

१७ जुलाई १९३३

ऊख के किसानों का संघ

हमें यह जानकर बड़ा संतोष हुआ कि गोरखपुर और बस्ती में ऊख के किसानों का एक संघ बन गया है, जो उनके हितों की मिलवालों से रक्षा करेगा । बेचारे किसान गाड़ियों पर लादकर ऊख लाते हैं और एक-एक सप्ताह तक कर्मचारियों की खुशामद करते रहते हैं, तब जाकर कहीं उनका माल तोला जाता है । उनके ठहरने का कोई स्थान नहीं । धूप वर्षा सब कुछ झेलते हुए, अपने काम का बड़ा नुकसान करके बेचारों को किसी तरह गुजर करना पड़ता है । इतने दिनों में ऊख भी सूख जाती है और उससे दाम कम मिलते हैं । इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह संघ बनाया गया है । गोरखपुर और बस्ती में जितने शक्कर के मिल हैं, उतने प्रान्त भर में नहीं हैं । शक्कर के व्यवसाय का वह इलाका उसी तरह केन्द्र हो गया है—जैसे अहमदाबाद कपड़े का । हमें आशा है, संघ के उद्योग से ग़रीब काश्तकारों का यथेष्ट उपकार होगा । संघ अगर किसानों को इस बात पर संगठित कर सके कि वे अपनी ऊख मिल में न लाया करें, जिसमें मिलवालों को खुद देहातों में जाकर अपनी गाड़ी भाड़े से ऊख खरीदना पड़े, तो वह बड़ा उपकार करे । किसानों को ऊख बेचने की जितनी जरूरत होती है, उससे कहीं ज्यादा जरूरत मिलवालों को ऊख खरीदने की होती है, पर किसान ग़रीब हैं, रुपये की जरूरत उन्हें ऊख लादकर लाने पर मजबूर करती है । अगर वे जरा धैर्य से काम लें, तो मिलवालों को खुद ऊख लेने जाना पड़े । ऊख अगर दस-पाँच दिन खेतों में खड़ी रहे, तो कोई नुकसान न होगा, मिल तो एक घंटा भी बन्द नहीं रह सकती है ।

७ अगस्त १९३३

कृषि सहायक बैंकों की ज़रूरत

कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय है, पर उसे नोचनेवाले तो सब हैं, उसको प्रोत्साहन देनेवाला कोई नहीं । उसे भूखों मरकर, पैसे-पैसे के लिए महाजन का मुँह

देखकर, अपना जीवन काटना पड़ता है। अब पब्लिक का ध्यान इधर हुआ है और व्यस्वथापक सभा के सामने दो-तीन ऐसे प्रस्ताव पेश हैं, जिनसे किसानों को बड़ा लाभ होगा, पर सूद की दर घटा देने से ही काम नहीं चल सकता। ऐसे साधन भी होने चाहिए, जिनसे किसानों को थोड़े सूदपर रुपये मिल सकें। इसके लिए कृषि-सहायक बैंक खोले जाने चाहिए। इस विषय पर लीडर में मु० गजाधर प्रसाद एम० एल० सी० का एक उपयोगी पत्र छपा है। हमें आशा है गवर्नमेंट उस प्रस्ताव पर विचार करेगी। किसानों के उद्धार का सबसे आवश्यक अंग उन्हें महाजन के पंजे से निकालना और इसके साथ ही उन्हें हलके सूद पर रुपये दिलाने की व्यवस्था करना है। यह उद्देश्य बैंकों से ही पूरा हो सकता है।

७ अगस्त १९३३

काशी में जमींदारों की सभा

काशी ज़मींदारी एसोसिएशन के सालाना जलसे में सभापति के पद से श्रीयुत पन्नालाल जी कमिश्नर बनारस ने ज़मींदारों को जो सद्-परामर्श दिया, करीब-करीब उसी तरह के उपदेश ज़मींदारों को पहले भी मिल चुके हैं। खुद जमींदारों ने ही ज़मींदारों को जो सलाहें दी हैं, वह भी कुछ इसी ढंग की हैं। इन सभी अवसरों पर ज़मींदारों को यह चेतावनी दी गयी है और श्री पन्नालाल जी ने भी अपने शब्दों में उसी को दुहराया है कि ज़मींदारों का भविष्य अब अपने असामियों के सहयोग और सदिच्छा पर निर्भर है। अगर ज़मींदार असामियों का सच्चा शुभचिंतक है तो उसे किसी तरह का भय नहीं, लेकिन यदि वह असामियों को केवल भोग-विलास के लिए धन संग्रह करनेवाली मशीन समझता है, तो उसका भविष्य संकटमय है। पन्नालाल जी ने फ़रमाया कि ज़मींदारों को याद रखना चाहिए कि आनेवाला विधान बिल्कुल जनमत के आधार पर होगा, जिसमें जनता का काफ़ी हिस्सा होगा और उनका निर्वाचन शिक्षा के प्रचार के साथ बढ़ता जायगा। और ज़मींदारों की भलाई इसी में है कि वे जनता पर विश्वास करें। हमें आशा है कि हमारे भूपति समय के लक्षणों को पहचानेंगे और विशेष रिआयतों की आड़ में छिपने की कोशिश न करेंगे।

२५ सितम्बर १९३३

छोटे जमींदार या बड़े ?

बिहार की एक जमींदारों की सभा में भाषण करते हुए जस्टिस स्टुअर्ट मैकफर्सन ने यह सम्मति दी है कि प्रजा को बड़े जमींदारों की अमलदारी में उससे कहीं कम कष्ट होता है, जितना छोटे जमींदारों की अमलदारी में रहने से। मुमकिन है उस सभा में बड़े-बड़े जमींदारों और राजाओं की कसरत हो रही हो और उनसे मुलाहज़े से साहब बहादुर ने यह सम्मति दी हो, पर हमारा अनुभव तो है कि छोटे शैतान से बड़ा शैतान हमेशा अधिक घातक हुआ करता है। छोटा शैतान एकाध बकरा, कुछ माला-फूल, कुछ बतासे पाकर सन्तुष्ट हो जाता है, पर बड़ा शैतान बिना प्राण लिये नहीं छोड़ता। छोटा जमींदार अपने असामियों पर ज्यादा सख्ती करते डरता है। उसका पुलिस पर, अदालत के कर्मचारियों पर और अधिकारियों पर इतना प्रभाव नहीं होता कि वह कानून अपने हाथ में ले सके और उसे जिस तरह चाहे तोड़-मरोड़ सके। प्यादों और लठैतों की फौज रखने का भी उसके पास साधन नहीं होता। फिर बहुधा वह अपने असामियों ही के गाँव में रहता है और उनकी यथार्थ स्थिति से वाकिफ होने के कारण बेजा सख्ती नहीं करता, कुछ मुलाहज़ा-मुरव्वत भी होती ही है। इसके विपरीत बड़ा जमींदार तो अपने इलाके का बादशाह होता है। असामियों से उसको कोई निजत्व नहीं होता। वे तो उसके लिए केवल भोग की वस्तु हैं। असामियों की करुण क्रन्दन की आवाज़ भी उनके कानों तक नहीं पहुँचती। और उनके कारिन्दे और प्यादे भला क्यों असामियों पर दया करने लगे ? उन्हें असामियों के बनने-बिगड़ने की क्या परवाह !

६ नवम्बर १९३३

बस्ता में ईख संघ सम्मेलन

काशी विद्यापीठ के दो शास्त्रियों ने अपनी अद्भुत कार्य-क्षमता तथा विचार-शक्ति से काम लेकर युक्त-प्रान्त की एक बहुत बड़ी आवश्यकता पूरी कर दी है। बंगाल के लिए जूट तथा बम्बई के लिए रुई और उसकी मीलें जिस प्रकार समस्या हो रही हैं, उसी प्रकार संयुक्त प्रान्त के लिए ईख और गन्ने के कृषकों का प्रश्न लगातार पचीसों मिल के खुल जाने से जटिल हो गया है। स्थानान्तर में उनकी कुछ समस्याओं पर विचार प्रकट किया गया है तथा उनको दूर करने के विषय में, आवश्यक प्रस्ताव प्रकाशित किये गये हैं। उनके—किसानों के—कष्टों की ओर पहले पहल उपरिलिखित दो शास्त्रियों—श्रीरामकुमार शास्त्री तथा श्यामचरण शास्त्री—का ध्यान गया और उन्होंने

ईख संघ की पाँच मास पूर्व की सृष्टि की, जिसके तीन सम्मेलन खलीलाबाद, बस्ती तथा बभनान जिला गोंडा में क्रमशः श्री बाबा राघवदास, श्रीप्रकाश जी तथा पं० कृष्णाकान्त मालवीय की अध्यक्षता में हुए। भीड़ भी अपार थी, उत्साह भी अपार था। श्रीकृपाशंकर तथा राम शंकर मुख्तार बस्ती में सराहनीय कार्य कर रहे हैं। सम्मेलन की सफलता तथा उसके उद्देश्य की पवित्रता पर हम बधाई देते हैं और सफलता चाहते हैं।

१३ नवम्बर १९३३

किसान सहायक क़ानूनों की प्रगति

पाठकों को मालूम होगा कि कई महीने हुए सरकार ने किसानों को महाजनों के पंजे से बचाने के लिए व्यवस्थापक सभा में तीन बिल पेश किये थे, जिनके अनुसार सूद का दर घटा दिया जायगा, दस्तावेज़ों की नकल असामियों के पास भी रहेगी, महाजनों को हिसाब दिखाना पड़ेगा। ये बिल कमेटियों में विचार के लिए दिये गये थे। कमेटियों ने इन पर विचार कर लिया है और अपनी रिपोर्ट तैयार कर ली है और अब वे बिल संस्कृत होकर काउंसिल में पेश किये जायँगे।

४ दिसम्बर १९३३

जमींदारों का दुर्दशा

बेचारे जमींदारों की दशा उस रखेली स्त्री की-सी हो रही है, जिसके यौवन की बहार अब चल चलाव पर हो। एक समय था, जब उसका आशिक उस पर प्राण न्योछावर करता था, उसकी एक-एक अदा पर जान कुर्बान करता था। एक-एक नखरे पर लोट-पोट हो जाता था, एक-एक चितवन पर कलेजा थाम लेता था, लेकिन यौवन के उतार के साथ वह दिन और वह रातें सपना हो गयीं। अब बेचारी तरह-तरह के रंग भरती है, आठों पहर मिस्सी सुरमें के पीछे पड़ी रहती है, बसीकरन के जंतर-मंतर करती रहती है, लेकिन भौंरा-प्रेमी अब भागा-भागा फिरता है। न वह पराग रह गया, न वह रस, फिर नीरस फूल उसके किस काम का। अब तो यह जीवन है, और पट्टी पर सिर रखकर रोना है। प्रेमी के पैरों पर लाख सिर पटके, लाख उसके तलवे सहलाये, लाख जादू-टोना करे, कुछ होने का नहीं। अब तो वह भी कृष्ण की भाँति इन गोपियों को वैराग्य का उपदेश करता है।

यह बेचारियाँ उन पुराने दिनों की याद दिलाती हैं, अपनी वफ़ादारी और

निष्ठा और अनुराग की कथाएँ कहती हैं, लेकिन वह पट्ठा एक ही जवाब देता है—वैराग्य धारण करो। और यह विलास की उपासिकाएँ रोष और शोक में सिर धुनती हैं, छाती पीटती हैं, मगर वह कठकलेजिया, वह पाषाण हृदय, नहीं पसीजता, नहीं पसीजता। धर्म का या प्रेम का बन्धन होता, तो पुरानी गाँठ की भाँति दिन-दिन अभेद्य होता जाता, रूप और यौवन के पथरीले स्तरों को तोड़ कर उसकी जड़ें कोमल भूमि की गहराइयों में पहुँच जातीं, और उस रस से वृक्ष दिन-दिन और पुष्पित और पल्लवित होता। लेकिन, यहाँ तो सब कुछ रूप और यौवन का खेल था। पत्थर पर की दूब कै दिन टिकती। मगर उन्हीं रमणियों की भाँति हमारे ज़मींदारान भी बराबर समय की गति को फेरने और बीते हुए दिनों को बुलाने की बिफल कामना करते चले जाते हैं। जभी मौका मिला चट-पट एक संघ, सभा, एसोसियेशन बना लिया जाता है और लोग बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ बाँध और नीची अचकनें पहन और कमर में वफ़ादारी का पटका कस और गरदनों में स्वामिभक्ति के तौक डाल कर गवर्नरों की बारगाह में हाजिर हो जाते हैं, और अपनी लायलटी और भक्ति के पचड़े शुरू कर देते हैं। मगर यहाँ वही रूखा जवाब मिलता है—जोग धारण करो, अपने पैरों पर खड़े हो, अपनी सेवा और सहानुभूति से समाज में अपना स्थान स्वरक्षित करो। लेकिन, ये महाशय कुछ ऐसे चिकने घड़े हैं कि उन पर कुछ भी असर नहीं होता, उसी गत-यौवना रमणी की भाँति शायद ये सज्जन अब भी इसी भ्रम में पड़े रहते हैं कि सरकार पूर्ववत् उनकी पीठ ठोकेगी, उन्हें शाबाशी देगी और कहेगी, तुम हमारे दाहिने हाथ हो, और हम सदैव तुम्हारी मदद करेंगे और तुम्हारी डगमगाती हुई नाव को पार लगा देंगे। इन अक्ल के पुतलों को अब भी नहीं सूझता कि राजनीति को दुनिया में कल का शत्रु आज का मित्र हो जाता है और कल का मित्र दूध की मक्खी की भाँति निकाल कर फेंक दिया जाता है। सरकार ज़मींदारों की पीठ तब ठोंकती थी, जब वह समझती थी कि ये प्रजा के स्वाभाविक नेता हैं, प्रजा पर इनकी धाक है, ये असन्तुष्ट होकर आग लगा सकते हैं और हमारी खेती को जला सकते हैं। लेकिन जब उसने देखा कि ये हजरात भोग-विलास में पड़कर सारा पुरुषार्थ खो चुके हैं, कर्ज के बोझ के नीचे दब चुके हैं, और इनका अस्तित्व अब गरीबों पर अनीति और अत्याचार और सबलों की चापलूसी और जी हुजूरी पर रह गया है, और ये अब उसके लिए शक्ति के यंत्र न रह कर उसकी गति में और बाधक हो रहे हैं, तो उसने इनकी तंबीह शुरू की, कि यों काम न चलेगा, तुम अपने को संगठित करो, खरगोश की नींद से चौंको, अपने सत्कार्यों से प्रजा के दिल में घर करो, किसानों को दिखा दो कि तुम उनके लिए कितने ज़रूरी हो, देश मे ऐसा वातावरण पैदा करो, जो तुम्हारे लिए अनुकूल हो, तो ये सज्जन बगलें झाँकते हैं, और उसी गत-यौवना नायिका की भाँति उसकी निष्ठुरता पर टेसवे बहाते हैं और अपनी तकदीर को कोसते हैं कि किस निर्दयी के पाले पड़ी कि उसने मुफ्त में यौवन

लूट लिया, और अब बात भी नहीं पूछता।

मगर वह पुराना आशिक अब भी प्रीति की रीति निभाये जाता है। अब उससे यह आशा तो नहीं की जा सकती, कि वह खिचड़ी केशों को नागिन समझे और झरोखेदार बतीसियों की चमक से चौंधिया जाय और झुकी हुई कमर पर फिदा हो जाय। नहीं, यह बीभत्स लीला अब वह नहीं कर सकता, हाँ, ऊपरी दिल से चिकनी मीठी बातें कर सकता हैं, अपने सुगन्ध भरे रुमाल से उसके आँसू पोंछ सकता है और उसके नान नफ़क़े (जीवन निर्वाह) का प्रबन्ध कर सकता है। मखमली गद्दे न सही, फिर भी आगरे की दरी देने को तैयार है, लेकिन वह अज्ञात गत-यौवना अभी तक वही हठ किये जाती है, मैं तो जड़ाऊ गहने लूँगी और पानदान का खर्च लूँगी, और लौंडियाँ लूँगी। मिल चुकीं ! यह ठस्से यौवन के साथ चले गये। अब तो उसी रोटी-कपड़े पर दिन काटने पड़ेंगे, हँस-हँसकर काटो या रो-रोकर। गनीमत समझो कि वह प्रीति का इतना निबाह भी कर रहा है। सूखा ही जवाब देता तो तुम क्या कर लेतीं। धर्म या प्रेम का बन्धन तो था नहीं, राजनीति ही का फुस-फुसा और अस्थिर बन्धन तो था। सरकार ने कई प्रांतों में जमींदारों ही की रक्षा के लिए "रईस सभा" (Second Chamber) का निर्माण करना स्वीकार कर लिया, उन्हीं को महाजनों से बचाने के लिए एक-दो कानून बनाये और अब ऐसा कानून बना रही है, जिससे उनकी जायदाद अखण्ड और अमर रहे। सरकार से अब और वे क्या चाहते हैं, जो सभी अवसरों पर सजधज बनाकर जा पहुँचते हैं। क्या वे चाहते हैं कि सरकार उनकी पुरानी वफादारी के उपलक्ष में उन्हें इस बात की खुली सम्मति दे दे, कि वे प्रजा से मनमाना लगान वसूल करें, मनमाने नज़राने लें, मनमानी बेगार करायें, मनमाने इज़ाफ़े और बेदखलियाँ करें, मनमाने भाव पर उनकी जिन्सें खरीदें, उन्हें रुपये उधार देकर मनमाना सूद वसूल करें, उन्हें जब चाहें और जितना चाहें पिटवायें, उसकी कहीं फरियाद न हो सके। अगर वे यह नहीं चाहते, तो और किसलिए गवर्नरों की दुम के पीछे पूँछ हिलाते फिरते हैं। सर मालकम हेली पचासों बार इस गिरोह को फटकार चुके हैं, दुत्कार चुके हैं, अभी उस दिन बंगाल के गवर्नर ने डाँटा था, सभी प्रांतों के गवर्नर बारी-बारी से इन महानुभावों को ठुकरा चुके हैं, फिर भी ये दुम हिलाना नहीं छोड़ते, चुनांचे अभी उस दिन सर मालकम हेली काशी आये तो यह गोल अपनी गुलामी और वफादारी और पातिव्रत का खर्रा लिये उनकी ड्योढ़ी पर हाज़िर हो गया। सर मालकम ने जैसा कि उनका धर्म था, और जैसा कि राजनैतिक शिष्टाचार का तक़ाज़ा था, उनको बहुत-बहुत धन्यवाद दिया, उनकी प्रशंसा की, उनके स्वामी-सत्कार का यशोगान किया, और यह सब कुछ कर चुकने पर उन्हें वह उपदेश दिया, जिसने इनमें से अधिकांश महानुभावों को हतोत्साह कर दिया होगा और वे रोते हुए घर गये होंगे, कि यह सारी दवा दीवश और नाक रगड़ौवल और माथ घिसौवल बेकार गयी। सर हेली ने कहा—

"आनेवाली व्यवस्था का चाहे जो रूप हो, और चाहे कैसे ही राजनैतिक दल बनें, अन्तिम निर्णय उन्हीं विचारों के हाथ रहेगा जिनका जनता पर प्रभुत्व होगा, और जो राजनैतिक प्रगति का नियंत्रण करेंगे। आप बाज़ी ले जाना चाहते हैं, तो आपको अपने सामाजिक महत्व का क्रियात्मक प्रमाण देना पड़ेगा। आपको सिद्ध करना पड़ेगा कि जमींदार भी ग्रामीण जीवन में उतने ही उपयोगी है जितना किसान....आपको उत्तर में यह प्रमाण देना चाहिए कि ज़मींदार किसान को जो सहायता देता है, उनसे जो मैत्री का संबंध रखता है, और उनको सामाजिक जीवन में अपना पूरा-पूरा स्थान लेने के लिए जो प्रयत्न करता है, वह किसान ही की भाँति हमारे कृषि-व्यापार का आवश्यक अंग है।"

सुना है आप साहबों ने आँखें बंद करके और कान खोल कर? आपको कुछ ख़बर है कि जनता के दिल पर आज किन विचारों का आधिपत्य है? खूब सुन लोजिए कि यही विचार सरकार की राजनैतिक नीति का नियंत्रण करेंगे, आप चाहे अपनी वफ़ादारी के कितने ही गीत गायें और कितने ही राग अलापें! आपको अपने सामाजिक महत्व का क्रियात्मक प्रमाण देना पड़ेगा, केवल-इज़ाफ़े और बेदख़ली करके या नालिश करके या डंडेबाजी के जोर से लगान वसूल करके चैन की बंसी बजाना नहीं। अगर इसी को आप अपने महत्व का क्रियात्मक प्रमाण समझ बैठे हैं तो आप मूर्खों के स्वर्ग की हवा खा रहे हैं। आप इन्हीं कार्यों से यह सिद्ध करेंगे कि ग्रामीण जीवन में जमींदार उतना ही ज़रूरी है जितना किसान! आपका यह व्यवहार अगर किसी बात का प्रमाण है तो वह आपकी निरंकुशता, आपकी हृदय-शून्यता, आपकी अमानुषिकता, आपकी स्वार्थांधता और आपकी वर्तमान विचारधारा से अनभिज्ञता का उज्ज्वल प्रमाण है। आप अपने वर्ग के लिए विशेष अधिकार और विशेष रियायतें माँग-माँगकर खुद अपने पैरों में कुल्हाड़ी मार रहे हैं और जनमत को अपने विरोध की चुनौती दे रहे हैं।

२२ जनवरी १९३४

देहातों पर दया-दृष्टि

इंग्लैंड के व्यापारी भारत के गरीब ग्रामीणों पर बड़ी दया करते हैं। बेचारे वहाँ से इन नंगों के लिए तरह-तरह के कपड़े बनाकर अपने ही जहाज़ों पर लाद कर पहुँचा देते हैं। जिस चीज़ की यहाँ जरूरत हो, वह फौरन से पहले यहाँ मुहैया कर देते हैं। यह दया दृष्टि नहीं तो क्या है? अब एक साहब जिनका नाम कर्नल हार्डिंग हैं सम्पूर्णतः निस्वार्थ भाव से यहाँ के देहातों में बेतार के गाने और भाषण आदि सुनाने

का प्रबंध कर रहे हैं। जब अन्य देशों के गाँवों में ब्राडकास्टिंग का प्रचार हो रहा है, तो भारत के किसान क्यों इस आनन्द से वंचित रहें। कर्नल हार्डिंग साहब से यह नहीं देखा जाता। पंजाब के देहातों में उनका दौरा भी शुरू हो गया है। हर बड़े गाँव में बेतार के यंत्र लगा दिये जायेंगे, कौन बड़ा खर्च है, यंत्र का दाम कुल तीन सौ रु० है और सालाना खर्च तीस रु०। इतने थोड़े खर्च में देहातवाले जब बेतार के गाने और बाजे और भाषण सुन सकते हैं, तो क्यों न सुनाया जाय। आखिर देहातियों के पास मनोरंजन का और कौन-सा सामान है। यह यंत्र लग जायेंगे, तो साँझ को देहातों में खासी चहल-पहल हो जायगी। गाने और भाषण सब उनको अपनी ही भाषा में सुनाये जायेंगे। इंग्लैंड दया करके करोड़-दो-करोड़ के यंत्र भेज देगा। भारत में सात लाख गाँव हैं। तीन सौ रु० गाँव पीछे मिले, तो कुल इक्कीस करोड़ रुपये ही तो हुए। फिर कुछ पढ़े-लिखे युवकों को रोजी भी तो मिलेगी। इंग्लैंड के व्यापारी सचमुच दया और निःस्वार्थ वा के पुतले हैं!

बिल्ली बख्शे, मुर्गा लंडूरा ही रहेगा। जिनके पास न खाने को अन्न है और न पहनने को वस्त्र, वह ब्राडकास्टिंग सुनकर अपना मनोरंजन न करेंगे, तो कौन करेगा? व्यापार चलाने की कितनी बढ़िया नीति है। यह व्यापारी मानवी प्रकृति की दुर्बलताओं को खूब समझते हैं और उससे खूब अपना मतलब गाँठते हैं। मनोविज्ञान उनकी व्यवसाय-वृद्धि का मुख्य साधन है। कल्लोंच से कल्लोंच आदमी में भी आमोद-विनोद की प्रवृत्ति होती है। यह व्यवसायी उसी स्थल पर निशाना लगाता है और शिकार मार लेता है।

२२ जनवरी १९३४

आगरा जमींदार-सम्मेलन

आगरा ज़मींदार सम्मेलन के सभापति नवाब छतारी ने अपने भाषण में ज़मींदार साहबान को केवल अपना संगठन करने ही की ज़रूरत नहीं बतलायी, बल्कि उन लोगों के सहयोग की ज़रूरत भी बतलायी, जो ज़मींदार नहीं हैं, पर व्यवस्थित उन्नति के समर्थक हैं। लेकिन हमारा विचार है, कि जिस चीज़ को नवाब साहब व्यवस्थित उन्नति कहते हैं, उसके समर्थक ज़मींदारों के सिवा शायद ही कोई सज्जन निकलें। व्यवस्थित उन्नति इसके सिवा और क्या है, कि ज़मींदारों को इस वक्त जो शक्ति और अधिकार प्राप्त हैं, वे दिन-दिन और व्यापक होते जायें, उनका क्षेत्र दिन-दिन विस्तृत होता जाय। मजा यह है कि कृषकों को साहूकारों की सख्तियों से बचाने के लिए जो व्यवस्था की जा रही है उससे पूरा फायदा उठाने के लिए यह लोग अपने को कृषकों में

शामिल किये देते हैं। किसानों को संरक्षण की इसलिए जरूरत है कि वे दीन हैं, अशक्त हैं, एक ओर ज़मींदारों के शिकार हो रहे हैं, दूसरी ओर साहूकारों के। उन्हें न रोटी मयस्सर है, न कपड़ा ; न बीज मयस्सर है, न बैल। इसके विरुद्ध हमारे जमींदार साहबान प्रान्त में सबसे सामर्थ्यवान, सबसे प्रतिभाशाली वर्ग हैं। उनमें से कितने ही ऐश की जिन्दगी बसर करते हैं और जो गये-बीते हैं, वे भी डंडे के जोर से किसानों से खेती करा लेते हैं, तरह-तरह के बेगार और तावान वसूल करते हैं और मज़े से अफीम खाते या भंग उड़ाते हैं। अगर ऐसे शक्तिशाली वर्ग को भी संरक्षण की जरूरत है, तो इसका अर्थ यही है कि ये लोग जितना अन्याय करें, चाहे जितने कर्ज लें, उन पर क़ानून का वार न चल सके।

मगर ऐसी कार्रवाइयों से हमारा ज़मींदार वर्ग उस रहे-सहे विश्वास और सम्मान को भी खोता जाता है, जो जनता में उसके प्रति बाक़ी है। जब यह संरक्षण जमींदारों को न प्राप्त थे, उस दशा में भी वे अन्धाधुन्ध कर्ज़ लेने से न चूकते थे, तो जब ये संरक्षण मिल जायेंगे, तब उनकी उमँगें क्या रंग लायेंगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। कमज़ोर का जबरदस्तों से संरक्षण चाहना तो स्वाभाविक है, लेकिन ज़बरदस्तों का संरक्षण चाहना, इसके सिवा और क्या है, कि वे और भी शक्तिवान हो जायँ। क्या हमारे ज़मींदार भाइयों ने कभी यह सोचने की तकलीफ़ उठायी है कि जनता से क्यों उन्हें इतना भय हो रहा है ? क्यों वे यह सोच-सोच कर व्याकुल हो रहे हैं कि आनेवाली व्यवस्था में बहुमत उनके अधिकारों को छीनने की चेष्टा करेगा, और इस-लिए उन्हें आपस में संगठित होकर उस बहुमत को अपने हाथ में कर लेना चाहिए ? इसका कारण इसके सिवा और कुछ नहीं है कि ज़मींदारों को अभी तक जो अधिकार प्राप्त थे, उनका उन्होंने बराबर दुरुपयोग किया है, और जनता नहीं चाहती थी कि समाज का कोई अंग इतना प्रबल हो जाय कि वह निर्बलों को कुचलता रहे। हमारे जमींदार साहबान अपने लिये संरक्षणों और रिआयतों पर ज़ोर देकर जनता में और भी अविश्वास और भय उत्पन्न कर रहे हैं। इस नीति से वे जनता पर आतंक जमा सकते हैं, उसकी सहानुभूति और विश्वास के पात्र नहीं बन सकते। जब तक वे यह न सम-झेंगे कि जनता के हित के साथ उनका भी हित है, और उनके अस्तित्व का उद्देश्य यही है कि वे अपने असामियों की सेवा और सहायता करें, तब तक जनता उनकी ओर से सदैव सशंक रहेगी और उनके विरुद्ध आंदोलन बढ़ता रहेगा। किसान इसलिए समाज का उपकारी अंग है कि उसके बिना समाज एक दिन न चलेगा। दूकानदार सारे दिन दूकान में बैठकर और नौकर सारे दिन स्वामी की आज्ञा पालन करके अपनी कमायी हलाल कर लेते हैं। सभी को अपनी जीविका के लिए कुछ न कुछ परिश्रम करना पड़ता है। यहाँ तक कि साहूकार को भी बहुधा नादिहन्द कर्ज़दारों से पाला पड़ जाता है और उसकी रक़में डूब जाती हैं। लेकिन ज़मींदारों से कोई पूछे, तुम जनता का क्या उपकार

करते हो ? तुम्हारी ज़ात से समाज का क्या भला होता है ? तुममें से जो सम्पन्न हैं वे मज़े से लखनऊ या इलाहाबाद में बँगलों में ऐश करते हैं और जो इतने भाग्यवान् नहीं हैं, वे देहातों में ही मूसलचन्द बने घूमते हैं, जैसे गीदड़ मुर्दे जानवरों की खोज में रात को निकलते हैं। उनका उद्यम इसके सिवा और कुछ नहीं है कि किसी असामी को किसी बहाने फँसाकर उसकी जमा-जथा डकार जायँ। कहीं दो असामियों में लड़ाई हो जाय, ज़मींदार साहब की चाँदी हो गयी। दोनों ही से कुछ न कुछ डाँड़ वसूल करेंगे और चैन की बंसी बजायेंगे। या दाल गलती न देखी, तो पुलिस की दलाली करने लगे और लूट में शरीक हो गये। ऐसी मुफ्तखोर, निकम्मी, लुटेरी, आरामतलब संस्था बहुत दिन जीवित नहीं रह सकती, चाहे वह अष्टधातु के किले ही में क्यों न अपने को बंद कर ले। जनता आज किसी का शिकार नहीं बनना चाहती, ज़मींदार हो या साहूकार, सरकार हो या मिल मालिक—उसे किसी से दुश्मनी नहीं है, उसे दुश्मनी करने की भी शक्ति नहीं, वह असंगठित है, दीन है, पराधीन है। कोई दल अपने को संगठित करके उस पर आतंक जमा सकता है। लेकिन अगर कोई यह चाहे कि उसे अपना शिकार भी बनाये और उससे वोट भी ले, उसे ठोकर भी जमाये और उससे पाँव भी दबवाये तो उसे लज्जित होना पड़ेगा।

दिल्लगी यह है, कि आज भी ज़मींदार साहबान अपने को ज़मीन का मालिक ही समझते हैं। अंग्रेज़ी सरकार के पहले उनकी हैसियत दलालों की थी, जो बादशाह की ओर से लगान वसूल करने के लिए रखे जाते थे और लगान न अदा कर सकने पर निकाल बाहर किये जाते थे और बड़ी ज़िल्लत के साथ। अंग्रेजी राज्य में उनका मान बढ़ गया। सरकार को देश में ऐसे एक जत्थे की जरूरत थी, जो प्रजा पर उसकी हुकूमत जमाने में सहायक हो। उसने यह काम इन्हीं लगान वसूल करनेवालों से लिया। तब से यह लोग अपने को ज़मीन का मालिक समझने लगे। ख़ैर, हमें इससे मतलब नहीं, आप जमीन के मालिक नहीं खुदा सही, लेकिन आप प्रजा के लिए क्या करते हैं ? आप प्रजा के दिये हुए कर में से पचास फी सदी लेते हैं, तो उसके बदले में आप प्रजा के साथ क्या सलूक करते हैं ? आप अगर बीज देते हैं, तो उसका डेवढ़ा वसूल कर लेते हैं, अगर लकड़ी या बाँस देते हैं, तो उसके बदले में चौगुनी बेगार लेते हैं, और आज आपका अस्तित्व इतना निरर्थक हो गया है, कि आप को यह शंका हो रही है, कि कहीं भविष्य में आप का निशान ही न मिट जाय। आप समय की गति के प्रतिकूल चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। थोड़े दिनों आप चाहे इस प्रयत्न में सफल हो जायँ, लेकिन वह दिन दूर नहीं है, जब आपको राष्ट्र की इच्छा के सामने सिर झुकाना पड़ेगा और आप आतंक के बल पर नहीं, सेवा के बल पर अपना अस्तित्व क़ायम रख सकेंगे।

१२ फरवरी १९३४

निरक्षरता की दुहाई

हमारे किसानों की निरक्षरता की दुहाई देना एक फैशन-सा हो गया है, लेकिन किसान निरक्षर होकर भी बहुत से साक्षरों से ज्यादा चतुर हैं। साक्षरता अच्छी चीज़ है और उससे जीवन की कुछ समस्याएँ हल हो जाती हैं, लेकिन यह समझना कि किसान निरा-मूर्ख है उसके साथ अन्याय करना है । वह परोपकारी है, त्यागी है, परिश्रमी है, किफ़ा-यती है, दूरदर्शी है, हिम्मत का पुरा है, नीयत का साफ़ है, दिल का दयालु है, बात का सच्चा है, धर्मात्मा है, नशा नहीं करता, और क्या चाहिए । कितने साक्षर हैं, जिनमें ये गुण पाये जायँ । हमारा तजरबा तो यह है कि साक्षर होकर आदमी काइयाँ, बदनीयत, कानूनी और आलसी हो जाता है । किसान इसलिए तबाह नहीं है, कि वह साक्षर नहीं है, बल्कि इसलिए कि जिन दशाओं में उसे जीवन का निर्वाह करना पड़ता है, उनमें बड़े से बड़ा विद्वान भी सफल नहीं हो सकता । उसमें सबसे बड़ी कमी संगठन की है जिसके कारण जमींदार, साहूकार, अहलकार सभी उस पर आतंक जमाते हैं । लेकिन अगर कोई उनमें संगठन करना चाहे, जिसमें वे इन भेड़ियों के नख और पंजे से बचें, तो उस पर तुरन्त राजद्रोह का और हिज़ मैजेस्टी की प्रजा में विद्वेष पैदा करने का इलज़ाम लग जायगा और उसे जेल की हवा खानी पड़ेगी । किसान लाख साक्षर हो जाय, जब तक वह संगठित नहीं होता, जब तक उसे अपने अधिकारों का ज्ञान नहीं होता, जब तक वह इन समुदायों का मुकाबला नहीं कर सकता, उसका जीवन कभी सुखी न होगा । उसके पास चार पैसे देखकर जमींदार और अहलकार सभी की राल टपकने लगती है और एक न एक खुच्चड़ निकाल कर उसकी कमर खाली कर दी जाती है । अगर राजद्रोह का हौवा न खड़ा कर दिया गया होता, तो राष्ट्रीय सेवक किसानों में बहुत कुछ संगठन कर चुके होते । मगर यहाँ तो यह नीति है कि प्रजा की राजनैतिक चेतना न जागने पावे, नहीं वह अपने हकों पर अड़ना सीख जायगी । इसलिए उनके संगठन का कार्य पब्लिसिटी विभाग के सिपुर्द कर दिया गया है, जो बड़े-बड़े क़स्बों में जाकर अंग्रेजी राज्य के कवित्त सुना आते हैं । एक ओर जनता को नशे की बुराइयों का उपदेश दिया जाता है, दूसरी ओर ऐसी व्यवस्था की जाती है कि लोग ज्यादे से ज्यादे नशे का सेवन करें, जिसमें सरकार की आमदनी में कमी न होने पावे । इस नीति का जब तक प्राधान्य है, साक्षरता से कोई उपकार नहीं हो सकता । जो विद्वान हैं, उन्हें तो हम दूसरों को नोचते खसोटते ही देखते हैं, यहाँ तक कि मन में सन्देह होने लगता है कि क्या यह वही विद्या है, जिसकी इतनी महिमा गायी गयी है । अगर सरकार को जनता के हित की सच्ची लगन हो जाय, तो वह जादू की लालटेनों से, उपदेशों से, सिनेमा चित्रों से थोड़े दिनों में आरोग्य और अच्छी खेती के तरीकों का प्रचार कर सकती है । जिस किसान के द्वार पर खड़े होने की जगह नहीं, वह ताजी हवा कहाँ से लावे, जिसके

भोजनों का ठिकाना नहीं, वह अच्छी खाद कहाँ से लावे। हम तो कहेंगे कि देहातवालों की निरक्षरता ही उसकी रक्षा कर रही है, नहीं उनमें भी वही पाखंड, वही विलास, वही स्वार्थपरता आ जाती, जो आज के विद्वानों को विशेषता है। जो हमारे किसानों को निरक्षर कह कर उन पर दया करते हैं, उन्हें इन निरक्षर भट्टाचार्यों से बहुत सीखने को मिल सकता है। आज अस्सी फी सदी साक्षर बेकार बैठे अपनी साक्षरता के नाम को रो रहे हैं। ऐसी साक्षरता किसानों के लिए घातक होगी। उनमें सब से बड़ी ज़रूरत संगठन की है, जिसमें वे इतनी आसानी से दूसरों के शिकार न बनाये जा सकें और यह संगठन करना राजद्रोह है।

२६ फरवरी १९३४

यू० पी० काउंसिल में कृषकों पर अन्याय

यू० पी० काउंसिल की इस बैठक में होम मेम्बर सर जगदीश प्रसाद ने एक क़ानून का मसविदा पेश किया था, जिसके अनुसार काश्तकारों से बक़ाया लगान पर बारह रु० सैकड़े ब्याज़ के बदले छ रू० सैकड़े ब्याज की व्यवस्था की गयी थी। यह भी किया गया था कि बक़ाया लगान की इल्लत में काश्तकारों को चार साल तक बेदख़ल न किया जाय। इस मसविदे का श्री रावकृष्णपालसिंह और श्री उपाध्याय ने समर्थन किया। मगर ज़मींदारों को भला कैसे सब्र होता। चारों तरफ़ से छः रू० फी सदी पर समझौता हुआ। चार साल की जगह तीन साल की मुद्दत रखी गयी। यह है हमारे काउंसिलों में किसानों के प्रतिनिधि न रहने का फल। जमींदार साहबान हर मौके पर अपने को किसानों का प्रतिनिधि बतलाया करते हैं। सरकार भी उन्हें किसानों का स्वाभाविक नेता कहती है, लेकिन जब कोई ऐसा अवसर आता है, कि ज़मींदारों से किसानों को कुछ रियायत दिलायी जाय, तो ये स्वाभाविक नेता रस्सी तुड़ाने लगते हैं। ऐसा शायद ही कभी हुआ हो कि ज़मींदार समुदाय ने कभी किसानों के प्रति न्याय का समर्थन किया हो। उस पर वे चाहते हैं कि जनता उनका आदर करे, और उनका यश गाये। ऐसी हरकतों से ज़मींदार लोग अपनी जड़ खोद रहे हैं और जनता में उनका जो कुछ रहा सहा प्रभाव है, उसे भी खोये देते हैं। मि० उपाध्याय ने यही बात जब खोलकर कह दी, तो सारे ज़मींदार भिन्ना उठे, जिनमें जनाब होम मेम्बर साहब भी थे। कहा गया कि इस क़ानून के जन्मदाता मो० फसीहुद्दीन साहब हैं, जो खुद ज़मींदार हैं और जिन्होंने तीन फ़ी सदी सूद की व्यवस्था की थी। बेशक ऐसे ज़मींदार हैं, जिनमें किसानों के प्रति सहानुभूति है, लेकिन उसी तरह जैसे हाउस आफ़ लार्ड में भी दो-एक मेम्बर ऐसे हैं, जिनको भारत पर दया आती है। लेकिन इन बेचारों की नक्कारखाने

में सुनता कौन है। वहाँ तो बहुमत ज़मींदारों का है और सरकार सदैव उनकी रक्षा करती रहती है। किसानों की ग़रीबी पर किसी को तरस नहीं आता। हमें ज़मींदारों से शिकायत नहीं। उनसे जनता ने किसी तरह की आशा रखना छोड़ दिया है। हमें शिकायत सरकार से है, जो किसानों की दशा से भली-भाँति वाकिफ़ होकर भी और यह जानते हुए भी कि इस मंदी में जितनी तबाही उन पर आयी है, उतनी समाज के और किसी अंग पर नहीं आयी, हमेशा ज़मींदारों का ही पक्ष लेती है। जो किसान बड़ी मुश्किल से लगान दे पाता है, यहाँ तक कि ज़मींदारों के कथनानुसार हर साल पचास फ़ी सदी लगान बाक़ी रह जाता है, वह सूद कहाँ से दे सकता है। ज़मींदार उस पर यों ही बक़ाया नहीं छोड़ देते। मार धाड़, कुरकी-सरसरी सब कुछ करके तब चुप होते हैं। जब इतने पर भी काश्तकार लगान पूरा नहीं अदा कर सकता, तो वह नौ फी सदी सूद कहाँ से देगा। रिआयत ही करते हो, तो ऐसी रिआयत करो कि उसका कुछ महत्व हो। इन भले आदमियों को यह नहीं सूझता कि उन्हें पैंतालीस भी सदी का जो नफ़ा होता है, वह तो मानो मुफ़्त ही है। वह कोई परिश्रम नहीं करते, पसीना नहीं बहाते, केवल दो-चार शहने रखकर रुपये वसूल कर लेते हैं और बैठे मौज उड़ाते हैं। उनके मुक़ाबले में किसानों की क्या दशा है? एक लाख किसानों को खड़ा कर दीजिए। शायद ही किसी की देह पर साबित कपड़े निकलें। ज़मींदारों पर भी करज़ इसलिए है कि वह आमदनी से ज़्यादा खर्च करते हैं। काश्तकार इसलिए तबाह हैं कि उसकी खेती में न काफ़ी उपज है, न जिसका अच्छा दाम है और उस पर एक न एक दैवी बाधा सदैव उसके पीछे पड़ी रहती है। मगर यहाँ तो अपना पेट अफरना चाहिए, कोई भूखा मरता हो, तो मरे। फिर भी यह शिकायत कि जनता पर ज़मींदारों का प्रभाव नहीं है।

२६ फरवरी १९३४

जमींदारों ने फिर मुँह की खायी

यू० पी० काउंसिल में अवध के एक ताल्लुकेदार साहब ने यह प्रस्ताव किया कि उन्हें असामियों से लगान वसूल करने के लिए असामियों से ज़्यादा सख्ती से काम लेने का अख्तियार दिया जाय। खुद तो ये लोग रोया करते हैं कि सरकार उनसे बड़ी सख्ती से माल-गुजारी वसूल करती है, लेकिन खुद जिस बात से उन्हें शिकायत है वही अधिकार दूसरों पर प्राप्त करना चाहते हैं, शुक्र यह है कि गवर्नमेंट ने इस प्रस्ताव को स्वीकृत किया नहीं, नहीं तो गज़ब ही हो जाता। जमींदार लोग भूल जाते हैं कि किसानों पर वे जितनी सख्ती करते हैं, अगर उसका शतांश भी सरकार उन पर करे तो वह

ज़मींदारी छोड़ कर भाग खड़े हों। सरकार ज्यादा से ज्यादा हिरासत में ले लेती है, यहाँ तो किसानों पर डंडे भी पड़ते हैं, उन्हें धूप में भी खड़ा किया जाता है, मुर्ग़ा भी बनाया जाता है। और अब आप क्या अख़्तियार चाहते हैं कि असामी से लगान न वसूल हो तो उसे पीस कर पी जाँय? किसान से अगर लगान नहीं वसूल होता तो इसलिए कि वह दे नहीं सकता। उस पर तरह-तरह की दैवी आफतें आती रहती हैं, जिनसे उसका कोई काबू नहीं चलता। उस ग़रीब को तो आने रोज की मजूरी भी नहीं पड़ती। ज़मींदार अगर लगान नहीं दे सकता तो इसलिए कि वह ऐश-आराम में अपनी आमदनी से ज्यादा खर्च कर देता है। और फिर तो जो कुछ उसे मिलता है वह माले मुफ़्त। हाँ, जिन बेचारे ज़मींदारों ने गाढ़ी कमायी के पैसे से ज़मींदारी खरीदी है, उनकी दशा शोचनीय है। ख्वाब देख रहे थे बेसी लगान करके घर भर लेने का, कहाँ अब रुपये का सूद भी नहीं निकल रहा है, मगर लगान न सही, सीर, सायर तो है, नज़राना तो है, चौथ तो है, बेगार तो है। और अगर उसने गलती की तो उसका फल भोगे। बैंकों और मिलों में तो पैसे कभी-कभी डूब जाते हैं। सरकार के इस जवाब से ज़मींदारों की आँखें अगर अब तक नहीं खुली थीं तो अब खुल गयी होंगी। उन्हें समय की गति पहचाननी चाहिए और अपने ही हाथों अपने पाँव में कुल्हाड़ी न मारनी चाहिए क्योंकि वह दिन बहुत दूर नहीं है, जब किसान के हाथ में कुछ शक्ति होगी और उसकी भी कुछ आवाज़ होगी।

१६ मार्च १६३३

किसान सहायक एक्ट

दिसम्बर में किसानों और काश्तकारों को महाजनों के अन्याय से बचाने के लिए जो कानून बनाया गया था, उसे गवर्नर ने फिर से विचार किये जाने के लिए वापस कर दिया है। थोड़े दिन हुए बैंकरों का एक डेपूटेशन सर माल्कम हेली के पास गया था। यह उसी का परिणाम है। वह बिल बना था किसानों की रक्षा के लिए। मगर हुआ यह है कि किसान तो पीछे रह गये, बड़े-बड़े ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों के हित को ही प्रधानता दे दी गयी। बेचारा किसान जहाँ का तहाँ रह गया। किसान ने कर्ज लिया है बैलों के लिए या बीज के लिए या खाने के लिए। उसको यदि सरकार ऋण से मुक्त करा दे, तो वह कृषक-समाज का उद्धार करेगी। ज़मींदारों ने कर्ज लिया है ऐयाशी के लिए, शराबखोरी के लिए, बड़े-बड़े महल बनवाने के लिए। उनके हित के लिए किसानों को क्यों दबाया जाय, जो समाज में ज़मींदारों से कहीं उपयोगी हैं।

१६ अप्रैल १६३४

बम्बई के मजूरों की हड़ताल

बम्बई के मजूरों की हड़ताल अभी तक जारी है, और उसका क्षेत्र दिन-दिन बढ़ता जाता है। नागपुर और दिल्ली में कई मिलें बन्द हो गयी हैं। सरकार ने बम्बई में मजूरों के प्रमुख नेताओं को हिरासत में ले लिया है और मजूरों पर कई बार लाठी चार्ज हो चुके हैं और गोलियाँ भी चली हैं। हुल्लड़बाजी तो कोई सरकार न पसन्द करेगी और उसे रोकना उसका काम है। यह भी मानी हुई बात है कि ऐसी हड़तालों में कुछ न कुछ हुल्लड़बाजी होना लाज़िमी है और स्वेच्छा से हड़ताल करनेवालों की तादाद कभी बहुत ज्यादा नहीं होती, लेकिन सरकार का काम केवल हुल्लड़बाजी को रोकना ही नहीं है बल्कि इसकी तहकीक़ात भी करना है कि मजूरों की शिकायतें क्या हैं, और वह जा हैं या बेजा। मजूरों को हुल्लड़बाजी से कोई प्रेम नहीं है और न वे अकारण अपना सिर फोड़वाने, या गोली खाने के लिए तैयार हो जाते हैं। फ़रजी शिकायतों के बल पर कोई भी नेता इतनी बड़ी हड़ताल नहीं करा सकता, और होती भी तो बहुत जल्द ठंडी हो जाती। जब सरकार इन झगड़ों में दखल देती है, तो उसे दोनों तरफ को दलीलें सुननी चाहिए। हम यह मान लेते हैं कि नेताओं ने न उभाड़ा होता, तो मजूर दबे-दबाये अपना काम करते रहते और हर तरह को सख्ती सहते जाते, लेकिन नेता वही होता है जो गरीबों और मजूरों के दुःख से केवल दुखी होकर न रह जाय, बल्कि उसके निवारण के उपाय भी बताये। मजूरों को मजूरी घटायी जा रही है, और यह कहा जा रहा कि मालिकों को लाभ नहीं हो रहा है। इसका फैसला कौन करे कि वास्तव में लाभ हो रहा है या नहीं। सम्भव है, मालिक को आशानुसार लाभ न होता हो और वह इसे हानि समझता हो। या मैनेजिंग एजेंट लोग लम्बी-लम्बी रक़म जेब में डाल कर कहते हों कि कुछ नफ़ा नहीं हो रहा है। इसकी पूरी जाँच होनी चाहिए। इतना लिख चुकने पर हमें यह जानकर संतोष हुआ कि बम्बई की इस समस्या की जाँच करने के लिए एक कमेटी बनायी गयी है, जिसने अपना काम शुरू कर दिया है। हमें आशा है इस कमेटी में मजूरों की शिकायतों पर ध्यान दिया जायगा। अब वह जमाना नहीं रहा, जब मजूर अपनी दशा को अपने भाग्य के अधीन समझ कर संतुष्ट हो जाते थे। मजूर अब अपनी दशा और भाग्य को सुधारना चाहता है और उसका प्रयत्न करता है। मजूरों ने अन्य देशों में कैसे-कैसे अधिकार प्राप्त कर लिये हैं, इससे वे बेखबर नहीं हैं। वह अपना खून और पसीना एक करके भी भर पेट अन्न नहीं पाता, उल्टे उसकी मजूरी काटी जाती है, उधर मिल के पूँजीपति, डाइरेक्टर और मैनेजिंग ऐजेंट कुछ नफ़ा न होने पर भी उसी शान और सुख से दनदना रहे हैं, तो उसका खून खौल उठता है और वह इस व्यवस्था को जड़ से खोद डालना चाहता है, जिसमें ऐसा अन्याय सम्भव है, चाहे इस

कोशिश में उसकी जान ही पर क्यों न बन आये। वह यह नहीं देख सकता कि उसकी मेहनत की कमायी पर दूसरे मौज करें और वह मुँह तकता रहे। अब तो उसे तब ही सन्तोष हो सकता है कि मिल के प्रबन्ध में उसके प्रतिनिधि भी रहें और लाभ में उसका भी भाग हो। यह सहकारी आयोजना ही अब इस समस्या को हल कर सकती है, दूसरा कोई उपाय नहीं।

७ मई १९३४

नागरिक-शासन

काशी म्युनिसिपल बोर्ड

संयुक्त प्रान्तीय कौंसिल में, एक प्रश्न के उत्तर में सरकार की ओर से कहा गया था कि काशी म्युनिसिपल बोर्ड की जाँच के लिए नियुक्त समिति की सर्वसम्मत रिपोर्ट है कि बोर्ड को मुअत्तल कर दिया जावे तथा प्रबन्ध सरकार अपने हाथ में ले ले। काशी म्युनिसिपल बोर्ड के प्रबन्ध के विषय में हमें भी ज़बरदस्त शिकायत है तथा हम भी यह स्वीकार करते हैं कि बोर्ड का प्रबन्ध अनेक कारणों से बहुत ही असन्तोषजनक है। फिर भी, हमारी धारणा है कि इस बोर्ड में कई ऐसे कर्मचारी हैं, जो बहुत ही योग्य हैं, कई ऐसे मेम्बर हैं जो बड़े परिश्रमी तथा निस्पृह सेवक हैं, पर अभी तक अनेक कारणों से उनको पर्याप्त सेवा का अवसर नहीं मिला है। राजनीतिक कारणों से नगर के प्रथम श्रेणी के नागरिक बोर्ड की ओर से उदासीन रहे हैं, कुछ को जेल यातनाओं के कारण काम करने का मौका नहीं मिला है। बोर्ड के कार्यों में पूरी दिलचस्पी स्वयं उनके सदस्य या चेयरमैन भी नहीं लेते, इसके सबसे ताजे उदाहरण हमारे सामने कई हैं, पर यदि राजनीतिक परिस्थिति सुधरे तथा सरकार नगरनिवासियों की निर्वाचक-योग्यता बढ़ा, पुनः निर्वाचन करा दे, तो कोई कारण नहीं है कि नगर का पूरा सुधार न हो जावे, तथा बोर्ड का काम ठीक रास्ते पर आ जावे। पर सरकारी प्रबन्ध में बोर्ड की हालत सुधरेगी, यह निश्चित नहीं है। जब तक बोर्ड सरकार के हाथ में थी, कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। लाखों का कर्जा और सफ़ाई की हीन-दशा दोनों ही छोड़कर सरकार ने गैर-सरकारियों के हाथ में बोर्ड का इंतजाम सौंपा था। अब किस प्रकार आशा की जावे कि सरकार अधिक सफल होगी ! काशी की जो कुछ उन्नति हुई है, वह गैर सरकारी बोर्ड के ही कार्य-काल में, और हमारी सम्मति में गैर सरकारी प्रबन्ध सदैव उत्तम होता है, कम से कम निरंकुश नहीं होता।

कौंसिल के पिछले अधिवेशन में श्रीयुत गजाधर प्रसाद का यह प्रस्ताव बड़ा उपयोगी था कि स्थानीय शासन-विभाग के मन्त्री किसी बोर्ड के विषय में कार्रवाई करने

के पहले कौंसिल से परामर्श कर लिया करें। यद्यपि यह प्रस्ताव गिर गया, पर क्या हम आशा करें कि काशी के विषय में कोई निश्चय करने के पहले कौंसिल से परामर्श कर लिया जावेगा!

२१ नवम्बर १९३२

युक्तप्रान्तीय कौंसिल के सदस्यों से

प्रान्तीय कौंसिल की स्थगित बैठक चौबीस नवम्बर से पुनः प्रारम्भ हो गयी है। इसके सामने कई महत्वपूर्ण बात विचारार्थ पेश होंगी। प्रान्त के लिए, अमन और अमान की रक्षा के लिए, मामूली क़ानूनों को जरूरत के मुताबिक न होने के कारण, सरकार एक नया काला क़ानून चलाना चाहती है। इसे क़ानून का रूप देने के लिए विचारार्थ कौंसिल में पेश किया गया था। अब यह कानून कमेटी से निकलकर, कौंसिल के सामने पेश होगा। इस क़ानून की ज़रूरत समझाते हुए होम मेम्बर ने कहा था, कि काला क़ानून सत्याग्रह आन्दोलन को एकदम न कुचल सका, इसीलिए अब इस क़ानून की ज़रूरत पड़ी। तर्क से यह बात समझ में नहीं आती कि वर्ग यदि यही नियम, अधिक कठोर रूप में, एक वर्ष में प्रयोग के बाद भी, अपनी उपयोगिता न सिद्ध कर सके तथा अपना उद्देश्य न पूरा कर सके, तो उन्हें कानून का रूप देने से क्या लाभ होगा? इस विषय में इतना काफ़ी लिखा जा चुका है, कि हम उन्हीं बातों को दुहराना नहीं चाहते। प्रान्तीय कौंसिलरों से हमारा यही अनुरोध है, कि वे इस कानून को क़ानून का रूप न दें तथा सरकार को यह सलाह दें, कि अमन और अमान की सबसे बड़ी रक्षा प्रजा का विश्वास-भाजन बनना है। यह किस प्रकार हो सकता है, यह सरकार स्वयं जानती है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न कौंसिल के सामने है—काशी-म्युनिसिपल-बोर्ड के प्रबन्ध को सरकार के हाथ में जाने देना या नहीं। इस विषय में हमें जो कुछ कहना था, वह हम अपने पिछले अंक में लिख चुके हैं। यहाँ पर हम केवल कौंसिल के सदस्यों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं। हमें आशा है, कि वे इस बात का सतत उद्योग करेंगे, कि प्रान्त के इतने सम्मानित बोर्ड का प्रबन्ध ग़ैर-सरकारी हाथों में चला जावे। अन्य स्थानों के बोर्डों की तुलना में काशी की म्युनिसिपैलिटी का प्रबन्ध कहीं अधिक उत्तम है। हमारे सामने बोर्ड की सालाना रिपोर्टों की जो फाइल है, उससे यही पता चलता है, कि कुप्रबन्ध के सबसे कटु समय में प्रत्येक महकमे में आशातीत उन्नति होती गयी है। शिक्षा देना बोर्ड का प्रधान काम है और इस दिशा में हम काशी को अपने प्रान्त-भर में सबसे अग्रसर पाते हैं। सम्भव है, इसका श्रेय यहाँ के शिक्षाध्यक्ष को

अत्यन्त उत्कट योग्यता को भी प्राप्त हो, पर बोर्ड का कार्य तो सामूहिक रूप से सराहनीय ही कहा जावेगा। गत पाँच वर्षों में यहाँ के म्युनिसिपल स्कूलों के विद्यार्थियों तथा छात्राओं की संख्या तेरह सौ तैंतालिस से तीन हजार छासठ सहायक स्कूलों में तथा चार हजार आठ सौ अठाइस से आठ हजार पाँच सौ चौंतीस निजी स्कूलों में बढ़ गयी है। सहायक स्कूलों की संख्या पच्चीस से सैंतालीस तथा निजी स्कूलों (बोर्ड के प्रत्यक्ष संचालन में) की सैंतीस से उनसठ हो गयी है। स्कूलों में छुआछूत का भेद-भाव उठा दिया गया है। प्रायः सभी प्रकार के दस्तकारी के काम की शिक्षा दी जाती है। रोनियों-टाइपिंग का भी क्लास है। बोर्ड का अंग्रेजी मिडिल स्कूल अब हाई स्कूल होने वाला है। मिडिल स्कूल के परीक्षोत्तीर्णों का अनुपात प्रान्त भर के अनुपात से अधिक, यानी पंचावबे प्रतिशत है। यह सब उन्नति केवल पाँच वर्ष के भीतर हुई है। इतनी उन्नति क्या सरकार-द्वारा परिचालित किसी भी स्कूल में हो पायी है ? बोर्ड का शिक्षा पर व्यय-पाँच वर्ष पहले सत्तर हजार रु० था। अब वह एक लाख पचास हजार रु० व्यय करती है, इस रक़म से सरकार केवल बारह हजार रु० साल की ही सहायता देती है।

हमारी समझ में बोर्ड के सुकार्यों का यह एक उदाहरण है। खराबियाँ भी अनेक हैं, पर यदि दफ्तर की खराबियों से बोर्ड मुअत्तल होने लगे, तो अब तक कितने ही सरकारी मुहकमों को गैरसरकारी हाथों में कर देना चाहिए था।

हमने एक नोटिस देखी है, जिस पर अनेक सम्मानित नागरिकों के हस्ताक्षर हैं, इससे पता चलता है कि नागरिक, टाउनहाल में सभा करके, सरकारी हस्तक्षेप का विरोध कर रहे हैं। सुना है कि इस विषय में मीटिंग के सभापति दीवान गोकुलचन्द्र कपूर स्थानीय शासन विभाग के मंत्री से भी मिलनेवाले हैं। हम इस दिशा में जितने वैध प्रयत्न होंगे, सबकी सराहना करेंगे तथा आशा है, कौंसिल के सदस्य भी हमारी सहायता करेंगे।

२८ नवम्बर १९३२

काशी म्युनिसिपल बोर्ड

बोर्ड का भविष्य क्या होगा, इस विषय में हमें कोई निश्चित सूचना नहीं प्राप्त हो सकी। कौंसिल की बैठकों के सामने आर्डिनेंस बिल पेश था और बड़े खेद का विषय है कि प्रजातन्त्र के दुर्बल होने के कारण सरकार बराबर जीतती जा रही है। फिर भी, हमें आशा है कि बोर्ड के विषय में कोई न कोई बात मालूम हो ही जावेगी। यह सम्भव है कि सरकार ने हमारी टिप्पड़ियों की ओर कुछ ध्यान भी दिया है।

पंडित इकबालनारायण गुर्टू के प्रयाग विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर हो जाने के कारण वहाँ के चेयरमैन का स्थान खाली हो जाता है। यद्यपि यह पद बड़े लोभ का

है तथा इसके लिए बड़े-बड़े वीर उम्मेदवार होंगे पर हमारी सलाह तो यह है कि इस पद के लिए चेयरमैन वही चुना जावे जो कुछ सार्वजनिक सेवा का अनुभव रखता हो, सरकार में भी जिसका कुछ प्रभाव हो, उत्साही हो, युवक तथा परिश्रमशील हो। नाम के आडम्बर या किसी की रियासत का यदि इस विषय में ख्याल किया गया तो वह नगर के लिए तथा मेम्बरों के लिए लज्जास्पद होगा।

गत दो दिसम्बर को बोर्ड के एक अत्यन्त उत्साही तथा नवयुवक सदस्य दीवान रामचन्द्र कपूर एक वर्ष का कारावास भोगकर छूट आये हैं। बोर्ड को, चौकवार्ड को, एक वर्ष बाद पुनः एक साहसी तथा सत्यनिष्ठ कार्यकर्ता प्राप्त हो गया। इसके लिए हम बोर्ड को बधाई देते हैं।

५ सिदम्बर १९३२

काशी म्युनिसिपल बोर्ड का निर्वाचन

पंडित इक़बाल नारायण गुर्टू के वाइस-चांसलर हो जाने के कारण स्थानीय नगर बोर्ड के लिए एक सुयोग्य चेयरमैन का चुनाव निकट है। इस विषय में हम अपना मत प्रकट कर चुके हैं। हम लिख चुके हैं कि व्यर्थ के आडम्बर का ख्याल न कर, किसी के धन या निरर्थक बड़प्पन का विचारकर, इस पद पर किसी को नहीं चुनना चाहिए। बोर्ड की जैसी दशा है, उसे देखते हुए हमें एक निर्भीक, नवयुवक, नगर-सेवा का इच्छुक तथा कुछ अनुभव रखनेवाला, साहसी तथा मेम्बरों पर हावी चेयरमैन चुनना चाहिए और हमें पूरी आशा है कि बोर्ड के सदस्य अपनी ज़िम्मेदारी का दुरुपयोग न करेंगे।

१९ दिसम्बर १९३२

काशी म्युनिसिपल बोर्ड का निर्वाचन

काशी म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन पं० इक़बाल नारायण गुर्टू के अपने पद से त्यागपत्र दिये एक महीने से ऊपर हो गये। वे २६।नवम्बर को ही इलाहाबाद विश्व-विद्यालय के वाइस-चांसलर चुन लिये गये थे और चार्ज ले लेने के बाद, इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे बोर्ड के चेयरमैन नहीं रह गये। हमें मालूम हुआ है कि उन्होंने तुरन्त अपना त्यागपत्र दे दिया था। चेयरमैनी की दौड़-धूप शुरू हो गयी, पर सरकारी गज़ट में त्यागपत्र न छपा। बहुत इन्तज़ार के बाद १७ सितम्बर के गज़ट में त्यागपत्र छापा गया।

फिर भी नये चुनाव की कोई तारीख नहीं तय की गयी थी। आशा थी कि एक सप्ताह बाद जो गज़ट प्रकाशित होगा उसमें तारीख तय कर दी जावेगी, पर लगातार दो गज़ट निकल चुके और कोई भी तारीख नहीं तय की गयी।

बहुत सोचने पर भी हम इसका कारण न समझ सके। क्या स्थानीय शासन विभाग इस समय बहुत ही मुसीबत में है, बड़ी झंझटों में है, बड़े काम में है ? आखिर बात क्या है। एक चेयरमैन के इस्तीफ़ा देने के बाद क्या एक महीने तक बिना चुनाव कराये यह पद खाली रह सकता है ? यद्यपि, आज-कल बोर्ड के सीनियर वाइस चेयर-मैन मौलवी अब्दुल मजीद स्थानापन्न चेयरमैन हैं, वे योग्य तथा अनुभवी हैं, पर हमें जहाँ तक मालूम है, बोर्ड के ऐक्ट के अनुसार सीनियर वाइस चेयरमैन कोई मीटिंग भी नहीं बुला सकता। साथ ही, क्या सरकार को यह क़ानूनन हक़ हासिल है कि वह पन्द्रह दिन तक भी चुनाव रोक सके ?

बोर्ड के पिछले कार्यों की जाँच के लिए जो कमेटी बैठी थी उसके विषय में हम लिख चुके हैं। उस कमेटी के कारण और भी हलचल है। कहीं कुछ अफ़वाह उड़ती है, कहीं कुछ अफ़वाह है कि सरकार इस बोर्ड से पिछली बोर्ड के दोषों के लिए जवाब तलब करनेवाली है। इसीलिए चेयरमैन के चुनाव की तारीख मुक़र्रर हो रही है। बहुत सोचने पर भी हमारी समझ में बात नहीं आती कि चेयरमैन के चुनाव से और हमसे क्या मतलब। यदि जवाब तलब भी किया गया तो बिना चेयरमैन के, बिना मीटिंग के जवाब कैसे दिया जा सकता है। चुना हुआ चेयरमैन और होता है और सीनियर वाइस चेयरमैन और होता है—चाहे अन्त में दोनों व्यक्ति एक ही क्यों न हों। हमें तो इस कार्य में सरासर सरकारी भूल दीख पड़ती है। एक अजीब अनिश्चितता छायी हुई है। बोर्ड के हरेक कर्मचारी से लेकर प्रत्येक नागरिक तक आशंका का वायु-मण्डल फैला हुआ है। अन्त में क्या होगा, हम क्या कल्पना करें। पर, सरकार काशी के साथ घोर अन्याय कर रही है।

९ जनवरी १९३३

काशी म्युनिसिपल बोर्ड

अन्त में बोर्ड के विषय में जो शंका तथा संदेह का वातावरण छाया हुआ था, वह एक रास्ते पर आ रहा है। प्रान्तीय सरकार ने बोर्ड के कुशासन के विषय में जवाब-तलब किया है। हमारी समझ में दो ही बातें नहीं आयीं। किस बात का जवाब दिया जायगा ? नयी बोर्ड पिछली बोर्ड के पापों का (?) या अपराधों (?) का किस प्रकार जवाब देगी ? दोष किसी ने किया, जवाब कौन देगा ? क्या इसमें घोर कानूनी भूल नहीं

है ? दूसरी बात यह है कि जवाब कौन देगा ? बोर्ड ! बोर्ड का चेयरमैन कौन है ? बिना चेयरमैन के कहीं बोर्ड भी पूरी होती है, खासकर ऐसे मौके पर तो यह अत्यावश्यक है कि बोर्ड का एक चेयरमैन हो ? आज दो महीने से बोर्ड—काशी इतने बड़े नगर की बोर्ड बिना चेयरमैन के हैं। क्या सरकार चेयरमैन का चुनाव न कराकर काशी के साथ घोर अन्याय नहीं कर रही है और जाँच के अपने कार्य को ही हास्यास्पद-सा बना रही है ! हमें आशा है, कि प्रान्तीय सरकार तुरन्त ध्यान देगी !

३० जनवरी १६३३

काशी म्यूनिसिपेलिटी

क्या, कभी भी, किसी भी नगर के म्युनिसिपल बोर्ड के शासन में किसी भी सरकार ने इतना खिलवाड़-सा मचा रखा है, जितना युक्त प्रान्तीय सरकार ने काशी के साथ ! बोर्ड का कोई चेयरमैन नहीं है। एक जाँच-कमेटी बैठी थी जिसके विषय में बोर्ड की सरकारी तौर पर कोई सूचना नहीं है। केवल अफवाह सुनकर मेम्बर और अफ़सर घबड़ाये हुए हैं। फल क्या होगा, कोई नहीं जानता। यदि सरकार स्वयं कोई निश्चय नहीं कर सकी है तो क्या हम अपनी ओर से यह सलाह दें कि बोर्ड का नया निर्वाचन करा डाले। नया बोर्ड भी यदि उसके मन की न हो तब कोई कार्रवाई की जावे। यदि यह डर हो कि बोर्ड काँग्रेस की हो जावेगा तो हम स्वयं इसे बिल्कुल ही भ्रम समझते हैं। काशी के लिए दल विशेष के मेम्बरों की नहीं—पर सच्चे सेवकों की आवश्यकता है। काशी की जनता को इस समय जो हानि होती है, उसका ज़िम्मेदार कौन है ?

६ फरवरी १६३३

सरकारी बोर्ड

अन्त में काशी का नागरिक जीवन समाप्त हो गया। अब उसके नगर-शासन का अन्त तीन वर्ष के लिए हो गया। यह हमारे नगर के लिए लज्जा की बात है। संभवत: हम इसी के अधिकारी थे। अनुचित लोगों के ऊपर विश्वास करने का, अनुचित लोगों को नेता मान लेने का, अनुचित लोगों की बातों को सुनकर सह लेने का दण्ड मिल गया और पहली मई से काशी म्युनिसिपल बोर्ड सरकारी म्युनिसिपल-बोर्ड हो गया।

फिर भी, हमें सन्तोष है कि मि० लिच विशेष अफ़सर नियुक्त हुए हैं। वे स्वतंत्र विचार हैं, सुयोग्य शासक हैं। हमें आशा है कि इस अभागे नगर के शासन में वे उदारता से काम लेंगे। मेम्बरों का पाप तो मेम्बरों के सर गया; अब वे हरेक सुयोग्य कर्मचारी को काम करने का अवसर देंगे तथा नगर के हित में आवश्यक प्रायः सभी बातों का उदारता से पालन करेंगे और नगर के कुछ असम्मानित तथा दम्भी व्यक्तियों से सावधान रहकर अपना कर्तव्य पूरा करेंगे!

१३ फ़रवरी १९३३

काशी म्युनिसिपल बोर्ड

अन्त में जिस बात की हमें आशंका थी वही होकर रही। शुरू से ही हम बार-बार प्रान्तीय सरकार से अनुरोध करते आ रहे हैं कि वह काशी-म्युनिसिपल बोर्ड के विषय में इतनी ढिलाई की नीति बर्तना छोड़ दे, क्योंकि अपनी ढिलाई को पूरा करने के लिए उसकी यकायक की जल्दबाजी बड़ा घातक फल लावेगी। वही हो भी गया। युक्त प्रान्तीय कौंसिल में काशी म्युनिसिपल बोर्ड के कथित कुप्रबन्ध की जाँच के लिए एक कमेटी नियुक्त करने का प्रस्ताव पास होने के ठीक सात महीने बाद प्रान्तीय सरकार ने कमेटी नियुक्त की। कमेटी में प्रजा-पक्ष इतना दुर्बल था कि नियुक्ति के साथ ही नागरिक उससे नाउम्मेद हो गये। खैर, कमेटी को वे क़ानूनी अधिकार भी नहीं प्राप्त थे, जो अन्य कमेटियों को होते हैं। इसके सामने गवाही देने कई प्रकार के लोग गये, कुछ नगर के बोर्ड के सच्चे हितैषी थे, कुछ अपने दलवालों के समर्थक थे और कुछ ऐसे लोग भी थे जो म्युनिसिपैलिटी के हारे उम्मीदवार थे। नगर के अधिकांश प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने कमेटी की कार्यवाही में कोई भाग न लिया। यह कमेटी के लोक-प्रिय न होने और लोक-प्रिय न बन सकने का एक नमूना है, जिस पर टीका करना ही व्यर्थ है।

कमेटी ने ज्यादा काम दफ्तर ही में किया। एक वर्ष में रिपोर्ट का एक लम्बा-चौड़ा पुलिन्दा तैयार हुआ। कहते हैं कि चार सौ पन्ने की है। जो हो, सरकार ने रिपोर्ट को बुरी तरह जनता से छिपा रखा है। यदि रिपोर्ट में इतना भयानक भंडाफोड़ है तो म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों को चुननेवाली जनता को उसकी नालायकी बतला देनी चाहिए। यह भी हो सकता है कि जनता द्वारा रिपोर्ट की बुरी तरह धज्जियाँ उड़ने के डर से उसे भयभीत मेम्बरों के हाथों में ही रखा गया है। जनता के विचार में अनेक दोष होते हुए भी बोर्ड के कई विभागों का काम बहुत ही अच्छा है, जैसे—सफाई और शिक्षा का। यह भी सन्देह नहीं कि शिक्षा-विभाग अपने शिक्षाध्यक्ष के कारण पूर्णतः राष्ट्रीय ढंग से संचालित होता है। यह राष्ट्रीयता प्रत्येक नीम-सरकारी को भी खटक

सकती है। कहीं रिपोर्ट से इस प्रकार की बातों की ध्वनि तो नहीं निकलती? क्या इन्हीं ध्वनियों के कारण रिपोर्ट छिपायी तो नहीं जा रही है—या हो सकता है कि रिपोर्ट में डाक्टर भगवानदास तक के समय की बोर्ड के "स्वर्ण-शासन, राष्ट्रीय-शासन" की कुछ भर्त्सना हो और ज़रूर जनता का यह सब जानना, रिपोर्ट के प्रति उसके हृदय में घृणा पैदा कर देता हो, इसीलिए उसे वह अमूल्य पोथा नहीं दिया जा रहा है।

जो हो, रिपोर्ट सरकार के पास कई महीने पहले पहुँची। वहाँ इस पर क्या विचार होता रहा, यह कौन जाने, पर हमें तो पता अभी उस दिन चला जब यह कहा गया कि बोर्ड से पन्द्रह दिन के भीतर जवाब तलब किया गया है। यह एक बड़े नगर के साथ अन्याय की पराकाष्ठा है, चरम सीमा है। चार सौ पन्ने की रिपोर्ट का कम से कम भी यदि उत्तर दिया जावे—तो दो सौ पन्ने से कम क्या होगा। केवल आम बातों का जवाब देने के लिए ही इतने पन्ने चाहिए और बोर्ड में जवाब तैयार कराकर इतने पन्नों का मसविदा लिख लेने के लिए भी कम से कम दो माह तो चाहिए ही। इस पन्द्रह दिन में क्या हो सकता है? यदि व्यर्थ का जवाब मँगाकर बोर्ड को ही ज़लील कराने की प्रान्तीय सरकार की इच्छा नहीं है, यदि उसे केवल एक आडम्बर ही नहीं रचना है, तो उसे चाहिए कि उत्तर देने का समय बढ़ा दे अन्यथा बिना जवाब माँगे ही बोर्ड को रद्द कर दे। जो काम सरकार ने ढाई बरस में किया, वही बोर्ड पन्द्रह दिन में कर लेगी, यह तो समझ ही में न आनेवाली बात है। हमें इस प्रकार की जल्दबाज़ी के भीतर क्या रहस्य है, यही समझ में नहीं आता। दोषारोपी से सफ़ाई देनेवाले का काम कहीं अधिक कठिन होता है।

अस्तु, यदि बोर्ड की हालत खराब ही है तो सरकार क्या उसे मुअत्तल कर नगर का भला करती है? सरकार द्वारा संचालित बोर्ड की क्या दशा है, इसी की तुलना से सब स्पष्ट हो जायगा। बोर्ड का प्रबन्ध जब सरकार के हाथ में था, तब से और अब यदि तुलना की जाय तो ज़मीन-आसमान का फर्क मिलेगा। इस समय नगर में बिजली है, रोशनी है, कोलतार की सड़कें हैं, औद्योगिक-शिक्षा का प्रबन्ध है, अंग्रेजी स्कूल है, तीन मिडिल स्कूल हैं, विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। तब कितना कर्ज़ा था, अब पचहत्तर हजार रु० साल की खर्च में या बजट में कमी है, जो समाचार है, कि पूरी कर दी गयी है, उतने ही रुपये की अधिक आय इस साल होगी और शायद एक पाई भी क़र्ज़ नहीं है। यह ज़रूर है कि सरकारी प्रबन्ध में देर से, कठिनाई से, प्रजा का दुःख-दर्द कोई सुनता है, पर बोर्ड के प्रबन्ध में हमीं प्रबन्ध-कर्ता हैं, सरलता से सब काम हो जाता है इसीलिए उसकी शिकायत करनेवाले भी बहुत ही होते हैं, जैसे—किसी सरकारी अस्पताल में अंग्रेज सिविलसर्जन के स्थान पर भारतीय होने पर, उसकी बड़ी शिकायतें होती रहती हैं। यह सब कुछ मनुष्य-स्वभाव है कि जहाँ शिकायत करने से अधिक शीघ्र सुनवायी होती है वहाँ वह बहुत कुछ शिकायतें करता है।

अगर बोर्ड का बजट घाटे पर है तो यह विशेष चिन्ता की बात नहीं है। घाटे पर बजट होना आज-कल की दुनिया में उतना बड़ा पाप नहीं समझा जाता। पाप तो यह है कि बजट में घाटा होने पर प्रजा पर बहुत अधिक कर का भार लाद देना ; पाप तो यह है कि अर्थनीति का दिवाला निकल जाने पर देशी व्यापार को विलायती माल की चुंगी की आमदनी के बहाने कोई तरक्की न देना; पाप तो यह है कि नये कर्ज़ लेकर बजट का घाटा पूरा कर देना। काशी की बोर्ड इनमें किसी बात की भी दोषी नहीं है। यह सत्य है, उसकी सड़कें उतनी अच्छी नहीं हैं, जितनी इलाहाबाद या लखनऊ की, पर इलाहाबाद सरकारी राजधानी रह चुका है और लखनऊ सरकारी राजधानी है। इसलिए उनको सजाने में सरकार ने अपना थैलियाँ खोल दीं, पर बहुत माँगने पर भी काशी को एक इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट न मिला। काशी की बोर्ड को जनता से कर्ज लेने में भी बड़ी रुकावटें हैं और सरकारी सहायता के अभाव से ही केवल एक बोर्ड में आने वाली प्रारंभिक शिक्षा जारी की जा सकती है। सफाई की शिकायत है, पर नगर की गलियों-नालियों को बिना नगरवालों के सहयोग और धन के व्यय से साफ रखना वास्तव में असंभव है और बोर्ड की सहायता जितना सरकार नहीं करती उसकी दुगनी उपेक्षा जनता की ओर से है, जिसकी सफाई का अर्थ होता है कूड़ा गली में बिखेर देना और पढ़ाई का अर्थ होता है, मैले-कुचैले वेश में लड़का स्कूल में ठेल देना। फिर भी बोर्ड में कुप्रबन्ध है—बहुत अधिक है, पर इसके दोषी वे काँग्रेसवाले हैं जिन्होंने डा० भगवानदास, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री श्रीप्रकाश, श्री शिवप्रसाद जी गुप्त की बोर्ड के बाद ही, उसके प्रबन्ध को नहीं अपनाया और एक सरकारी नामज़द मेम्बर, राय बहादुर महाशय को चेयरमैन बन जाने दिया—और विशेष कर जिनके शासन काल की जाँच के लिए यह कमेटी बैठी थी।

इसलिए, यह मानते हुए कि कुप्रबन्ध के समय हस्तक्षेप करने का सरकार को हक़ है, अधिकार है, कर्त्तव्य है, चाहिए भी—यह स्वीकार करते हुए कि सरकार को बनारस से कोई बैर नहीं है—पर साथ ही इस समस्या को सुलझाने में सरकारी विधि को बिलकुल अनुपयुक्त समझते हुए, हम केवल एक ही रास्ता देखते हैं जिससे नगर का कल्याण हो सकता है—और वह रास्ता यही है कि तुरंत जल्दबाजी में उत्तर न माँगकर सरकार बोर्ड से कम से कम दो महीने में जवाब तलब करे। इसके बाद यदि उसका विश्वास हो कि जवाब सन्तोष जनक नहीं है तो उसे तुरंत बोर्ड को मुअत्तल कर देना चाहिए और नया चुनाव कराना चाहिए। यदि नये चुनाव में जनता नब्बे प्रतिशत् पुराने मेम्बर चुनती है तो उस बोर्ड को कार्य करने का मौक़ा दे। रिपोर्ट तुरंत प्रकाशित कर दी जाय ताकि जनता को भी मालूम हो जाय कि गड़बड़ी क्या है, और तब वह जनता से पूछकर उन अफ़सर या मेम्बरों पर मुकदमा चलावे, जिस पर अपराध सचमुच साबित हो गया हो और न्याय की बात तो यह है कि यदि रिपोर्ट ने

किसी बात का उलटा ही अर्थ लगाया है तो उसे यह हक़ होना चाहिए कि वह अदालत की शरण ले सके।

बोर्ड का मुअत्तल हो जाना काशी का कितना भयंकर अपमान है, इस स्वराज्य के युग में नागरिकता की कैसी छीछालेदर है और बोर्ड की ही कितनी अधिक बेइज्ज़ती है, यह अभी काशीवासी नहीं समझ रहे हैं, और काशी के सम्मानित काँग्रेसी नेता, काशी के प्रतिष्ठित नागरिक, काशी के ज़िम्मेदार 'पत्र' भी उदासीन हो रहे हैं, यह बड़ी लज्जा की बात है। अभी कल ही, जब अपना प्रबन्ध जाता रहेगा लोग चिल्ला पड़ेंगे। काँग्रेसवाले यदि इस ओर ध्यान देंगे तो वे नगर के स्वराज्य की रक्षा करेंगे जो उनके हाथ से छिना चाहता है। प्रतिष्ठित नागरिक केवल कौंसिल या एसेम्बली या राजपरिषद् की न सोचकर यदि एक बार इधर, नगर की मेम्बरी करना शुरू करेगा तो विशेष कल्याण होगा। दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई की खबरों से इस समय काशी की ख़बर ज्यादा ज़रूरी है। नगरवासी पिछली बोर्ड से चिढ़े हुए हैं, इसलिए दूर की सोच नहीं पाते हैं। कुछ लोग बार-बार मेम्बरी के उम्मीदवार रह कर हारे और खिजलाये हुए हैं, इसलिए वे दूसरों को मेम्बर नहीं रहने देना चाहते होंगे। (ईश्वर करे यह बात कल्पना ही हो) कुछ लोग केवल मेम्बर बनना ही सार्वजनिक सेवा समझते हैं—पर जो नगर के हितैषी हैं, वे त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। उनकी इस समय 'जाग मछेन्दर गोरख आया'' —के भ्रष्ट भाषा-वाक्य के स्थान पर यही ज्यादा सूझ रहा है कि 'जाग नगरिया यम है आया'—और नगर के हाथ से बोर्ड का छिनना हम उतनी ही भयंकर घटना समझते हैं।

नगरनिवासी चेतो, वरना पछताओगे। सब मिलकर एक साथ सरकार से प्रार्थना करो। एक संघठन ही बनाकर मुअत्तली के शाप से नगर की, अपनी रक्षा करो।

२० फरवरी १९३३

वाटर वर्क्स की लापरवाही

काशी के वाटर-वर्क्स विभाग की शिकायत लिखे हमें सात दिन हो गये ; पर जो मोटी तनख्वाह और सरकारी-सम्मान पाकर मौज से बड़े-बड़े बंगलों में रहते हैं, उन्हें क्या पता कि सड़क पर पानी छिड़कने की लापरवाही के कारण कितने अभागों के फेफड़े को क्षय चाटे जा रहा है। एक बार ज़रा बेनिया-गोदौलिया की सड़क पर जाइये—मुँह में धूल बैठ जायगी, आँखें तक लाल हो जावेंगी। एक बार काशीपुरा की सड़क पर आइये, मारे गर्द के सर दुःखने लगेगा। एक बार बेनिया के बीच से होकर

निकल जाइये ; न जाने यह सड़क किसके सुपुर्द है। शुद्ध वायु की जगह धूल फाँक आइये और फिर भी कुछ पण्डित काशी के वाटर-वर्क्स की शिकायत की आँच के परे समझते हैं।

२० फरवरी १९३३

काशी-म्युनिसिपल बोर्ड

इधर स्थानीय सहयोगी 'आज' में श्री परिपूर्णानन्द वर्मा लिखित एक बड़ी उपयोगी लेख-माला प्रकाशित हो रही है। लेखक ने बड़े अध्ययन के बाद काशी म्युनिसिपल बोर्ड के गत सोलह वर्षों के कार्यों की, जब से यहाँ की बोर्ड गैर-सरकारी हाथों में आयी है, विशद समीक्षा की है। समीक्षा बड़ी रोचक है और उससे यह साफ प्रकट होता है कि स्थानीय बोर्ड की दुरवस्था की ज़िम्मेदारी बोर्ड के कतिपय अयोग्य मेम्बरों पर नहीं, पर सरकार पर है और सरकारी रुख को देखकर ही बहुत से ज़िम्मेदार लोग बोर्ड के शासन में भाग नहीं लेना चाहते। सरकार के कई अपराध तो बहुत ही गुरुतर हैं, जैसे बोर्ड को छत्तीस लाख रुपया कर्ज़ देकर उसके लिए सतावन लाख वसूल कर लेना ; और बीस वर्ष तक और भी वसूल करते रहने का निश्चय न बदलना। हम शुरू से कहते आ रहे हैं और अब भी कह रहे हैं कि इस विषय में जनता अज्ञानवश मेम्बरों को दोषी ठहरा रही है। उसे हरेक बात की तह तक पहुँचकर इस बात का निश्चय करना चाहिए कि असली दोष किसका है, किसको क्या दण्ड मिलना चाहिए !

इसी सिलसिले में हमें यह जान कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि बोर्ड ने अपना आय-व्यय सब बराबर कर लिया, बिना किसी ज़रूरी काम को हानि पहुँचाये ही पचहत्तर हजार रुपये की बचत भी हो गयी, कई ज़रूरी सुधार कर दिये गये। हमें यह भी जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि बोर्ड ने सरकार को जवाब देने के लिए तीन सदस्यों की एक कमेटी बना दी है, और एक कमेटी बनायी गयी है इस बात की जाँच के लिए कि जाँच कमेटी की जाँच कहाँ तक सत्य है और उसके अनुसार क्या कार्य होना चाहिए।

यह दोनों ही कमेटियाँ बड़ी उपयोगी हैं। हमें आशा है कि श्रीमान् राजा मोतीचन्द साहब शीघ्र ही गवर्नर महोदय से मिल कर बोर्ड को उत्तर देने के लिए अधिक मुहलत माँगने में सफल होंगे और, इसके साथ ही, हम कौंसिल के मेम्बरों से भी अनुरोध करते हैं कि वे इस विषय में सरकार को चैन न लेने दें। सरकार से प्रश्नों द्वारा पूरी पूछताछ कर तुरन्त उसकी मंशा जान लेनी चाहिए।

२७ फरवरी १९३३

काशी म्युनिसिपल बोर्ड

प्रान्तीय सरकार ने काशी-म्युनिसिपल बोर्ड की जाँच-कमेटी के आरोपों का उत्तर देने के लिए चौदह दिन का समय और देकर सराहनीय कार्य किया है। अब बाइस मार्च तक बोर्ड का उत्तर चला ही जावेगा। आशा है, बोर्ड अपने उत्तर में सरकार को जनता के मत का, साहस और सच्चाई के साथ ज्ञान करा देगी। जनता यह कभी नहीं स्वीकार कर सकती कि बोर्ड का प्रबन्ध गैर-सरकारी हाथों से छिनकर सरकारी हाथों में जावे। बोर्ड के कुप्रबन्ध में सरकार को कितनी जिम्मेदारी है, यह भी जनता को भली प्रकार से ज्ञात है। अभी हाल ही में 'लीडर' में एक रोचक लेख प्रकाशित हुआ था जिससे यह साफ ज्ञात होता है कि बोर्ड की खराबी के लिए यदि किसी को दण्ड देना चाहिए तो पहले सरकार स्वयं अपने उन प्रबन्धकों को दण्ड दे जिन्होंने बोर्ड के रोयें रोयें में कर्जा भर दिय ।

पर साथ ही, हमने यह कई बार लिखा है और उसे फिर दुहराना चाहते हैं कि बोर्ड में इस समय प्रथम श्रेणी के मेम्बर नहीं हैं। इसलिए यदि सरकार बोर्ड का सुधार चाहती है तो तुरन्त बोर्ड को 'डिजोल्व' कर नया चुनाव भी करा दे। जिन कर्मचारियों के प्रति कोई शिकायत हो, उसकी जाँच सम्मानित नागरिकों की एक स्वतंत्र कमेटी करे। बोर्ड के मेम्बरों से इस प्रकार की कोई जाँच कराना अनुचित है। सभी अपनी ज़िम्मेदारी दूसरों पर टालना चाहेंगे। मेम्बर अफसर को अयोग्य कहेगा और अफ़सर मेम्बर को। इस प्रकार की जाँच से जनता को न तो आश्वासन होगा और न विश्वास। केवल कुछ की विचार-दुर्बलता के साथ मानसिक-जड़ता भी प्रकट होगी।

हमने जिस विभाग, जिस पदाधिकारी या जिस कार्यकर्ता को सुयोग्य समझा है और लिखा है, उसके लिए हमारे पास इतने अधिक प्रमाण हैं कि हम अपने विश्वास पर दृढ़ हैं। यदि कोई हमारे मत का विरोध करता है तो उसे सप्रमाण और खुलकर कोई बात करने का साहस होना चाहिए। अन्यथा, पक्षपाती प्रलापों को अनसुनी करना ही उचित है। इस प्रकार से प्रलापी ही अपमानित होता है।

२० मार्च १९३३

काशी का म्युनिसिपल-बोर्ड

आज के दो मास पूर्व जब हमने यह लिखना शुरू किया था और सरकार से यह निवेदन करना प्रारम्भ किया था, कि वह बनारस म्युनिसिपल बोर्ड में उदारता तथा

न्याय-निष्ठा का व्यवहार करे और बोर्ड की कठिनाइयों का विचार हुए, उसे मुअत्तल करने को कल्पना भी न कर, उसकी कठिनाइयों को दूर कर, नगर तथा नगर-निवासियों के स्वत्व और अधिकार के प्रति उचित आदर प्रदर्शित करे, उसी समय हमें अपनी सफलता पर, अपनी आवाज के उन कानों तक पहुँच जाने पर, जहाँ पहुँचने के लिए नौकरशाही की गगन-चुम्बी दीवाल को लाँघने की आवश्यकता होती है—सन्देह था। हम यह जानते थे, कि काशी म्युनिसिपल बोर्ड के कुछ दो[illegible] उसके अयोग्य मेम्बरों का भी है। हम यह जानते थे बोर्ड के आन्तरिक शासन में कुछ दलबन्दी भी हो गयी है। हम यह भी जानते थे कि, काशी की सड़कों की, रोशनी की, गलियों की, जल-कल की और चुंगी की दशा सन्तोषजनक नहीं है, पर उसके साथ ही हमें यह भी मालूम था कि बोर्ड यदि चाहती भी तो नगर का सुधार अपने प्रबंध का सुधार नहीं कर सकती थी। वह यदि चाहती भी तो अपने नगर की सड़कों को ठीक दशा में नहीं ला सकती थी। यदि वह चाहती तो जल-कल को ठीक नहीं कर सकती थी, क्योंकि बीस वर्ष से युक्त प्रान्तीय सरकार ने इस अभागे बोर्ड की, नगर की, काशी की कुछ भी स्मरणीय सहायता नहीं की है। सहायता देना अस्वीकार कर उसने इस नगर की बोर्ड को दरिद्र, इस नगर की सजावट को गन्दी, इस नगर की तरक्की को अपमानजनक बना रखा है। उसने जहाँ तक हो सका लखनऊ को, इलाहाबाद को और कानपुर को सजा दिया। आज लखनऊ कलकत्ते के बाद उत्तर भारत का सबसे सुन्दर नगर है। आज काशी उत्तर भारत के सब बड़े नगरों में सबसे गन्दा है। हमे यह भी मालूम था कि प्रान्तीय सरकार ने बीच-बीच में नगर के कमिश्नर-द्वारा बोर्ड को तम्बीह की, पर उसको अपना प्रबन्ध ठीक करने के लिए कोई रचनात्मक कार्यक्रम नही बतलाया। हमें यह भी मालूम था कि जब कभी सरकार से यह आग्रह किया गया, कि वह इस नगर पर भी कुछ कृपा करे, उसने खाली थैली दिखला दी।

इसके साथ ही, बोर्ड के कुप्रबन्ध की कहानी भी उतनी ठीक नहीं है, जितनी समझी जाती है। उतनी ही है जितनी प्रायः सभी सरकारी दफ्तरों में भी पायी जा सकती है, इसीलिए हमने सरकार से प्रार्थना की थी, कि वह बोर्ड के प्रश्न पर उदारता की शरण ले।

यदि समाचार पत्रों में प्रकाशित समाचार सत्य है, तो सरकार ने काशी की म्युनिसिपैलटी को ज़ब्त कर लिया। एक भारतीय के गवर्नर होते ही, नागरिकता पर यदि इतना भीषण कुठाराघात हुआ है तो बड़े खेद का विषय है। काशी का जो अनादर होना था, वह तो हो गया। आज वह, उसके नगरवासी समूचे भारत में अयोग्य सिद्ध हो गये, अपमानित हो गये। यहाँ के काँग्रेसी नेता इस मामले में तटस्थ हो गये, अपनी प्रतिष्ठा समझकर, काँग्रेसी निर्देश समझकर चुप बैठे रहे। अन्य सम्मानित नागरिक तटस्थ बनकर नाटक देखते रहे। बोर्ड की चेयरमैनी या मेम्बरी के पराजित

उम्मीदवार या अन्य कारणों से असफल-निराश कुछ व्यक्ति एक ओर अपनी खिचड़ी पका रहे थे, एक ओर कुछ पथ-भ्रष्ट नये रंगरूट नागरिक अपनी ढपली पर राग अलाप रहे थे, एक ओर कुछ ऐसे मेम्बरों का एक दल जिसने इन दो वर्षों में अपने वार्ड का भी कुछ काम नहीं के बराबर किया था—अपना पाप बेचारे अफ़सरों के सर पर लादने की चेष्टा कर रहा था—और हमारे नगर के एक सहयोगी पत्र ने, अपनी अस्त-व्यस्त नीति से पाठकों को अन्धकार में रख छोड़ा था। उधर बोर्ड मुअत्तल हो गयी, नगर की शान लुट गयी।

अब क्या होगा! असफल और निराश लोगों की बात जाने दीजिए। जिन बेचारे नवयुवकों ने नगर को मान-मर्यादा की रक्षा के लिए इधर अपना तन मन धन लगा दिया था, उनको, उनके बतलाये पथ को, न अपनाने का फल अभी कुछ समय बाद मिल सकता है। पर यदि सरकार ने हमारे हित के लिए बोर्ड को मुअत्तल किया है तो हम उससे अब यही प्रार्थना करेंगे कि कम से कम खर्च पर अब इस शासन को सम्हाले। बोर्ड को सरकारी संस्थाओं के समान जनता के लिए आतंक की सामग्री न न बनाये। पुराने कर्मचारियों—अफसरों को अपनी योग्यता प्रमाणित करने या अयोग्यता सिद्ध करने का अवसर दे। हम नगर निवासियों से भी यही प्रार्थना करेंगे कि वह सरकार को इस कार्य में, अपने भरसक पूरी सहायता दें। जो होना था, वह हो गया। जिनके पाप, जिनके अपराध और जिनकी करतूतों से यह सब हुआ, उन्हें क्षमा कर दें, और अब अपने नगर की सुव्यवस्था में सरकारी योजना की परीक्षा करें।

१७ अप्रैल १९३३

श्री रामेश्वर सहाय सिनहा

हमने युक्तप्रान्त के सभी म्युनिसिपल तथा ज़िला बोर्डों के शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट देखी है। व्यय, छात्र-संख्या, कार्य तथा योग्यता के नक्शे देखे हैं और यह सब जानने के बाद हमारा यह दृढ़ विश्वास हो गया है, कि काशी म्युनिसिपल बोर्ड का शिक्षा-विभाग हमारे प्रान्त के सब शिक्षा-विभागों से अच्छा है, सुसंचालित है, सुव्यवस्थित है और इसकी पढ़ाई-लिखाई—औद्योगिक शिक्षा में वह जड़ता नहीं है, जो सरकारी, नौकरशाही-संचालित स्कूलों में पायी जाती है। यही नहीं, शिक्षा के साथ, बालक के कोमल मस्तिष्क का देश की दुर्दशा, राजनीतिक हीनता का ज्ञान कराने का, उन्हें भारत के भावी सुधारक बनाने का तथा अध्यापकों को सच्चे मास्टर बनाने का जितना प्रयत्न इस नगर की म्युनिसिपैलटी ने किया है, उतना किसी ने नहीं।

और, हमें खेद है, खेद ही नहीं—लिखते लज्जा आती है, कि उस नगर के

नागरिकों का सम्मान तो बोर्ड के सरकारी होते ही लुट चुका था, अब उसके बच्चों की पढ़ाई पर भी सरकारी बोर्ड ने कुठाराघात किया है और श्री रामेश्वर सहाय सिन्हा जिनकी योग्यता के कारण शिक्षा-विभाग इतना सजीव हुआ था—३१ मई से बोर्ड की सेवाओं से पृथक् कर दिये जायँगे ; क्योंकि सरकारी जाँच-समिति के सरकारी मेम्बर उन्हें काँग्रेसी समझते हैं, राजनीति में भाग लेनेवाला समझते हैं। यही उनकी अयोग्यता का सर्टिफिकेट है—जिस अयोग्यता के लिए श्री रामेश्वरसहाय को गर्व होना चाहिए।

१४ मई १९३३

नया कर्ज़ा

काशी की 'म्युनिसिपैलिटी' अब 'म्युनिसिपैलिटी' नहीं रही। अब वह सरकार की, कमिश्नर की, तथा मि० लिच की एक संस्था है, जिसको किसी दूसरे नाम से पुकारना चाहिए। हमारी समझ में तो जब तक सरकारी शासन है इसे 'सरकारी सफ़ाई खाना' कहना उचित होगा। नाम जो भी कुछ हो, लेकिन इस संस्था ने जिस ढंग से काम शुरू किया है, म्युनिसिपैलिटी में जिस ढंग की पहरा-चौकी हो गयी है, उसे देखकर यह आशंका होती है कि आजकल वह स्थान, जहाँ काँग्रेस का झण्डा फहराया करता था, अब कलेक्टरी कचहरी का एक टुकड़ा बन गया है।

जो हो, हमें आशा है कि हमारी धारणा ग़लत होगी और 'सुधार' का अर्थ यह नहीं लगाया जायगा कि साठ वर्ष के ऊपर बूढ़ों को मोटा वेतन दिया जाय, पुलिस या ऐसे ही महकमों के रिटायर्ड लोगों के हाथ में जनता की हानि करने या लाभ करने का अधिकार रहे। यह तो अनुमान किया जा सकता है कि जो अफ़सर हटाये गये हैं, उनके स्थान पर 'दूध के धोये' 'सरकारी आदमी' बुलाये जायँगे। अफ़वाह यहाँ तक है कि म्युनिसिपैलिटी खद्दर का बहिष्कार करेगी। और सबसे बड़ी बात यह है कि, सुना जाता है कि लिच-हुकूमत सरकार से बहुत बड़ी रकम कर्ज के रूप में लेनेवाली है। हम काशी-नगरवासियों की ओर से इस बात की चेतावनी दे देना चाहते हैं कि एक बार का बत्तीस लाख का कर्ज़ा अभी तक नहीं पटा है और पचास लाख चुका देने के बाद भी अभागी बोर्ड कर्जदार बनी है। वह कर्ज़ा भी सरकारी बोर्ड की देन थी और यह कर्ज़ा भी वही होगा यानी—आगामी सौ वर्ष तक हमारे नगर की बोर्ड नाक तक कर्ज में डूबी रहेगी और जो भी कोई ग़ैर-सरकारी बोर्ड आवेगी, वह 'अयोग्य' सिद्ध हो जायगी ! इस विषय में हम 'सरकारी सफ़ाई खाने'—तथा काशी की जनता—दोनों को सावधान कर देना चाहते हैं।

२२ मई १९३३

शाबाश काशी-म्युनिसिपैलिटी !

अब कौन यह कहने का दावा कर सकता है कि काशी की म्युनिसिपैलिटी आदर्श संस्था नहीं है ? स्व० सेनगुप्त के शोक में जलसा करने के लिए टाउनहाल न दिया गया। हॉल ऐसे व्यर्थ के जलसों और तमाशों के लिए नहीं है ! सरकार की म्युनिसिपैलिटी सरकार के बागी की शोक सभा के लिए अपना टाउनहाल भला कैसे दे सकती है ! कलकत्ता में उस महान् आत्मा के श्राद्ध पर कलकत्ता के हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस भी आये थे, पर यह काशी है कलकत्ता नहीं !

१३ अगस्त १९३३

बनारस की म्युनिसिपैलिटी

बनारस की म्युनिसिपैलिटी अब सरकार का एक विभाग है और सरकार का धर्म है हुकूमत करना। प्रजा को उसकी हुकूमत अखरती है, तो अखरे, उसके लिए सरकार अपनी हुकूमत थोड़े ही छोड़ देगी। बेरोज़गारी का राज्य है, घरों के किराये घट गये हैं और घट रहे हैं, और सरकारी म्युनिसिपैलिटी घरों पर कर वृद्धि का प्रबन्ध कर रही है। मकानों के मालिक रोने-धोने के सिवा और क्या कर सकते हैं। मगर उनके रोने की परवा कौन करता है। सरकार जानती है घरवाले घर छोड़कर कहीं भाग तो जायँगे नहीं, झखमारकर बेशी कर अदा करेंगे, तो क्यों ऐसा मौका जाने दें।

१८ सितम्बर १९३३

काशी की सरकारी म्युनिसिपैलिटी

काशी की सरकारी म्युनिसिपैलिटी के विषय में श्री परिपूर्णानन्द जी का एक लेख हमारे पिछले अंक में प्रकाशित हुआ है। उस सम्बन्ध में कुछ गलत फहमी फैल रही है, जिसके विषय में परिपूर्णानन्द जी लिखते हैं—"मैंने सरकारी बोर्ड की आलोचना की है और बहुत कुछ करने के लिए तैयार हूँ, पर यदि मेरी सूचना में कोई भी बात भ्रमपूर्ण या गलत होगी तो अपनी भूल स्वीकार करने में मुझे सबसे अधिक हर्ष होगा। मुझे बतलाया गया है कि जो क्लर्क हटाये जा रहे हैं वे "पचपन साला" ग्रेड के हैं। जिस क्लर्क के साथ अन्याय की बात कही गयी है, वह आफिस की कुछ भूल से हो गया।

यदि ऐसा है तो मुझे कुछ नहीं कहना है, नये उम्मीदवारों को पुराने उम्मीदवारों की फेहरिस्त की अवज्ञा कर क्यों नियुक्त किया जा रहा है ? दूसरी बात यह है कि मुझे नये शिक्षाध्यक्ष के ईसाई होने की शिकायत नहीं है। बीच का एक वाक्य छूट जाने से यह भ्रम हो सकता है। मुझे शिकायत है एक योग्य शिक्षाध्यक्ष के रहते उनकी नियुक्ति से उनकी-खद्दर-चर्खा विरोधी नीति इत्यादि से। नगर के जिस सम्मानित व्यक्ति के ऊपर प्रश्नों की बात है, वह मेरे लिए अब भी उसी प्रकार आदरणीय हैं, उन पर प्रश्न होने की अफवाह थी, शायद हुआ नहीं।" आशा है पाठकों की शंका का निवारण हो जायेगा।

१३ नवम्बर १९३३

सरकारी प्रबन्ध की बात

मौलवी शेख़ मुहम्मद शफी के प्रश्न के उत्तर में, बिहार कौंसिल में, सरकार की ओर से मि० जी० ई० ओवन ने यह बतलाया था कि १९ जुलाई १९३२ से, सरकारी प्रस्ताव के अनुसार मुंगेर की म्युनिसपैलिटी मुअत्तल कर दी गयी थी। सरकारी प्रबन्ध में आते ही, उसमें पच्चीस नये अफ़सर रखे गये। हैड क्लर्क और अकाउण्टेन्ट का ओहदा अलग कर दिया गया। और कोई अनुभवी अकाउंटेन्ट नहीं रखा गया। एक बी० एस० सी० पास उस स्थान पर काम कर रहा है। टैक्स वसूली के विषय में सात सौ नौ दरख़ास्तें दी गयीं, जिनमें से एक दिन की देर के कारण पाँच सौ बीस रद्द कर दी गयीं। अधिक पानी लेने का जल-कर चार आना फी हज़ार गैलन से बढ़ाकर दस आना फी हज़ार गैलन कर दिया गया है। एक "कानूनगो" जिनको सरकार के ही शब्दों में म्युनिसिपैलटी के काम का कोई अनुभव नहीं है, एक्ज़ीक्यूटिव अफ़सर बना दिया गया है।

यह मुअत्तल होने के बाद मुंगेर की म्युनिसपल बोर्ड की दशा है। पाठक अपना अनुमान स्वयं निकाल लें।

१७ अप्रैल १९३३

स्थानीय संस्थाओं में वैमनस्य

भारतवासियों की चरित्र-हीनता का जैसा परिचय डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों में मिलता है, उस पर कौन है, जो लज्जा से सिर न झुका लेगा। ऐसी शायद

ही कोई स्थानीय संस्था हो, जहाँ दलबन्दियाँ, वैमनस्य, धींगा-धींगी न होती हो। लोग इन संस्थाओं में जाते हैं जनता की सेवा करने पर आपस में लड़कर उसके धन का सत्यानाश करते हैं। वही कुटिल स्वार्थ की माया! कोई किसी के पद के लिए षड़यंत्र रच रहा है, कोई किसी ओहदे के लिए। निस्वार्थ भाव से बिरला ही कोई जाता है। कोई अपने भतीजे को ठीकेदार बनाने पर तुला हुआ है, कोई अपने दामाद को किसी पद पर बिठाने के लिए। शिक्षा मंत्री का पद यहाँ कोई विशेष प्रलोभन रखता है। ज्यादातर झगड़े इसी पद के लिए होते हैं। एक दूसरे को उखाड़ने की फिक्र में डूबा रहता है। ऐसे लोगों के हाथ में कोई वास्तविक अधिकार आ जाय तो दैव जाने क्या अनर्थ ढायें। जब कौड़ियों पर यह हाल है, तो मुहरों पर तो शायद खून की नदियाँ बहें। गुलामी का सब से बुरा फल यही चरित्र-पतन है!

१९ जून १९३३

पुलिस को एक सबक

कलकत्ता पुलिस ने प्रेसिडेंसी मैजिस्ट्रेट से कलकत्ता कारपोरेशन के नाम एक नोटिस जारी करने की दरख्वास्त की थी कि कारपोरेशन अपनी इमारतों पर से राष्ट्रीय झंडा उतार ले। मैजिस्ट्रेट ने यह नोटिस जारी करने से इंकार कर दिया, क्योंकि कारपोरेशन को ऐसा झंडा लगाने का अधिकार है और केवल पुलिस के यह कहने से कि इस झंडे से शांतिभंग हो जायगा, वह कारपोरेशन को इस अधिकार से वंचित नहीं कर सकते। पुलिस ने शांति-भंग का अच्छा ढोंग निकाल रक्खा है। शांति अगर किसी व्यक्ति के अधिकार-भोग से भंग होती है तो पुलिस का कर्तव्य है कि शांति की रक्षा करे, न कि वह अधिकार ही छीन ले।

२६ जून १९३३

पंजाब की म्युनिसिपैलिटियाँ

पंजाब की म्युनिसिपैलिटियों की १९३१-३२ की वार्षिक आलोचना करते हुए पंजाब सरकार ने इन संस्थाओं के व्यक्तिगत झगड़ों और उनके अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार की कड़ी निन्दा की है। मगर पंजाब में ही नहीं, प्रायः सारे भारतवर्ष में यही दशा है। ऐसी शायद ही कोई म्युनिसिपैलिटी या जिला-बोर्ड हो जहाँ मेम्बरों का अधिकांश समय

तू-तू मैं-मैं और एक दूसरे को उखाड़ने की फ़िक्र में न लगता हो। बात यह है, कि हमने अभी तक पब्लिक सेवा का महत्व नहीं समझा। लोग अपने-अपने स्वार्थ लेकर जाते हैं और इसीलिए ऐसे झमेले पैदा होते रहते हैं। हमारे ख़याल में ऐसे ही सज्जनों को ऐसी संस्थाओं में जाना चाहिए, जो निस्वार्थ भाव से जनता की सेवा कर सकें। यहाँ तो लोग मेम्बर होते ही निर्वाचन में जो कुछ ख़र्च पड़ा था, उसे किसी न किसी तरह वसूल करने के उपाय सोचने लगते हैं। हमारी संस्थाओं पर यह बड़ा बदनुमा दाग़ है और हमें इसे मिटाना पड़ेगा। हम यह मानते हैं कि अन्य देशों में भी इस तरह के दृश्य देखने में आते हैं, और कभी-कभी पार्लमिंटों में गाली-गलौज, लात-घूँसों की नौबत आती है, पर जितनी बेइमानी यहाँ होती है वह तो शायद ही कहीं हो। एक बात और भी है। सरकार की भी इस मुआमले में कुछ न कुछ जिम्मेदारी अवश्य है। सरकारी नौकर जिस ढिठाई से रिश्वतें लेते हैं, उस पर सरकार कभी आलोचना नहीं करती। इसका असर पब्लक-जीवन पर पड़ना स्वाभाविक है। अगर सरकार कठोरता के साथ इस तरह की बेईमानी का दमन करे तो हमारे विचार में हवा का रुख बदल जायगा। अभी तो मेम्बर सोचता है जब सभी रिश्वतें लेते हैं तो फिर हम क्यों चूकें। इस कुत्सित स्वार्थ की जड़ खोदने में सरकार भी बहुत कुछ सहायता कर सकती है।

२ अक्टूबर १९३३

नागपुर म्युनिसिपैलिटी का सराहनीय काम

नागपुर म्युनिसिपैलिटी ने बेकारी की समस्या को हल करने का जो प्रयत्न किया है, उसकी जितनी तारीफ़ की जाय कम है। उसने वहाँ की प्रान्तीय सरकार से छह लाख रुपये कर्ज़ माँगे हैं जिससे इमदादी काम खोलकर बेकारों की मदद की जाय। उसने यह भी कहा है कि अगर सरकार यह रकम उधार न दे सके, तो उसे अनुमति दे कि वह खुद कर्ज से यह रकम जमा करे। बेकारी दिन-दिन बढ़ रही है और इसका स्वास्थ्य और जीवन पर बहुत ही बुरा असर पड़ रहा है और शंका हो रही है कि यही हाल रहा, तो लूट-पाट न शुरू हो जाय; लेकिन इस वक्त तक इस दशा को सुधारने का जो प्रयत्न हुआ है, वह उलटा हुआ है कितने ही दफ्तरों और कारखानों में आदमियों को जवाब दे दिया है और इससे बेकारों की संख्या और बढ़ गयी है। खर्च में कमी करने के लिए बड़े-बड़े अफ़सरों की तखफ़ीफ़ न करके छोटे-छोटे कर्मचारियों ही की गरदन पर छुरी चलायी गयी है। गरीबों की जीविका का अपहरण कर के किसी तरह बजट को बराबर कर लिया गया है। जिन विभागों को सरकार अपनी रक्षा के लिए ज़रूरी समझती है, उनमें तो बराय

नाम तखफ़ीफ़ हुई है। आफ़त उन विभागों पर आयी है जिनके अव्यवस्थिति हो जाने से सरकार पर कोई असर नहीं पड़ता। हाँ, जनता को कष्ट होता है और लोगों की रोजी जाती है। हमें आशा है और म्युनिसिपैलिटीयाँ भी नागपुर का अनुकरण करेंगी।

७ मई १९३४



जागरण-कथा

जागरण का नया रूप

जागरण ने साहित्यिक पत्र के रूप में जन्म लिया था। और अपनी बाल्यावस्था के बारह अंक पूरे करके अब वह एक विस्तृत क्षेत्र में आता है। उसका जन्म अच्छे कुल में हुआ, उसका लालन-पालन भी सुयोग्य हाथों में हुआ। परखनेवाले परख गये कि यह बालक होनहार है, पर साहित्य के परिमित क्षेत्र में उसका विकास जैसा होना चाहिए, वैसा न हो सकता था। हाथ-पाँव मारनेवाला बालक पालने में कैसे रहता, इसलिए उसके जन्मदाताओं को ऐसे अविभावक की ज़रूरत पड़ी, जो ज़रा निष्ठुर हाथों से उसकी गोशमाली कर दिया करे, जो ममता भरे माखन और मिश्री की जगह सूखे चने और रुखी रोटियाँ खिलाये, क्योंकि संसार पहले चाहे लाड़-प्यार में पले बालकों को बढ़ने का अवसर देता हो, अब तो समय उनके अनुकूल नहीं रहा। आज संसार में वही बालक बाज़ी ले जाते हैं, जिसने बालपन में कड़ियाँ झेली हों, धक्के खाये हों, भूखे सोये हों, जाड़ों में ठिठुरे हों। गमले का पौदा धूप और वर्षा का सामना क्या करेगा। वह चट्टान पर उगा हुआ पौदा ही है, जो जेठ की जलती लू, माघ के तीखे तुषार और भादों की मूसलाधार वर्षा में डटा खड़ा रहता है, और फलता फूलता है। हमारे ऊपर इंतखाब की निगाह पड़ी। हम कह नहीं सकते, हम क्यों इस काम के लिए चुने गये। हम इस काम में कुछ बहुत अभ्यस्त नहीं हैं। अभी तक केवल एक चिड़िया पाली है, पर उसे भी कई बार संकट में डाल चुके हैं। शिकारियों के दो निशाने उस पर लग चुके हैं। पहले निशाने से तो वह किसी तरह बचा। यह दूसरा निशाना उसे ले मरता है या छोड़ता है, कह नहीं सकते। हम शिकारियों की चिरौरी-बिन्ती कर रहे हैं कि "भैया, इस बेचारे को अबकी और जाने दो, तुम्हारे पैरों पड़ते हैं। अब जो कभी तुम्हारे बाग़ में आवे, या तुम्हारा कुछ नुक़सान करे तो, जो चाहे करना।" देखें शिकारी को दया आती है या नहीं। शिकारी ऐसे बड़े दयालु तो नहीं होते, लेकिन ममता अकड़नेवालों का सिर न झुकाये तो ममता ही क्या।

खैर हम अभिभावकी कला में कुशल नहीं हैं, फिर भी जागरण का भार हमारे ऊपर रखा गया। हम अपनी त्रुटियों को खूब समझते हैं। चुलबुले बालकों का सँभालना कितना कठिन है, इसे वही लोग जानते हैं, जिन्हें इसका तजुरबा हो। लेकिन भाई, ईमान की बात यह है कि मिलता हुआ बालक किसको छोड़ा जाता है। हमने सोचा, चलो इसी के साथ अपनी तक़दीर आज़माओ, कौन जाने तुम्हारे ही हाथों इसको ढंग पर लाने का जस बदा हो। दुनिया हमें इसका बाप न कहे—बाप कहलाने का गर्व किसे नहीं होता—लेकिन कम से कम इतना तो स्वीकार करेगी ही हमने इसे समाज का एक उपयोगी व्यक्ति बना दिया। यह हमें कोई न बताये कि इसके हाथों हमें पिंडापानी न पहुँचेगा। हम इतने धर्म ज्ञान शून्य नहीं हैं पर हमारा पिंडे पानी में विश्वास नहीं है। हम तो यही डर रहे हैं कि हमारे सिर कलंक न लग जाय कि लेकर लड़के को चौपट कर दिया। जस इस जमाने में किसे मिलता है? अपजस न मिले, यही बहुत है। हम तो सदैव महान आदर्श अपने सामने रखेंगे। बालक को निर्भीक, सत्यवादी, परिश्रमी, स्वस्थ, आचारवान्, विचारशील बनाने का प्रयत्न करेंगे। हमारी यही चेष्टा होगी कि वह किसी की खुशामद न करे, लेकिन विनय को हाथ से न जाने दे। वह कभी-कभी कड़वी बातें भी कहेगा, पर सेवा भाव से। उसमें आस्था और श्रद्धा अवश्य होगी, पर अंधविश्वास नहीं। उसका ध्येय होगा सत्य की खोज। वह वितंडावादी नहीं, सत्य का पुजारी होगा, चाहे उसे सत्य को स्वीकार करने में कितना ही अपमान हो। वह अप्रिय सत्य कहने से कभी न चुकेगा। वह केवल दूसरों के दोष न देखेगा, बल्कि अपने दोषों को स्वीकार करेगा। बिना अपने दोषों को दोष समझे उनके सुधार की इच्छा नहीं होती। वह निर्भीक होगा, पर दुस्साहसी नहीं। वह सत्यवादी होगा, सत्य से जौ भर न टलेगा, पर पक्षपात से अपना दामन बचायेगा। वह बूढ़ों में बूढ़ा, जवानों में जवान और बालकों में बालक होगा। वह जिस दृढ़ता से न्याय का पक्ष लेगा, उतनी ही दृढ़ता से अन्याय का विरोध करेगा, चाहे वह राजा की ओर से हो, समाज की ओर से हो अथवा धर्म की ओर से। वह सबलों का हितैषी होगा, पर निर्बलों पर उनके जुल्म को सहन न कर सकेगा। समाज का दुखी और दुर्बल अंश उसे सदा अपनी वकालत करते हुए पायेगा। वह कोरा न्याय-वादी, गंभीर और शुष्क न रहेगा। वह मनुष्य केवल आधा ही जिन्दा है, जो कभी दिल खोलकर नहीं हँसता, विनोद से आनंदित नहीं होता। वह हँसने की बातें कहेगा, खुद हँसेगा और दूसरों को हँसायेगा। उसके मस्तिष्क में लतीफों और चुटकुलों का अक्षय भंडार होगा।

यह है हमारा आदर्श, लेकिन कहना जितना आसान है, करना उतना ही कठिन है। मनुष्य केवल उद्योग कर सकता है। अगर वह उद्योग ही करता रहे, तब भी समझना चाहिए, उसने बहुत कुछ कर लिया। हम अपने उद्देश्यों में सफल होंगे या नहीं, यह भविष्य की बात है। विज्ञ पाठकों और अपने सहृदय साहित्य सेवियों से हमारी यह

विनीत प्रार्थना है कि इस दुस्तर कार्य में वह कृपा कर हमारी सहायता करेंगे, क्योंकि उनकी सहायता और सलाह वह शक्ति है, जिस पर भरोसा करके हमने इस भार को सिर पर लिया है।

कुछ सज्जन कहेंगे, हिन्दी में कई अच्छे साप्ताहिक पत्र हैं और वह हिन्दी की यथार्थ सेवा कर रहे हैं, फिर एक नये साप्ताहिक की क्या जरूरत थी। ऐसे सज्जनों से हमारा निवेदन यही है कि काशी की तीर्थभूमि से, जो हिन्दू-संस्कृति का केन्द्र है, इस समय एक भी साप्ताहिक-पत्र ऐसा नहीं निकलता, जिसकी अन्य भाषाओं के पत्रों से तुलना की जा सके। काशी को नागरीप्रचारिणी सभा पर गर्व है, हिन्दू-विश्वविद्यालय पर गर्व है, संस्कृत पाठशालाओं पर गर्व है। अपने विद्यापीठ पर गर्व है। उसे इसका भी गर्व है कि हिन्दी-साहित्य के उपासक जितने काशी में हैं, उतने और किसी एक स्थान में न होंगे। फिर भी काशी में कोई ऐसा साप्ताहिक पत्र नहीं है। क्या यह काशी के लिए गर्व की बात है, काशी जैसे नगर में हिन्दी का एक भी साप्ताहिक-पत्र न हो! यह भी तो है कि प्राणी-मात्र में आत्म-व्यंजना की एक लालसा होती है? वह इसके लिए क्षेत्र की तलाश करता रहता है। जिसके पास धन के साथ सेवा भाव है, वह कोई विद्यालय खोलता है या कोई अनाथालय। जिसमें बोलने की शक्ति है, वह अपनी वाणी से, समाज की सेवा करता है। कोई अपने पुरुषार्थ से, कोई अपने आविष्कार से। साहित्य सेवियों के पास उनके क़लम के सिवा सेवा का और क्या साधन है। वही कलम हाथ में और राष्ट्रहित का भाव हृदय में, सहयोगियों और विद्वज्जनों की सहायता की आशा मन में लेकर, हम इस क्षेत्र में आये हैं। यह बेड़ा पार होगा या नहीं, ईश्वर जाने। हमारे पास न संगठन है, न अनुभव। और धन का तो हमसे पुश्तैनी बैर है। किसी ने हिन्दी-पत्रकारों का परिहास करते हुए लिखा था, "वह केवल एक कलम और एक रीम काग़ज़ लेकर समाचार-पत्र निकाल बैठता है।" यह व्यंग हमारे ऊपर अक्षरशः लागू है, पर हम सहृदय पाठकों के भरोसे और ईश्वर पर विश्वास रखते हुए अपने कर्तव्य पालन के दृढ़ संकल्प के साथ इस क्षेत्र में आ रहे हैं।

२२ अगस्त १९३२

"जागरण" और प्रेस से एक-एक हज़ार की जमानत

जागरण के २६ अक्टूबर के अंक में एक कहानी "उसका अंत" नामक प्रकाशित की गयी थी। सरकार को उस कहानी में कुछ शब्द आपत्तिजनक मालूम हुए हैं। इसलिए उसने एक हज़ार की जमानत "जागरण" से और एक हजार की प्रेस से माँगी है। "हंस" की जमानत की समस्या से अभी साँस लेने की फुरसत न हुई थी कि यह

दूसरा प्रहार हुआ। अब देखना चाहिए क्या होता है। आशा है पाठकों की सेवा करने से हम वंचित न होंगे।

५ दिसम्बर १९३२

"जागरण" से ज़मानत

"जागरण" के २६ अक्टूबर ३२ के अंक में श्री श्यामधारी प्रसाद जी की लिखी हुई कहानी "उसका अन्त" नामक निकली थी। कहानी में दो चरित्र हैं, एक शांतिवादी राष्ट्र-भक्त, दूसरा उग्रदल का आतंक वादी। दोनों ही अपने-अपने पक्षों के प्रतिनिधि-से हैं। दोनों ही अपने-अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। हमारे विचार में शान्तिवादी पक्ष ही की विजय हुई है, और यही लेखक का उद्देश्य था, लेकिन हमारे अधिकारियों ने उस कहानी को आपत्तिजनक समझा और हमसे दो हज़ार की जमानत तलब की, एक हजार की "सरस्वती-प्रेस" से जिसमें जागरण छपता है, दूसरी एक हज़ार की "जागरण" से। हम काँग्रेसमैन हैं। हमारा सिद्धांत है कि हमारे राष्ट्र का उद्धार शान्तिमय उपायों से ही होगा। रक्तमय विधानों के हम विरोधी हैं। कहानी के नायक की ही भाँति हमारी भी यही धारणा है, कि स्वाधीनता जैसा पवित्र उद्देश्य रक्तमय विधानों से पूरा नहीं हो सकता। द्वेष को हम द्वेष से नहीं, सहिष्णुता, प्रेम और सेवा से ही जीत सकते हैं। क्रोध को क्षमा से, द्वेष को प्रेम से, संदेह को विश्वास से ही परास्त किया जा सकता है। मनुष्य के आंतरिक देवत्व पर हमारा पूर्ण विश्वास है। जिस तरह क्षमा और प्रेम सत्य हैं, उसी तरह क्रोध और हिंसा असत्य हैं। और सत्य ने संसार में असत्य पर सदैव विजय पायी है। इस चिरंतन नियम में कभी अपवाद नहीं हुआ। संभव है, कुछ दिनों के लिए असत्य ने सत्य को दबा लिया हो, उसी तरह जैसे कभी-कभी मटियाले मेघ सूर्य को छिपा लिया करते हैं, लेकिन सूर्य जो सत्य है, जल्द या देर में मेघों को छिन्न-भिन्न करके फिर अपना प्रखर प्रताप दिखाता है। क्षमा और प्रेम में कुछ ऐसी अजेय और दैवी शक्ति है, जिसके सामने उग्रता अपंग हो जाती है। यों कहना चाहिए, कि जीवन का आधार ही सत्य है। हमारा कितना ही अधःपतन हो जाय, हम कितने ही जड़ वादी हो जायँ, लेकिन आत्मा के अन्दर बैठे हुए सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकते। सत्य को सामने देखकर हमारे अन्दर का सत्य जैसे प्रतिध्वनित हो उठता है, जैसे वह अपने किसी पुरानी परिचित मित्र को देखकर उसके गले लिपटने के लिए विकल हो जाता है। यही कारण है कि हम हिंसक नरपिशाचों को किसी सत्यवादी-महात्मा का संसर्ग होते ही सद्मार्ग पर आये देखते हैं। हमारा भी विश्वास है कि हम अपने को परिष्कृत करके ही अपने विरोधियों का दिल बदल सकते हैं। इसका कोई दूसरा सरल उपाय नहीं है।

इसका नतीजा देर में निकलेगा, इसमें संदेह नहीं, लेकिन निकलेगा अवश्य। अपनी आत्म-शुद्धि, अपना आत्म-संस्कार ही हमारा कल्याण कर सकता है। जो आतंकवाद से देश का उद्धार करने का स्वप्न देखते हैं, वे सत्य की अवहेलना करते हैं और अपने उद्देश्य से दिन-दिन दूर होते जाते हैं।

अगर हमें शासनाधिकारियों से इसलिए असन्तोष है, कि वे जन-हित की उपेक्षा करके अपने स्वार्थ की रक्षा करते हैं, तो हमारा कर्तव्य है, कि हम अपने व्यवहार से, अपने त्यागमय जीवनादर्श से, यह सिद्ध कर दें, कि हम जन-सेवा के लिए उनसे ज्यादा उपयुक्त हैं। अगर हम ऐसा नहीं कर सकते और हमारे व्यवहार तथा आचरण से यह भासित होता है, कि हम केवल अधिकार चाहते हैं, जनता को अपने स्वार्थ का केवल एक यन्त्र समझते हैं, तो अधिकारी भी आसानी से अपना अधिकार न छोड़ेंगे। हम किसी धनी से एक सद्कार्य के लिए चन्दा मागने जाते हैं। यदि उसे हमारी सेवा-तत्परता में विश्वास है, वह समझता है, कि हमारा इरादा नेक है, तो हमें चन्दा मिलने में ज्यादा कठिनाई न होगी, लेकिन यदि हम उसमें यह विश्वास न पैदा कर सकें, तो निश्चय है, कि हमें वहाँ से निराश लौटना पड़ेगा। यही साधारण नियम राजनैतिक विषयों में भी लागू है। यदि हम सच्चे राष्ट्रभक्त हैं, तो हमें अपने ही आचरण से दूसरों पर अपनी छाप डालनी पड़ेगी। हमें अपने स्वार्थत्याग से दूसरों की स्वार्थपरता को लज्जित करना पड़ेगा। यह हमारा सिद्धांत है।

मगर सरकार ने उस कहानी को आपत्तिजनक समझा और हमसे ज़मानतें माँगी। अभी "हंस" की जमानत से हाल ही में गला छूटा है। पाँच महीनों तक पत्र बन्द रहा था, इसलिए इतनी जल्दी दूसरी ज़मानत का हुक्म पाकर हम बहुत क्षुब्ध हुए और मन में ऐसा आया कि पत्र को बन्द करके शान्ति से बैठें, लेकिन इतना बड़ा कलंक माथे पर लगाये शान्ति से बैठ रहना असाध्य था। हमने दूसरे दिन अधिकारियों से इस विषय में लिखा-पढ़ी की, मिले और अन्त में ज़मानत मंसूख कराने में सफल हुए। हम अपने ज़िले के कलेक्टर श्री पन्नालाल जो आई० सी० एस० और गवर्नमेंट के चीफ़ सेक्रेटरी मि० बकफोर्ड के कृतज्ञ हैं, कि इन दोनों ही महानुभावों ने आशातीत उदारता और सहृदयता का परिचय दिया, जिससे आज हमको पाठकों की सेवा में हाज़िर होने का शुभ अवसर मिला।

लेकिन यहाँ इतना कह देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं, कि ऐसे वातावरण में जब कि हर एक सम्पादक के सिर पर तलवार लटक रही हो, राष्ट्र का सच्चा राजनैतिक विकास नहीं हो सकता। अधिकारियों के हाथ में इतना अख्तियार दे दिया गया है, कि कोई सम्पादक अफ़सरों की आलोचना करके सुख की नींद नहीं सो सकता। समाचार-पत्रों को राज-कर्मचारियों की आलोचना करने में कोई आनन्द नहीं आता। न यह सब उनके लिए विनोद की वस्तु है। राष्ट्र के वे भी उतने ही सच्चे हितचिन्तक हैं,

जितने अधिकारी वर्ग। वे जब सरकार की नीति या कार्यवाही पर टिप्पणियाँ करते हैं, तो उनका उद्देश्य जनता में असन्तोष फैलाना मात्र नहीं हो सकता। केवल यही चाहते हैं, कि किसी नीति पर जनता में जो भावनाएँ उत्पन्न हों, उसे प्रकट कर दें। वे जनता ही के नहीं, शासन के भी हितैषी हैं। एक ओर तो वे जनमत की वकालत करते हैं, दूसरी ओर जनता में उस नागरिकता का प्रचार करते हैं, जिसे वे राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक समझते हैं। उनकी ज़िम्मेदारियाँ बहुत बड़ी हैं। अगर वे निर्भीकता से जनमत को प्रकट नहीं करते, तो उनकी आवश्यकता ही जाती रहती है और जनता उन्हें सरकारी पिट्ठू समझकर उनकी उपेक्षा करती है। यदि वे साफ़गोई से काम लेते हैं, तो सरकार के कोप भाजन बनते हैं, और यह अवस्था केवल इसलिए पैदा हो गयी है, कि शासकों और शासितों के स्वार्थ में संघर्ष है। समाचार पत्रों की हैसियत शासितों के वकील की है। उन्हें पग-पग पर कर्मचारियों की नीति की आलोचना करनी पड़ती है और अधिकारी अपनी आलोचना सुनना पसन्द नहीं करता। आज हरएक अख़बार का जीवन अधिकारियों की मुट्ठी में है। वे जिस समय चाहें उसका निकलना बन्द कर सकते हैं। अपील और फ़रियाद के लिए जो सुविधाएँ दी गयी हैं, वह इन बेड़ियों को ज़रा भी ढ़ीला नहीं करतीं। अब तक तो यह ढारस था, कि कानूनी आर्डिनैन्सों का नियत समय के बाद अन्त हो जाता था, पर अब तो आर्डिनेंसों के कानूनी रूप में आ जाने से उन्हें स्थायित्व प्राप्त हो गया। इसने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का एक प्रकार से अन्त कर दिया। समाज पर घोर से घोर अनाचार करनेवालों पर भी इतना कठोर नियन्त्रण नहीं रखा जाता, जितना सम्पादकों पर, मानों ये रीछ या मरखने सांड़ हैं, कि जरा भी छूटे और उपद्रव मचाना शुरू कर देंगे। हमें भय है, कि इन प्रतिकूल दशाओं में समाचारपत्रों का बढ़ना और पनपना कठिन हो जायगा।

१२ दिसम्बर १६३२

खेद-प्रकाश

जागरण में 'उसका अंत' नाम कहानी छापने के कारण यू० पी० गवर्नमेंट ने हमसे जो जमानत माँगी थी वह कृपाकर उसने मंसूख कर दी है। हम हाकिम जिला मि० पन्नालाल आई० सी० एस० और यू० पी० गवर्नमेंट को इस कृपा के लिए धन्यवाद देते हैं। हमें खेद है कि कहानी का भाव समझने में हमसे भूल हुई। हम आतंकवाद के कभी समर्थक नहीं रहे और हमारा सिद्धांत है कि आतंकवाद से देश की बहुत बड़ी हानि हो रही है। हम गवर्नमेंट को विश्वास दिलाते हैं कि भविष्य में ऐसी कोई चीज़ न

प्रकाशित करेंगे जिसका आतंकवाद से सम्बन्ध हो, क्योंकि अहिंसा में हमारा पूर्ण विश्वास है।

२६ दिसम्बर १९३२

"जागरण" का दाम पाँच पैसे

'जागरण' को निकलते छः महीने हो गये। हमने हिन्दी में कोई अच्छा साहित्यिक साप्ताहिक-पत्र न देख कर ही इसका प्रकाशन स्वीकार किया था और हमें यह देखकर हर्ष होता है कि हिन्दी पाठकों ने हमारे साथ सहयोग किया। आज 'जागरण' उसका प्रेमपात्र बना हुआ है, लेकिन इसके प्रकाशन में हम अब तक दो हज़ार का नुकसान उठा चुके हैं। हमने बराबर बीस-पच्चीस पृष्ठ ठोस पठन-सामग्री दी है, जो इस दाम में या इससे अधिक में बिकने वाला कोई पत्र नहीं दे सकता। पृष्ठ संख्या तो उनकी बत्तीस तक होगी, या इससे भी अधिक, किन्तु उसमें पन्द्रह पृष्ठ से कम विज्ञापन के न होंगे। इतना पढ़ने का मसाला केवल 'जागरण' में होता है। अगर हम लखपती होते, तो समझते, चलो जहाँ सैर-सपाटे में हज़ारों खर्च हो जाते हैं, वहाँ इस शौक में भी सौ दो सौ का नुकसान सही। लेकिन चिड़िये की जान तो लड़कों के खेलवाड़ भर ही की होती है। हम समझते हैं कि इतना बल खाने के बाद हमने इतना अधिकार प्राप्त कर लिया है कि पाठकों से कुछ सहायता माँग सकें। और वह सहायता केवल इतनी ही है कि जागरण के लिए आप चार पैसे की जगह पाँच पैसे खर्च करें। अगर जागरण से आपको प्रेम है, तो आप एक पैसे की परवाह न करेंगे। और अगर प्रेम नहीं है तो आप सेंत में भी न पूछेंगे। एक पैसा दाम बढ़ा देने से पूरा नुक़सान तो पूरा नहीं पड़ सकता, लेकिन उसमें कुछ न कुछ कमी अवश्य हो जायगी। फिर यह बात भी अच्छी नहीं लगती कि वार्षिक ग्राहकों को तो जागरण साढ़े तीन रुपये में मिले और फुटकर खरीदारों को तीन रुपये में। बहुत से पाठक समझते हैं कि जागरण चार पैसे में मिल जाता है, तो साल भर के लिए ग्राहक कौन बने। क्यों आठ आना पैसे का घाटा उठावें। जागरण को चार पैसे में देना स्थायी ग्राहकों के साथ अन्याय है। जो सज्जन पाँच पैसे देना पसन्द न करें उनके लिए दूसरा रास्ता साफ़ है। साढ़े तीन रुपये भेजकर साल भर के लिए ग्राहक बन जाँय, या हमें वी० पी० भेजने का आदेश लिख भेजें। हमें विश्वास है कि पाठक-वृन्द साहित्य प्रेम के नाते सप्ताह में एक पैसा अधिक खर्च करने में कंजूसी न करेंगे। हम अपना समय देते हैं, अच्छी से अच्छी सामग्री जुटाने के लिए पत्र व्यवहार करते हैं, क्या इसके साथ ही पाठक यह भी चाहते हैं कि हम सौ दो सौ महीने का तावान भी देते जाँय! अगर हममें इतनी भुगत होती, तो हम वह भी कर दिखाते, लेकिन हम इतने सामर्थ्यवान नहीं

हैं। मगर यह न समझिये कि हम एक पैसा आपसे लेकर अपनी जेब में रख लेंगे। हमने 'जागरण' में दो एक फोटो और एक कार्टून भी देने का प्रबन्ध किया है, उसका मुख पृष्ठ भी मोटे कागज पर छपेगा और इस तरह आपका एक पैसा हमारी जेब में न जाकर किसी रूप में आपके पास पहुँच जायगा।

१० अप्रैल १९३३

'जागरण' का पहला वर्ष

इस संख्या से 'जागरण' का दूसरा वर्ष आरंभ होता है। भारत में आधे नव-जात शिशु पहले वर्ष में ही जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। वह खटके का साल निकल गया और आज उसकी पहली वर्षगाँठ पर हम अपने कृपालु साहित्यिक मित्रों, सहृदय पाठकों और उत्साही एजेंटों को बधाई देते हैं। हम तो निमित्तमात्र हैं। मित्रों ने जिस उदारता से हमारी सहायता की है, उसके लिए हम उनके चिर ऋणी रहेंगे। देश की जैसी दीन आर्थिक दशा है और हिन्दी समाचार पत्रों के प्रति शिक्षित समाज में जो उदासीनता है, उसको देखते हुए यह साल इतना बुरा नहीं रहा। इन बारह महीनों में हमें जो कुछ जागरण भेंट करने पड़े, उसका खेद नहीं है। रुपये का इससे बढ़कर हम और क्या सदुपयोग कर सकते थे। अगर धन का अभाव न होता, तो 'जागरण' इस शान से निकलता कि हिन्दी संसार को उस पर गर्व होता, लेकिन हम अपनी सामाओं के अन्दर रह कर जो कुछ कर सकते थे वह किया और करते रहेंगे, व्यापारिक दृष्टि से यह उद्योग सफल हो या न हो। हम केवल इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि जागरण को हमने व्यापारिक लाभ के लिए नहीं निकाला था। उसका मुख्य उद्देश्य सद्विचारों का प्रचार है। हाँ, यह हम जरूर चाहते हैं कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो जाय, क्योंकि उसी दशा में उसका जीवन निरापद रह सकता है। अगर हमारे पाठक समझते हों कि 'जागरण' राष्ट्र और साहित्य की कुछ सेवा कर रहा है तो उनका कर्त्तव्य है कि उसकी उपयोगिता का क्षेत्र बढ़ावें और 'जागरण' की बिरादरी को प्रसा-रित करें। इस तरह की बातें सम्पादक लोग किया ही करते हैं, पाठक परवा नहीं करते। इसलिए अपना दुखड़ा न रोना ही अच्छा है। हम इस अमर सिद्धान्त पर भरोसा कर लेना ही उचित समझते हैं कि जो चीज़ अच्छी होती है, उसे ग्राहकों की कमी नहीं रहती। अगर किसी चीज़ के ग्राहक नहीं हैं तो समझ लेना चाहिए कि उसकी संसार को जरूरत नहीं। पाठक अपना कर्त्तव्य करें या न करें, हम तो अपना हक़ अदा किये ही जायेंगे। अगले अंक से हमने एक उच्च कोटि का उपन्यास धारावाहिक रूप से देने का निश्चय किया है। हम यह प्रयत्न भी कर रहे हैं कि विदेशी पत्रों से उपयोगी, ज्ञान-

वर्द्धक अनुवाद इससे अधिक दे सकें और कार्टून तथा चित्रों को बढ़ाने का उद्योग भी किया जा रहा है। हम आशा करते हैं कि प्रेमी पाठक हमें अपने सद्परामर्श देते रहेंगे, जिससे हम पत्र को अधिक उपयोगी बनाने में समर्थ हो सकें।

१३ अगस्त १९३३

जागरण की समाधि

लगभग पौने दो साल तक देश की भली-बुरी सेवा करने के बाद 'जागरण' अब उतने दिनों के लिए समाधि ले रहा है, जब तक वह इस योग्य न हो जाय कि इससे अच्छे रूप में, पाठकों की सेवा कर सके। हमने जिस वक्त इसे हाथ में लिया था, आशा थी कि हम इसे हिन्दी का आदर्श साप्ताहिक-पत्र बना सकेंगे। अन्य कितनी ही मानवी आशाओं की भाँति हमारी वह आशा पूरी न हुई और इस रूप में इसे चलाते रहना हमें रुचिकर न हुआ। हमें यह तो पहले भी मालूम था कि पत्र-संचालन भी व्यवसाय है और अन्य व्यवसायों की भाँति आजकल इसे भी बड़ी पूंजी की ज़रूरत है। पर हमने सोलह आने व्यवसाय-बुद्धि से इसका भार न लिया था, अपनी शक्ति और समय के सदुपयोग का भाव ही प्रधान था। हम प्रसन्न हैं, कि उदार साहित्यिक मित्रों और कृपालु पाठकों ने हमें इतने दिनों सेवा करने का अवसर दिया। हम उनका एहसान कभी न भूलेंगे। जीवन नये-नये अनुभवों का नाम है। और हमें जागरण के संचालन द्वारा जो अनुभव हुए, वह दूसरों से सुन-सुनाकर कभी न होते। हमने अपनी परिमित सीमा के अन्दर वही लिखा, जो हमारी आत्मा ने कहा और उन्हीं बातों का समर्थन किया, जिसे हमने अपनी बुद्धि के अनुसार देश के लिए हितकर समझा। हमने कभी किसी का दिल दुखाने की या सस्ती शोहरत हासिल करने की चेष्टा नहीं की। फिर भी यदि हमने अनजान में किसी का दिल दुखाया हो, तो हम सच्चे दिल से उसके लिए क्षमा माँगते हैं।

जिन ग्राहकों के पैसे हमारे ऊपर आते हैं, उनसे हमारी विनती है कि वे हमें 'हंस' की प्रतियाँ भेजकर उस ऋण को चुकाने की अनुमति दें। जिन सज्जनों के पास 'हंस' जाता हो, वे उस मूल्य की पुस्तकें हमसे ले सकते हैं। हमें आशा है कि पाठक हमें क्षमा करेंगे। अन्त में हम कवि मीर के शब्दों में पाठकों से विदा माँगते हैं—

अब तो जाते हैं मैकदे से मीर।
फिर मिलेंगे अगर खुदा लाया।

२१ मई १९३४